अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र
International Economics

अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र
International Economics

के० डी० स्वामी
अर्थशास्त्र विभाग,
जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर (राज.)
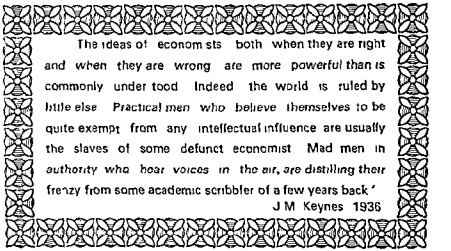
साईन्टिफिक पब्लिशर्स/जोधपुर
मान भवन, रातानाडा रोड, जोधपुर-342 001

प्रकाशक :
साईन्टिफिक पब्लिशर्स
भान भवन, रातानाडा रोड,
जोधपुर-342 001

प्रथम संस्करण : सितम्बर, 1989

मुद्रक .
जितेन्द्र प्रिन्टर्स,
जवाहरखाना रोड,
जोधपुर-342 001 (राज)

The ideas of economists both when they are right and when they are wrong are more powerful than is commonly understood Indeed the world is ruled by little else Practical men who believe themselves to be quite exempt from any intellectual influence are usually the slaves of some defunct economist Mad men in authority who hear voices in the air, are distilling their frenzy from some academic scribbler of a few years back '

J M Keynes 1936

प्राक्कथन

(Foreword)

श्री के० सी० स्वामी द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र जैसे महत्त्वपूर्ण विषय पर लिखित सुबोध व उच्चस्तर की पाठ्य पुस्तक से पाठकों को अवगत कराते हुए मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हो रही है।

पुस्तक में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्तों व नीति सम्बन्धी विभिन्न पहलुओं का गहन विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। जहाँ अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र जैसे जटिल विषय को श्री स्वामी ने सरल व बोधगम्य शैली में प्रस्तुत किया है वहीं उन्होंने विषय से सम्बन्धित उच्च कोटि की विषय सामग्री का भी संयोजन किया है।

विभिन्न सिद्धान्त व अवधारणाओं के स्पष्टीकरण हेतु सम्पूर्ण पुस्तक में मूल लेखों एवं ग्रन्थों का उपयोग होने से विषय की अभिव्यक्ति सहज ही अत्यधिक स्पष्ट एवं सुबोध बन गयी है।
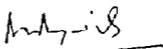
इतना ही नहीं पुस्तक में अनेक स्थानों पर विचार एवं अवधारणाओं को स्पष्ट करने हेतु प्रयुक्त किए गये चित्रों में लेखक की मौलिकता (originality) का स्पष्ट आभास मिलता है। उदाहरणार्थ, पृष्ठ 97 पर चित्र 4.1 व पृष्ठ 219 पर चित्र 9.3 जहाँ पाठकों के लिए सम्बद्ध सिद्धान्त व अवधारणाओं को स्पष्ट करने के लिए अनिवार्य साधन हैं वहीं वे लेखक की मौलिकता के भी परिचायक हैं।

साथ ही पूरी पुस्तक में विषय से सम्बन्धित नवीनतम चिन्तन के समावेश में लेखक पूर्णतः सजग है, शोध-पत्रिकाओं (Journals) एवं नवीनतम पुस्तकों के सन्दर्भ इस बात के प्रमाण हैं।

यद्यपि आंग्ल भाषा में अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र विषय पर उच्च स्तर की अनेक पुस्तकें उपलब्ध हैं पर राष्ट्रभाषा हिन्दी में इस प्रकार की पुस्तकों का सर्वथा अभाव रहा है। श्री स्वामी ने इस अभाव की पूर्ति कर इस क्षेत्र में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र के सक्षम अध्यापक श्री स्वामी पिछले दो दशको से अपने विषय के अध्यापन कार्य से जुडे रहे हैं। फलतः लेखक की जिज्ञासा व विषय की नवीनतम प्रवृत्तियो तक पहुँचने की गहरी सामर्थ्य ने ही प्रस्तुत पुस्तक का आकार ग्रहण किया है।

पुस्तक मे भारत के विभिन्न विश्वविद्यालयो की ऑनर्स, एम० ए० व एम० फिल० कक्षाओ के पाठ्यक्रमो के लिए आवश्यक विषय सामग्री का समावेश है। अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र के अध्ययन मे रुचि रखने वाले पाठको के लिए भी पुस्तक अत्यन्त उपयोगी है। साथ ही विषय के जिज्ञासु अध्यापको की ज्ञान-वृद्धि मे पुस्तक विशेष रूप से सहायक सिद्ध होगी। आशा है विषय के अध्यापक व छात्र इससे पूर्ण लाभान्वित होगे।

(डॉ० ए० सी० एग्रिश)
प्रोफेसर व अध्यक्ष, अर्थशास्त्र विभाग
जोधपुर विश्व विद्यालय,
जोधपुर (राज)

प्रस्तावना

(Preface)

'अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र' का प्रथम सस्करण प्रस्तुत करते हुए मुझे हर्ष व सन्तोष का अनुभव हो रहा है।

प्रस्तुत पुस्तक भारतीय विश्वविद्यालयो की एम ए व बी ए ऑनर्स कक्षाओ के पाठ्यक्रमानुसार लिखी गई है। लेकिन मुझे विश्वास है कि एम फिल. व एम. कॉम छात्रो एव प्रतियोगी परीक्षाओ मे अर्थशास्त्र विषय के प्रत्याशियो के लिए भी यह उपयोगी सिद्ध होगी।

यद्यपि सम्प्रति हिन्दी भाषा मे अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र पर कई पुस्तकें उपलब्ध हैं। परन्तु इस विषय पर 'वस्तु विभेद' की दिशा मे यह एक नवीन प्रयास है। प्रस्तुत पुस्तक विषय सामग्री व गुणवत्ता तथा प्रस्तुतीकरण तीनों ही दृष्टिकोणो से अपनी अलग पहचान रखती है।

कई ऐसे विषय हैं जिनकी हिन्दी माध्यम की इतर पुस्तको मे या तो चर्चा ही नही है अथवा इनका बहुत ही सामान्य स्तर का विवेचन उपलब्ध होता है वही उन विषयो का विस्तृत, यथार्थ व नवीनतम विवेचन प्रस्तुत पुस्तक की विशेषता है। जैसे-कल्याण अवकारक विकास (immiserising growth) की अवधारणा, अनुकूलतम प्रशुल्क व अर्पण वक्र की लोच मे परस्पर सम्बन्ध प्रशुल्क की प्रभावी दर की अवधारणा, प्रशुल्क व नियताश मे समानता (equivalence) व इनके प्रचालन मे अन्तर, अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक व्यवस्था मे हाल ही के सुधार, विदेशी ऋण सकट के 'विस्फोटक' होने के कारण व ऋण सकट में फसे राष्ट्रो के समक्ष विकल्प, नई अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था (NIEO), दक्षिण-दक्षिण सहयोग आदि। इसके अलावा अकटाड-VII, एलेक्जेण्डर समिति, टण्डन समिति तथा आबिद हुसैन समिति की सिफारिशो व भारत की दोनो त्रिवर्षीय व्यापार नीतियो की भी पुस्तक मे विस्तृत चर्चा की गई है।

इसी प्रकार प्रस्तुत पुस्तक गुणवत्ता के दृष्टिकोण से भी अन्य पाठ्य-पुस्तको से भिन्न है। पुस्तक मे अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र के विद्वानो की कृतियो व शोध पत्रो मे बिखरे हुए विचारो व अवधारणाओ को सक्षिप्त व बोधगम्य रूप

मे प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। विचार बिन्दुओ की मौलिकता बनाये रखने हेतु स्थान-स्थान पर विद्वानो व उनकी कृतियो का सदर्भ पृष्ठ सहित दिया गया है। हैक्स्चर-ओलीन सिद्धान्त, 'मेजलर का विरोधाभास' (Metzler's Paradox), अवमूल्यन के भिन्न विश्लेषणो की पारस्परिक पूरकता, क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त, स्थिर व लचीली विनिमय दरें आदि पर सकलित उच्चकोटि की सामग्री व उसका विश्लेषण पुस्तक की गुणवत्ता को पुष्ट करते हैं।

चित्र तो अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र (व सम्पूर्ण अर्थशास्त्र) के प्राण हैं। अतः प्रस्तुत पुस्तक मे चित्र प्रचुर मात्रा मे दिये गये हैं और प्रत्येक चित्र की प्रासगिकता इगित करते हुए उसे विस्तार पूर्वक स्पष्ट किया गया है। साथ ही किसी भी ज्यामितीय उपकरण को अनुप्रयुक्त करने से पूर्व उसकी मूलभूत समझ स्पष्ट करने का भी विशेष ध्यान रखा गया है।

क्लिष्ट विषयो की सरलतम एव सुबोध प्रस्तुति पुस्तक की प्रमुख विशेषता है। आद्योपान्त इस बात का पूरा ध्यान रखा गया है कि विषय की बोध गम्यता के साथ-साथ विषय सामग्री इस स्तर की बनी रहे कि पुस्तक को हृदयगम करने के पश्चात् पाठक को विषय की अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की पत्रिकाओ मे छपे लेखो व उच्चस्तरीय पुस्तको को समझने मे विशेष बाधा न हो।

पुस्तक लिखने मे मेरे गुरु व अर्थशास्त्र विभाग के प्रोफेसर एव अध्यक्ष डा ए सी एग्रिश की प्रेरणा व प्रोत्साहन के लिए मैं उनका विशेष आभारी हूँ।

पिछले कई वर्षों मे मुझे अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र के चार महान् विद्वानो के साथ विषय पर विचार विमर्श करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। इनमे से सर्वाधिक प्रेरणा मुझे डा. वी आर पचमुखी (निदेशक, आर. आई. एस, नई दिल्ली) व डा वी एम चित्रे (निदेशक गोखले इन्स्टीटयूट ऑव पॉलिटिक्स एण्ड इकनॉमिक्स, पूर्ण) से मिली, इन दोनो विद्वानो से विषय की क्लिष्ट अवधारणाओ को समझने मे मिले पर्याप्त दिशा निर्देश हेतु मैं उनका हृदय से आभारी हूँ। दो विदेशी विद्वान प्रो. सी पी किन्डलबर्गर व प्रो एम. ई. क्रेनिन (M.E kreinin) की कृतियो व इनके साथ हुए पत्र व्यवहार के माध्यम से मुझे विषय के स्पष्टीकरण मे मदद मिली है। अतः मैं इन दोनो विद्वानो के प्रति भी आभार व्यक्त करता हूँ।

मैं मेरे सभी गुरुजनो, सहयोगियो व विद्यार्थियों के प्रति भी आभारी हूँ, उनसे समय-समय पर किये गये परामर्श व चर्चा से विषय को विस्तार मिला है।

मेरी पत्नी श्रीमति विमला स्वामी व पुत्री कु रेणु ने पुस्तक तैयार करने मे काफी परिश्रम किया है जिससे यह कार्य सम्पूर्ण हो पाया।

श्री पवनकुमार साइण्टिफिक पब्लिशर्स जोधपुर, ने जिस उत्साह व तत्परता से पुस्तक प्रकाशन किया है उसके लिए वे धन्यवाद के पात्र हैं।

पुस्तक मे सुधार हेतु पाठको के सुझाव आमन्त्रित हैं।

के० डी० स्वामी

18-सूर्य कॉलोनि
पॉलिटेक्निक कॉलिज के पास,
जोधपुर - 342 001
1 सितम्बर, 1989

प्राक्कथन
(Foreword)
प्रस्तावना
(Preface)

विषय-सूची

अध्याय

1

अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र की प्रकृति
(The Nature of International Economics)

अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र में क्या शामिल किया जाता है ?
(What International Economics is about)

अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र मे विभिन्न राष्ट्रो के मध्य आर्थिक सम्बन्धो का अध्ययन किया जाता है। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो के अनुसार, घरेलू व्यापार एक ही राष्ट्र के नागरिको के मध्य का व्यापार है जबकि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार दो या दो से अधिक राष्ट्रो के नागरिको के मध्य का व्यापार है। अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र मे हम एक ही अर्थव्यवस्था की क्रियाविधि के स्थान पर दो या दो से अधिक अर्थव्यवस्थाओ के अन्त सम्बन्धो का अध्ययन करते हैं।

प्रो० हरॉड (Harrod) के अनुसार "अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र का सम्बन्ध उन समस्त आर्थिक सौदो से है जिनमे राष्ट्रीय सीमा की समस्या प्रस्तुत होती है, उदाहरणार्थ प्रवास, एक राष्ट्र के नागरिको द्वारा दूसरे राष्ट्र के नागरिको को ऋण देना अथवा वस्तुओ का क्रय-विक्रय करना आदि।"[1]

किलॉफ (Killough) ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का अर्थ इस प्रकार स्पष्ट किया है "अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार भिन्न-भिन्न राष्ट्रो के नागरिको के मध्य के व्यापारिक सौदो एव ऐसे सौदो स उत्पन्न व्यापारिक नीति से सम्बन्धित (Considerations of Commercial diplomacy) विचार करने से सम्बद्ध है।[2]

अत स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार दो या दो से अधिक राष्ट्रो के मध्य का व्यापार है एव अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र म हम दो या दो से अधिक राष्ट्रो के मध्य के आर्थिक सम्बन्धो का अध्ययन करते हैं।

1 Harrod, R —International Economics, p 4
2 Killough, H B —International Trade, p 3

अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र की विषय सामग्री
(The Subject matter of International Economics)

अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र की दो प्रमुख शाखाएँ हैं —

(1) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, तथा

(2) अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक अर्थशास्त्र।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अध्ययन का प्रमुख केन्द्र बिन्दु वस्तुओं व साधनों के चलन है, जबकि *अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक अर्थशास्त्र का केन्द्र बिन्दु अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धों* का मौद्रिक पहलू है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में हम व्यापार के विशुद्ध सिद्धान्त एवं व्यापार नीति के सिद्धान्तों का अध्ययन करते हैं। व्यापार का विशुद्ध सिद्धान्त व्यापार के आधार व इससे *प्राप्त लाभों से सम्बद्ध है। व्यापार के विशुद्ध सिद्धान्त एवं व्यापार नीति के सिद्धान्तों को* हम अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र के व्यष्टि पहलू का प्रतिनिधित्व करता हुआ मान सकते हैं।

दूसरी ओर अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक अर्थशास्त्र में हम भुगतान सन्तुलन व इसके समायोजन का अध्ययन करते हैं। भुगतान सन्तुलन में राष्ट्र विशेष की अन्य राष्ट्रों से कुल लेनदारियों (inpayments) व देनदारियों (outpayments) को सम्मिलित किया जाता है, तथा इसके समायोजन में हम भिन्न-भिन्न मौद्रिक प्रणालियों के अन्तर्गत भुगतान सन्तुलन में समायोजन की प्रक्रिया का अध्ययन करते हैं। भुगतान सतुलन व इसका *समायोजन अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र के समष्टि पहलू का प्रतिनिधित्व करते हैं।*

प्रो० क्रुगर (Krueger) ने इस ओर ध्यान दिलाया है कि अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र के "दोनों उपक्षेत्रों (Sub-fields) के पीछे निहित विश्लेषणात्मक ढाँचा विद्यमान है जो कि अनुप्रयुक्त अनुसंधान का आधार है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में सिद्धान्त का *केन्द्रीय ढाँचा (Central body) विद्यमान है जिसकी सहायता से अधिकांश अनुप्रयुक्त* प्रश्नों का विश्लेषण किया जा सकता है। इसके विपरीत अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक अर्थशास्त्र का 'सिद्धान्त' विद्यमान नहीं है हालांकि सिद्धान्तों के कई सम्बद्ध ढाँचे विद्यमान हैं, इनमें से प्रत्येक कुछ निश्चित विस्तार सीमा वाले प्रश्नों पर ही विचार करने के लिये उपयोगी है।"

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार व अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक अर्थशास्त्र के दोनों ही उपक्षेत्रों में यथार्थमूलक (positive) व आदर्शमूलक (normative) दोनों प्रकार के प्रश्न उठते हैं।

3 Krueger, Anne O—Balance of Payments Theory—J of Economic Literature—March, 1969, pp 1-26.

प्रथम उपक्षेत्र में विदेशी व्यापार में किन वस्तुओं का आयात-निर्यात होगा ? प्रशुल्क का साधन-कीमतो पर क्या प्रभाव पड़ेगा ? आदि यथार्थमूलक प्रश्न शामिल किये जाते है। जबकि इस उपक्षेत्र के आदर्शमूलक प्रश्नो मे, क्या स्वतत्र व्यापार से विश्व आय अधिकतम होगी ? राष्ट्र विशेष के सन्दर्भ मे, क्या प्रशुल्क स्वतत्र व्यापार से उत्तम है ? आदि प्रश्नो पर विचार किया जाता है।

इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक अर्थशास्त्र के सिद्धान्त मे मूलभूत यथार्थमूलक व आदर्शमूलक प्रश्न यह है कि अन्य आर्थिक उद्देश्यो से सगत रहते हुए राष्ट्रो द्वारा बजट प्रतिबन्ध (budget constraints) बनाये रखने हेतु अपनायी जाने वाली वैकल्पिक प्रक्रियाओ के क्या आशय (implications) है ?

अन्तर्राष्ट्रीय व घरेलू व्यापार में अन्तर

(Distinction between International and domestic trade)

सामान्यतया अन्तर्राष्ट्रीय व घरेलू व्यापार मे अन्तर उत्पादन के कारको—श्रम, भूमि, पूँजी आदि-के व्यवहार मे भिन्नता के आधार पर किया जाता है। कुछ अन्य अर्थशास्त्रियो के अनुसार राष्ट्रीय सरकारो के हस्तक्षेप के कारण घरेलू व्यापार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से भिन्न हो जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को दूरी की महत्ता के आधार पर भी घरेलू व्यापार से भिन्न माना जाता है। वास्तविकता तो यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय व घरेलू व्यापार मे मात्र श्रेणी (degree) का अन्तर है, प्रकार (kind) का नही।

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री अन्तर्राष्ट्रीय व घरेलू व्यापार मे मौलिक अन्तर मानते थे, जबकि स्वीडन के विख्यात आधुनिक अर्थशास्त्री बर्टिल ओलीन* (Bertil Ohlin) ने अन्तर्राष्ट्रीय व अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार मे भारी समानता दर्शायी है। अब हम इन दोनो परस्पर भिन्न विचारो का अध्ययन करेंगे।

अन्तर्राष्ट्रीय व अन्तर्क्षेत्रीय (अथवा घरेलू) व्यापार मे भिन्नताएँ स्पष्ट करने हेतु विश्लेषण को निम्न शीर्षको के अन्तर्गत विभाजित किया जा सकता है .—

(1) साधन गतिशीलता की श्रेणी मे भिन्नताएँ
(Varying degrees of factor mobility)

(2) मौद्रिक भिन्नताएँ
(Monetary variations)

---

*Ohlin का सही उच्चारण 'ओलीन' (O'Lean) है।

(3) राष्ट्रीय नीतियों की भिन्नताएँ
(Different National Policies)

(4) बाजार की प्रकृति की भिन्नताएँ
(Differences in the nature of markets)

(5 राजनीतिक इकाइयों की भिन्नताएँ तथा
(Politically different units)

(6) भुगतान सतुलन के समायोजन की भिन्नताएँ ।
(Differences in the Bop adjustment)

उपर्युक्त घटकों पर विस्तृत चर्चा अग्रलिखित है ।

1. साधन गतिशीलता की श्रेणी में भिन्नताएँ
(Varying degrees of factor mobility)

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के अनुसार राष्ट्र विशेष के भीतर उत्पादन के साधन उत्पादन की परस्पर भिन्न शाखाओं अथवा भिन्न क्षेत्रों म पूर्ण रूप से गतिशील होते हैं जबकि राष्ट्रों के मध्य साधन अगतिशीलता लगभग पूर्ण अथवा पर्याप्त सीमा तक पायी जाती है ।

राष्ट्र के भीतर साधन गतिशीलता का महत्त्व यह है कि राष्ट्र में साधन प्रतिफल समान होने की प्रवृत्ति पायी जाती है, जबकि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में साधन गतिशीलता के अभाव में पूर्ण समायोजन (अर्थात् भिन्न राष्ट्रों में साधन विशेष का प्रतिफल समान होना) स्थापित नहीं हो पाता है ।

वास्तव मे देखा जाए तो प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के मापदण्ड के रूप में साधन अगतिशीलता को अति सहज (quite naively) ढग से स्वीकार कर लिया था, तथा अपने तर्क का आधार साधन गतिशीलता को बनाते हुए उन्होंने इसके चुनाव को रीतिविधान के आधार (methodological grounds) पर न्यायोचित ठहराने का प्रयास नहीं किया और इस प्रकार स्वय को समय-समय पर, विशेष रूप से हाल ही के वर्षों म, उठाये गये विरोधों के समक्ष ला खड़ा किया । साधन गतिशीलता से सम्बन्धित प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के विचार की एक स्पष्ट आलोचना यह है कि साधन गतिशीलता के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय व घरेलू व्यापार मे मात्र श्रेणी (degree) का अन्तर है ।

प्रो० विलियम्स (Williams) एव प्रो० ओलीन (Ohlin) का विचार है कि एक ओर तो राष्ट्र के भीतर उत्पादन के साधन पूर्णरूप से गतिशील नहीं होते हैं तथा दूसरी

और राष्ट्रों की सीमाओं के पार कई बार विशाल एवं वास्तव में बड़ी मात्रा में साधन गतिशीलता पायी जाती है।

एक राष्ट्र से दूसरे राष्ट्र में साधन गतिशीलता में अनेक रुकावटें आती हैं। उदाहरणार्थ— राष्ट्रों के बीच श्रम की गतिशीलता में रुकावट डालने वाले निम्न पाँच मुख्य घटक है—व्यावसायिक दक्षताएँ एवं संघ (Associations), पारिवारिक बंधन, रीतिरिवाज, भाषा तथा प्रतिबंधक प्रावास विधान। इन रुकावटों में से प्रथम तीन अर्थात् व्यावसायिक दक्षताएँ एवं संघ, पारिवारिक बंधन एवं रीतिरिवाज अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। इसी प्रकार की रुकावटों को ध्यान में रखते हुए एडम स्मिथ (Adam Smith) ने विचार व्यक्त किया था कि, "मनुष्य का परिवहन सर्वाधिक कठिन है।"[4]

इसी प्रकार भिन्न राष्ट्रों के मध्य पूँजी की गतिशीलता भी अनेक कारणों से प्रभावित होती है, इन कारणों पर प्रकाश डालते हुए प्रो० हेबरलर (Haberler) ने इंगित किया है कि 'पूँजी की अन्तर्राष्ट्रीय गतिशीलता परिवहन लागतों के कारण नहीं वरन् पूर्णतया भिन्न किस्म की बाधाओं के कारण अवरुद्ध होती है। ये बाधाएँ वैधानिक निवारण, राजनीतिक अनिश्चितता, विदेशी राष्ट्र में भावी विनियोग की सम्भावनाओं की अज्ञानता, बैंकिंग प्रणाली की अपूर्णताएँ, विदेशी मुद्राओं की अस्थिरता तथा विदेशों का अविश्वास आदि हैं।"[5]

सामान्यतया यह तर्क दिया जाता है कि राष्ट्र के भीतर भी वास्तविक पूँजी को एक उत्पादन क्रिया से दूसरी उत्पादन क्रिया में सहज ही स्थानांतरित नहीं किया जा सकता है (विशेषकर स्थिर पूँजी जैसे भवन, मशीन आदि को) और यह भी तर्क दिया जाता है कि कई बार एक ही राष्ट्र के एक भाग से दूसरे भाग में पूँजी स्थानान्तरित करने की लागत इसे अन्य राष्ट्र में स्थानान्तरित करने की लागत से बहुत अधिक होती है। लेकिन यह तर्क असम्बद्ध (irrelevant) है क्योंकि यह केवल ऐसी विशिष्ट (specific) पूँजीगत वस्तुओं का उल्लेख करता है जो कि पहले से विद्यमान है।

पूँजी सिद्धान्त के लिए पूर्ण गतिशीलता का मापदण्ड ब्याज दरों की समानता है। यदि एक स्थान से दूसरे स्थान पर पूँजीगत वस्तुओं को स्थानान्तरित करने की

4 Quoted in Ohlin—'Interregional and International Trade"—(Rev ed) Harvard Univ Press, Cambridge, Massachusetts, 1967, p 208
'Man is of all sorts of luggage the most difficult to be transported"—Smith

5 Haberler, G V—The Theory of International Trade—(London : Macmillan Co Ltd, 1937), Chap 1, p 56

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे यदि सब राष्ट्रो ने स्वर्णमान अपना रखा है तब भी विनिमय माध्यम भिन्न-भिन्न होंगे। उदाहरणार्थ, भारतवर्ष मे रुपया सर्वत्र स्वीकार्य विनिमय माध्यम है लेकिन यदि भारतीय व्यापारी किसी दूसरे राष्ट्र से व्यापार करता है तो उस राष्ट्र की मुद्रा व भारतीय रुपये की आपसी विनिमय दर इस सौदे के निर्धारण मे महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकती है। अर्थात् किसी अन्य राष्ट्र से आयात करने हेतु भारतीय रुपये को उस राष्ट्र की मुद्रा मे परिवर्तित करवाना आवश्यक होता है।

यदि समस्त राष्ट्रो ने स्वर्णमान अपना रखा है, विनिमय दर स्थिर है व भिन्न मुद्राओ के मध्य पूर्ण परिवर्तनशीलता की स्थिति है तो भिन्न राष्ट्रो म भिन्न मुद्राओ के प्रचलन से अन्तर्राष्ट्रीय व अन्तर्देशीय व्यापार पर इस घटक का विशेष प्रभाव नही पडेगा। लेकिन आधुनिक विश्व मे अधिकाश राष्ट्रो ने प्रतिबन्धित मुद्रामान अपना रखा है अत स्वणमान की स्थिति की तुलना मे विनिमय दरो मे बहुत अधिक उच्चावचन आते रहते हैं। अत स्पष्ट है कि भिन्न राष्ट्रीय मुद्राएँ अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे बाधाएँ प्रस्तुत करती हैं। आशय यह है कि भिन्न राष्ट्रीय मौद्रिक इकाइयो की उपस्थिति प्रमुख बाधक घटक नही है अपितु प्रमुख बाधक घटक तो भिन्न राष्ट्रो की मुद्राओ के सापेक्ष मूल्यो मे समय-समय पर होने वाले परिवर्तनो की सम्भावनाएँ हैं जो कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को घरेलू व्यापार की तुलना मे अधिक जटिल व जोखिमपूर्ण बना देती है।

अत: अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे शामिल मौद्रिक विनिमय सौदो की गणना और उनके निष्पादन मे इस प्रकार की लागतें व जोखिमें उत्पन्न होती हैं जो कि प्राय घरेलू व्यापार मे नही पायी जाती है। आर्थिक सकटो मे जब सरकारें मौद्रिक मूल्य-ह्रास के विभिन्न तरीको को काम मे लाती है तो विदेशी विनिमय के सौदो की जोखिम और भी बढ जाती है।

भिन्न राष्ट्रो मे विकास की भिन्न अवस्थाओ के कारण, तथा उनके निर्यातो की पूर्ति व आयातो की माँग को प्रभावित करने वाले भिन्न अनुभवो के कारण वे विदेशी विनिमय से सम्बन्धित भिन्न नीतियाँ अपनाते हैं। प्रो० किन्डलबर्गर के अनुसार, "अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को आन्तरिक व्यापार से भिन्न करने मे नीतियो का यह अन्तर भिन्न राष्ट्रीय मुद्राओ के अस्तित्व से कही अधिक महत्त्वपूर्ण है।"[6]

3. राष्ट्रीय नीतियो मे भिन्नताएँ

(Different National Policies)

• सामान्यतया एक ही राष्ट्र मे स्थित आर्थिक इकाइयो पर समान दर से

---

6. Kindleberger, C P.—International Economics (5th ed) p 5.

करारोपण किया जाता है, वे एक ही पूँजी बाजार से वित्त प्राप्त करती हैं तथा सचार परिवहन एव सूचना जैसी एक जैसी सुविधाओं की समान अवस्थापना (infrastructure) का उपयोग करती हैं। इस प्रकार एक ही राष्ट्र म स्थापित विशिष्ट आर्थिक इकाइयो का सम्पूर्ण आर्थिक वातावरण भिन्न राष्ट्रो की तुलना मे कही अधिक समरूप होता है। लेकिन इसका अभिप्राय यह नही है कि एक ही राष्ट्र के भिन्न क्षेत्रो म कर की दरें स्थानीय कानून व अन्य नियमनो मे भिन्नता नही पायी जाती है। सामान्यतया राष्ट्र विशेष म वैधानिक नियमन व प्रक्रियाएँ वैधानिक परिपाटियो (codes) एव दर्शनो की समान (common) नींव पर आधारित होते हैं। ये वैधानिक परिपाटियाँ व दर्शन राष्ट्र विशेष मे भिन्न ऐतिहासिक पृष्ठभूमि वाले राष्ट्र से पूर्णतया भिन्न हो सकते हैं। मजदूरी, कीमता, प्रतियोगिता, विनियोग व व्यापारिक नियमनो से सम्बन्धित घरेलू नीतियाँ राष्ट्र के लिए बिल्कुल भिन्न होती हैं जिससे अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सौदो म प्रत्यक्ष हस्तक्षेप करने हेतु प्रशुल्क, विनिमय नियत्रण एव गैर-प्रशुल्क प्रतिबन्ध जैसे उपायों का सहारा लिया जाता है। इन प्रकार के हस्तक्षेप के परिणामस्वरूप घरेलू बाजार के व्यापारी की तुलना मे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारी को भारी वैधानिक जिम्मेवारियाँ वहन करनी पडती हैं एव अनेक प्रकार की वैधानिक जटिलताओ का सामना करना पडता है।

अत स्पष्ट है कि भिन्न राष्ट्रीय नीतियों का अस्तित्व अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को घरेलू व्यापार से भिन्न बना देता है।

4 बाजारो की प्रवृत्ति मे भिन्नताएँ
(Differences in the nature of markets)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार म अनेक ऐसी बाधाएँ आती हैं जो कि घरेलू व्यापार म सामान्यतया नही पायी जाती, ये बाधाएँ भाषा, व्यापारिक रीतिरिवाज, परम्परा, नापतौल, क्रय-विक्रय की शर्तों, लेन देन की परिपाटियो आदि मे भिन्नताओ के कारण उत्पन्न होती है। घरेलू व्यापार की तुलना मे विदेशी व्यापार म माल एव समाचार भेजने म समय एव व्यय अधिक लगता है।

इजीनियरो व डिजाइनरो को प्रशिक्षण मशीनो व औजारो के राष्ट्रीय प्रारूप को ध्यान म रखते हुए दिया जाता है तथा उनके प्रशिक्षण म राष्ट्रीय विशेषताएँ विद्यमान रहती हैं। एक ही राष्ट्र के भिन्न बाजारों मे भी वस्तुओं की बनावट मे भिन्नता पायी जाती है लेकिन य भिन्नताएँ अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की भिन्नताओ से कम होती हैं।

बाजारो मे इन भिन्नताओ का महत्वपूर्ण परिणाम यह होता है कि एक बडी फर्म जो किसी विशिष्ट प्रकार की वस्तुओं की पूर्ति भिन्न राष्ट्रो के बाजारो मे बिक्री हेतु

कर रही है वह उस वस्तु का मानकीकरण (standardization) व पैमाने के प्रतिफल व विक्रय के लाभ उस सीमा तक प्राप्त नहीं कर सकती जिस तक कि एक ही किस्म का उतना ही उत्पादन बड़े राष्ट्रीय बाजार में विक्रय के लिए उत्पादित करने वाली फर्म प्राप्त कर सकती है।

बाजारों की भिन्नता के प्रभाव को प्रो० किंडलबर्गर (Kindleberger) ने निम्न शब्दों में व्यक्त किया है 'आयात–निर्यात व्यापार को भिन्न शब्दों में वर्णित, भिन्न मापों को प्रयोग में लाने वाली भिन्न शर्तों व भिन्न मुद्राओं में क्रय-विक्रय होने वाली भिन्न वस्तुओं से अवगत होने हेतु घरेलू व्यापार की संस्कृति से बाहर आना पड़ता है।"[7]

5 राजनीतिक इकाईयों की भिन्नताएँ

(Politically different units)

एक राष्ट्र सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक इकाई होती है। यद्यपि राष्ट्र विशेष के भिन्न क्षेत्रों में सामाजिक व राजनीतिक वातावरण में भिन्नताएँ विद्यमान रहती है लेकिन फिर भी भिन्न राष्ट्रों की तुलना में एक ही राष्ट्र में राजनीतिक व सामाजिक वातावरण अधिक समान होता है। राष्ट्र के नागरिकों के लिए भिन्न प्रान्तों में रहते हुए भी राष्ट्रीयता की भावना सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होती है। राष्ट्रीय समूहों का यह ससजन (cohesion) रुचियों व रीतिरिवाजों के राष्ट्रीय अन्तरों को समझने में सहायक है। राष्ट्रीय सरकारों के लिए विश्व नागरिकों के हित की तुलना में राष्ट्रीय नागरिकों का हित अधिक महत्त्वपूर्ण होता है।

अतः आन्तरिक व्यापार एक ही समूह के सदस्यों के मध्य का व्यापार होता है। जबकि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार भिन्न ससजन वाली इकाइयों के मध्य का व्यापार है। फ्रेडरिक लिस्ट (Friedrich List) ने इस अन्तर को निम्न शब्दों में व्यक्त किया था, "घरेलू व्यापार हमारा आपसी व्यापार है जबकि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार हमारे और उनके (विदेशियों के) मध्य व्यापार है।"[8]

6 भुगतान सतुलन में समायोजन की भिन्नताएँ

(Differences in the Bop adjustment)

प्रो० किंडलबर्गर के अनुसार "अन्तर्क्षेत्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में अन्तर का सर्वाधिक उलझन भरा पहलू (puzzling aspect) यह है कि क्षेत्रों को व्यवहार में

7 Kindleberger, C P —op cit p 6

8 Quoted in Kindleberger, Ibid p 7
"Domestic trade is among us international trade is between us and them"

कभी भी भुगतान की समस्या का सामना नही करना पडता है जबकि विशेषकर हाल ही के वर्षों म राष्ट्र निरन्तर भुगतान सतुलन के साम्य से बाहर दिखाई पड रहे हैं।"[9]

इसका आशिक कारण तो मौद्रिक नीतियाँ है लेकिन आशिक रूप से ऐसा पूँजी की राष्ट्र के भीतर, भिन्न राष्ट्रो के मध्य की तुलना मे, अधिक गतिशीलता के कारण भी है। राष्ट्र के समस्त प्रान्तो की आशिक रूप से वित्त व्यवस्था केन्द्रीय बजट के माध्यम से होती है अत अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार म भुगतान सतुलन की समस्या गम्भीर रूप धारण नही कर पाती है जबकि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर इस तरह के विश्व बजट व उसमे से राष्ट्रों के घाटो को पूरा करने की कोई पर्याप्त व्यवस्था विद्यमान नही है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार म भुगतान सतुलन व इससे सम्बन्धित समस्याओ के महत्व को ध्यान म रखते हुए अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र का मौद्रिक भाग भुगतान सतुलन की समस्याओ के इर्द-गिर्द ही केन्द्रित रहता है।

अन्तर्राष्ट्रीय व अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार मे उपर्युक्त अन्तरों को यदि गहराई से देखें तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि इस तरह के अन्तर राष्ट्रो के भिन्न प्रान्तो मे भी पाये जाते हैं लेकिन वास्तविकता यह है कि ये अन्तर अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार मे कम महत्त्वपूर्ण व कम श्रेणी के होते हैं। अत अन्तर्राष्ट्रीय व अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार के अन्तर को स्पष्ट रूप मे समझने हेतु हमे विश्लेषण की गहराई तक पहुँचना आवश्यक होता है।

विश्लेषण को आगे बढाने से पूर्व अन्तर्राष्ट्रीय व अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार मे समानताओं को स्पष्ट करना उचित होगा।

अन्तर्राष्ट्रीय व घरेलू व्यापार में समानताएँ

(Similarities between International and domestic trade)

अन्तर्राष्ट्रीय व घरेलू व्यापार में समानताओ को समझने हेतु विश्लेषण को विभिन्न शीर्षको मे विभाजित करना उपयुक्त होगा।

1 अन्तर्राष्ट्रीय व अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार दोनो का ही आधार श्रम विभाजन है

(Division of labour is basis of both species of trade)

एक ही राष्ट्र के विभिन्न क्षेत्रों के मध्य भी व्यापार का आधार लागतों के अन्तर होते हैं तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधार भी तुलनात्मक लागतो के अन्तर है। लेकिन आश्चर्य तो यह है कि घरेलू व्यापार का विश्लेषण करते समय हम तुलनात्मक लागत म अन्तरो के बारे मे मौन रहते हैं जबकि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का मुख्य

9 Kindleberger, Ibid p 5

आधार तुलनात्मक लागतो मे अन्तर को ही मानते हैं। इस प्रकार की स्थिति देखकर प्रो० ओलीन आश्चर्य व्यक्त करते हैं कि घरेलू व्यापार मे हमें तुलनात्मक लागतो के बारे मे कुछ भी सुनने को नही मिलता है। उन्ही के शब्दो मे "जब प्रतिष्ठित मूल्य का श्रम-सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के प्रपच (Phenomenon) में अनुप्रयुक्त किया जाता है तो तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त—आश्चर्य है कि जिसके बारे मे हमे घरेलू व्यापार के विश्लेषण मे कुछ भी सुनने को नही मिलता— तुरन्त हल (deus ex machina) के रूप मे प्रस्तावित कर दिया जाता है।"[10]

वास्तविकता तो यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय व घरेलू व्यापार दोनो का ही आधार लागतो के अन्तर होते हैं।

2. दोनो ही प्रकार के व्यापार मे सम्बन्धित पक्षों के मध्य वस्तुओ व सेवाओ का विनिमय होता है

(All trade is an interchange of goods and services)

घरेलू व्यापार व अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार दोनों मे ही सम्बन्धित पक्ष व्यक्ति अथवा सरकारें होती है एव वस्तुओ अथवा सेवाओ का विनिमय होता है। मुद्रा तो मात्र माध्यम होता है। मार्शल (Marshall) के शब्दो मे "समस्त व्यापार—राष्ट्रो के मध्य हो अथवा व्यक्तियों के मध्य—वस्तुओ का अदल-बदल (Interchange) होता है तथा प्रत्येक पक्ष जो कुछ त्यागने को तैयार होता है वह इसे क्रय करने का साधन होता है।[11]

अत स्पष्ट है कि अन्य समस्त आर्थिक क्रियाओ की भाँति अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे भी क्रय-विक्रय व अन्य क्रियाएँ करने वाला सम्बन्धित पक्ष व्यक्ति होता है।

3. अन्तर्राष्ट्रीय व घरेलू व्यापार दोनो का ही सम्बन्ध दूरी की समस्या से है

(Both are concerned with problem of overcoming space)

कुछ अर्थशास्त्री अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को घरेलू व्यापार से अलग करने वाला प्रमुख घटक दूरी (space) को मानते है, उदाहरणार्थ, सिजविक (Sidgwick) के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए विशिष्ट सिद्धान्त की आवश्यकता साधनो की अपूर्ण गतिशीलता के कारण नही है अपितु दूरी के कारण है, वे लिखते हैं कि "दूरी अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय को अधिक मँहगा बना देती है।"[12]

लेकिन सिजविक के इस बिन्दु के सदर्भ मे इस तथ्य को ध्यान मे रखना

---

10 Ohlin, B—op cit, p 33.

11 Marshall, A—Money credit and Commerce, p 160.

12 Quoted in Ohlin, B op cit p 97.

आवश्यक है कि बहुत सी बार घरेलू व्यापार भी दूरी के कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से कम मँहगा नहीं होता है। बहुतसी बार प्रान्तो के मध्य दूरी राष्ट्रों के मध्य की दूरी से बहुत अधिक हो सकती है, उदाहरणार्थ, लाहौर व अमृतसर के मध्य बहुत कम दूरी होते भी इनके मध्य का व्यापार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार है जबकि अमृतसर व मद्रास एक राष्ट्र के भिन्न प्रान्तो मे विद्यमान है फिर भी इनके मध्य कई गुणा अधिक दूरी है। लेकिन फिर भी सिजविक का विचार इस तरफ ध्यान आकर्षित करने के लिए महत्त्वपूर्ण है कि अर्थशास्त्रियो ने व्यापार मे निहित परिवहन लागतो पर कम ध्यान केन्द्रित किया है। वास्तविकता तो यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय व अन्तर्क्षेत्रीय दोनो ही व्यापारो मे दूरी की समस्या सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है।

प्रो० ओलीन ने अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार मे दूरी के महत्त्व को निम्न शब्दो मे व्यक्त किया है, "............ .. .. परिवहन लागतें अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार मे न केवल बाधक ही होती है बल्कि इसकी दिशा व कुछ सीमा तक इसके प्रभाव को भी परिवर्तित कर देती हैं"।[13]

4 अन्तर्राष्ट्रीय व घरेलू व्यापार मे साम्य निर्धारक शर्तें समान है
(Conditions determining equilibrium are the same for both species of trade)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार-सिद्धान्त सामान्य आर्थिक सिद्धान्तो की विशिष्ट अनुप्रयुक्ति है। दोनो तरह के व्यापार मे सामान्य साम्य निर्धारित करने वाली शर्तें समान ही हैं। एजवर्थ (Edgeworth) के अनुसार, "व्यापार के दोनो ही वर्गों (Species) (घरेलू व्यापार तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार) के लिए साम्य निर्धारण करने वाली सामान्य शर्तें समान हैं, अन्तर केवल यह है कि घरेलू व्यापार मे एक अथवा दो समीकरणें अधिक होती है।"[14]

5 दोनो प्रकार के व्यापार का समान आधार
(Same basis for both species of trade)

अन्तर्राष्ट्रीय व घरेलू व्यापार समान सिद्धान्तो पर आधारित है, उदाहरणार्थ, दोनो ही प्रकार के व्यापार का प्रमुख उद्देश्य अधिकतम लाभ होता है तथा दोनो ही प्रकार के व्यापार मे अधिक पूर्ति वाले स्थानो से कम पूर्ति वाले स्थानो की ओर वस्तुओ का चलन होता है। इसी प्रकार दोनों ही प्रकार के व्यापार मे स्वेच्छिक आर्थिक सौदे

13. Ohlin B—op cit p 114
14 *Quoted in Haberler*—op cit p. 8 (foot note) from Edgeworth's—'The Pure Theory of International values.'

होते हैं। इसके अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सिद्धान्त व घरेलू व्यापार सिद्धान्त भी पृथक् नहीं है।

6 अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए पृथक् सिद्धान्त की आवश्यक्ता नही (No Need for Separate Theory of International Trade)

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए पृथक् सिद्धान्त की आवश्यक्ता पर बल दिया व अपने तर्क का आधार साधन गतिशीलता को बनाया। वे यह मानते थे कि राष्ट्र के भीतर तो उत्पादन के साधन पूर्णरूप से गतिशील होते हैं लेकिन राष्ट्रो के मध्य अगतिशील होते हैं अतः अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार म वही सिद्धान्त अनुप्रयुक्त नही किया जा सकता जो कि एक ही राष्ट्र के भिन्न क्षेत्रो के सदर्भ मे अनुप्रयुक्त किया जाता है।

वास्तव मे प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने अपने तर्क का रीतिविधान के आधार पर औचित्य ठहराने का प्रयत्न नहीं किया था। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए पृथक् सिद्धान्त आवश्यक इसलिए समझा कि वे एक तरह की दुविधा (dilemma) से घिरे हुए थे, यह दुविधा इस प्रकार थी चूंकि प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने साधन गतिशीलता के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार से भिन्न दर्शाने का प्रयत्न किया था अत उनके लिए अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए पृथक् सिद्धान्त की वकालत करना आवश्यक हो गया था। साधन गतिशीलता मे भिन्नता के कारण प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को घरेलू व्यापार से भिन्न माना था अत उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए पृथक् सिद्धान्त की आवश्यक्ता का औचित्य ठहराने का भी प्रयत्न किया।

वास्तव मे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए पृथक् सिद्धान्त की आवश्यक्ता नहीं है। नोबल पुरस्कार विजेता स्वीडन के अर्थशास्त्री बर्टिल ओलीन (Bertil Ohlin) ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'Interregional and International Trade' मे यह साबित किया है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए पृथक् सिद्धान्त की आवश्यक्ता नही है। ओलीन के ही शब्दो मे "चूंकि राष्ट्र समस्त क्षेत्रो मे से निश्चय ही सर्वाधिक महत्त्वपूण हैं अत अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का सिद्धान्त अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार को प्रमुख अनुप्रयुक्ति' है।"[15]

अर्थशास्त्र के विश्लेषण म 'समय' तत्त्व तथा 'दूरी' तत्त्व सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं। इनमे से समय तत्त्व का तो अर्थशास्त्रियों ने अपने विश्लेषण म समावेश किया है लेकिन दूरी तत्त्व की प्रारम्भ मे तो पूर्ण उपेक्षा की गयी थी—केवल लगान सिद्धान्त मे

15. Ohlin, B —Op cit p 49

दूरी तत्त्व का जिक्र था-और बाद में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त में दूरी तत्त्व को केवल विशिष्ट दृष्टिकोण से शामिल किया गया था। वास्तव में कीमत का सामान्य सिद्धान्त लगभग पूर्णरूप से एक बाजार सिद्धान्त ही है जिस में दूरी (Space) अर्थात् भिन्न स्थानीय बाजारो के विचार का कही जिक्र नही है। यह सिद्धान्त (कीमत का सामान्य सिद्धान्त) समस्त उत्पादन साधनो के लिए, सिवाय प्राकृतिक साधनो के, केवल एक स्थानीय बाजार के अस्तित्व की मान्यता पर आधारित है। समस्या के आधारभूत आकडे के रूप मे इन साधनो की कुल पूर्ति को लिया जाता हैं न कि इनके दूरी के आधार पर वितरण को। अत अधिकांश रचनाओ मे उद्योग की अवस्थिति (Location) की समस्या का उदय कभी नही हो पाता है। प्रो० ओलीन के अनुसार "भौगोलिक कीमत अन्तरो अर्थात् उद्योग की अवस्थिति को स्पष्ट करने हेतु एक-बाजार सिद्धान्त को निश्चय ही अधि-ढाँचे (Superstructure) की आवश्यक्ता है। एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का सिद्धान्त अकेला अपर्याप्त है, क्योकि अवस्थिति राष्ट्रो के भीतर कीमत निर्धारण (pricing) से भी सम्बद्ध है।"[16]

अत कीमत सिद्धान्त को ज्यादा-कम घनिष्ठ सम्बन्ध वाले अनेक स्थानीय बाजारो को शामिल करने हतु विस्तृत किया जाना चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय व अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार सिद्धान्त का उद्देश्य इस प्रकार का विस्तार करना है अत यह सिद्धान्त स्वय भी कीमत सिद्धान्त का अभिन्न अग है तथा एक-बाजार विश्लेषण द्वारा रखी गयी नीव पर निर्मित है। प्रो० ओलीन का मत है कि 'व्यापार चाहे राष्ट्रो के मध्य हो अथवा प्रान्तो के, इसका सर्वाधिक सही चित्रण उत्पादक कारको के अनेक बाजारो के अस्तित्व का समावेश करने वाली कीमत की परस्पर-अन्योन्याश्रित प्रणाली के विश्लेषण द्वारा ही किया जा सकता है।"[17]

अत प्रो० ओलीन इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का सिद्धान्त घरेलू व्यापार के सिद्धान्त से पृथक नही है, उन्ही के शब्दो मे, "अत महत्त्वपूर्ण अन्तर घरेलू व अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्तो मे नहीं है अपितु एक-बाजार व बहु-बाजार कीमत सिद्धान्तो मे हैं।"[18]

---

16 Ohlin, B —Op cit p 2

17 Ohlin, B Op cit, p 63 —The most exact description of trade—whether between countries or regions is obtained by analysing a mutual inter-dependence system of pricing, which takes account of the existence of several markets for the productive factors"

18 Ohlin, B —Op cit p 97.—"The important distinction is therefore, not between domestic and international trade theories but between a one market and many market thoery of pricing".

के साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र, अर्थशास्त्र विषय के प्रमुख भाग के रूप मे स्थापित हो गया। इतना ही नही विदेशी व्यापार के आँकडे अर्थशास्त्र मे आनुभाविक अन्वेषण के प्रथम स्त्रोत रहे हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र की ऐसी विशिष्ट व जटिल समस्याएँ हैं जिनका विश्व परिस्थितियों के सदर्भ मे अध्ययन आवश्यक है। इतना ही नही, इन समस्याओ की प्रकृति समय समय पर बदलती भी रहती है। उदाहरणार्थ, तीसा की मन्दी म प्रमुख समस्या बेरोजगारी की थी तथा इसका अन्तर्राष्ट्रीय पहलू यह था कि एक राष्ट्र से दूसरे राष्ट्र मे बेरोजगारी का निर्यात कैसे रोका जाय। द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् चालीस के दशक मे यूरोप व सुदूर पूर्व का पुन निर्माण प्रमुख समस्या थी। उन्नीसौ साठ व सत्तर के दशको मे विभिन्न प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक मुद्दे थे, उदाहरणार्थ, यूरोप के राष्ट्रो का एकीकरण, आर्थिक विकास हेतु सहायता, यूरो-डालर बाजार, अमेरिका के भुगतान सतुलन के घाटे आदि। वर्तमान मे 1980 के दशक मे विनिमय दर प्रणाली के चुनाव की समस्या अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र की प्रमुख समस्या है।

वास्तव मे यदि हम राष्ट्रीय प्रभुसत्ता पर ध्यान केन्द्रित करें तो अन्तर्राष्ट्रीय व घरेलू व्यापार म किस्म (Kind) का अन्तर माना जा सकता है और मात्र इसी आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र के पृथक् विषय के रूप मे अध्ययन का औचित्य ठहराया जा सकता है। राष्ट्र न केवल एक राजनीतिक इकाई ही होता है अपितु इसकी अपनी महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ होती हैं जिनके कारण यह विश्व के अन्य राष्ट्रो से भिन्न होता है। राष्ट्र के भीतर राष्ट्रो के मध्य की तुलना मे साधन गतिशीलता बहुत अधिक पायी जाती है, आयात वस्तुओ पर प्रशुल्क व अन्य कर लगाये जाते हैं, भिन्न राष्ट्रीय मुद्राएँ भी विशिष्ट प्रकार की समस्याएँ उत्पन्न करती हैं तथा राष्ट्रीय बाजार अभि-रुचियो, रीति-रीवाजो व आदतो के आधार पर भिन होते हैं। इन समस्त कारणों स अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार घरेलू व्यापार से भिन्न हो जाता है। अत नीति के दृष्टिकोण से भी अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र का पृथक् विषय के रूप मे अध्ययन किया जाना उचित है।

अर्थशास्त्री दीर्घकाल से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र मे विशिष्टीकरण करते रहे हैं। अत. व्यापार सिद्धान्त का स्वय का साहित्य विकसित हो चुका है जिसमे प्राय अर्थशास्त्र की अन्य शाखाओ मे उपयोग मे आनेवाली विधियो से भिन्न, विधियाँ उपयोग म ली जाती हैं। उदाहरणार्थ, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सिद्धान्त मे परम्परागत कीमत सिद्धान्त के आंशिक साम्य विश्लेषण का अधिक उपयोग नही किया जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सिद्धान्त मे कई साधनो, कई वस्तुओ व कई राष्ट्रो को एक साथ शामिल करने वाले मॉडल प्रस्तुत किये जाते हैं। अत समस्याओ की जटिलता को ध्यान

मे रखते हुए समस्याओ के विश्लेषण हेतु विशिष्ट तकनीक विकसित किये गये हैं इस विशिष्टीकरण का एक परिणाम यह हुआ है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सिद्धान्त या तो सामान्य कीमत सिद्धान्त से आगे निकल गया है अथवा पीछे रह गया है। उदाहरणार्थ, अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र म 'मूल्य के श्रम सिद्धान्त' का अधिक लम्बे समय तक उपयोग होता रहा है जबकि आधुनिक कल्याणकारी अर्थशास्त्र (Welfare economics) का अधिकांश भाग व्यापार सिद्धान्त के ढांचे मे ही विकसित हुआ है। इसके अलावा आर्थिक सिद्धान्तो की बहुत सी केन्द्रीय प्रमेय व अन्तर्दृष्टियां ऐसी हैं जिन्हे अर्थशास्त्रियो ने अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र की समस्याओ का अध्ययन करते समय विकसित किया है, उदाहरणार्थ, 'तुलनात्मक लागत सिद्धान्त' व 'साधन कीमत समानीकरण प्रमेय'। अथशास्त्र के प्रथम नोबल पुरस्कार विजेता प्रो० जॉन टिन्बरजन (Jan Tinberge1) के अनुसार 'अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार-सिद्धान्त बहुत से पहलुओ को दर्शानेवाली स्थितियां व समस्याओ पर प्रकाश डालने वाली प्रमेयो का विस्तृत ढांचा (Vast body) है"।[19]

प्रो० किन्डलबर्गर ने ठीक ही लिखा है कि, "अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को भिन्न विषय के रूप में परम्परा के कारण वास्तविक जगत म अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक प्रश्नो एव जरूरी समस्याओ के कारण, इसके घरेलू व्यापार से भिन्न नियमो से शासित होने के कारण, तथा इसके अध्ययन से सम्पूर्ण अर्थशास्त्र के अधिक अच्छे ज्ञान व प्रकाश के कारण, लिया जाता है।"[20]

प्रो० ओलीन ने स्पष्ट किया है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को प्रभावित करने वाले घटक अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार को प्रभावित करने वाले घटको से कही अधिक व बहुपक्षीय है। उनके अनुसार "अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार को शासित करने वाले घटको की तुलना मे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को शासित करने वाले घटक (circumstances) सख्या मे कही अधिक है, बहु-पक्षीय है एव उन्हे परिशुद्ध (Precise) शब्दावली मे वर्णित करना अधिक कठिन है।'[21]

अत: अधिक जटिल परिस्थितियो वाले विश्लेषण को स्पष्ट करने हेतु अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र का पृथक् विषय के रूप मे अध्ययन उचित ही प्रतीत होता है।

---

19 Quoted in Scammell, W M —International Trade and Payments, P 14

20 Kindleberger, C P —International Economics (Fourth edition) P 2

21 Ohlin B—Op cit P 76

The circumstances governing the character and effect of international trade are more numerous, many sided and difficult to describe in prec se terms than those governing interregional trade".

अन्त मे हम प्रो० स्कैमल (Scammell) के इस विचार से सहमत हैं कि "हम अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र का अध्ययन, मेलोरी (Mallory) के एवरेस्ट पर चढने की भांति इसलिए करते हैं कि यह मौजूद है। (It is there)"[22]

अर्थशास्त्र की शायद ही ऐसी दूसरी शाखा है जिसमे अर्थशास्त्रियो ने इतना अधिक कार्य किया है जितना अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र के क्षेत्र मे। पिछले डेढ सौ वर्षों से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सिद्धान्त के प्रत्येक पहलू का समन्वेषण (exploration) किया गया है, अवधारणाओं को पुनर्परिभाषित किया गया है तथा तकनीकों को पुनर्व्यवस्थित किया गया है। अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र के विभिन्न विचार बिन्दुओं पर वाद-विवाद के परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र की विषय सामग्री उच्च कोटि की व विस्तृत हो चुकी है।

अत निष्कर्ष के रूप मे हम कह सकते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र का पृथक् विषय के रूप म अध्ययन समय की माँग भी है।

22 Scammell, W M—Op cit P 1

2

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का विशुद्ध सिद्धान्त-पूर्ति पक्ष

विशुद्ध सिद्धान्त का तात्पर्य

(What is the Pure Theory)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का विशुद्ध सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र के प्रश्नो के उत्तर प्रदान करने हेतु मूल्य एव कल्याण के सिद्धान्तो की अनुप्रयुक्ति मात्र है। व्यापार के विशुद्ध सिद्धान्त एव मूल्य के सामान्य सिद्धान्त के प्रारूप (structure) मे भिन्नता पूछे जाने वाले प्रश्नो के दृष्टिकोण से है, न कि मान्यताओ के दृष्टिकोण से।[1]

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विशुद्ध सिद्धान्त मे दो भिन्न उपवर्गों की समस्याओ का विश्लेषण किया जाता है प्रथम, यथार्थमूलक (positive) अथवा वस्तुनिष्ट (objective) विश्लेषण तथा द्वितीय, कल्याणमूलक (welfare) अथवा आदर्शमूलक (normative) अर्थशास्त्र। प्रथम उपवर्ग के अन्तर्गत विदेशी व्यापार मे कौनसी वस्तुओ का आयात एव निर्यात होगा? प्रशुल्क का साधन-कीमत पर क्या प्रभाव पडेगा? अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का व्यापार की शर्तों पर क्या प्रभाव पडेगा? आदि प्रश्नो के उत्तरो का अध्ययन किया जाता है। द्वितीय उपवर्ग के अन्तर्गत क्या स्वतत्र व्यापार के फलस्वरूप सम्पूर्ण विश्व की वास्तविक आय अधिकतम होगी? राष्ट्र विशेष के दृष्टिकोण से क्या प्रशुल्क स्वतत्र व्यापार से उत्कृष्ट है? राष्ट्रीय हस्तक्षेप के रूप मे प्रशुल्क उत्तम है अथवा उपदान? आदि प्रश्नो का अध्ययन किया जाता है।

एडम स्मिथ, डेविड रिकार्डो एव जॉन स्टुअर्ट मिल जैसे प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो द्वारा प्रतिपादित अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का विशुद्ध सिद्धान्त—मुद्रा व इससे सम्बन्धित

---

1 इस सन्दर्भ मे विस्तृत विवेचन हेतु देखिये, हेबरलर
—A Survey of International Trade Theory—Special Papers in International Economics no 1 (1961) International Finance Section, Dept of Economics, Princeton University

स्वतंत्र व्यापार के परिणाम स्वरूप श्रम विभाजन का विस्तार होगा एवं सम्बन्धित राष्ट्रों की वास्तविक आय में अभिवृद्धि होगी।

स्मिथ के अनुसार "एक परिवार के समझदार स्वामी का यह सिद्धान्त होता है कि वह उस वस्तु को घर पर तैयार करने का कभी भी प्रयास नहीं करेगा जो कि वह क्रय करने में लगने वाली लागत से ऊँची लागत पर तैयार कर सके। दर्जी अपने जूते स्वयं बनाने का प्रयास नहीं करता बल्कि उन्हें मोची से खरीदता है, मोची स्वयं अपने कपड़े नहीं सिलता बल्कि वह दर्जी से सिलवाता है। एक किसान इन दोनों में से कुछ भी बनाने का प्रयास नहीं करता बल्कि भिन्न व्यवसाय वालों को काम पर लगाता है। सभी इसमें अपना हित समझते हैं कि वे अपनी सम्पूर्ण मेहनत इस प्रकार से व्यवसाय में लगावें कि उस वस्तु के उत्पादन में उन्हें अपने पड़ोसी से कुछ अधिक सुविधा उपलब्ध हो और अपने उत्पादन के एक भाग से अथवा उस के मूल्य से, जो कि एक ही बात है, उपयुक्त हो वही खरीद लें।"

स्मिथ आगे लिखते हैं "प्रत्येक निजी परिवार के आचरण में जो समझदारी है वह एक महान् राष्ट्र के आचरण में शायद ही मूर्खता हो। यदि कोई विदेशी राष्ट्र हमें किसी वस्तु की पूर्ति हमारी लागत की अपेक्षा सस्ती कर सकता है तो उत्तम यही है कि हम कुछ सुविधा वाले हमारी निजी मेहनत के उत्पादन के कुछ भाग के बदले में ऐसी वस्तु को खरीद लें——————इस तथ्य का स्पष्टीकरण करते हुए स्मिथ आगे लिखते हैं कि विशेष वस्तुओं के उत्पादन में एक देश की अपेक्षा दूसरे देश को जो प्राकृतिक लाभ प्राप्त होते हैं वे कभी-कभी इतने अधिक होते हैं कि विश्व द्वारा यह स्वीकार किया जाता है कि उनके लिए संघर्ष व्यर्थ है। शीशे, हॉटबैड और हॉट वाल द्वारा स्कॉटलैण्ड में बहुत अच्छे अंगूर उगाये जा सकते हैं और इनकी सहायता से अच्छी शराब भी बनायी जा सकती है लेकिन लागत बाहर से मंगायी गयी शराब से तीस गुना ऊँची होगी। क्या स्कॉटलैण्ड में क्लेरेट (claret) व बरगंडी (burgundy) के उत्पादन मात्र को प्रोत्साहित करने हेतु सभी शराबों के आयातों पर निषेध लगाने वाला कानून उचित होगा?————————————जब तक एक देश को वे सुविधायें उपलब्ध हैं तथा दूसरा देश उन्हें चाहता है, दूसरे देश के लिए स्वयं बनाने की अपेक्षा प्रथम देश से क्रय करना सदैव अधिक लाभप्रद होगा। यह मात्र एक अर्जित सुविधा है जो एक शिल्पी को अन्य व्यापार में संलग्न अपने पड़ोसी से बेहतर उपलब्ध है। इसके बावजूद भी उन दोनों के लिए ही अपने विशेष व्यवसाय के अन्तर्गत न आने वाली वस्तु को तैयार करने की अपेक्षा, एक दूसरे से क्रय करना अधिक लाभप्रद है।"[2]

2 Adam Smith—The Wealth of Nations, Modern Library Edition, P. 424-26

एडम स्मिथ के उपर्युक्त विचारो से अवगत होने के पश्चात् व्यापार मे प्राप्त होन वाले लाभो की वास्तविकता के बारे म किसी भी प्रकार का सन्देह बना रहना सम्भव नही है। एक परिवार के स्वामी तथा राष्ट्र को उसी वस्तु का उत्पादन करना चाहिए *जिसम उनकी दक्षता अथवा उत्पादकता अधिक है। स्मिथ के निरपेक्ष लाभ के सिद्धान्त* को तालिका 2 1 के सख्यात्मक उदाहरण द्वारा और अधिक स्पष्ट रूप से प्रस्तुत किया जा सकता है।

तालिका 2 1

दो देशो की लागतो मे निरपेक्ष अन्तर उत्पादन की श्रम लागतो (श्रम वर्षों मे) की तुलना

देश	1 इकाई शराब की लागत	1 इकाई कपडे की लागत
पुर्तगाल	80	90
इगलैण्ड	120	80

तालिका 2 1 के आंकडो से स्पष्ट है कि कपडे के उत्पादन मे इग्लैण्ड की लागत कम है तथा शराब के उत्पादन मे पुर्तगाल की। अत स्मिथ के निरपेक्ष लाभ के सिद्धान्त के अनुसार इगलैण्ड कपडे के उत्पादन मे विशिष्टीकरण एव साथ ही कपडे का निर्यात करेगा तथा पुर्तगाल शराब के उत्पादन का विशिष्टीकरण एव शराब का निर्यात करेगा। इस प्रकार दोनो ही राष्ट्रो को विशिष्टीकरण व श्रम विभाजन के लाभ प्राप्त होंगे एव व्यापाररत देशो की वास्तविक आय मे वृद्धि होगी।

स्मिथ ने व्यापार से प्राप्त होने वाले लाभो की इस प्रभावशाली व्याख्या के आधार पर ही सरकारी हस्तक्षेप की नीति का विरोध किया व स्वतत्र व्यापार नीति की वकालत की। यद्यपि स्मिथ की व्यापार से प्राप्त लाभो की व्याख्या बहुत ही स्पष्ट व प्रभावशाली थी लेकिन साथ ही यह अपूर्ण भी थी। क्योकि स्मिथ के अनुसार दो राष्ट्रो के मध्य व्यापार के लिए लागतो मे निरपेक्ष अन्तर विद्यमान होने आवश्यक है अर्थात् प्रत्येक देश मे एक वस्तु की लागत दूसरे देश मे उस की लागत से निरपेक्ष रूप से नीची होनी आवश्यक है।

इसी तथ्य को ध्यान मे रखते हुए प्रो० एल्सवर्थ[3] ने स्मिथ के निरपेक्ष लाभ के सिद्धान्त पर अग्रलिखित टिप्पणी की है:

3 Ellsworth, P T & Leith, J C.—The International Economy (5 th ed) Collier Macmillan, International Editions, PP 45-46

स्मिथ की व्याख्या जहाँ तक गयी बहुत उत्तम थी लेकिन वह बहुत आगे नहीं बढ़ी। इससे यह मान लिया गया कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए यह आवश्यक है कि निर्यात वस्तु के उत्पादक को निरपेक्ष लाभ प्राप्त हो अर्थात निर्यातक उद्योग निश्चित पूँजी व श्रम की मात्रा से अन्य किसी प्रतिद्वन्द्वी की तुलना में अधिक मात्रा उत्पादित करने में समर्थ होना चाहिये।

लेकिन यदि किसी देश में ऐसी कोई स्पष्ट कुशल उत्पादन किया नहीं हो तो उस स्थिति में क्या होगा?'

यद्यपि कुछ वस्तुओं के व्यापार का प्रमुख कारण एक देश को दूसरे देश की तुलना में प्राप्त अधिक प्राकृतिक लाभ ही होता है लेकिन यह सिद्धान्त एक पिछड़े हुए व विकसित राष्ट्र के मध्य होने वाले व्यापार के आधार को स्पष्ट करने में असमर्थ है। मान लीजिये एक अल्पविकसित राष्ट्र सभी वस्तुओं के उत्पादन में दूसरे विकसित राष्ट्र की तुलना में निरपेक्ष रूप से अकुशल है तो क्या विकसित राष्ट्र को ऐसे राष्ट्र के साथ व्यापार से लाभ प्राप्त हो सकते हैं? इस प्रश्न का उत्तर अपूर्व चिन्तक एवं प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री डैविड रिकार्डो (David Ricardo) ने आज से लगभग पौने दो सौ वर्ष पूर्व अपने तुलनात्मक लागत के प्रसिद्ध सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत किया था।

डैविड रिकार्डो का तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त
(David Ricardo's Comparative Cost Doctrine)

डैविड रिकार्डो द्वारा अपनी प्रसिद्ध कृति 'The Principles of Political Economy and Taxation' (सन् 1817) में प्रतिपादित अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार-सिद्धान्त को 'तुलनात्मक लागत सिद्धान्त' के नाम से जाना जाता है। रिकार्डो ने अपने इस सिद्धान्त द्वारा यह दर्शाने का प्रयास किया है कि राष्ट्रों के मध्य लाभदायक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए दो देशों की लागतों में निरपेक्ष अन्तर विद्यमान होने आवश्यक नहीं है, लागतों के तुलनात्मक अन्तरों की उपस्थिति के कारण भी लाभदायक व्यापार सम्भव है।

क्या तुलनात्मक लागत सिद्धान्त को सर्वप्रथम रिकार्डो ने ही प्रतिपादित किया? इस प्रश्न के उत्तर के बारे में कुछ मतभेद हैं। कुछ अर्थशास्त्री इस सिद्धान्त का प्रतिपादक रॉबर्ट टॉरेन्स (Robert Torrens) को मानते हैं। क्योंकि टॉरेन्स के सन् 1815 में छपे 'Essay on the External Corn Trade' के उद्धरणों से स्पष्ट पता चलता है कि टॉरेन्स तुलनात्मक लागत के विचार से परिचित थे। इसीलिए विश्व के कुछ विशेषज्ञों

ने इस सिद्धान्त को 'रिकार्डो-टॉरेन्स सिद्धान्त' का नाम देना अधिक उपयुक्त समझा है।[4] लेकिन यह तो स्वीकार करना ही होगा की इस सिद्धान्त को एक तर्कयुक्त सिद्धान्त के रूप मे प्रस्तुत करने व इसकी पूर्ण महत्ता को समझने का श्रेय डैविड रिकार्डो को ही है अत. हम इसका 'रिकार्डो के तुलनात्मक लागत सिद्धान्त' शीर्षक के अन्तगत हो अध्ययन करेंगे।

प्रो० जगदीश भगवती (Jagdish Bhagwati) ने रिकार्डो के तुलनात्मक लागत सिद्धान्त का अर्थ निम्न शब्दो मे व्यक्त किया है *'एक देश उस वस्तु का निर्यात (आयात) करेगा जिसमे उस देश की तुलनात्मक साधन उत्पादकता अधिक (कम) है।"*[6]

अर्थात् तुलनात्मक लागत सिद्धान्त के अनुसार एक देश उस वस्तु का निर्यात करेगा जिसमे उस देश की तुलनात्मक साधन उत्पादकता अधिक है तथा उस वस्तु का आयात करेगा जिसमे उसकी तुलनात्मक साधन उत्पादकता कम है।

रिकार्डो के सिद्धान्त का विस्तृत विश्लेषण प्रस्तुत करने से पूर्व उन मान्यताओ से अवगत होना आवश्यक है जो रिकार्डो के मूल सिद्धान्त मे निहित थी।

रिकार्डो के सिद्धान्त की मान्यताएँ
(Assumptions underlying Ricardian Theory)

1. दो देश व दो वस्तुएँ।
2. केवल श्रम ही उत्पादन का साधन।
3. मूल्य निर्धारण का श्रम-सिद्धान्त।
4. राष्ट्र के भीतर श्रम गतिशील परन्तु राष्ट्रो के मध्य गतिहीन।
5. समस्त साधन बाजारो मे पूर्ण प्रतियोगिता।
6. प्रत्येक उत्पादन क्रिया मे पैमाने की स्थिर उत्पत्ति का नियम क्रियाशील होता है।*

---

4 देखिये Chacholiades, M —Pure theory of International Trade

5 A country will export (Import) that commodity in which her comparative factor Productivity is higher (Lower) —Bhagwati, J —The Proofs of the Theorems on Comparative Advantage, Economic Journal, March 1967, PP. 75—83

*जैसा कि प्रो० भगवती ने ध्यान दिलाया है, इस मान्यता का मान्यता सख्या 2 (श्रम मात्र एक साधन) मे निहित होना आवश्यक नही है, क्योकि भूमि जैसे स्थिर उत्पादन के साधन को उत्पादन फलन की आकृति मे सम्मिलित माना जा सकना सम्भव है, देखिए—

Bhagwati, J —The Pure Theory of International Trade : A survey, E.J (Vol 74) 1964

7. माँग पक्ष में पसन्दगियों तथा पूर्ति पक्ष में तकनीकी तथा साधन उपलब्धता अपरिवर्तित ।
8. पूर्णरूप से स्वतंत्र व्यापार, प्रशुल्क अथवा अन्य किसी भी प्रकार के सरकारी नियंत्रण की अनुपस्थिति।
9. वस्तु विनिमय वाली अर्थव्यवस्थाएं ।
10. दोनों राष्ट्र साधन सम्पन्नता के दृष्टिकोण से एक समान।

संख्यात्मक उदाहरण

(A Numerical Example)

यदि हम तालिका 2.1 के संख्यात्मक उदाहरण में इंग्लैण्ड में एक इकाई कपड़े की लागत 80 के स्थान पर 100 श्रमवर्ष मानलें तो हम तालिका 2.2 में दर्शाया गया रिकार्डो का प्रसिद्ध इंग्लैंड-पुर्तगाल का उदाहरण प्राप्त हो जाता है।

तालिका 2.2 लागतों में तुलनात्मक अन्तर :

उत्पादन की श्रम लागतों (श्रम वर्षों में) की तुलना

देश	1 इकाई शराब की लागत	1 इकाई कपड़े की लागत
पुर्तगाल	80	90
इंग्लैण्ड	120	100

उपर्युक्त तालिका 2.2 के उदाहरण से स्पष्ट है कि पुर्तगाल इंग्लैण्ड की तुलना में शराब व कपड़ा दोनों ही कम लागत पर उत्पादित करने में सक्षम है। अतः व्यापार की दिशा निर्धारित करने हेतु निरपेक्ष लाभ का सिद्धान्त काम में नहीं आ सकता, ऐसी परिस्थितियों में व्यापार का नियमन तुलनात्मक लागत सिद्धान्त द्वारा होगा। अतः हम रिकार्डो के सिद्धान्त द्वारा उपर्युक्त उदाहरण में व्यापार की दिशा, व्यापार की शर्तों की सीमाएं तथा व्यापार की लब्धियाँ निर्धारित करने का प्रयास करेंगे।

रिकार्डो ने स्पष्ट किया कि यद्यपि पुर्तगाल की लागतें दोनों ही वस्तुओं के उत्पादन में निरपेक्ष रूप से कम है लेकिन उसकी तुलनात्मक रूप से शराब के उत्पादन में लागतें कम है अतः पुर्तगाल को शराब के उत्पादन में विशिष्टीकरण करना चाहिए। उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि पुर्तगाल शराब इंग्लैण्ड की तुलना में 67 प्रतिशत ($\frac{80}{120} \times 100$) लागत पर उत्पादित कर सकता है जबकि कपड़े का उत्पादन वह इंग्लैण्ड की तुलना में 90 प्रतिशत ($\frac{90}{100} \times 100$) लागत पर तैयार

कर पाता है। अत तुलनात्मक दृष्टिकोण से पुर्तगाल शराब के उत्पादन मे अधिक कुशल है और व्यापार मे वह शराब का निर्यात करेगा।

इंग्लैण्ड दोनो ही वस्तुओ के उत्पादन मे निरपेक्ष रूप से अकुशल है लेकिन कपडे के उत्पादन म उसे तुलनात्मक लाभ प्राप्त है। जैसा कि उदाहरण मे स्पष्ट है शराब के उत्पादन मे इंग्लैण्ड को पुर्तगाल की लागत का 150 प्रतिशत ($\frac{120}{80} \times 100$) व्यय करना पडता है जबकि कपडे के उत्पादन मे यह प्रतिशत 111 ($\frac{100}{90} \times 100$) ही है।

तुलनात्मक लाभ का अर्थ भली भाँति समझने हेतु यह ध्यान रखा जाना चाहिए कि कम से कम दो राष्ट्र व दो वस्तुएँ होनो आवश्यक है और हमे एक वस्तु के दो राष्ट्रो मे उत्पादन लागत के अनुपात ($\frac{80}{120}$) की दूसरी वस्तु के दो राष्ट्रो मे उत्पादन लागत के अनुपात ($\frac{90}{100}$) से तुलना करनी होती है। यदि इन दो अनुपातो मे अन्तर *पाया जाता है तो एक राष्ट्र को एक वस्तु मे तथा दूसर राष्ट्र को दूसरी वस्तु मे* तुलनात्मक लाभ प्राप्त है और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधार विद्यमान है। यह भी स्पष्ट कर देना उपयुक्त होगा कि यदि तालिका 2.2 के उदाहरण मे इंग्लैण्ड म 1 इकाई कपडे की लागत 100 के स्थान पर 135 श्रम वर्ष हो तो ऐसी स्थिति मे उपर्युक्त दोनो ही अनुपात ($\frac{80}{120}$) व ($\frac{90}{135}$) ठीक बराबर होगे। इस स्थिति मे इंग्लैण्ड व पुर्तगाल *को किसी भी वस्तु के उत्पादन मे तुलनात्मक लाभ प्राप्त नही होगा तथा व्यापार सम्भव* नही है।

रिकार्डो की प्रमेय को बीजगणितीय रूप मे भी प्रस्तुत किया जा सकता है। मान लीजिए कि पुर्तगाल व इंग्लैण्ड मे शाराब उत्पादित करने की श्रम लागतें क्रमश: LwP तथा LWE है तथा इन दोनो राष्ट्रो मे कपडा उत्पादित करने की लागतें क्रमश: LCP तथा LCE है। अब यदि $\frac{LWP}{LWE} < 1 < \frac{LCP}{LCE}$ की शर्त पूरी होती है तो *पुर्तगाल को इंग्लैण्ड की तुलना से शराब के उत्पादन मे तथा इंग्लैण्ड को पुर्तगाल की* तुलना मे कपडे के उत्पादन म निरपेक्ष लाभ प्राप्त है। हमारी तालिका 2.1 की श्रम लागतो को लिया जाय तो स्थिति इस प्रकार होगी $\frac{80}{100} < 1 < \frac{90}{80}$.

लागतो मे तुलनात्मक अन्तर की स्थिति मे $\frac{LWP}{LWE} < \frac{LCP}{LCE} < 1$ की शर्त पूरी होनी चाहिए। इस शर्त के पूरा होने का अभिप्राय यह है कि पुर्तगाल को इंग्लैण्ड की तुलना म दोनो ही वस्तुओ के उत्पादन मे निरपेक्ष लाभ प्राप्त है परन्तु उसका तुलनात्मक लाभ शराब के उत्पादन मे है। हमारी *तालिका 2 2 की श्रम लागतो* के दृष्टिकोण से स्थिति इस प्रकार होगी :— $\frac{80}{120} < \frac{90}{100} < 1.$

व्यापार की शर्तों की सीमाएँ एवं व्यापार के लाभ

(Limits to the terms of trade and gains from trade)

तालिका संख्या 2 2 के उदाहरण मे व्यापार की अनुपस्थिति म पुर्तगाल मे एक इकाई शराब की लागत 80 श्रम वर्ष है जबकि कपडे की प्रति इकाई लागत 90 श्रम वष है अत मूल्य के श्रम-सिद्धान्त के आधार पर पुर्तगाल म एक इकाई शराब की लागत $\frac{80}{90}$ = 0 89 कपडे की इकाइयाँ [0 89 कप० व 1 शराब समान श्रम वर्षों (80 श्रम वष) का उत्पादन है] होगी।

इसी प्रकार इग्लैण्ड म व्यापार से पूर्व की स्थिति मे शराब की लागत 120 श्रम वष तथा कपडे की लागत 100 श्रम वर्ष है अत 1 इकाई शराब की लागत 1 2 कपड की इकाइयाँ [1 2 कपडे व 1 शराब भी समान श्रम वर्षों (120 श्रम वष) का उत्पादन है] होगी।

व्यापार की अनुपस्थिति मे दोनो राष्ट्रो म प्रचलित कीमत अनुपात ही ऐसी दो सीमाएँ होती हैं जिनके मध्य अन्तर्राष्ट्रीय कीमत अनुपात निर्धारित होता है। अत व्यापार की शर्तों की सीमाएँ निम्न होगी।

1 इकाई शराब = { 0 89 कपडे की इकाइयाँ (पुर्तगाल)
1 2 कपडे की इकाइयाँ (इग्लैण्ड)

इन सीमाओ के मध्य कोई भी कीमत अनुपात अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की शर्तों के रूप में निर्धारित हो सकता है। व्यापार मे वास्तविक व्यापार की शर्तें क्या होगी इस प्रश्न का उत्तर खोजने का प्रयत्न रिकार्डो ने नही किया था। इसका कारण शायद यह रहा होगा कि रिकार्डो का प्रमुख उद्देश्य लागतो म तुलनात्मक अन्तरो की स्थिति मे दोनो राष्ट्रो के व्यापार से लाभान्वित होने के तथ्य को साबित करना था।

मान लीजिए माँग एव पूर्ति की शक्तियो द्वारा उपर्युक्त सीमाओ के मध्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार म व्यापार की शर्तें 1 शराब = 1 कपडा निर्धारित हो जाती है तो व्यापार से दोनो ही राष्ट्र लाभान्वित होग। व्यापार प्रारम्भ होने पर पुर्तगाल तुलनात्मक लाभ के सिद्धान्त के आधार पर शराब के उत्पादन म विशिष्टीकरण करेगा तथा कपडे का आयात करगा।

व्यापार मे पुर्तगाल को 1 शराब के बदले 1 कपडा प्राप्त होगा। यानी कि 80 श्रम वर्षो द्वारा उत्पादित शराब के बदले 1 इकाई कपडा प्राप्त होने पर पुर्तगाल 10श्रम वर्षो की बचत कर पायेगा क्योंकि यदि पुर्तगाल स्वय कपडे का उत्पादन करता है तो उस

को 90 श्रम वर्षों की लागत लगानी पड़ेगी। इसी प्रकार इंग्लैण्ड एक इकाई कपड़े के निर्यात के बदले 1 इकाई शराब का आयात करके 20 श्रम वर्षों की बचत करने में सक्षम होगा क्योंकि यदि इंग्लैण्ड स्वयं शराब उत्पादित करता है तो वह 120 श्रम वर्षों की लागत पर शराब तैयार कर पाएगा। अतः स्पष्ट है कि व्यापार से इंग्लैण्ड व पुर्तगाल दोनों ही राष्ट्र लाभान्वित होंगे।

इस प्रकार स्पष्ट है कि रिकार्डो ने अपने सिद्धान्त द्वारा यह दर्शाया कि यदि एक राष्ट्र दोनों ही वस्तुओं के उत्पादन में दूसरे राष्ट्र की तुलना में निरपेक्ष रूप से अधिक कुशल है तब भी कम कुशल राष्ट्र के साथ व्यापार करने से दोनों ही राष्ट्र लाभान्वित होंगे।

रिकार्डो के सिद्धान्त ने अर्द्ध विकसित राष्ट्र के उस सामान्य व्यक्ति के विचारों को गलत साबित किया जो इस मान्यता से ग्रसित था कि अर्द्ध विकसित राष्ट्र का विकसित राष्ट्र के साथ व्यापार करना कभी भी लाभदायक साबित नहीं हो सकता क्योंकि विकसित राष्ट्र सभी उत्पादन क्रियाओं में अधिक कुशल होने के परिणामस्वरूप सभी वस्तुएँ नीची कीमत पर विक्रय करने में सक्षम होता है अतः अर्द्ध विकसित राष्ट्र को विकसित राष्ट्रों के निर्यातों पर प्रतिबन्ध लगाने चाहिए। इसी प्रकार इस सिद्धान्त ने विकसित राष्ट्र के उस सामान्य व्यक्ति को भी गलत साबित किया जो इस मिथ्या धारणा से ग्रसित था कि अर्द्ध विकसित राष्ट्र के निम्न जीवन स्तर व मजदूरी वाले श्रमिकों की प्रतियोगिता से विकसित राष्ट्र के उच्च जीवन स्तर वाले श्रमिकों को बचाने हेतु यह आवश्यक है कि अर्द्ध विकसित राष्ट्रों के सस्ते श्रम द्वारा उत्पादित माल के आयातों पर प्रशुल्क लगाने चाहिए। वास्तविकता तो यह है कि अर्द्ध विकसित तथा विकसित दोनों ही राष्ट्र परस्पर अधिकाधिक व्यापार से लाभान्वित होते हैं।

रिकार्डो के सिद्धान्त की तर्कसंगतता व सत्यता तो हमारे दिन-प्रतिदिन के अनुभव में भी स्पष्ट झलकती है। उदाहरणार्थ, एक चिकित्सक रोगी की शल्य चिकित्सा तथा मरहम-पट्टी दोनों ही क्रियाएँ करने में नर्स से निरपेक्ष रूप से अधिक कुशल होते हुए भी मरहम-पट्टी का कार्य करवाने हेतु एक नर्स नियुक्त करता है। इसी प्रकार एक प्रोफेसर विषय के ज्ञान व टाईपिंग दोनों ही कार्यों में क्लर्क से निरपेक्ष रूप से अधिक कुशल होते हुए भी टाइप के लिए क्लर्क की नियुक्ति करता है। इसी प्रकार एक प्रबन्धक बुक कीपिंग व प्रबन्ध दोनों ही कार्यों में बुककीपर से अधिक कुशल होते हुए भी एक बुक कीपर को रोजगार देता है। ये सभी दिन-प्रतिदिन जीवन के तुलनात्मक लाभ के सिद्धान्त के ही तो उदाहरण हैं।

इस सिद्धान्त की तर्कसंगति, सरलता व वास्तविक जगत में अनुप्रयुक्तता से प्रभावित होकर ही नोबल पुरस्कार विजेता प्रोफेसर सेम्युअलसन ने इस सिद्धान्त के बारे में निम्न टिप्पणी की है :—

"यदि सिद्धान्त भी युवतियों की भांति सौन्दर्य प्रतियोगिता जीत सकते होते तो तुलनात्मक लाभ का सिद्धान्त निश्चय ही उच्च स्थान प्राप्त करता क्योंकि इस का गठन अति सुन्दर तर्क संगत है। वास्तव में हम यह मानना होगा कि यह एक सरलीकृत सिद्धान्त है। तथापि इसके प्रति सरलीकृत होने के बावजूद भी तुलनात्मक लाभ के सिद्धान्त में सत्यता की महत्वपूर्ण झलक है। राजनीति अर्थ-व्यवस्था ने ऐसे विचारों से भरपूर कम ही सिद्धान्तों को जन्म दिया है। जो राष्ट्र तुलनात्मक लाभ के सिद्धान्त की व्यवहार में उपेक्षा करता है उसे जीवन स्तर व सम्भाव्य विकास के रूप में भारी कीमत चुकानी पड़ सकती है।"[6]

रिकार्डो के सिद्धान्त की आलोचनाएँ

(Criticism of Ricardian Theory)

लेकिन इसका यह अभिप्राय नहीं है कि यह सिद्धान्त सभी दृष्टिकोणों से पूर्ण है। आलोचकों ने रिकार्डो के मूल सिद्धान्त की कई आलोचनाएँ की हैं। इनमें से अधिकांश आलोचनाएँ इस सिद्धान्त की अवास्तविक मान्यताओं पर आक्षेप हैं। सिद्धान्त की कुछ आलोचनाएँ निम्नलिखित हैं :—

रिकार्डो की दो देश व दो वस्तुओं की मान्यता इस सिद्धान्त की गम्भीर कमी नहीं कही जा सकती क्यों कि इन मान्यताओं को त्यागकर भी इस सिद्धान्त को आसानी से सत्य साबित किया जा सकता है। ये मान्यताएँ तो रिकार्डो ने केवल अपने सिद्धान्त को सरलरूप में प्रस्तुत करने के लिए मानी थी।

रिकार्डो के सिद्धान्त में मूल्य के श्रम-सिद्धान्त की मान्यता निश्चित ही एक गम्भीर मान्यता है क्योंकि यह वास्तविकता का आवश्यकता से अधिक सरलीकरण कर देती है। मोटे तौर पर मूल्य का श्रम-सिद्धान्त निम्नलिखित मान्यताओं की उपस्थिति में ही सत्य होगा[7] :—

(1) समस्त श्रम समरूप हो, (2) समस्त श्रमिक प्रत्येक धन्धे में कार्यरत हो

6 P.A Samuelson-Economics, 8th ed P. 656

7. इन बिन्दुओं के लिए देखिए हेबरलर—
The Theory of Int. Trade (1936) Ch 10.

सकते हों (3) मात्र श्रम ही उत्पादन का गतिशील साधन हो, तथा (4) श्रमिकों के बीच पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा हो।

वास्तविक जगत में इनमें से कुछ मान्यताएँ तो कभी भी प्राप्त नहीं होती है तथा कुछ सदैव प्राप्त नहीं होती है। अतः अपने सरलतम रूप में मूल्य का श्रम-सिद्धान्त खण्डित हो जाता है।

विशेष रूप से मूल्य का श्रम-सिद्धान्त ब्याज के उदय के कारक "समय-तत्व" को सम्मिलित करने में असमर्थ है। इस बिन्दु को हम निम्न प्रकार से समझ सकते हैं। यदि ब्याज की दर धनात्मक है तो किसी भी वस्तु की औसत लागत व कीमत केवल इसे तैयार करने में लगे श्रम की मात्रा से ही प्रभावित नहीं होती है अपितु इस घटक से भी प्रभावित होगी कि उत्पादन क्रिया में श्रम कितने "समय" तक कार्यरत रहा। उदाहरणार्थ, यदि एक श्रमिक X वस्तु की एक इकाई एक वर्ष में तैयार कर सकता है तथा Y वस्तु की एक इकाई दो वर्षों में, तो X वस्तु की एक इकाई का मूल्य Y वस्तु की आधी इकाई (जैसा कि सरलीकृत मूल्य के श्रम सिद्धान्त के अनुसार होना चाहिए) नहीं होगा बल्कि इससे कम होगा। इसका कारण यह है कि Y वस्तु के उत्पादन को मजदूरी के अतिरिक्त ब्याज की लागत भी वहन करनी होगी। मान लीजिए वर्ष के अन्त में W रुपयों के बराबर मजदूरी का भुगतान किया जाता है तो

$$px = w$$
$$py = [\, w(1+i) + w \,]$$
$$\frac{px}{py} = \frac{w}{w(1+i)+w} = \frac{1}{2+i} < \frac{1}{2}$$

यहाँ i ब्याज की दर है। इस प्रकार स्पष्ट है कि वस्तुओं के मूल्य केवल श्रम लागतों पर ही नहीं बल्कि ब्याज की दर पर भी निर्भर करेंगे। मूल्य का श्रम-सिद्धान्त ब्याज तत्त्व को सम्मिलित नहीं कर पाता है।

इसके अतिरिक्त यह भी सत्य है कि श्रम साधन न तो "समरूप" ही होता है तथा न ही मात्र एक उत्पादन का साधन होता है। श्रमिकों के भिन्न "अप्रतियोगी समूह" होते हैं जो कि अन्य धन्धे में शीघ्र व सरलतापूर्वक स्थानान्तरित नहीं हो पाते है। उदाहरणार्थ कृषि क्षेत्र व औद्योगिक क्षेत्र के श्रमिकों के समूह एक दूसरे से प्रतिस्पर्द्धा नहीं कर पाते हैं क्योंकि ये अप्रतियोगी समूह हैं। लेकिन इससे भी गम्भीर आपत्ति यह है कि श्रम ही एक मात्र उत्पत्ति का साधन नहीं होता है। वस्तुओं के उत्पादन में भूमि, श्रम तथा पूँजी के भिन्न संयोगों की आवश्यकता होती है।

उदाहरणार्थ, कृषि पदार्थों के उत्पादन में भूमि साधन तथा मशीनों के उत्पादन में पूँजी साधन की महत्वपूर्ण भूमिकाएँ होती है अत इन वस्तुओं के मूल्य निर्धारण में क्रमश भूमि तथा पूँजी साधनों की उपेक्षा करना निश्चय ही उचित विधि नहीं है।

अत महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि यदि हम मूल्य निर्धारण के श्रम-सिद्धान्त को अवास्तविक मानकर अस्वीकार कर दें तो क्या हमें तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त भी अस्वीकार करना पड़ेगा? सौभाग्यवश ऐसा नहीं है यानी कि तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त सत्य बने रहने के लिए अपनी मान्यताओं पर निर्भर नहीं है।

सन् 1936 म हेबरलर ने रिकार्डो के सिद्धान्त को इसके 'मूल्य के श्रम-सिद्धान्त' की अवास्तविक मान्यताओं से मुक्त कर इसका पुनर्कथन किया जिसे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे "अवसर लागत सिद्धान्त" के नाम से जाना जाता है।

हेबरलर का अवसर लागत सिद्धान्त

(Haberler's opportunity cost Doctrine)

हेबरलर के सिद्धान्त को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे "उत्पादन सम्भावना वक्र" (Production Possibilities Curve) की सहायता से प्रस्तुत किया जाता है। विश्लेषण को सरल बनाने हेतु हम एक भिन्न सख्यात्मक उदाहरण लेते हैं।

मान लीजिए भारत व इग्लैण्ड दो वस्तुओं-चाय व इस्पात-का उत्पादन करते हैं तथा इन राष्ट्रों में लागत व उत्पादन संरचना निम्न तालिका 2.3 वाली है :—

तालिका 2.3

1 श्रमिक का 1 वर्ष का उत्पादन

	भारत में	इग्लैण्ड में
चाय	30 टन	10 टन
इस्पात	10 टन	5 टन

उदाहरण से स्पष्ट है कि भारत इग्लैण्ड से चाय व इस्पात दोनों ही वस्तुओं के उत्पादन मे निरपेक्ष रूप से अधिक कुशल है। लेकिन भारत का तुलनात्मक लाभ चाय के उत्पादन मे है (चाय उत्पादन मे भारत इग्लैण्ड से तीन गुणा अधिक कुशल है जबकि इस्पात के उत्पादन मे दो गुणा है, अत भारत इग्लैण्ड से इस्पात का आयात करेगा।

मान लीजिए कि भारत अपने सम्पूर्ण साधनों की सहायता से या तो 30 मिलियन टन चाय उत्पादित कर सकता है अथवा 10 मिलियन टन इस्पात। जबकि इंग्लैण्ड अपने समस्त साधनों की सहायता से 10 मिलियन टन चाय अथवा 5 मि टन इस्पात उत्पादित कर पाता है। तो इन सम्भावित उत्पादन की मात्राओं को चाय व इस्पात अक्षों पर चित्र 2 1 A तथा B की सहायता से दर्शाया जा सकता है।
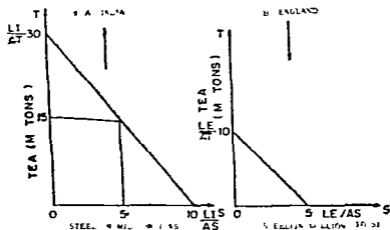
चित्र 2 1—भारत व इंग्लैण्ड में पूर्ण रोजगार की स्थिति में उत्पादन सम्भावनाएँ

एक राष्ट्र के उत्पादन सम्भावना वक्र के भिन्न बिन्दु यह दर्शाते हैं कि दी हुई तकनीकों व दी हुई साधनों की मात्रा की स्थिति में साधनों को पूर्ण रूप से नियोजित करके अर्थव्यवस्था प्रति इकाई समयानुसार वस्तुओं की अधिकतम कितनी मात्रा उत्पादित कर सकती है।

भारत के चित्र में T अक्ष तथा S अक्ष पर क्रमश: 30 मि टन चाय तथा 10 मि टन इस्पात के बिन्दुओं को मिलाने वाली रेखा "उत्पादन सम्भावना वक्र" है, यह वक्र चाय व इस्पात के भिन्न प्राप्य संयोग दर्शाती है। इस रेखा को "अवसर लागत वक्र" (Opportunity Cost Curve), रूपान्तरण वक्र (Transformation Curve), उत्पादन प्रतिस्थापन वक्र (Product Substitution Curve) आदि नामों से भी जाना जाता है।

उत्पादन सम्भावना वक्र के विभिन्न बिन्दु उत्पादन की भिन्न सम्भावनाओं को ही

प्रदर्शित करते हैं, वास्तविक उत्पादन बिन्दु कौनसा होगा यह इंगित नहीं करते। वास्तविक उत्पादन बिन्दु निर्धारित करने हेतु मांग पक्ष की सूचना आवश्यक है।

स्थिर अवसर लागतें

(Constant Opportunity Costs)

रिकार्डो के मॉडल में मात्र श्रम ही उत्पादन का साधन माना गया था तथा साथ ही पैमाने की स्थिर उत्पत्ति के नियम की मान्यता भी उनके विश्लेषण में निहित थी। अत: रिकार्डो के मॉडल से स्थिर अवसर लागतों वाला उत्पादन सम्भावना वक्र ही प्राप्त होता है।

मान लीजिए कि भारतवर्ष में श्रम की कुल LI इकाइयां उपलब्ध हैं तथा चाय व इस्पात की प्रति इकाई उत्पादन लागत क्रमश: at तथा as श्रमिक हैं, तो भारत का उत्पादन सम्भावना वक्र निम्न समीकरण द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है

$$LI = at\,T + as\,S \qquad (1)$$

उपर्युक्त समीकरण रेखीय है तथा चित्र 2.1(A) में सरल रेखा द्वारा प्रदर्शित की गयी है।

भारत के उत्पादन सम्भावना वक्र का निरपेक्ष ढाल निम्न अनुपात द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है

$$\text{ढाल} = \frac{\text{लम्ब}}{\text{आधार}} = \frac{LI/at}{LI/as} = \frac{as}{at} \qquad (2)$$

मान लीजिए कि भारत चित्र 2.1 (A) में बिन्दु N पर उत्पादन कर रहा है एवं इस्पात की मांग बढ़ने के परिणाम स्वरूप उत्पादन बिन्दु Q हो जाता है। अर्थात् राष्ट्र चाय के उत्पादन से इस्पात के MQ उत्पादन की वृद्धि के लिए पर्याप्त साधन हस्तान्तरित कर देता है जिससे चाय की NM इकाईयों के उत्पादन में कमी हो जाती है। अब प्रश्न यह है कि भारतवर्ष में इस्पात का प्रति इकाई अतिरिक्त उत्पादन करने हेतु चाय की कितनी इकाइयां त्यागनी पड़ी? इस प्रश्न का उत्तर है $\frac{MN}{MQ}$ इकाईयां जोकि भारत के उत्पादन सम्भावना वक्र का निरपेक्ष ढाल है। अत: भारत के उत्पादन सम्भावना वक्र का निरपेक्ष ढाल-जिसे हम "रूपान्तरण की सीमान्त दर" कहते हैं—इस्पात की चाय के रूप में अवसर लागत प्रदर्शित करता है। समीकरण (1) व (2) को मिलाकर हम पाते हैं कि भारत के उत्पादन सम्भावना

वक्र का निरपेक्ष ढाल वस्तु कीमतो के अनुपात $\frac{PS}{PT}$ के बराबर है । इस महत्वपूर्ण निष्कर्ष को निम्न प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है ।

$$\frac{\Delta T}{\Delta S} = \frac{aS}{at} = \frac{PS}{Pt} \qquad (3)$$

वास्तव मे यह कहना अधिक सही होगा कि भारत के उत्पादन सम्भावना वक्र का ढाल इस्पात व चाय की सीमान्त लागतो का अनुपात दर्शाता है ।

भारत के उत्पादन सम्भावना वक्र का निरपेक्ष ढाल $= \dfrac{\text{इस्पात की सीमान्त लागत}}{\text{चाय की सीमान्त लागत}}$

इस निष्कर्ष का महत्व उस समय स्पष्ट होगा जब हम अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की स्थिति दर्शाएँगे क्योकि वहाँ व्यापार की शर्तें उत्पादन सम्भावना वक्र के निरपेक्ष ढाल से भिन्न होगी ।

चित्र 2.1 (A) मे उत्पादन सम्भावना वक्र दर्शाता है कि 10 मि. टन इस्पात की उत्पादन लागत चाय के रूप मे 30 मि. टन है अथवा 1 इकाई इस्पात की चाय के रूप मे 3 इकाई लागत है तथा यह लागत उत्पादन सम्भावना वक्र की पूरी लम्बाई पर स्थिर है । चाहे हम एक इकाई अतिरिक्त इस्पात उत्पादित करें अथवा 10 इकाई । अतिरिक्त इस्पात की प्रति इकाई लागत 3 इकाई चाय ही है । दूसरे शब्दो मे हम यह कह सकते हैं कि उत्पादन सम्भावना वक्र का ढाल ही अतिरिक्त इस्पात की चाय के रूप मे लागत प्रदर्शित करता है तथा सरल रेखा वाले उत्पादन सम्भावना वक्र का ढाल स्थिर होता है अत इस्पात की चाय के रूप मे लागत भी स्थिर है । इसी प्रकार चाय की एक अतिरिक्त इकाई उत्पादित करने की इस्पात की $\frac{1}{3}$ इकाई लागत है तथा यह लागत भी स्थिर है । अत: सरल रेखा वाला उत्पादन सम्भावना वक्र स्थिर लागतो की स्थिति प्रदर्शित करता है ।

स्थिर लागतो वाले उत्पादन सम्भावना वक्र का ढाल न केवल अवसर लागत अनुपात ही दर्शाता है अपितु घरेलू बाजार कीमत अनुपात का भी प्रतिनिधित्व करता है । भारतवर्ष मे व्यापार की अनुपस्थिति मे 30 चाय = 10 इस्पात (अथवा 3 चाय बराबर 1 इस्पात) का कीमत अनुपात विद्यमान रहेगा ।

चौगुना कर दिया गया है ताकि इस्पात वाले सिरे पर दोनो राष्ट्रो के उत्पादन सम्भावना वक्र इस्पात की 20 इकाइयाँ प्रदर्शित कर सकें।

व्यापार पूर्व अवस्था मे भारत मे 20 इस्पात के बदले 60 चाय की इकाइयो तथा इग्लैण्ड मे 20 इस्पात के बदले 40 चाय की इकाइयों का विनिमय अनुपात विद्यमान है।

मान लीजिए कि व्यापार पूर्व अवस्था मे इग्लैण्ड मे उत्पादन व उपभाग विन्दु (चित्र 2 2) इग्लैण्ड के उत्पादन सम्भावना वक्र पर P तथा C हैं अर्थात व्यापार पूर्व स्थिति मे इग्लैण्ड मे 10 इस्पात व 20 चाय की इकाइयो का उपभोग व उत्पादन हो रहा है।

अब मान लीजिए कि भारत व इग्लैण्ड के मध्य व्यापार प्रारम्भ हो जाता है तो व्यापार मे अन्तर्राष्ट्रीय कीमत अनुपात निम्न दो सीमाओ के मध्य कहीं भी निर्धारित हो सकता है .

20 इस्पात = { 40 चाय (इग्लैण्ड का व्यापार पूर्व कीमत अनुपात)
60 चाय (भारत का व्यापार पूर्व कीमत अनुपात)

इन दो सीमाओ के मध्य वास्तविक कीमत अनुपात माँग व पूर्ति की सयुक्त शक्तियो द्वारा निर्धारित होगा। मान लीजिए कि व्यापार की शर्तें माँग व पूर्ति की शक्तियो द्वारा 20 इस्पात = 50 चाय निर्धारित हो जाती हैं तो 20 इस्पात व 50 चाय वाली रेखा (चित्र 2.2 मे टूटी रेखा) अन्तर्राष्ट्रीय कीमत अनुपात का प्रतिनिधित्व करेगी तथा दोनो व्यापाररत राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से लाभान्वित होंगे।

व्यापाररत राष्ट्रो की साम्यावस्था मे चित्र 2.2 मे इग्लैण्ड इस्पात के उत्पादन मे पूर्ण विशिष्टीकरण करेगा तथा 20 इकाई इस्पात का उत्पादन करेगा। इग्लैण्ड का उपभोग विन्दु माँग के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय कीमत अनुपात प्रदर्शित करने वाली टूटी रेखा पर कही भी स्थित हो सकता है। मान लीजिए नया उपभोग विन्दु C' निर्धारित हो जाता है तो इग्लैण्ड को व्यापारपूर्व स्थिति की तुलना मे दोनो ही वस्तुओ की उपभोग हेतु अधिक मात्रा उपलब्ध होगी। इस प्रकार C' विन्दु पर इग्लैण्ड व्यापारपूर्व स्थिति की तुलना मे 1 इकाई अधिक इस्पात व 2 5 इकाई अधिक चाय का उपभोग करने मे सफल होगा।

वास्तव में व्यापारोपरांत साम्य में इंग्लैण्ड का उपभोग बिन्दु अन्तर्राष्ट्रीय कीमत अनुपात दर्शाने वाली टूटी रेखा पर पर कहीं भी स्थित हो सकता है तथा प्रत्येक स्थिति में सन्तोष के स्तर के दृष्टिकोण से व्यापारपूर्व की स्थिति से उत्तम स्थिति है।

यदि अन्तर्राष्ट्रीय कीमत अनुपात 60 चाय=20 इस्पात निर्धारित हो जाता है तो यह भारत का व्यापारपूर्व वाला कीमत अनुपात ही होगा तथा इस स्थिति में भारत व्यापार से लाभान्वित नहीं होगा एवं व्यापार के समस्त लाभ इंग्लैण्ड को मिलेंगे। इस स्थिति में चित्र 2.2 में इंग्लैण्ड का व्यापारोपरांत उपभोग बिन्दु भारत के उत्पादन सम्भावना वक्र पर कहीं भी स्थित हो सकता है। इस स्थिति में भारत व्यापार के प्रति उदासीन पाया जायेगा। इसके विपरीत यदि अन्तर्राष्ट्रीय कीमत अनुपात इंग्लैण्ड का व्यापारपूर्व वाला निर्धारित हो जाता है तो व्यापार के समस्त लाभ भारत को प्राप्त होंगे तथा इंग्लैण्ड व्यापार के प्रति उदासीन रहेगा। अत: स्पष्ट है कि किसी भी राष्ट्र को व्यापार से लाभ प्राप्त होने के लिए आवश्यक शर्त यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय कीमत अनुपात उस राष्ट्र के व्यापारपूर्व के घरेलू कीमत अनुपात से भिन्न हो।

परिवर्तनशील अवसर लागतें

(Variable opportunity Costs)

सरल रेखा (Straight line) वाले उत्पादन सम्भावना वक्र के पीछे निहित मान्यता यह है कि उत्पादन के समस्त साधन प्रत्येक वस्तु के उत्पादन में समानरूप से कुशल हैं। लेकिन यह मान्यता अवास्तविक है। उदाहरणार्थ, यह सम्भव है कि भूमि व बागवानी में चतुर श्रमिक चाय उत्पादन में अधिक कुशल हों तथा मशीनों व तकनीकों में दक्ष श्रमिक इस्पात निर्मित करने में अधिक कुशल हों। अत: यदि उत्पादन के भिन्न साधन भिन्न वस्तुओं के उत्पादन में अपेक्षाकृत अधिक कुशल हैं तो उत्पादन सम्भावना वक्र मूल बिन्दु की ओर नतोदर (Concave) होगा एवं बढ़ती हुई अवसर लागतों (Increasing opportunity costs) की स्थिति का प्रतिनिधित्व करेगा। चित्र 2.3 बढ़ती हुई लागतें दर्शाता है

चित्र 2.3 में जैसे-जैसे चाय का अतिरिक्त उत्पादन बढ़ाया जाता है वैसे-वैसे चाय के अतिरिक्त उत्पादन की लागत बढ़ती जाती है। इस्पात अक्ष पर इस्पात की समान मात्राओं को त्यागने से निर्मुक्त (released) साधनों से चाय उत्पादन की मात्रा क्रमश: घटती जाती है। प्रथम बार LM इस्पात का उत्पादन घटाने से निर्मुक्त साधनों से ef अतिरिक्त चाय उत्पादित हो सकी है, द्वितीय बार fg तृतीय बार
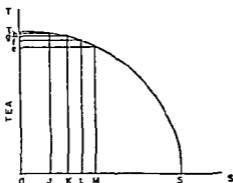
चित्र 2.3 —उत्पादन सम्भावना वक्र बढ़ती हुई लागतें

gh आदि। चित्र 2.3 से स्पष्ट है कि ef > fg > gh जबकि JK=KL=LM अर्थात् इस्पात की समान मात्राओं के त्याग से निर्मुक्त साधनों से चाय उत्पादन में उत्पादन की वृद्धियाँ उत्तरोत्तर कम होती जाती हैं अर्थात् चाय के अतिरिक्त उत्पादन की इस्पात की त्यागी गयी इकाईयों के रूप में लागत बढ़ती जाती है।

इसी प्रकार उत्पादन सम्भावना वक्र पर दायीं ओर नीचे की तरफ चलन करने पर अतिरिक्त इस्पात के उत्पादन की चाय के त्याग के रूप में बढ़ती हुई लागत की स्थिति प्राप्त होती है।

बढ़ती हुई लागतों में व्यापारपूर्व साम्य

(Autarky equilibrium under increasing Costs)

मात्र श्रम ही उत्पादन का साधन मान लेने पर स्थिर लागतों की स्थिति प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त उत्पादन के साधन सभी वस्तुओं के उत्पादन में एक समान कुशल नहीं होते हैं। यदि उत्पादन में श्रम, भूमि, पूँजी आदि साधन कार्यरत हैं तो इनमें से कुछ साधन चाय उत्पादन में अपेक्षाकृत अधिक कुशल होंगे तो कुछ अन्य साधन इस्पात उत्पादन में अधिक कुशल। बढ़ती हुई लागतों की स्थिति इसी वास्तविकता पर आधारित है।

बढ़ती लागतों वाले उत्पादन सम्भावना वक्र का ढाल 'अवसर लागत अनुपात' दर्शाता है तथा कीमत अनुपात दर्शाने हेतु भिन्न रेखा खींचनी होती है। चित्र 2.4 में P-P तथा P_1-P_1 रेखाओं का ढाल वस्तु कीमत अनुपात दर्शाता है।
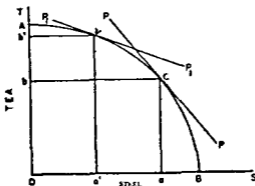
चित्र 2 4 :—बढ़ती लागतों में साम्य उत्पादन

चित्र 2 4 में यदि प्रचलित वस्तु कीमत अनुपात P-P रेखा के ढाल वाला है तो उत्पादन सम्भावना वक्र A-B पर C बिन्दु साम्य बिन्दु होगा। साम्य बिन्दु C पर वस्तु कीमत अनुपात रेखा P-P उत्पादन सम्भावना वक्र के स्पर्श (tangent) है जिसका अभिप्राय यह है कि इस बिन्दु पर उत्पादन में सीमान्त रूपान्तरण की दर (marginal rate of transformation) बाजार कीमत अनुपात के बराबर है।

चित्र 2 4 में यदि अस्थायी उत्पादन बिन्दु d है तो या तो उत्पादन बिन्दु परिवर्तित होकर C हो जायेगा (यदि वस्तु कीमत अनुपात P-P रेखा वाला ही बना रहता है तो) अथवा चाय का सापेक्ष मूल्य बढ़कर P_1-P_1 रेखा के ढाल वाला हो जायेगा (यदि उत्पादन d बिन्दु पर ही करवाना है तो) अथवा कीमत व उत्पादन दोनों परिवर्तित होकर कोई अन्य साम्य उत्पादन बिन्दु निर्धारित हो जायेगा। अत. स्पष्ट है कि साम्य उत्पादन बिन्दु वही निर्धारित होगा जहाँ कीमत रेखा उत्पादन सम्भावना वक्र के स्पर्श हो।

चित्र 2 4 में यदि कीमत रेखा P—P ही बनी रहती है तथा अर्थव्यवस्था में अस्थायी रूप से उत्पादन बिन्दु d है तो उत्पादकों को उत्पादन में चाय के स्थान पर इस्पात का प्रतिस्थापन करके C बिन्दु की ओर चलन करने से लाभ होगा। क्योंकि d बिन्दु पर उत्पादन की सीमान्त रूपान्तरण की दर $\left[\frac{\Delta T}{\Delta S}\right]$ वस्तु कीमत अनुपात $\left[\frac{Ps}{PT}\right]$ से कम है। इसका अभिप्राय यह है कि चाय की त्यागी गयी मात्रा के रूप में

अतिरिक्त इस्पात की लागत, इस्पात के बाजार मे विद्यमान सापेक्ष मूल्य से कम है। अत उत्पादन बिन्दु d से परिवर्तित होकर C हो जायेगा। C बिन्दु पर सीमान्त रूपान्तरण की दर (MRT) वस्तु कीमत अनुपात $\left[\frac{Ps}{PT}\right]$ के समान है अत c साम्य उत्पादन बिन्दु है।

दूसरी सम्भावना यह है कि यदि उत्पादन d बिन्दु पर ही बनाये रखना है तो वस्तु कीमत अनुपात P-P रेखा वाले से बदल कर P_1-P_1 रेखा वाला हो जाये अर्थात् चाय के सापेक्ष मूल्य मे वृद्धि हो।

अब हमारे समक्ष महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि चाय के उत्पादन मे वृद्धि हेतु (अर्थात् c बिन्दु से d बिन्दु पर उत्पादन करवाने हेतु) यह क्यो आवश्यक है कि चाय के सापेक्ष मूल्य मे वृद्धि हो ? इस प्रश्न का विशेष महत्त्व इसलिए भी है कि हमने इस पूरे विश्लेषण मे पैमाने के स्थिर प्रतिफल (Constant Returns to Scale) की मान्यता मान रखी है।

उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर प्रदान करने हेतु हमे साम्यावस्था मे रूपान्तरण वक्र (Transformation Curve) के ढाल का अर्थ समझना अति आवश्यक है। मान लीजिये कि वस्तु व साधन बाजारो मे पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति विद्यमान है। हमे ज्ञात हो है कि समस्त बाजारो मे पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति मे प्रत्येक उत्पादन के साधन को उसकी सीमान्त उत्पादकता के मूल्य के सम पारितोषिक प्राप्त होता है। माना कि MP_{ij}, i वें साधन की j वी वस्तु मे सीमान्त उत्पादकता है एव p_j वस्तु कीमत है (i = k, L, तथा j = T, S), w मजदूरी की दर व r ब्याज की दर है तो—

$$W = p_S \; MPL_S = p_T \; MPL_T$$

तथा

$$r = p_S \; MPk_S = p_T \; MPK_T$$

इन सम्बन्धो से

$$\frac{PS}{PT} = \frac{MPLT}{MPLS} = \frac{MPKT}{MPKS}$$

अथवा

$$\frac{PS}{PT} = \frac{\Delta T/\Delta LT}{\Delta S/\Delta LS} = \frac{\Delta T/\Delta KT}{\Delta S/\Delta KS}$$

उत्पादन के साधनो की स्थिर पूर्ति व साधनो के पूर्ण रोजगार की मान्यताओ के आधार पर हम लिख सकते है कि

$$\triangle LT = -\triangle LS, \text{ तथा } \triangle KT = -\triangle KS$$

प्रतिस्थापन करने पर

$$\frac{\triangle T}{\triangle S} = -\frac{PS}{PT}$$

यहाँ पर $\frac{\triangle T}{\triangle S}$ रूपान्तरण वक्र का ढाल है जो कि सीमान्त रूपान्तरण की दर (marginal rate of transformation) है। दूसरे शब्दो मे हम कह सकते है कि साम्यावस्था मे रूपान्तरण वक्र का ढाल वस्तु कीमत अनुपात के ऋणात्मक (negative of the Commodity price ratio के बराबर होता है। चित्र 2 4 म P-P व P_1-P_1 जैसी प्रत्येक कीमत रेखा का ढाल इस्पात का सापेक्ष मूल्य अर्थात् $\frac{PS}{PT}$ प्रदर्शित करता है।

मूल विन्दु की ओर नतोदर (Concave) रूपान्तरण वक्र का अभिप्राय यह है कि दोनो वस्तुओ मे किसी भी वस्तु के उत्पादन म वृद्धि हेतु उस वस्तु के सापेक्ष मूल्य मे वृद्धि होनी आवश्यक है। इसका कारण उत्पादन सम्भावना वक्र की आकृति मे निहित यह मान्यता है कि प्रत्येक वस्तु मे उपयोग मे लिया जाने वाला पूँजी/श्रम अनुपात प्रत्येक परिस्थिति मे भिन्न बना रहेगा। उदाहरणार्थ, चित्र 2 4 मे जब उत्पादन बिन्दु c से d हो जाता है तो इस्पात का उत्पादन कम करने पर इस्पात मे कार्यरत पूँजी तथा श्रम का एक हिस्सा निर्मुक्त (release) होता है तथा उत्पादन सम्भावना वक्र के प्रत्येक बिन्दु पर पूर्णरोजगार की स्थिति विद्यमान रहने हेतु साधनो का यह निर्मुक्त सयोग ज्यो का त्यो चाय उत्पादन मे कार्यरत कर लिया जाता है। लेकिन चूँकि चाय अपेक्षाकृत श्रम गहन वस्तु होने के कारण इसके उत्पादन मे श्रम की अधिक इकाइयो की आवश्यकता है जबकि इस्पात उत्पादन से निर्मुक्त साधनो के सयोग मे पूँजी साधन की अधिक मात्रा है। अत अर्थव्यवस्था मे श्रम साधन की दुर्लभता व पूँजी साधन के आधिक्य की स्थिति उत्पन्न हो जायेगी जिसके परिणाम स्वरूप मजदूरी की दरो मे वृद्धि होगी तथा ब्याज दरें गिरेगी। चूँकि चाय श्रम गहन वस्तु है एव श्रम साधन का पारितोषिक बढ गया है अत चाय की इकाई लागत मे वृद्धि होगी। जबकि पूँजी साधन का पारितोषिक घटने के कारण इस्पात की इकाई

लागत गिरेगी। अन्तत दोनो ही वस्तुओ के उत्पादन मे प्रयुक्त पूँजी/श्रम अनुपात पूर्व की तुलना मे ऊँचा बना रहेगा जिससे साधनो के पूर्णरोजगार की साम्यावस्था स्थापित होगी। लेकिन श्रम साधन के पारितोषिक मे वृद्धि के कारण चाय की इकाई लागत व कीमत मे वृद्धि हो जायेगी।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह भी स्पष्ट है कि यदि उत्पादन मे मात्र एक ही साधन कार्यरत है अथवा दोनो वस्तुओ के उत्पादन मे पूँजी/श्रम अनुपात समान है (जैसी कि सरलरेखा वाले उत्पादन सम्भावना वक्र के पीछे मान्यता थी) तो उत्पादन सम्भावना वक्र स्थिर लागतो को प्रदर्शित करने वाली सरल रेखा होगी। क्यो कि इन मान्यताओ के कारण अर्थव्यवस्था मे साधनो की दुर्लभता व आधिक्य की स्थिति उत्पन्न नही होगी तथा उत्पादन लागत व वस्तु कीमत अनुपात स्थिर बना रहेगा।

बढ़ती हुई लागतो में ग्रन्तर्राष्ट्रीय व्यापार

(Trade under Increasing Costs)

उत्पादन लागतें चाहे स्थिर हो अथवा बढती हुई लाभप्रद व्यापार तब तक ही सम्भव है जब तक कि व्यापारपूर्व वस्तु कीमत अनुपात दोनो राष्ट्रो मे भिन्न है। अन्तर मात्र यह है कि स्थिर लागतो मे विशिष्टीकरण के बावजूद भी प्रति इकाई लागत पूर्ववत् बनी रहती है जबकि बढती हुई लागतो की स्थिति मे विशिष्टीकरण के साथ-साथ निर्यात वस्तु की इकाई लागत मे भी वृद्धि होती है।
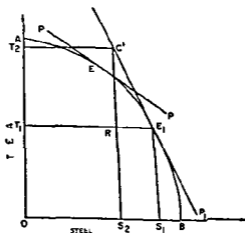
चित्र 2.5 .—बढती हुई लागतो के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार

व्यापारपूर्व साम्यावस्था मे इग्लैण्ड मे प्रचलित वस्तु कीमत अनुपात P-P रेखा के ढाल द्वारा प्रदर्शित किया गया है अत साम्य उत्पादन व उपभोग विन्दु E है। मान लीजिए कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे P_1-P_1 रेखा के ढाल वाला वस्तु कीमत अनुपात निर्धारित हो जाता है तो इग्लैंड इस्पात के उत्पादन म विशिष्टीकरण करेगा व इग्लैंड का साम्य उत्पादन विन्दु E से E_1 हो जायेगा। E_1 विन्दु पर अन्तर्राष्ट्रीय कीमत अनुपात रेखा उत्पादन सम्भावना वक्र के स्पर्श है अत यह साम्य उत्पादन विन्दु है। मान लीजिए कि मांग की शक्तियो द्वारा इग्लैण्ड का उपभोग विन्दु C' निर्धारित हो जाता है। अत इग्लैंड E_1 विन्दु पर OT_1 चाय तथा OS_1 इस्पात का उत्पादन करेगा। व्यापाररत अवस्था मे इग्लैंड का उपभोग विन्दु P_1-P_1 रेखा पर E_1 विन्दु के ऊपर बायी ओर कही भी विद्यमान हो सकता है। C विन्दु उपभोग विन्दु निर्धारित होने पर इग्लैंड OT_2 चाय व OS_2 इस्पात का उपभोग करेगा तथा T_2-T_1 चाय के आयात के विनिमय मे S_2-S_1 इस्पात का निर्यात करेगा।

इग्लैण्ड को व्यापार से प्राप्त लाभ को हम व्यापार पूर्व उपभोग विन्दु E तथा व्यापारोपरान्त उपभोग विन्दु C' का अवलोकन कर ज्ञात कर सकते हैं। E विन्दु की तुलना मे C' विन्दु पर इग्लैंड को चाय व इस्पात दोनो की ही अधिक मात्रा उपभोग के लिए उपलब्ध है अत. व्यापारोपरान्त साम्यावस्था मे इग्लैण्ड का कल्याण का स्तर ऊँचा है।

यहाँ पर यह जानना भी आवश्यक है कि क्या इग्लैंड को S_1-S_2 इस्पात के विनिमय मे आयात के रूप मे T_1-T_2 चाय की मात्रा प्राप्त हो सकेगी। इस प्रश्न का उत्तर निश्चय ही 'हाँ' मे है। चित्र 2 5 मे S_2-S_1 तथा T_2-T_1 मात्रायें क्रमशः RE_1 तथा RC' मात्राओ के बराबर है। व्यापार की शर्तों को दर्शाने वाली रेखा P_1-P_1 का ढाल भी $\frac{RC'}{RE_1}$ है अत स्पष्ट है कि प्रचलित अन्तर्राष्ट्रीय कीमत अनुपात पर इग्लैंड RE_1 इस्पात के निर्यात के विनिमय मे RC' चाय आयात के रूप म प्राप्त कर सकेगा।

आशिक विशिष्टीकरण

(Partial Specialization)

स्थिर एव बढती हुई लागतो मे व्यापाररत राष्ट्रो की साम्यावस्था के विश्लेषण म प्रमुख अन्तर यह है कि स्थिर लागतो की स्थिति मे व्यापाररत राष्ट्र साम्यावस्था मे अपने उत्पादन सम्भावना वक्र के एक कोने पर उत्पादन करता हुआ पाया जाता है

अर्थात निर्यात वस्तु मे पूर्ण विशिष्टीकरण (Complete specialisation) प्राप्त करता है* तथा आयात वस्तु का शून्य उत्पादन करता है। (देखिये चित्र 2 2 मे बिन्दु P_1)। इसके विपरीत बढती हुई लागतो की स्थिति मे राष्ट्र अपनी निर्यात वस्तु म विशिष्टीकरण तो करता है लेकिन व्यापाररत साम्यावस्था मे आयात वस्तु की भी कुछ मात्रा का उत्पादन करता रहता है (देखिए चित्र 2 5 मे बिन्दु E_1) अत आशिक विशिष्टीकरण करता है।

आशिक विशिष्टीकरण का कारण बढती हुई अवसर लागतो की स्थिति का विद्यमान होना है। व्यापार प्रारम्भ होने के पश्चात् जब प्रत्येक राष्ट्र अपनी निर्यात वस्तु मे विशिष्टीकरण करता है तो प्रत्येक राष्ट्र की निर्यात वस्तु की इकाई लागत मे वृद्धि होती जाती है जबकि आयात वस्तु का उत्पादन कम होने से प्रत्येक राष्ट्र मे उसकी आयात वस्तु की इकाई लागत गिरती है। हमारे उदाहरण में इ ग्लैण्ड मे इस्पात की अतिरिक्त इकाई (सीमात इकाई) की उत्पादन लागत मे वृद्धि होती है जबकि भारत मे इस्पात के आयात व उत्पादन मे कमी होने से इस्पात की सीमान्त इकाई की लागत गिरती है। अत पूर्ण विशिष्टीकरण के बिन्दु तक पहुँचने से पूर्व ही सम्भव है कि दोनो राष्ट्रो म इस्पात की उत्पादन लागत समान हो जाये। भारतवर्ष मे चाय के निर्यात व विशिष्टीकरण के कारण चाय की इकाई लागत मे वृद्धि होगी जबकि इगलैण्ड द्वारा चाय के आयात के कारण उत्पादन कम होने से वहाँ चाय की इकाई लागत गिरेगी। अत भारत द्वारा चाय मे पूर्ण विशिष्टीकरण के बिन्दु तक पहुँचने से पूर्व ही दोनो राष्ट्रो मे चाय की इकाई लागत समान हो सकती है। अत स्पष्ट है कि जब भारत व इ ग्लैण्ड मे पूर्ण विशिष्टीकरण के बिन्दुओ तक पहुँचने से पूर्व ही लागत व वस्तु कीमत अनुपात $\left[\frac{PS}{PT}\right]$ समान हो जायेंगे तो और अधिक व्यापार व विशिष्टीकरण का आधार समाप्त हो जायेगा**।

---

*रिकार्डो के मॉडल मे इसका अपवाद मात्र एक है और वह यह कि जब छोटा राष्ट्र बडे राष्ट्र को पर्याप्त मात्रा मे निर्यात न कर सके। ऐसी स्थिति म बडा राष्ट्र पूर्ण विशिष्टीकरण नही कर पायेगा।

**ध्यान रहे कि बढती लागतो की स्थितिमे व्यापाररत राष्ट्रो की साम्यावस्था मे सदैव ही आशिक विशिष्टीकरण हो यह आवश्यक नही है। विशेष परिस्थितियो मे पूर्ण विशिष्टीकरण भी सभव है।

इसके विपरीत स्थिर लागतो की स्थिति म व्यापाररत राष्ट्रो द्वारा निर्यात वस्तु मे विशिष्टीकरण प्राप्त करने के बावजूद भी इकाई लागत स्थिर बनी रहती है तथा जब तक पूर्ण विशिष्टीकरण का बिन्दु प्राप्त नही कर लिया जाता है तब तक दोनो व्यापाररत राष्ट्रो मे इकाई लागत के अन्तर पूर्ववत् ही बने रहते है अत पूर्ण विशिष्टीकरण का बिन्दु प्राप्त होने तक व्यापार का आधार विद्यमान रहता है।

घटती हुई लागतों में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार

(Trade under Decreasing Costs)

घटती हुई लागतो की स्थिति आन्तरिक मितव्ययताओ (Internal Economies) तथा बाह्य मितव्ययताओ (External Economies) दोनो ही के कारण प्राप्त हो सकती है।

आन्तरिक मितव्ययतायें वे मितव्ययतायें है जो कि फर्म विशेष के आकार के विस्तार के कारण स्वम फर्म के अन्तगत ही उत्पन्न होती है। ये मितव्ययतायें अनेक प्रकार की हो सकती है उदाहरणार्थ, श्रम विभाजन से प्राप्त मितव्ययतायें, विज्ञापन से प्राप्त मितव्ययतायें, मशीन से प्राप्त मितव्ययतायें, क्रय-विक्रय से प्राप्त मितव्ययतायें आदि। इसके विपरीत बाह्य मितव्ययतायें वे मितव्ययतायें है जो विकसित औद्योगिक क्षेत्र मे उपलब्ध किफायतो के रूप मे उपलब्ध होती हैं, उदाहरणार्थ, बम्बई जैसे विकसित औद्योगिक क्षेत्र मे उत्तम परिवहन सुविधायें, उत्तम व सस्ती शक्ति की सुविधायें, दक्ष श्रमिको का आसानी से उपलब्धि, उत्तम सचार सुविधायें आदि। यदि फम की अवस्थिति (Location) ऐसे विकसित औद्योगिक क्षेत्र मे है तो फर्म का आकार अपरिवर्तित रहने के बावजूद भी उसे ये सुविधायें उपलब्ध होती हैं।

यदि किसी फर्म विशेष को आन्तरिक मितव्ययताओ के कारण पैमाने की मितव्ययतायें प्राप्त हो रही है तो इस स्थिति का पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति के साथ सहअस्तित्व सम्भव नही है। इसका कारण यह है कि जिस फर्म विशेष को इस प्रकार की आन्तरिक मितव्ययतायें प्राप्त हो रही है, उसका शीघ्र विस्तार होने के फलस्वरूप वह फर्म अन्तत उद्योग का रूप धारण कर लेगी व अन्य समस्त प्रतियोगी फर्मों को इस फम के साथ प्रतियोगिता मे टिकने की अयोग्यता के कारण उन्हे उत्पादन बन्द करना पडगा एव अन्तत पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति एकाधिकार मे परिवर्तित हो जायेगी। पूर्ण प्रतियोगिता की यह मान्यता होती है कि उद्योग की समस्त फर्म अनुकूलतम पैमाने की हैं तथा सम्भावित आन्तरिक मितव्ययतायें विद्यमान नही है।

अत पूर्ण प्रतियोगिता की मान्यता पर आधारित विश्लेषण के अभ्यस्त अर्थशास्त्री आन्तरिक मितव्ययताओं पर निर्भर वर्धमान प्रतिफल की स्थिति के विश्लेषण पर आपत्ति व्यक्त करते है। दूसरी ओर फर्म को प्राप्त बाह्य मितव्ययताओं की उपस्थिति को अर्थशास्त्री स्वीकार तो करते है लेकिन उन्हें कम महत्वपूर्ण मानकर टाल दिया जाता है। इस सम्बन्ध म प्रो० हेबरलर ने अपने विचार निम्न शब्दो मे व्यक्त किये हैं "यदि इन सभी पहलुओं को उचित महत्व दिया जाय तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचने को बाध्य हो जाते है कि वास्तविक सैद्धान्तिक बोध (sense) में, घटती हुई लागतें एक ऐसा प्रपंच (Phenomenon) है जो कि विरले व अपवादात्मक स्थितियो मे ही प्राप्त हो सकती है। यह लगभग असम्भव है कि समय की किसी भी अवधि म, हमारे द्वारा दर्शायी गयी लागतो म वृद्धि की स्थायी प्रवृत्ति से बाह्य मितव्ययतायें अधिक महत्त्वपूर्ण हो। अत सामान्यतया बढती हुई लागतें विद्यमान होने की मान्यता मानना हमारी कोई भारी भूल नही होगी।'[8]

उपर्युक्त विचारो को ध्यान मे रखते हुए भी हम कह सकते हैं कि घटती हुई लागतो की स्थिति वास्तविक जगत मे विभिन्न रूपों म प्राप्त हो सकती है। वास्तविक जगत मे लागत वक्र की U आकृति को नजरअन्दाज नही किया जा सकता है तथा उत्पादन व माँग मे वृद्धि के फलस्वरूप लागत मे कमी की स्थिति को नकारा नही जा सकता। स्पष्ट है कि औद्योगिक क्षेत्र की फर्मों के लिए आन्तरिक व बाह्य मितव्ययताओं का काफी महत्त्व होता है। अत घटती हुई लागतो का विश्लेषण आवश्यक है। औद्योगिक उत्पादो के व्यापार मे भाग लेना प्रमुखतया फर्म के आकार, कुशलता, उच्च उत्पादकता, अपूर्ण प्रतियोगिता वाले उद्योगो द्वारा तकनीकी परिवर्तन की सम्भावनाओं आदि पर निर्भर करता है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे घटती हुई लागतें कई रूपो मे हो सकती है। चित्र 2.6 मे घटती हुई लागतो की स्थिति दर्शायी गयी है। उत्पादन सम्भावना वक्र A-B मूल बिन्दु की ओर उन्नतोदर (convex) है।

चित्र 2.6 मे y अक्ष पर आटोमोबाइल्स तथा x अक्ष पर मशीनें दर्शायी गयी हैं क्योंकि इन दोनो वस्तुओं के उत्पादन मे साधनो के एक जैसे संयोग काम मे आते हैं अत एक वस्तु के उत्पादन मे सलग्न साधन दूसरी वस्तु मे सरलता पूर्वक हस्तातरित किये जा सकते हैं। यदि आटोमोबाइल्स की मशीनो के रूप मे कीमत pp रेखा के ढाल द्वारा दर्शायी जाये तो व्यापार पूर्व साम्यावस्था मे उत्पादन व उपभोग बिन्दु E होगा।

8 Heberler, G —The Theory of International Trade, P 208
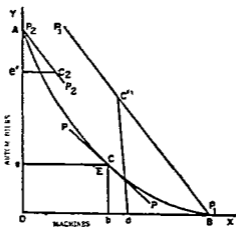
चित्र 2.6 :—वर्धमान प्रतिफल अथवा घटती हुई लागतें

यदि आन्तरिक मितव्ययताओं के कारण वर्धमान प्रतिफल प्राप्त हो रहे हैं तो E अस्थायी साम्य (unstable Equilibrium) बिन्दु है जो कि प्रतियोगिता के अन्तर्गत विद्यमान नहीं रह सकता। क्योंकि मशीनों की ओटोमोबाइल्स के रूप में कीमत बढ़ने अर्थात् pp रेखा के अधिक ढालू हो जाने के कारण जरा सा परिवर्तन होने ही उत्पादन के साधन ओटोमोबाइल्स से मशीनों के उत्पादन में हस्तान्तरित हो जायेंगे। ऐसी स्थिति में मशीनों के उत्पादन में उस समय तक साधन हस्तान्तरित होते रहेंगे जब तक कि उत्पादन B बिन्दु पर नहीं पहुँच जाता है। इसी प्रकार ओटोमोबाइल्स की कीमत बढ़ने पर अर्थात् pp रेखा के कम ढालू हो जाने पर ओटोमोबाइल्स का उत्पादन तब तक बढ़ता रहेगा जब तक कि A बिन्दु प्राप्त न हो जाये।

व्यापार प्रारम्भ होने के कारण दोनों राष्ट्र एक-एक वस्तु के उत्पादन में पूर्ण विशिष्टीकरण करेंगे तथा दोनों ही राष्ट्र व्यापार से लाभान्वित होंगे। चित्र 2 6 में व्यापारोपरान्त साम्यावस्था में राष्ट्र का उत्पादन बिन्दु A अथवा B हो जायेगा। मान लीजिए कि ब्रिटेन मशीनों के उत्पादन में विशिष्टीकरण प्राप्त करता है तथा अन्तर्राष्ट्रीय वस्तु कीमत अनुपात p_1-p_1 रेखा के ढाल वाला निर्धारित हो जाता है एवं उपभोग बिन्दु C' निर्धारित हो जाता है तो ब्रिटेन dB मशीनों के निर्यात के विनिमय में C'd ओटोमोबाइल्स का आयात करेगा। स्पष्ट है कि ब्रिटेन को C' बिन्दु पर व्यापारपूर्व उपभोग बिन्दु E की तुलना में दोनों ही वस्तुओं की उपभोग के लिए

अधिक मात्रा उपलब्ध है, यही ब्रिटेन का व्यापार से प्राप्त लाभ है। यदि ब्रिटेन मोटोमोबाइल्स के उत्पादन में विशिष्टीकरण करता है तो वह p_2-p_2 रेखा पर ही उपभोग कर सकता है (p_2-p_2 व p_1-p_1 समान्तर रेखायें हैं)। मान लीजिए p_2-p_2 रेखा पर ब्रिटेन का उपभोग बिन्दु C_2 निर्धारित हो जाता है तो ब्रिटेन Ae' मोटोमोबाइल्स के निर्यात के विनिमय मे e C_2 मशीनों का आयात करेगा।
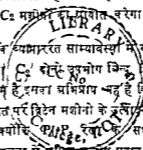
उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि व्यापाररत साम्यावस्था मे राष्ट्र का कल्याण का स्तर ऊँचा है क्योंकि C' तथा C_2 दोनों उपभोग बिन्दु C बिन्दु से उत्तम है लेकिन C_2 व C' मे से C' बिन्दु उत्तम है इसका अभिप्राय यह है कि चित्र म दर्शाये गये व्यापारोपरांत साम्य कीमत अनुपात पर ब्रिटेन मशीनो के उत्पादन म विशिष्टीकरण करने से अधिक लाभान्वित होगा क्योंकि P_1-P_1 रेखा के सभी उपभोग बिन्दु P_2-P_2 रेखा के उपभोग बिन्दुओं की तुलना में अधिक सन्तोष प्रदान करते हैं।

चित्र 2 6 मे ब्रिटेन कौनसी वस्तु के उत्पादन मे विशिष्टीकरण करेगा यह निश्चय ही P_1-P_1 तथ P_2-P_2 रेखाओं के ढाल द्वारा प्रदर्शित अन्तर्राष्ट्रीय कीमत अनुपात द्वारा निर्धारित होगा। इन रेखाओं के भिन्न ढालो से C' तथा C_2 बिन्दुओं की स्थिति भी परिवर्तित हो जायेगी। लेकिन व्यापार की शर्तें कुछ भी क्यों न हो घटती हुई लागतो के अन्तर्गत विशिष्टीकरण पूर्ण होगा तथा व्यापाररत साम्यावस्था मे राष्ट्र का कल्याण का स्तर अधिक ऊँचा होगा।

वर्धमान प्रतिफलो की एक अन्य स्थिति, जिसमे एक वस्तु के उत्पादन म बढती हुई लागतें हो तथा दूसरी वस्तु के उत्पादन मे घटती हुई लागतें, चित्र 2 7 मे दर्शायी गयी है। चित्र 2.7 मे A-B उत्पादन सम्भावना वक्र भारत मे चाय व इस्पात का उत्पादन दर्शाता है। चाय का उत्पादन बढती हुई लागतो के अन्तर्गत हो रहा है जबकि इस्पात के उत्पादन मे घटती हुई लागतो की स्थिति विद्यमान है। मान लीजिए कि अन्तर्राष्ट्रीय वस्तु कीमत अनुपात P_1-P_1 रेखा के ढाल वाला है तथा यह राष्ट्र p1 बिन्दु पर उत्पादन एव C_1 बिन्दु पर उपभोग कर रहा है तो C_1 बिन्दु उत्पादन सम्भावना वक्र से दायी ओर है अत राष्ट्र व्यापार से लाभान्वित हो रहा है। अब यदि उत्पादन मे परिवर्तन होकर उत्पादन बिन्दु F बिन्दु से नीचे इस्पात की घटती हुई लागतो के क्षेत्र मे आ जाता है तो राष्ट्र अन्तत B बिन्दु पर उत्पादन करता हुआ पाया जायेगा एव इस्पात उत्पादन मे पूर्ण विशिष्टीकरण करेगा। यदि C_2 बिन्दु राष्ट्र का साम्य उपभोग बिन्दु है तो राष्ट्र dB इस्पात के निर्यात के विनिमय मे dC_2 चाय का आयात करेगा। चित्र म स्पष्ट है कि Bc_2 रेखा पर प्रत्येक बिन्दु

चूँकि रिकार्डो ने अपने मॉडल में मात्र श्रम को ही उत्पादन का साधन माना था अतः इस मान्यता के साथ पैमाने के स्थिर प्रतिफल की मान्यता मान लें तो हम सरल रेखीय उत्पादन सम्भावना वक्र प्राप्त होगा जो कि रिकार्डो के सिद्धान्त का प्रतिनिधित्व करेगा। लेकिन हमारे विश्लेषण से यह भी स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में पूर्ति पक्ष की अनेक स्थितियों को उत्पादन सम्भावना वक्र द्वारा भली-भाँति प्रस्तुत किया जा सकता है।

रिकार्डो के सिद्धान्त पर प्रो० सेम्युअलसन की टिप्पणी

(Prof Samuelson's Comment on Ricardian Theory)

प्रो सेम्युअलसन ने रिकार्डो के सिद्धान्त को सुन्दर सर्वयुक्त बताते हुए इसके निम्न दोषों की तरफ ध्यान दिलाया है उन्हीं के शब्दों में तुलनात्मक लाभ की शायद अधिक गम्भीर खामी इसकी स्थैतिक (static) मान्यतायें हैं। सिद्धान्त को वस्तु विनिमय तथा सापेक्ष कीमत अनुपातों के रूप में व्यक्त किया गया है। यह कीमतों व मजदूरी की स्थिर रहने की प्रवृत्ति (All stickiness) समस्त संक्रमणकालीन मुद्रा स्फीति तथा अवमूल्यन अन्तरालों (gaps), तथा समस्त भुगतान सन्तुलन की समस्याओं की उपेक्षा करता है। यह सिद्धान्त मान लेता है कि जब श्रमिक एक उद्योग से बेरोजगार होते हैं तो सदैव दूसरे अधिक कुशल उद्योगों में स्थानान्तरित हो जाते हैं निरन्तर (Chronic) बेरोजगारी में कभी नहीं रहते।"[9]

रिकार्डो के मॉडल पर प्रो० भगवती की टिप्पणी

(Prof. Bhagwati's Comment on Ricardian Model)

रिकार्डो के सिद्धान्त में मात्र श्रम उत्पादन के साधन की मान्यता तथा पैमाने के स्थिर प्रतिफल की मान्यता के संयोग के कारण माँग पक्ष अथवा साधन पूर्ति का स्तर व्यापारपूर्व साम्यावस्था वस्तु कीमत अनुपात को प्रभावित करने में असमर्थ रहता है। इसी तथ्य के परिणाम स्वरूप सामान्यतया यह मान लिया जाता है कि रिकार्डो के मॉडल में व्यापार का ढाँचा निर्धारित करने में माँग पक्ष प्रभावहीन रहता है।

प्रो जगदीश भगवती[10] ने हाल ही में उपर्युक्त विचार दोष (fallacy) को इंगित किया है। प्रो भगवती का सत्यापन (proof) यह दर्शाने में निहित है कि

9 Samuelson P A —Economics 8th ed P 656

10 Bhagwati, J —The Proofs of the Theorems on Comparative Advantage, Economic Journal, March, 1967 Pp 75 83.

रेखीय रूपान्तरण वक्र (Linear transformation Curve) की उपस्थिति के कारण बहु उत्पादन साम्य (Multiple production equilibria) की सम्भावना के परिणाम-स्वरूप दो राष्ट्रों मे व्यापारपूर्व वस्तु कीमत अनुपात समान होने के बावजूद भी दोनों राष्ट्रों के मध्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सम्भव है। प्रो. भगवती के ही शब्दों मे 'रिकार्डो की उपप्रमेय (corollary) का यह कथन कि जहाँ दो राष्ट्रों मे साधन उत्पादकता अनुपात समान है वहाँ अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार नही होगा, तार्किक दृष्टिकोण से सत्य नही है।" ध्यान रहे कि यह बहुत ही महत्वपूर्ण सत्यापन है क्योंकि यह प्रचलित विचारदोष है कि यदि दो राष्ट्रों के उत्पादन सम्भावना वक्र समानान्तर हैं तो रिकार्डो के तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त के अनुसार दोनों राष्ट्रों के मध्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार नही हो सकता है। प्रो. भगवती ने अपने सत्यापन को चित्र 2 8 की सहायता से स्पष्ट किया है।

चित्र 2.8 मे स्वदेशी राष्ट्र का उत्पादन सम्भावना वक्र HH है तथा विदेशी राष्ट्र का उत्पादन सम्भावना वक्र FF है। दोनों राष्ट्रों के उत्पादन सम्भावना वक्र समानान्तर है जिसका अभिप्राय यह है कि इन राष्ट्रों मे व्यापारपूर्व वस्तु कीमत अनुपात समान हैं। प्रो० भगवती के अनुसार समान वस्तु कीमत अनुपात के बावजूद भी इन राष्ट्रों के मध्य व्यापार सम्भव है। माना कि चित्र 2 8 मे स्वदेशी राष्ट्र का उपभोग बिन्दु C_1 तथा विदेशी राष्ट्र का C_{11} है। यदि दोनों राष्ट्रों के व्यापार पूर्व उत्पादन बिन्दु भी क्रमश C_1 तथा C_{11} है तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की आवश्यकता नही है, लेकिन यह आवश्यक नही कि दोनों राष्ट्रों के उत्पादन बिन्दु उनके उपभोग बिन्दुओं से मेल खायें। उत्पादन सम्भावना वक्र पर किसी भी बिन्दु पर उत्पादन मे साम्य सम्भव है क्योंकि सरल रेखा वाले उत्पादन सम्भावना वक्र का प्रत्येक बिन्दु उत्पादन मे साम्य की शर्त पूरी करता है अर्थात् वक्र के प्रत्येक बिन्दु पर अवसर लागत अनुपात वस्तु कीमत अनुपात के समान है। अत मान लीजिए कि विदेशी राष्ट्र का उत्पादन बिन्दु P_{11} तथा घरेलू राष्ट्र का उत्पादन बिन्दु P_1 ऐसे बिन्दु हैं कि Q_1-C_{11} तथा Q-C_1 बिन्दुओं की दूरी समान है तो दोनों राष्ट्रों की घरेलू आवश्यकतायें केवल व्यापार द्वारा ही पूरी हो सकती है क्योंकि व्यापार की अनुपस्थिति मे बिना सरकारी हस्तक्षेप के माँग-पूर्ति का साम्य सम्भव नही है। इसका कारण यह है कि बिना आय अथवा कीमत मे परिवर्तन के उपभोक्ताओं द्वारा उपभोग बिन्दु परिवर्तित करने का कोई कारण नही है क्योंकि C_1 तथा C_{11} बिन्दुओं पर दोनों राष्ट्रों के उपभोक्ता साम्यावस्था मे हैं। इसी प्रकार P_1 तथा P_{11} बिन्दुओं पर उत्पादन भी साम्यावस्था म है अत उत्पादन बिन्दु भी अपरिवर्तित रहेंगे। इस दुविधा का हल अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार द्वारा ही सम्भव है। व्यापार मे स्वदेशी राष्ट्र Q_1-C_{11}, x वस्तु के निर्यात के बदले y वस्तु
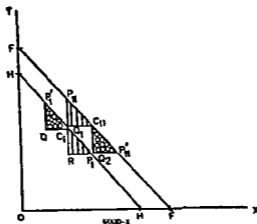
चित्र 2 8 —समान वस्तु कीमत अनुपात व अन्त-
र्राष्ट्रीय व्यापार

की RC_1 मात्रा का आयात करेगा। व्यापार की यह सम्भावना त्रिभुजो मे छोटी रेखायें खीचकर दर्शायी गयी है।

इसके विपरीत यदि विदेशी राष्ट्र का उत्पादन बिन्दु P'_{11} तथा स्वदेशी राष्ट्र का उत्पादन बिन्दु P_1 है तो व्यापार का ढाँचा विपरीत दिशा मे परिवर्तित हो जायेगा और स्वदेशी राष्ट्र $Q\text{-}P_1$, y वस्तु की मात्रा निर्यात करेगा तथा $Q_2\text{-}P'_{11}$, x वस्तु की मात्रा का आयात करेगा, चित्र 2 8 मे व्यापार की यह सम्भावना छोटे बिन्दुओ द्वारा दर्शाये गये त्रिभुज प्रस्तुत करते हैं।

अत स्पष्ट है रिकार्डो के मॉडल मे दो राष्ट्रो मे व्यापार पूर्व वस्तु कीमत अनुपात समान होने के बावजूद भी दोनो राष्ट्रो के मध्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सम्भव है इस सम्भावना को मद्दे नजर रखते हुए प्रो० भगवती इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि "जहा राष्ट्रो के मध्य साधन उत्पादकतायें समान (identical) हो, व्यापार की दिशा तथा परिमाण (volume) अनिर्धारित रहते हैं।"[11]

प्रो० भगवती[12] ने यह भी दर्शाया है कि दो राष्ट्रो मे व्यापार पूर्व साम्य कीमत अनुपात भिन्न होने के बावजूद भी इन राष्ट्रो के मध्य व्यापार अवश्यम्भावी नहीं है। इसका कारण यह है कि माँग का प्रारूप ऐसा होना सम्भव है कि राष्ट्र मे व्यापार पूर्व

11 Bhagwati, J —Op cit
12 Bhagwati J —Op cit

मान लीजिए कि निम्न छ वस्तुओं की भारत व अमेरिका म लागत सरचना तालिका 2 5 वाली है

तालिका 2.5

दो राष्ट्रों मे छ वस्तुओं की उत्पादन लागतें

वस्तुएँ

	A	B	C	D	E	F
भारत	Rs 8	Rs. 20	Rs. 36	Rs 56	Rs 75	Rs 120
अमेरिका	$ 1	$ 2	$ 3	$ 4	$ 5	$ 6

यदि हम A तथा F वस्तुओं की लागतों पर ध्यान केन्द्रित करें तो यह स्पष्ट हो जावेगा कि भारत का तुलनात्मक लाभ A वस्तु म है जबकि अमेरिका का तुलनात्मक लाभ F वस्तु के उत्पादन मे है। दोनों राष्ट्रों के A व F वस्तुओं के व्यापारपूव कीमत अनुपात हो ऐसी दो सीमाएँ होंगी जिनके मध्य अन्तर्राष्ट्रीय वस्तु कीमत अनुपात निर्धारित होगा। निम्न विश्लेषण से स्थिति स्पष्ट होती है—

$$1F = \$6 = \begin{cases} 15A = Rs.\ 120 & \text{(भारत के लिए अधिकतम)} \\ 6A\ = Rs.\ \ 48 & \text{(अमेरिका के लिए अधिकतम)} \end{cases}$$

$$\text{अथवा } \$6 = \begin{cases} Rs\ \ 120 \text{ or } \$1 = \\ Rs.\ \ 48 \end{cases} \begin{cases} Rs.\ 20 \\ Rs.\ \ 6 \end{cases}$$

यदि विनिमय दर $\$ 1 = \begin{cases} Rs.\ 20 \\ Rs.\ 8 \end{cases}$ की सीमाओं से बाहर चली जाती है तो भारत व अमेरिका मे से एक राष्ट्र मे समस्त वस्तुओं की उत्पादन लागत दूसरे राष्ट्र मे प्रत्येक वस्तु की लागत से कम होगी जिसके परिणामस्वरूप व्यापार सन्तुलन मे असाम्य उत्पन्न होगा व विनिमय दर के पुन. इन सीमाओं के मध्य आने की प्रवृत्ति होगी।

1 डालर=8रु व 20 रु की सीमाओं मे वास्तविक विनिमय दर प्रतिपूरक मांग की शक्तियों द्वारा निर्धारित होगी जबकि व्यापार की दिशा का निर्धारण विनिमय दर द्वारा होगा। प्रत्येक वस्तु को तुलनात्मक लागत के क्रम मे रखकर हम वास्तविक विनिमय दर निर्धारित करने की विधि स्पष्ट कर सकते हैं। मान लीजिए

कि विनिमय दर 1$ = 15 रु निर्धारित हो जाती है तो स्थिति निम्न तालिका 2.6 में दर्शाये अनुसार होगी—

तालिका 2.6

वस्तुएँ

	A	B	C	D	E	F
भारत	Rs 8	Rs. 20	Rs. 36	Rs. 56	Rs 75	Rs 120
अमरिका	Rs 15	Rs 30	Rs. 45	Rs. 60	Rs 75	Rs 90

अत भारत A, B, C व D वस्तुओं का निर्यात करेगा व अमेरिका F वस्तु का निर्यात करेगा। E वस्तु व्यापार में शामिल नहीं होगी क्योंकि E वस्तु की उत्पादन लागत दोनों राष्ट्रों में समान है।

यदि $1 = Rs 15 की विनिमय दर पर व्यापार में साम्य है तो ठीक है, अन्यथा विनिमय दर में समायोजन द्वारा अन्तत साम्य स्थापित हो जायेगा।

मान लीजिए कि $1 = Rs. 15 की विनिमय दर पर अमेरिका के व्यापार सन्तुलन में घाटा है तो अमेरिका को डालर का अवमूल्यन करना होगा। मान लीजिए डालर का अवमूल्यन करके विनिमय दर 1 $ = Rs 12 कर दी जाती है तो स्थिति तालिका 2.7 म दर्शाये अनुसार होगी—

तालिका 2.7

वस्तुएँ

	A	B	C	D	E	F
भारत	Rs 8	Rs. 20	Rs. 36	Rs. 56	Rs. 75	Rs. 120
अमेरिका	Rs 12	Rs 24	Rs. 36	Rs. 48	Rs 60	Rs 75

अब भारत A व B वस्तुओं का तथा अमेरिका D, E व F वस्तुओं का निर्यात करेगा। C वस्तु व्यापार में शामिल नहीं होगी क्योंकि C वस्तु की दोनों राष्ट्रों में लागत समान है।

परिशिष्ट—A

(APPENDIX-A)

उत्पादनफलन, बॉक्स चित्र व उत्पादन सम्भावना वक्र

(Production Function, Box-diagram and Production Possibility Curve)

वस्तुओं के उत्पादन व आदाओं (inputs) के मध्य सम्बन्ध को उत्पादन फलन द्वारा व्यक्त किया जाता है। उदाहरणार्थ,

$$x = f(K, L)$$

एक उत्पादन फलन है जो यह दर्शाता है कि x वस्तु का उत्पादन पूँजी (K) व श्रम (L) साधनों को प्रयुक्त करके किया जाता है तथा f यह दर्शाता है कि साधनों की मात्राओं व x के उत्पादन मे एक निश्चित सम्बन्ध है। एक अन्य उत्पादन फलन निम्न रूप मे हो सकता है —

$$y = g(K, L)$$

यहाँ भी y वस्तु का उत्पादन पूँजी व श्रम साधनों के सयोग से किया जाता है लेकिन साधनों की मात्रा व उत्पादन का सम्बन्ध g द्वारा प्रस्तुत करके यह दर्शाया गया है कि y वस्तु के उत्पादन मे श्रम व पूँजी का भिन्न साधन सयोग प्रयुक्त किया जाता है। ज्यामीतीय रूप मे वस्तु विशेष के उत्पादन व साधनों की मात्रा का आपसी सम्बन्ध समोत्पाद वक्रो द्वारा प्रदर्शित किया जाता है।

एक समोत्पाद वक्र साधनों के ऐसे विभिन्न सयोगो का पथ है जो समान उत्पादन की मात्रा को दर्शाते हैं। चित्र A-1 म समोत्पाद वक्र दर्शाये गये हैं।

चित्र A-1 म x_1 तथा x_2 दो समोत्पाद वक्र हैं। x_1 वक्र के विभिन्न बिन्दु श्रम व पूँजी की मात्राओं के ऐसे विभिन्न सयोग दर्शाते हैं जिनसे समान उत्पादन प्राप्त किया जा सके। X_1 वक्र पर दायीं ओर नीचे को चलन करने पर X_1 वस्तु के उत्पादन म पूँजी के स्थान पर श्रम साधन का प्रतिस्थापन करके समान उत्पादन प्राप्त किया जा सकता है तथा समोत्पाद वक्र पर बायी ओर ऊपर को चलन करके श्रम के स्थान पर पूँजी साधन का प्रतिस्थापन करके पूर्व जितना ही उत्पादन सम्भव है। X_2 ऊँचा समोत्पाद वक्र है अत यह x_1 की तुलना म प्रत्येक बिन्दु पर अधिक उत्पादन दर्शाता है। x_1 तथा x_2 जैसे समोत्पाद वक्रों को परिवर्तनशील साधन अनुपातों (*Variable factor proportions*) *वाले समोत्पाद वक्रो की सज्ञा दी जाती है* क्योंकि ऐसे वक्रों पर वस्तु का समान उत्पादन साधनो के भिन्न-भिन्न सयोगो द्वारा किया जा सकता है।
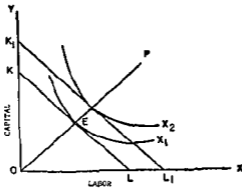
चित्रA-1 समोत्पाद वक्र एव न्यूनतम लागत सयोग

चित्र A-1 म E साम्य उत्पादन बिन्दु है क्योंकि यहाँ पर K-L साधन कीमत अनुपात रेखा (Factor-Price ratio line) के समोत्पाद वक्र स्पश है जिसका अभिप्राय यह है कि E बिन्दु पर साधनो की भौतिक उत्पादकता का अनुपात साधन कीमत अनुपात के समान है, अर्थात

$$\frac{MPP_L}{MPP_K} = \frac{P_L}{P_K}$$

साम्य उत्पादन बिन्दुओ से गुजरने वाली रेखा को विस्तार पथ (Expansion Path) के नाम से जाना जाता है। चित्र A-1 म O-P रेखा विस्तार पथ है। विस्तार पथ का ढाल यह दर्शाता है कि साम्य उत्पादन बिन्दु पर साधन किस अनुपात म प्रयुक्त किये जा रहे हैं। O P जैसी सरल रखा वाले विस्तार पथ पर साधन समान अनुपात म प्रयुक्त किये जाते है।

एक अन्य किस्म का उत्पादन फलन चित्र A-2 मे दर्शाया गया है।

चित्र A-2 मे x_1-x_1 तथा x_2-x_2 दो समोत्पाद वक्र हैं। ये समोत्पाद वक्र दर्शाते है कि x वस्तु के उत्पादन मे साधन स्थिर अनुपातो मे ही प्रयुक्त किये जा सकते हैं।
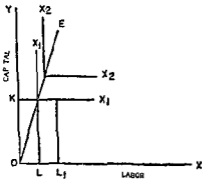
चित्र A-2 स्थिर साधन अनुपातो वाले समोत्पाद वक्र

चित्र म X_1 उत्पादन हेतु OK पूँजी व OL श्रम की इकाइयाँ प्रयुक्त की जाती है। अब यदि हम श्रम की इकाइयाँ OL से OL_1 कर देते हैं तो भी OK पूँजी की इकाइयाँ प्रयुक्त करनी पड़ती है व उत्पादन पूर्व जितना ही बना रहता है, अत $L-L_1$ अतिरिक्त श्रम की सीमान्त उत्पादकता शून्य है। हाँ, पूँजी तथा श्रम दोनों साधनों की इकाइयों म वृद्धि करके उत्पादन भी X_1 मे X_2 बढ़ाया जाना सम्भव है। वास्तविक जगत म इस प्रकार की स्थितियाँ असम्भव नहीं है। उदाहरणार्थ, मशीन व दर्जी की स्थिति म यदि हम मशीन की सख्या बढा दें व दर्जी उतने ही रखें तो अधिक वस्त्र नहीं सिले जा सकेंगे। अत मशीन व दर्जी दोना साधनो को निश्चित अनुपात म ही प्रयुक्त करना पड़ता है।

एजवर्थ-बाऊले बॉक्स चित्र

(Edgeworth-Bowley Box Diagram)

चित्र A-3 में एक राष्ट्र का बॉक्स चित्र दर्शाया गया है। राष्ट्र मे कुल श्रम की मात्रा OX_1-L तथा कुल पूँजी की मात्रा OX_1-K है। X_1, X'_1 व X''_1, X_1 वस्तु के समोत्पाद वक्र है जबकि X_2, X_2' व X_2'' X_2 वस्तु के समोत्पाद वक्र है। X_2 वस्तु के समोत्पाद वक्रो का मूल बिन्दु OX_2 है अत X_2 की तुलना मे X_2' समोत्पाद वक्र अधिक उत्पादन दर्शाता है, तथा X_2' की तुलना म X_2'' समोत्पाद वक्र X_2 वस्तु का अधिक उत्पादन दर्शाता है। चित्र मे OX_1—S—T—U—OX_2 वक्र अधिकतम कुशलता पथ है। बॉक्स चित्र मे समोत्पाद वक्रो के स्पर्श बिन्दुओ से गुजरने वाली रेखा को अधिकतम कुशलता पथ (Maximum Efficiency Locus) कहते हैं। चित्र A-3 मे S, T व U जैसे स्पर्श बिन्दु अधिकतम कुशलता दर्शाते हैं। यदि उत्पादन अधिकतम कुशलता पथ से परे किसी J जैसे बिन्दु पर है तो वहाँ से T अथवा U जैसे बिन्दुओ की ओर चलन करके एक वस्तु का उत्पादन यथास्थिर रखकर दूसरी वस्तु के उत्पादन म वृद्धि होना सम्भव है। यदि उत्पादन बिन्दु J से U हो जाता है तो U बिन्दु पर X_2 वस्तु का समोत्पाद वक्र तो X_2-X_2 ही है लेकिन X_1 वस्तु का समोत्पाद वक्र X_1''-X''_1 है जो कि X'_1-X'_1 से अधिक उत्पादन दर्शाता है। अत X_1 का अधिक उत्पादन हो रहा है। इसी प्रकार T बिन्दु पर X_1 वस्तु का समोत्पाद वक्र तो X_1'-X_1' है लेकिन X_2 वस्तु का X_2-X_2 से X_2'-X_2 ऊँचा समोत्पाद वक्र है अत X_2 वस्तु का अधिक उत्पादन प्राप्त हो रहा है। एक सम्भावना यह भी है कि T तथा U के बीच अधिकतम कुशलता पथ के किसी बिन्दु पर चलन करके दोनों ही वस्तुओं का अधिक उत्पादन प्राप्त कर लिया जाय।

J बिन्दु से अधिकतम कुशलता पथ पर चलन करने से उत्पादन मे वृद्धि का

चित्र A-3 : एजवर्थ बाउले बॉक्स चित्र
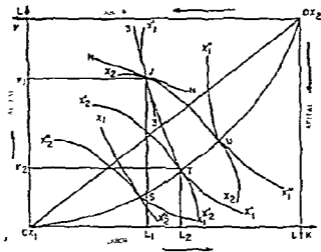
कारण साधनों का अधिक कुशल पुनर्गठन है। उदाहरणार्थ, J बिन्दु पर X_2 वस्तु के समोत्पाद वक्र के ढाल का प्रतिनिधित्व N-N स्पर्श रेखा कर रही है जबकि X_1 वस्तु के समोत्पाद वक्र के ढाल का प्रतिनिधित्व X_1''-X_1'' के J बिन्दु पर स्पर्श रेखा कर रही है। यह हम जानते ही हैं कि समोत्पाद वक्र का ढाल साधनों की सीमान्त भौतिक उत्पत्तियों का अनुपात $\left\{\frac{MPP_L}{MPP_K}\right\}$ होता है अतः J बिन्दु पर निम्न असमानता विद्यमान है :

$$\left(\frac{MPP_L}{MPP_K}\right)_{X_2} < \left(\frac{MPP_L}{MPP_K}\right)_{X_1}$$

जिसका अभिप्राय यह है कि श्रम साधन की सीमान्त उत्पादकता X_1 वस्तु के उत्पादन में तथा पूँजी साधन की सीमान्त उत्पादकता X_2 वस्तु के उत्पादन में अधिक है। अतः अधिकतम उत्पादन प्राप्त करने हेतु X_1 वस्तु के उत्पादन में श्रम साधन की अधिक इकाइयाँ प्रयुक्त की जानी चाहिए तथा X_2 वस्तु का उत्पादन पूँजी साधन की अधिक इकाइयों की सहायता से किया जाना चाहिए। चित्र A-3 में J बिन्दु से T बिन्दु पर चलन करके X_1 वस्तु के उत्पादन में L_1-L_2 श्रम की अतिरिक्त इकाइयाँ प्रयुक्त की गयी है, जबकि X_2 वस्तु के उत्पादन में K_1-K_2 अतिरिक्त पूँजी प्रयुक्त की गयी है,

अत प्रत्येक वस्तु के उत्पादन मे उस वस्तु मे अपेक्षाकृत अधिक कुशल साधन को अधिक मात्रा प्रयुक्त करने से अधिकतम उत्पादन प्राप्त करना सम्भव हुआ है।

अधिकतम कुशलता पथ के विभिन्न बिन्दुओ पर समोत्पाद वक्र एक दूसरे के स्पश हैं अर्थात्

$$\left(\frac{MPP_L}{MPP_K}\right)_{X_1} = \left(\frac{MPP_L}{MPP_K}\right)_{X_2}$$

अत साधनो को एक वस्तु से हटाकर दूसरी मे प्रयुक्त कर उत्पादन बढाना सम्भव नही है। चित्र A-3 म अधिकतम कुशलता पथ OX_1—OX_2 विकण (diagonal)से नीचे विद्यमान है अत X_1 अपेक्षाकृत श्रम गहन तथा X_2 पूँजी गहन वस्तु है अर्थात

$$\left(\frac{K}{L}\right)_{X_2} > \left(\frac{K}{L}\right)_{X_1}$$

बॉक्स चित्र से उत्पादन सम्भावना वक्र की व्युत्पत्ति

(Derivation of Production Possibility curve from a box diagram)

उपर्युक्त बाक्स चित्र के कधिकतम कुशलता पथ के विभिन्न बिन्दुओ से उत्पादन सम्भावना वक्र की व्युत्पत्ति सम्भव है। चित्र A-4 मे उत्पादन सम्भावना वक्र की व्युत्पत्ति की विधि स्पष्ट की गयी है। बाक्स चित्र के अधिकतम कुशलता पथ के प्रत्येक बिन्दु के तद्रूप (Corresponding) उत्पादन सम्भावना वक्र पर भी एक बिन्दु होता है अत अधिकतम कुशलता पथ के बिन्दुओ को उत्पादन सम्भावना वक्र के बिन्दुओ के रूप मे अंकित किया जा सकता है। चित्र A-4 मे बायी लम्बवत अक्षांश—OX_1—K पर पूँजी की इकाइयाँ तथा ऊपरी क्षैतिज रेखा OX_2 – L पर श्रम की इकाइया पूव के चित्र A-3 की भाँति हो मापी गयी है। लेकिन दायी ओर की लम्बवत रेखा O OX_2 पर X_1 वस्तु का उत्पादन तथा नीचे क्षैतिज रेखा O-OX_1 पर X_2 वस्तु का उत्पादन मापा गया है।

चित्र म OX_1—OX_2 विकण (Diagonal) है। चूँकि हमने रेखीय समरूप उत्पादन फलन की मान्यता मान रखी है अत यदि कोई समोत्पाद वक्र विकर्ण को X_1-X_1 की तुलना म मूल बिन्दु OX_1 से दुगुनी दूरी पर काटता है तो वह X_1-X_1 स दुगुना उत्पादन दर्शायेगा। इसी प्रकार से X_2 वस्तु का कोई समोत्पाद वक्र यदि
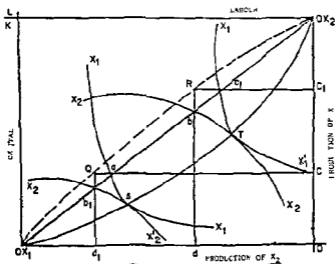
चित्र A-4 बॉक्स चित्र व उत्पादन सम्भावना वक्र

विकर्ण को मूल बिन्दु OX_2 से X_2-X_2 की तुलना मे दुगनी दूरी पर काटेगा तो वह X_2 वस्तु का दुगुना उत्पादन दर्शायेगा अत X_1 तथा X_2 समोत्पाद वक्रो के विकर्ण को काटने वाले बिन्दुओ की सहायता से हम उत्पादन सम्भावना वक्र के बिन्दु ज्ञात कर सकते हैं।

चित्र A-4 मे OX_1—a_1 दूरीOX_1—a से ठीक उसी अनुपात मे अधिक है जिस अनुपात मे OC_1 दूरी OC से अधिक है। इसी प्रकार से OX_2-b_1 दूरी OX_2 b से ठीक उसी अनुपात मे अधिक है जिस अनुपात मे Od_1 दूरी Od से अधिक है। चित्र मे S बिन्दु पर X_1 तथा X_2 वस्तु का उत्पादन क्रमश OC व Od_1 बिन्दुओ द्वारा दर्शाया जा सकता है तथा चित्र मे Q बिन्दु C व d_1 बिन्दुओं द्वारा इंगित वस्तु उत्पादन संयोग दर्शाता है। इसी प्रकार T बिन्दु का उत्पादन संयोग R बिन्दु द्वारा दर्शाया जा सकता है। अर्थात् विकर्ण पर a तथा a_1 बिन्दुओ द्वारा प्रदर्शित उत्पादन का स्तर O-oX_2 अक्षाश पर क्रमश OC व OC_1 बिन्दुओ पर अंकित किया गया है। अत स्पष्ट है कि अधिकतम कुशलता पथ के प्रत्येक बिन्दु के तद्रूप उत्पादन सम्भावना वक्र पर एक बिन्दु होना है एव ऐसे समस्त बिन्दुओं को मिलाने वाला वक्र उत्पादन सम्भावना वक्र कहलाता है। चित्र A-4 मे oX_1-Q—R—oX_2 उत्पादन सम्भावना वक्र है जो कि मूल बिन्दु O की ओर नतोदर (concave) है अर्थात्

OX_1-Q—R—OX_2 बढ़ती हुई लागतों वाला उत्पादन सम्भावना वक्र है। अतः के. एम. सावोसनिक (K M. Savosnick) द्वारा प्रदत्त उपर्युक्त तकनीक की सहायता से बाक्स चित्र से उत्पादन सम्भावना वक्र की व्युत्पत्ति की जा सकती है।

बढ़ती हुई लागतों की स्थिति विद्यमान होने का कारण X_1 तथा X_2 वस्तुओं की साधन गहनता की भिन्नताएँ हैं। चित्र A-4 में X_1 वस्तु अपेक्षाकृत श्रम गहन तथा X_2 वस्तु अपेक्षाकृत पूँजी गहन है, अर्थात्—

$$\left(\frac{K}{L}\right)_{X_2} > \left(\frac{K}{L}\right)_{X_1}$$

3

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का विशुद्ध सिद्धान्त : माँग तथा पूर्ति पक्ष

(The Pure Theory of International Trade: Demand and Supply side)

अब तक के विश्लेषण मे केवल पूर्ति पक्ष पर ध्यान केन्द्रित किया गया था एव माँग पक्ष की लगभग उपेक्षा की गयी थी। इसका प्रमुख कारण यह था कि रिकार्डो ने अपने सिद्धान्त मे व्यापार से प्राप्त लाभो (gains) का तो पर्याप्त प्रमाण प्रस्तुत किया था लेकिन उन्होने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे वास्तविक कीमत अनुपात अनिर्धारित ही छोड दिया था, क्योकि रिकार्डो का शायद यह विश्वास था कि व्यापार से प्राप्त लाभ पुर्तगाल व इग्लैड मे आधे-आधे विभाजित हो जायेंगे।

मिल का प्रतिपूरक माँग का सिद्धान्त

(Mill's Law of Reciprocal Demand)

लेकिन यह तो सत्य ही है कि तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त व्यापार की शर्तें क्या होगी यह स्पष्ट करने मे असमर्थ रहा था तथा रिकार्डो ने व्यापार की शर्तों के निर्धारण का कार्य जॉन स्टुअर्ट मिल (John Stuart Mill) के लिए छोड दिया था। मिल ने सन् 1848 में छपी अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'Principles of Political Economy' के भाग 3 के 18 वें अध्याय मे 'अन्तर्राष्ट्रीय माँग की समीकरण' (Equation of International Demand) प्रस्तुत की थी। मिल की 'अन्तर्राष्ट्रीय माँग की समीकरण' को 'प्रतिपूरक माँग के सिद्धान्त' (Law of Reciprocal Demand) के नाम से जाना जाता है। इस सिद्धान्त द्वारा मिल ने यह स्पष्ट करने का प्रयास किया कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे वास्तविक कीमत अनुपात किस प्रकार निर्धारित होता है।

रिकार्डो के सिद्धान्त में पूर्ति पक्ष पर ही ध्यान केन्द्रित किया गया था, इसके विपरीत मिल का प्रतिपूरक माँग का सिद्धान्त माँग पक्ष पर ध्यान केन्द्रित करता है जबकि व्यापार की शर्तें निर्धारित करने मे माँग व पूर्ति दोनो का ही समान महत्व है। अतः यह कहना पूर्ण सत्य नही है कि मिल का पारस्परिक माँग का सिद्धान्त व्यापार की शर्तों को निर्धारित करने के लिए पर्याप्त है।

कपडे के बदले 18 5 गज लिनिन देने को तत्पर है तो लिनिन की नई नीची कीमत पर इग्लैंड म लिनिन की माँग म वृद्धि होगी तथा मोट कपडे की इस नई ऊँची कीमत पर जर्मनी म मोटे कपडे की माँग घटेगी। यदि 10 कपडा/18.5 लिनिन के नये अन्तर्राष्ट्रीय कीमत अनुपात पर इग्लैण्ड म लिनिन की माँग बढकर 1 लाख 75 हजार 750 गज हो जाती है तथा जर्मनी म मोटे कपडे की माँग घटकर 95 हजार गज रह जाती है तो 10 कपडा/18 5 लिनिन का अन्तर्राष्ट्रीय कीमत अनुपात स्थायी कीमत अनुपात होगा क्योकि इस कीमत अनुपात पर इग्लैण्ड व जर्मनी प्रत्येक राष्ट्र के निर्यातो का मूल्य उसके आयातो के भुगतान के लिए ठीक पर्याप्त होगा।

उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि व्यापार की शर्तें 10 कपडा/18 लिनिन से परिवर्तित होकर 10 कपडा/18 5 लिनिन, जर्मनी के प्रतिकूल हो गयी हैं, इसका कारण पुराने वस्तु कीमत अनुपात पर जर्मनी मे मोट कपडे के आयातो की माँग का अधिक शक्तिशाली होना है। अत स्पष्ट है कि व्यापार मे वास्तविक कीमत अनुपात दोनो राष्ट्रो की सापेक्ष माँग की शक्ति (strength) अथवा प्रतिपूरक माँग द्वारा निर्धारित होगा।

मिल के प्रतिपूरक माँग के सिद्धान्त का सार इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है (1) दोनो राष्ट्रो के व्यापार पूर्व के घरेलू कीमत अनुपात ही ऐसी दो सीमाएँ हैं जिनके मध्य वास्तविक अन्तर्राष्ट्रीय कीमत अनुपात निर्धारित होगा, (2) इन दो सीमाओ के मध्य यथार्थ (exact) कीमत अनुपात दोनों राष्ट्रो की 'प्रतिपूरक माँग' की शक्तियो द्वारा निर्धारित होगा, तथा (3) केवल वही कीमत अनुपात स्थायी (stable) होगा जिस पर प्रत्येक राष्ट्र के कुल निर्यातो का मूल्य उसके आयातों के मूल्य के ठीक बराबर होगा।

मिल के सिद्धान्त का ज्यामितीय प्रस्तुतीकरण: प्रतिपूरक माँग वक्र अथवा अर्पण वक्र

(Diagramatic Representation of Mill's Law Reciprocal Demand Curve or Offer curve)

मिल के प्रतिपूरक माँग सिद्धान्त को मार्शल एव एजवर्थ ने अर्पण वक्र (offer curve) नामक ज्यामितीय उपकरण द्वारा प्रस्तुत किया है।

सर्वप्रथम हम अर्पण वक्र उपकरण को भली-भाँति स्पष्ट करेंगे तत्पश्चात् इन वक्रों की सहायता से मिल के प्रतिपूरक माँग के सिद्धान्त को प्रस्तुत करेंगे।

एक अर्पण वक्र को द्वि-विमितीय रेखाचित्र (two-dimensional space) में एक राष्ट्र द्वारा, व्यापाररत अपने सहयोगी राष्ट्र की अन्य वस्तु की भिन्न प्रस्तुतियों के विनिमय में, अर्पण की गई वस्तु की विभिन्न मात्राओं के पथ (locus) के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। चूँकि यह एक साथ निर्यात वस्तु की पूर्ति व आयात वस्तु की माँग दर्शाता है अतः इसे 'प्रतिपूरक माँग वक्र' (Reciprocal Demand Curve) भी कहते हैं। चित्र 3 1 में B राष्ट्र का अर्पण वक्र OB है। OB अर्पण वक्र यह दर्शाता है कि भिन्न वस्तु कीमत अनुपातों पर राष्ट्र B, y वस्तु की भिन्न मात्राओं के आयात के विनिमय में निर्यात के रूप में x वस्तु की कितनी-कितनी मात्रा अर्पण करने को तत्पर है।

चित्र 3 1 में मूल बिन्दु से खींची गयी सरल रेखायें a, b, c, d e आदि x तथा y वस्तु के मध्य भिन्न कीमत अनुपातों का प्रतिनिधित्व करती हैं। a की तुलना में b तथा b की तुलना में c रेखा B राष्ट्र की निर्यात वस्तु x की y वस्तु के रूप में ऊँची कीमत दर्शाती है। a, b c आदि कीमत रेखाओं का ढाल $\frac{Px}{Py}$ अनुपात दर्शाता है अतः ये रेखायें जितनी अधिक ढालू होंगी उतनी ही x वस्तु की ऊँची कीमत का प्रतिनिधित्व करेंगी।

OB अर्पण वक्र मूल बिन्दु से G बिन्दु तक a कीमत रेखा के साथ चलन करता है क्योंकि हमने a रेखा के ढाल को B राष्ट्र का व्यापार से पूर्व वाला घरेलू कीमत अनुपात माना है। अर्पण वक्र घरेलू कीमत अनुपात दर्शाने वाली रेखा a से नीचे कभी भी नहीं जा सकता है क्योंकि अर्पण वक्र a रेखा से नीचे होने का आशय यह होगा कि राष्ट्र आयात वस्तु y की x वस्तु के निर्यातों के रूप में घरेलू कीमत से अधिक मात्रा देने को तत्पर है, जो कि असम्भव है।

अर्पण वक्र का OG हिस्सा यह दर्शाता है कि व्यापार की न्यून मात्रा (OG) के लिए राष्ट्र व्यापार के प्रति उदासीन है। G बिन्दु से आगे अर्पण वक्र बायीं ओर ऊपर की तरफ बढ़ता है, उसका आशय यह है कि निर्यात वस्तु-X की कीमत बढ़ने के साथ राष्ट्र इस वस्तु की अधिक मात्रा निर्यात करेगा। उदाहरणार्थ, h बिन्दु की तुलना में i बिन्दु पर राष्ट्र y वस्तु की अधिक मात्रा आयात करने के विनिमय में x-वस्तु की निर्यात के रूप में अधिक मात्रा अर्पण करने को तत्पर है। इसका आंशिक कारण तो यह है कि निर्यातों की पूर्ति आधिक्य पूर्ति है अर्थात् कुल उत्पादन में से घरेलू उपभोग घटाने पर जो बचता है वह निर्यात किया जाता है अतः निर्यातों में वृद्धि के साथ-साथ
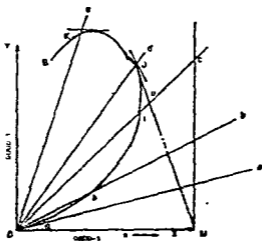
चित्र 3.1—राष्ट्र B का अर्पण वक्र

निर्यात वस्तु घरेलू उपभोक्ताओं के लिए अधिक दुर्लभ होती जाती है तथा आंशिक कारण यह भी है कि आयातों की मात्रा में वृद्धि के साथ-साथ राष्ट्र में आयात वस्तु की दुर्लभता में कमी होती जाती है, अतः राष्ट्र और अधिक निर्यात करने को तत्पर तभी होता है जब निर्यात वस्तु की पूर्व से ऊँची कीमत प्राप्त हो। अतः हम यह सकते है कि चित्र 3.1 में i बिन्दु तक अर्पण वक्र के धनात्मक ढाल का आशय यह है कि निर्यात वस्तु की पूर्ति तथा इसकी सापेक्ष कीमत का धनात्मक सम्बन्ध है। लेकिन निर्यात वस्तु का इसकी सापेक्ष कीमत से धनात्मक सम्बन्ध केवल J जैसे किसी बिन्दु तक ही सम्भव है। चित्र 3.1 में J बिन्दु से आगे अर्पण वक्र बायीं ओर y अक्ष की ओर मुड़ जाता है जिसका अभिप्राय यह है कि B राष्ट्र की निर्यात वस्तु-x की कीमत में वृद्धि के साथ-साथ यह राष्ट्र x वस्तु की कम मात्रा अर्पण करने को तत्पर है। अर्पण वक्र का k-B हिस्सा यह दर्शाता है कि निर्यात वस्तु x की कीमत बढ़ने के साथ-साथ B राष्ट्र कम निर्यात वस्तु x की कीमत बढ़ने के साथ-साथ B राष्ट्र कम निर्यातों के बदले कम आयात करना चाहता है, यह तभी सम्भव है जबकि, आयात वस्तु y गिफन वस्तु (Giffen good) हो, क्योंकि गिफन वस्तु की कीमत घटने पर उपभोक्ता उसकी माँग कम कर देते है तथा कीमत बढ़ने पर उस वस्तु की अधिक मात्रा का क्रय करते हैं।

अर्पण वक्र की आकृति

(Shape of the offer Curve)

अर्पण वक्र की आकृति (Shape) का आय प्रभाव तथा प्रतिस्थापन प्रभाव के रूप मे औचित्य दर्शाया जा सकता है। प्रतिस्थापन प्रभाव तो सदैव ऋणात्मक ही होता है जबकि आय प्रभाव ऋणात्मक भी हो सकता है और धनात्मक भी।

यदि आयात व निर्यात वस्तु मे से कोई भी घटिया वस्तु नही है तो व्यापार की शर्तों मे सुधार के परिणामस्वरूप आय की वृद्धि से निर्यात वस्तु की घरेलू माँग मे वृद्धि होगी और यदि आय मे काफी वृद्धि हो जाती है तो व्यापार की शर्तों मे सुधार के परिणामस्वरूप राष्ट्र के निर्यातों मे कमी होना भी सम्भव है। चित्र 3.1 म ऐसी सम्भावना OB अर्पण वक्र के J-K हिस्से द्वारा दर्शायी गयी है। विशिष्ट स्थिति में अर्पण वक्र पीछे की ओर मुड सकता है जैसाकि चित्र 3.1 मे अर्पण वक्र के K-B हिस्से द्वारा दर्शाया गया है, इसका अभिप्राय यह है कि आयात वस्तु y गिफन वस्तु है।

चित्र 3.1 मे अर्पण वक्र की आकृति आय तथा प्रतिस्थापन प्रभावों से सम्बद्ध है जिसका स्पष्टीकरण निम्न प्रकार से है।

माना कि व्यापार की शर्तें दर्शाने वाली रेखा od से oc हो जाती है तो इसका अभिप्राय यह होगा कि B राष्ट्र की निर्यात वस्तु x का सापेक्ष मूल्य गिर गया है अत. राष्ट्र का आय का स्तर भी गिरेगा। जब B राष्ट्र मे आय घटेगी तो आय प्रभाव के कारण उपभोक्ता x तथा y दोनो ही वस्तुओ की कम मात्रायें खरीदने लगेंगे अर्थात् J बिन्दु के M बिन्दु की सामान्य दिशा मे चलन करने की प्रवृति होगी। J से M की ओर चलन को प्रवृत्ति को अर्थशास्त्री 'आय प्रभाव' की सज्ञा देते हैं। J बिन्दु की तुलना मे U बिन्दु x तथा y दोनो ही वस्तुओ का कम उपभोग दर्शाता है। इस ओर ध्यान दिया जाना चाहिये कि U बिन्दु J बिन्दु से नीचे लेकिन दायी ओर है, अत यह x वस्तु की अधिक मात्रा दर्शाता है, लेकिन चूंकि हम x अक्ष पर x वस्तु के निर्यात माप रहे हैं अतः x वस्तु के निर्यात अधिक होने का आशय है कि इस वस्तु का घरेलु उपभोग घट गया है। इसी प्रकार U बिन्दु से । की ओर चलन 'प्रतिस्थापन' प्रभाव है। d से c कीमत रेखा हो जाने के कारण x वस्तु की सापक्ष कीमत घटी है अर्थात y वस्तु की कीमत मे वृद्धि हुई है अतः प्रतिस्थापन प्रभाव के कारण B राष्ट्र के उपभोक्ता y वस्तु के उपभोग मे कमी करेंगे तथा x वस्तु के उपभोग में वृद्धि, अत. वे u से । बिन्दु की ओर चलन करेंगे। ध्यान रहे कि u बिन्दु की तुलना मे । बिन्दु आयात व निर्यात दोनो की कम मात्रा

दर्शाता है लेकिन निर्यात कम होने का अभिप्राय निर्यात वस्तु के घरेलू उपभोग में वृद्धि होना है। अत प्रतिस्थापन प्रभाव के कारण उपभोक्ता महँगी वस्तु y के स्थान पर सस्ती वस्तु x का उपभोग मे प्रतिस्थापन करते हैं।

चित्र 3.1 मे अर्पण वक्र पर J बिन्दु से ı बिन्दु का चलन आय तथा प्रतिस्थापन प्रभावों का सयुक्त परिणाम है।

यदि आयात व निर्यात वस्तुएँ स्थिर अनुपातों मे उपयोग मे आती है और प्रतिस्थापन प्रभाव कम महत्वपूर्ण है तो चित्र 3.1 मे अर्पण वक्र का ı बिन्दु दर्शाये गये स्थान से ऊपर होगा जबकि x तथा y वस्तु एक दूसरे की प्रतिस्थापन वस्तुएँ हैं तो प्रतिस्थापन प्रभाव अधिक शक्तिशाली होने के कारण अर्पण वक्र का ı बिन्दु चित्र 3.1 मे दर्शाय गय से नीचे स्थित होगा।

अर्पण वक्र तथा सामान्य माँग व पूर्ति वक्र

(Offer Curve and ordinary demand and Supply Curves)

पूर्व के विश्लेषण से स्पष्ट है कि एक राष्ट्र का अर्पण वक्र भिन्न कीमत अनुपातों पर राष्ट्र की निर्यातों की पूर्ति व आयातों की माँग को प्रदर्शित करता है। अतः स्वभाविक प्रश्न उठता है कि क्या अर्पण वक्र सामान्य माँग वक्र है ? इस प्रश्न का उत्तर 'नहीं' मे है, लेकिन यह सत्य है कि अर्पण वक्र व सामान्य माँग वक्र मे घनिष्ठ सम्बन्ध है।

चित्र 3 2 मे D-D सामान्य माँग वक्र है, यह माँग वक्र दर्शाता है कि भिन्न कीमतों पर x-वस्तु की कितनी मात्रा माँगी जायेगी। जबकि चित्र 3.1 मे अर्पण वक्र
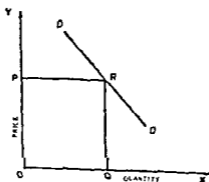
चित्र 3 2—सामान्य माँग वक्र

का y-अक्ष भी यह दर्शाता है कि भिन्न वस्तु-कीमत अनुपातो पर B-राष्ट्र में y वस्तु की आयात के रूप मे कितनी माँग होगी। अर्पण वक्र के o-J भाग मे आयातो की कीमत व माँग मे विपरीत सम्बन्ध भी स्पष्ट है अत चित्र 3.1 मे अर्पण वक्र का y अक्ष तथा चित्र 2 मे माँग वक्र का x अक्ष भिन्न कीमतो पर वस्तु की माँगी जाने वाली मात्रा दर्शाते हैं। लेकिन माँग वक्र y अक्ष पर वस्तु को प्रति इकाई कीमत मुद्रा के रूप मे व्यक्त करता है। जबकि चित्र 3 1 में अर्पण वक्र चित्र का x अक्ष आयातो के कुल मूल्य को निर्यात वस्तु की मात्रा के रूप मे दर्शाता है। यदि हम x अक्ष पर मुद्रा की मात्रा दर्शायें तो अर्पण वक्र 'कुल व्यय वक्र' (Total outlay Curve) के समान बन जाता है। अत अर्पण वक्र सामान्य माँग वक्र से भिन्न है।

अर्पण वक्र सामान्य पूर्ति वक्र से भी भिन्न है क्योंकि यह भिन्न कीमत अनुपातो पर निर्यात वस्तु की पूर्ति का आयात वस्तु के रूप मे कुल मूल्य दर्शाता है।

अर्पण वक्र की लोच

(Elasticity of an offer Curve)

अर्पण वक्र की लोच को तीन प्रकार से निर्वचित किया जा सकता है : कुल लोच, आयातो की माँग लोच व निर्यातो की पूर्ति लोच।

1. अर्पण वक्र की कुल लोच (Total elasticity or erd) :—अर्पण वक्र की कुल लोच को निम्न सूत्र द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है।

$$erd = \frac{\text{आयातो मे आनुपातिक परिवर्तन}}{\text{निर्यातो मे आनुपातिक परिवर्तन}}$$

$$\text{अथवा } erd = \frac{\frac{dy}{y}}{\frac{dx}{x}} = \frac{dy}{dx} \cdot \frac{x}{y} \qquad (1)$$

चित्र 3.3 मे OB अर्पण वक्र पर $\frac{y}{x}$ अनुपात B राष्ट्र की औसत व्यापार की शर्तें (average terms of trade) हैं। यह अनुपात दर्शाता है कि औसतन x वस्तु की एक इकाई के निर्यात के विनिमय मे y वस्तु की कितनी इकाइयो का आयात किया

जा रहा है। दूसरी ओर $\frac{dy}{dx}$ अनुपात वह दर है जिस पर x व y वस्तुओं का सीमान्त विनिमय होता है, अत. $\frac{dy}{dx}$ अनुपात को प्राय: सीमान्त व्यापार की शर्तें (Marginal terms of trade) कहा जाता है। अर्पण वक्र की कुल लोच को सीमान्त से औसत के अनुपात के रूप मे निम्न प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है :—

$$erd = \frac{\text{सीमान्त व्यापार की शर्तें}}{\text{औसत व्यापार की शर्तें}} = \frac{dy}{dx} \Big| \frac{y}{x} \qquad (2)$$

सूत्र (1) की सहायता से हम प्रतिपूरक माँग वक्र OB की C बिन्दु पर लोच निम्न प्रकार से ज्ञात कर सकते हैं .—
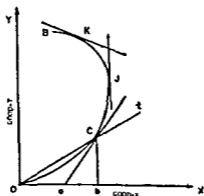
चित्र 3.3—अर्पण वक्र की लोच : कुल लोच, माँग लोच व पूर्ति लोच

हम सर्वप्रथम चित्र 3.3 मे अर्पण वक्र के C विन्दु के ac स्पर्श रेखा (tangent) खीचते हैं जो कि x अक्ष को a विन्दु पर काटेगी। तत्पश्चात् हम c विन्दु से cb लम्ब डालते हैं जो कि x-अक्ष को b बिन्दु पर काटेगा। अन्त मे हम ot रेखा खीचते हैं जो कि औसत व्यापार की शर्तों का प्रतिनिधित्व करती है।

चित्र 3 3 मे अर्पण वक्र के c विन्दु पर स्पर्श रेखा ac का ढाल $\frac{dy}{dx}$ है तथा ot रेखा का ढाल $\frac{y}{x}$ है जो कि $\frac{bc}{ob}$ के समान है तथा इसका व्युत्क्रम (reciprocal) $\frac{ob}{bc}$ है (ध्यान रहे कि हमारे सूत्र म हमे $\frac{x}{y}$ अनुपात प्रयुक्त करना है जो कि $\frac{ob}{bc}$ है), अत c विन्दु पर

$$erd = \frac{dy}{dx} \cdot \frac{x}{y} = \frac{bc}{ab} \quad \frac{ob}{bc} = \frac{ob}{ab} \qquad (3)$$

अत हम कह सकते हैं कि चित्र 3 3 मे अर्पण वक्र की लोच लम्बवत रेखा द्वारा क्षैतिज अक्ष को काटने वाले बिन्दु की मूल बिन्दु से दूरी (ob) को क्षैतिज अक्ष को स्पर्श रेखा द्वारा काटे गये बिन्दु व लम्बवत रेखा द्वारा काटे गये बिन्दुओ की आपसी दूरी (ab) से विभाजित करके प्राप्त की जा सकती है।

यदि अर्पण वक्र मूल बिन्दु से सरल रेखा है तो a विन्दु मूल बिन्दु पर स्थित होगा अत ob = ab अर्थात् सरल रेखीय अर्पण वक्र की प्रत्येक बिन्दु पर लोच इकाई होगी। यदि अर्पण वक्र पीछे की ओर मुड जाता है (जैसा कि चित्र 3 3 मे J बिन्दु से आगे दर्शाया गया है) तथा हम k जैसे किसी बिन्दु पर अर्पण वक्र की लोच ज्ञात करना चाहते हैं तो a बिन्दु b बिन्दु के दायी ओर स्थित होगा तथा ab दूरी ऋणात्मक होगी अत अर्पण वक्र की लोच भी ऋणात्मक होगी। अर्पण वक्र के J-B हिस्से मे ऋणात्मक लोच का आभास इस तथ्य से भी होता है कि इस हिस्से मे $\frac{dy}{dx}$ ऋणात्मक है। चित्र 3.3 मे J बिन्दु पर अर्पण वक्र की लोच अनन्त है क्योकि यहाँ स्पर्श रेखा व लम्ब x अक्ष को एक ही बिन्दु पर काटते हैं, अत ab दूरी शून्य होगी

इसलिए $\frac{ob}{ab} = \infty$

2. आयातो की माँग लोच (Import demand elasticity or ed) अर्पण वक्र की आयातो की माँग लोच की गणना अग्रलिखित सूत्र की सहायता से की जा सकती है :—

$$ed = \frac{\text{आयातो की मात्रा मे आनुपातिक परिवर्तन}}{\text{आयातो की कीमत मे आनुपातिक परिवर्तन}}$$

चूंकि अर्पण वक्र के प्रत्येक बिन्दु पर आयातो व निर्यातो का कुल मूल्य समान है अत हम लिख सकते है कि $px\,x = py\,y$ एव इसकी सहायता से आयातो का सापेक्ष मूल्य $\frac{py}{px} = \frac{x}{y}$ होगा। अब हम ed को निम्न सूत्र के रूप म व्यक्त कर सकते हैं —

$$ed = \frac{dy/y}{d\left(\frac{x}{y}\right) \Big| \left(\frac{x}{y}\right)} = \frac{dy}{d\left(\frac{x}{y}\right)} \cdot \frac{x}{y^2}$$

$d\left(\frac{x}{y}\right)$ का अवकलन (differentiation) करने पर

$$\frac{d}{dx}\left(\frac{x}{y}\right) = \frac{y\,dx - x\,dy}{y^2},$$

अत माँग लोच को हम निम्न रूप से व्यक्त कर सकते हैं —

$$ed = \frac{dy}{\frac{y\,dx - x\,dy}{y^2}} \quad \frac{x}{y^2} = \frac{dy\,x}{y\,dx - x\,dy} \qquad (4)$$

समीकरण (4) के अश व हर को $dx\,y$ से भाग देने पर

$$ed = \frac{\frac{dy}{dx}\frac{x}{y}}{1 - \left(\frac{dy\,x}{dx\,y}\right)}$$

लेकिन समीकरण (1) से $\frac{dy}{dx} \cdot \frac{x}{y} = erd$ अतः

$$ed = \frac{erd}{1-erd} \qquad (4a)$$

समीकरण (3) में erd का मूल्य (4a) में रखने पर

$$ed = \frac{\frac{ob}{ab}}{1-\frac{ob}{ab}} = \frac{\frac{ob}{ab}}{\frac{ab-ob}{ab}} = \frac{ob}{ab} \times \frac{ab}{ab-ob} = \frac{ob}{ab-ob}$$

चित्र 3 3 से ab — ob = — oa अत

$$ed = \frac{ob}{oa} \qquad (5)$$

अत स्पष्ट है कि अर्पण वक्र की आयातों की माँग लोच चित्र 3 3 में लम्बवत रेखा द्वारा क्षैतिज अक्ष को काटने वाले बिन्दु की मूल बिन्दु से दूरी (ob) को स्पर्श रेखा द्वारा क्षैतिज अक्ष को काटने वाले बिन्दु की मूल बिन्दु से दूरी (oa) द्वारा विभाजित करके प्राप्त की जा सकती है।

समीकरण (4) व (5) से स्पष्ट है कि जब अर्पण वक्र की लोच (erd) धनात्मक तथा इकाई से अधिक है तो आयातों की माँग लोच (ed) निरपेक्ष रूप से ऋणात्मक तथा इकाई से अधिक है अर्थात आयातों की माँग लोचदार है। जब erd अनन्त है तो ed = — 1 होगी। चित्र 3.3 म J बिन्दु पर जब erd अनन्त है तो अर्पण वक्र से खींची गई स्पर्श रेखा लम्बवत होगी तथा दूरी ab = o होगी अत

$$ed = \frac{ob}{ab-ob} = \frac{ob}{-ob},$$

अर्थात ed = — 1 होगी। समीकरण (4a) को पुनर्व्यवस्थित करके निम्न रूप में व्यक्त कर उपर्युक्त सम्बन्ध प्राप्त किये जा सकते हैं —

$$ed = \frac{1}{(1/erd)-1}$$

अत जब erd $\rightarrow \infty$, $\left(\frac{1}{erd}\right) \rightarrow o$ एव ed $\rightarrow (-1)$

जब erd घटकर इकाई की ओर अग्रसर होगी अर्थात् जब erd, 2, 1 8 1.5, ————, 1 आदि की शृंखला का रूप धारण करेगी तो ed = $-\infty$ होगी अर्थात आयातो की मांग लोच अनन्त होगी।

3 निर्यातो की पूर्ति लोच (Export supply elasticity or es) — अर्पण वक्र की निर्यातो की पूर्ति लोच की गणना के लिए निम्न सूत्र प्रयुक्त किया जाता है —

$$es = \frac{\text{निर्यातो में आनुपातिक परिवर्तन}}{\text{निर्यातो की कीमत मे आनुपातिक परिवर्तन}}$$

निर्यात वस्तु x का सापेक्ष मूल्य $\frac{px}{py}$ है जो कि $\frac{y}{x}$ के रूप मे व्यक्त किया जा सकता है। अत उपर्युक्त सूत्र में सापेक्ष कीमत के स्थान पर $\frac{y}{x}$ अनुपात प्रतिस्थापित करने पर

$$es = \frac{dx/x}{d(y/x)/(y/x)} = \frac{dx}{d\left(\frac{y}{x}\right)} \cdot \frac{y}{x^2}$$

$d\left(\frac{y}{x}\right)$ का अवकलन करने पर

$\frac{d}{dx} = \frac{x\,dy - y.dx}{x^2}$, अत पूर्ति लोच को निम्न सूत्र के रूप में व्यक्त किया जा सकता है।

$$es = \frac{dx}{\frac{x\,dy - y\,dx}{x^2}} \cdot \frac{y}{x^2} = \frac{dx.y}{x\,dy - y.dx} \qquad (6)$$

समीकरण (6) के अंश व हर को dx.y से भाग देने पर

$$es = \frac{1}{\left(\frac{x\,dy}{dx\,y}\right) - 1} = \frac{1}{erd - 1} \qquad (6a)$$

समीकरण (3) से erd का मूल्य रखने पर

$$es = \frac{1}{\frac{ob}{ab} - 1} = \frac{1}{\frac{ob - ab}{ab}} = \frac{ab}{ob - ab}$$

लेकिन चित्र 3.3 में ob—ab = oa अतः

$$es = \frac{ab}{oa} \qquad 7)$$

अर्थात् अर्पण वक्र की पूर्ति लोच क्षैतिज अक्ष को स्पर्श रेखा द्वारा काटे गये बिन्दु व लम्बवत रेखा द्वारा काटे गये बिन्दुओं की आपसी दूरी (ab) को स्पर्श रेखा द्वारा क्षैतिज अक्ष को काटे जाने वाले बिन्दु की मूल बिन्दु से दूरी (oa) से विभाजित करके प्राप्त की जा सकती है।

समीकरण (4) से ed का मूल्य लेकर तथा समीकरण (6) से es का मूल्य लेकर दोनो लोचों का योग निम्न प्रकार ज्ञात किया जा सकता है :—

$$ed + es = \frac{dy.x}{yd.x - xdy} + \frac{dx.y}{x\,dy - y\,dx}$$

$$= \frac{dy.x}{y\,dx - x.dy} + \frac{dx.y}{-(y.dx - x.dy)}$$

$$= \frac{dy.x}{y.dx - x.dy} - \frac{dx\,y}{y.dx - x\,dy}$$

$$= \frac{dy.x - dx\,y}{-(dy.x - dx.y)} = -1$$

oc रेखा के ढाल वाली हो जाने के बावजूद वस्तु पर किया जाने वाला कुल व्यय x वस्तु के रूप मे ox_1 ही बना रहता है। इसी प्रकार अर्पण वक्र के i–j हिस्से मे निर्यात वस्तु x की पूर्ति लोच शून्य है क्योकि कीमत ob रेखा वाली से बढकर oc रेखा वाली हो जाने के बावजूद निर्यात वस्तु की पूर्ति ox_1 यथास्थिर बनी रहती है।

अर्पण वक्र के J–K हिस्से मे आयातो की माँग बेलोचदार ($ed > -1$) है। इस हिस्से मे यदि आयात वस्तु y की कीमत oc रेखा वाली से घटकर od रेखावाली हो जाती है तो y वस्तु पर किया जाने वाला कुल व्यय ox_1 से घटकर ox हो जाता है (अर्थात कीमत व कुल व्यय एक ही दिशा मे परिवर्तित होते हैं) अत आयातो की माँग बेलोचदार है। इसी प्रकार अर्पण वक्र के J–K हिस्से मे निर्यात वस्तु की पूर्ति लोच ऋणात्मक ($es < 0$) है क्योकि निर्यात वस्तु की कीमत बढकर जब oc रेखा से od रेखा वाली हो जाती है तो निर्यात वस्तु की पूर्ति ox_1 से घटकर ox हो जाती है, अर्थात् निर्यात वस्तु की सापेक्ष कीमत व इसकी पूर्ति मे ऋणात्मक सम्बन्ध है।

A राष्ट्र का अर्पण वक्र (Country A's offer curve)

चित्र 3.5 मे OA वक्र A राष्ट्र का अर्पण वक्र है। A राष्ट्र का व्यापार पूर्व वस्तु कीमत अनुपात oc रेखा द्वारा दर्शाया गया है। OG बिन्दु तक OA अर्पण वक्र व्यापार पूर्व कीमत अनुपात दर्शाने वाली रेखा oc के साथ चलन करता है जिसका
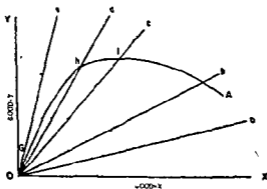
चित्र 3.5—राष्ट्र A का अर्पण वक्र

अभिप्राय यह है कि व्यापार की OG जैसी न्यून मात्राओ के लिए राष्ट्र व्यापार के प्रति उदासीन है। G बिन्दु से आगे अर्पण वक्र दायीं ओर आगे बढता है जो यह दर्शाता है कि A राष्ट्र की निर्यात वस्तु y की पूर्ति का इसकी सापेक्ष कीमत से

धनात्मक सम्बन्ध है। उदाहरणार्थ, जब कीमत रेखा do से oc हो जाती है तो y वस्तु का पूर्ति भी b बिन्दु से बढ़कर। बिन्दु द्वारा प्रदर्शित मात्रा के बराबर हो जाती है।

अर्पण वक्र चित्र द्वारा मिल के प्रति पूरक मांग सिद्धान्त का स्पष्टीकरण

(Illustration of Mill s Law of Reciprocal Demand with the help of an offer curve diagram)

अब हम चित्र 3 1 व चित्र 3.5 में दर्शायी गयी क्रमश राष्ट्र B तथा राष्ट्र A की अर्पण वक्रों को एक साथ चित्र 3 6 में रखकर मिल के प्रतिपूरक मांग के सिद्धान्त को स्पष्ट करने का प्रयास करेंगे। चित्र 3 6 में अर्पण वक्रों की सहायता से दो राष्ट्रों का व्यापार साम्य दर्शाया गया है।
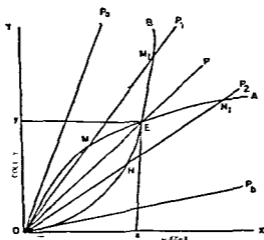
चित्र 3 6—अर्पण वक्र चित्र द्वारा साम्यावस्था का निरूपण

चित्र 3 6 में OP_1 तथा OP_2 साम्य वस्तु कीमत अनुपात नहीं हो सकते हैं। चित्र में साम्य वस्तु कीमत अनुपात दर्शाने वाली रेखा OP है तथा E बिन्दु साम्यावस्था में आयात व निर्यातों की मात्रा को दर्शाता है। यदि अस्थायी रूप में OP वस्तु कीमत अनुपात से भिन्न OP_1 अथवा OP_2 जैसा कोई भी वस्तु कीमत अनुपात विद्यमान है तो प्रतिपूरक माँग की शक्ति पुनः OP कीमती अनुपात स्थापित कर देगी।

साम्य निर्धारण की इस प्रक्रिया को y वस्तु की मात्रा के रूप मे भी स्पष्ट किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, OP_1 रखा वाले वस्तु कीमत अनुपात पर B राष्ट्र y वस्तु की M_1 बिन्दु द्वारा प्रदर्शित मात्रा की माँग करता है जबकि A राष्ट्र इस वस्तु कीमत अनुपात पर M बिन्दु द्वारा दर्शायी गयी मात्रा ही अर्पण करने को तत्पर है, अत OP_1 वस्तु कीमत अनुपात पर y वस्तु की माँग अधिक व पूर्ति कम है अत y वस्तु का सापेक्ष मूल्य बढकर OP रेखा के ढाल वाला विस्थापित होगा। y वस्तु का सापेक्ष मूल्य OP_1 से परिवर्तित होकर OP रेखा वाले मूल्य जैसा (अर्थात् कीमत रेखा के OP_1 की तुलना मे कम ढालू) होने की प्रवृत्ति होगी, जिससे A राष्ट्र अपने अर्पण वक्र पर M बिन्दु से E की ओर आगे को चलन करके y वस्तु की पूर्ति बढायेगा जबकि B राष्ट्र M_1 बिन्दु से E की ओर चलन करके y वस्तु की माँग मे कटौती करेगा। अन्तत E बिन्दु पर y वस्तु की माँग व पूर्ति समान हो जायेगी। इसी प्रकार OP_2 रेखा वाले कीमत अनुपात पर A राष्ट्र y वस्तु की N_1 बिन्दु द्वारा प्रदर्शित मात्रा की पूर्ति करने को तत्पर है, जबकि इस वस्तु कीमत अनुपात पर, B राष्ट्र मे y वस्तु की माँग केवल N बिन्दु द्वारा प्रदर्शित मात्रा के बराबर ही है। अत इस वस्तु कीमत अनुपात पर y वस्तु की माँग कम व पूर्ति अधिक है इसलिए कीमत रेखा OP_2 से परिवर्तित होकर OP की भाँति अधिक ढालू हो जायेगी। जिससे A राष्ट्र अपने अर्पण वक्र पर N_1 बिन्दु से पीछे हटकर E बिन्दु की ओर चलन करेगा व y वस्तु की पूर्ति घटा देगा जबकि B राष्ट्र N बिन्दु से अर्पण वक्र पर आगे बढकर E बिन्दु की ओर चलन करेगा व y वस्तु की माँग बढा देगा। अन्तत E बिन्दु पर y वस्तु की माँग व पूर्ति मे साम्य स्थापित होगा।

चित्र 3.6 मे E बिन्दु पर A राष्ट्र के निर्यात oy तथा आयात ox हैं जो कि क्रमश B राष्ट्र के आयातो (oy) व निर्यातो (ox) के बराबर है। OP रेखा का ढाल oy/ox है अर्थात E बिन्दु पर OP रेखा वाले वस्तु कीमत अनुपात पर A व B राष्ट्र के निर्यातो का मूल्य स्वय के आयातो के भुगतान के लिए ठीक पर्याप्त है। अत स्पष्ट है कि चित्र 3 6 मे E बिन्दु मिल के स्थायी साम्य (Stable Equilibrium) की स्थिति का प्रतिनिधित्व करता है।

अर्पण वक्र विश्लेषण पर प्रो. ग्राह्म (Graham) की टिप्पणी

(Prof Graham's Comment on offer Curve)

प्रो. ग्राह्म ने अर्पण वक्र तकनीक की आलोचना करते हुए विचार व्यक्त किया है कि अन्तर्राष्ट्रीय वस्तु कीमत अनुपात राष्ट्रो के व्यापार पूर्व कीमत अनुपातों के मध्य

प्रो ग्राह्य की यह आलोचना सही प्रतीत नही होती है। अर्पण वक्र की परिशिष्ट-B म दर्शायी गयी व्युत्पत्ति इस बिन्दु को और अधिक स्पष्ट रूप मे प्रस्तुत करती है।

समुदाय उदासीन वक्र

(Community Indifference Curves)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार म माँग पक्ष को प्रस्तुत करने हेतु समुदाय उदासीन वक्रो का उपयोग किया जाता है।

समुदाय उदासीन वक्रो की अवधारणा उपभोक्ता के उदासीन वक्रों की अवधारणा से अधिक जटिल है। इसका प्रमुख कारण यह है कि एक उपभोक्त के उदासीन वक्रो मे कल्याण के स्तरों की अन्तर वैयक्तिक (Inter-personal) तुलना की समस्या उत्पन्न नही होती है जबकि समुदाय उदासीन वक्रो के निर्माण मे यह समस्या प्रमुख समस्या है। यदि हम यह मानलें कि समुदाय की अभिरुचियो का प्रतिनिधित्व उपभोक्ता विशेष की अभिरुचियो द्वारा किया जा सकता है तथा समुदाय के प्रत्येक सदस्य की आय समान है तो व्यक्तिगत उदासीन वक्र से समग्र उपयोगिता फलन प्राप्त करने मे कोई कठिनाई नही होगी। लेकिन ये मान्यतायें लगभग अवास्तविक हैं। समुदाय के सदस्यो की अभिरुचिया समान मान लेना तो विशेष अवास्तविक नहीं है लेकिन समुदाय के सदस्यो की आय समान होना पूर्णतया असम्भव है।

प्रो साइटोवस्की[5] (Scitovsky) ने समुदाय उदासीन वक्र को व्यक्तियो के मध्य स्थिर उपयोगिता के वितरण की स्थिति म भिन्न वस्तु कीमतो पर माँगी जाने वाली
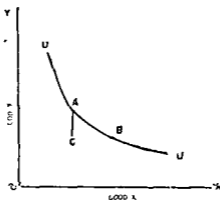
चित्र 3.7—समुदाय उदासीन वक्र

लेकिन यदि समुदाय उदासीन वक्र आपस मे काटते हुए हैं तो ये समुदाय के कल्याण के स्तरो की तुलना करने के लिए उपयोगी सिद्ध नही हो सकते। अत. आपस मे न काटने वाले उदासीन वक्र प्राप्त करने हेतु आय का वितरण अपरिवर्तित रहना आवश्यक है।
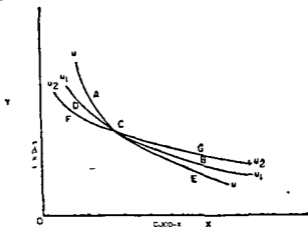
चित्र 4 8—भिन्न आय वितरण के अनुरूप भिन्न समुदाय उदासीन वक्र

प्रो. चिपमेन (Chipman) ने इस दुविधा से छुटकारा पाने हेतु दो शर्तों का पूरा होना आवश्यक माना है। उनके अनुसार,

"संक्षेप मे हम कह सकते है कि यदि सब लोगो के उपयोगिता फलन घनात्मक समरूप (positive homogenous) है तथा या तो (1) सभी लोगो की अभिरूचियाँ एक जैसी है अथवा (2) सब लोगो का साधनो का वितरण समग्र वितरण से आनुपातिक है, तो उनके व्यवहार का प्रतिनिधित्व एक उपयोगिता फलन कर सकता है। चूँकि ये दोनो शर्तें एक दूसरे से स्वतन्त्र है तथा इनमे से प्रत्येक शर्त पर्याप्त भी है, अत स्पष्ट ही दोनो मे से कोई भी आवश्यक शर्त नही है।"[6]

अत स्पष्ट है कि यदि दोनो मे से एक शर्त पूरी होती है तो समुदाय उदासीन वक्रो का निर्माण तो सम्भव है लेकिन उसका सुव्यवहारित (well-behaved) होना सम्भव नहीं है। अत सुव्यवहारित व आपस मे न काटने वाले समुदाय उदासीन वक्र प्राप्त करने हेतु समुदाय के सदस्यो की एक जैसी अभिरूचियो की व आय के वितरण के अपरिवर्तित रहने की दोनो शर्तें पूरी होनी आवश्यक है।

6 Chipman, J S.—A survey of the Theory of International Trade : Part 2, The Neo-Classical Economy Econometrica, (octo 1965), p, 695.

परिशिष्ट—B

(Appendix—B)

अर्पण वक्र की व्युत्पत्ति

(Derivation of an offer Curve)

प्रो. जेम्स मीड[1] (James Meade) ने उत्पादन सम्भावना वक्र तथा व्यापार उदासीन वक्रों (Trade Indifference Curves) की सहायता से अर्पण वक्र की व्युत्पत्ति की है।

चित्र B-1 में प्रो मीड की व्यापार उदासीन वक्र की व्युत्पत्ति की विधि को
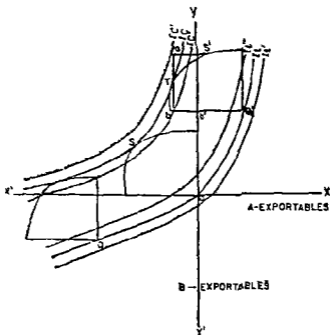
चित्र B-1—समुदाय उदासीन मानचित्र व उत्पादन संभावना वक्र से व्यापार उदासीन मानचित्र की व्युत्पत्ति

1. Meade, J E.—A Geometary of International Trade—George Allen and Uuwin Ltd. (1952), Ch. II.

प्रस्तुत किया गया है। चित्र B-1 में A राष्ट्र का उत्पादन सम्भावना वक्र मूल बिन्दु o से बनाया गया है। I_0 समुदाय उदासीन वक्र o मूल वाले उत्पादन सम्भावना वक्र के S बिन्दु पर स्पर्श है, अत A राष्ट्र का व्यापार पूर्व साम्य उपभोग व उत्पादन बिन्दु S है। चूँकि उत्पादन सम्भावना वक्र उत्तर-पश्चिम चतुर्थांश (Quadrant) में बनाया गया है अत x-अक्ष पर बायी ओर चलन करने से x-वस्तु का बढता हुआ उत्पादन दर्शाया गया है। मान लीजिए कि हम A राष्ट्र के उत्पादन सम्भावना ब्लॉक (block) को सीधा बनाये रख कर व्यापार पूर्व की समुदाय उदासीन वक्र I_0 से स्पर्श रखते हुए ऊपर व नीचे की ओर खिसकायें तथा A राष्ट्र के उत्पादन सम्भावना ब्लॉकों (blocks) के मूल बिन्दुओ (origins) को मिलाने वाला वक्र खीचे तो चित्र B-1 मे Q—O—Q' वक्र प्राप्त होगा जिसे व्यापार उदासीन वक्र (Trade Indifference Curve) के नाम से जाना जाता है।

व्यापार उदासीन वक्र के प्रत्येक बिन्दु पर राष्ट्र व्यापार व बिना व्यापार की स्थितियो के बीच उदासीन रहता है। उदाहरणार्थ, राष्ट्र A, S बिन्दु को उत्पादन व उपभोग बिन्दु चुनकर व्यापार पूव साम्यावस्था प्राप्त कर सकता है अथवा A राष्ट्र Q' मूल बिन्दु वाले उत्पादन सम्भावना वक्र पर T बिन्दु पर उत्पादन करके A-निर्यातो की Q -b' मात्रा के विनिमय मे B-निर्यातो की ob मात्रा प्राप्त कर व्यापाररत साम्या-वस्था प्राप्त कर सकता है। A राष्ट्र S तथा T बिन्दुओ के मध्य उदासीन इसलिए है कि यह राष्ट्र अपने उत्पादन सम्भावना वक्र पर S अथवा T मे से किसी भी बिन्दु पर उत्पादन कर सकता है। चूँकि समुदाय उदासीन वक्रो का मूल बिन्दु o है अत T बिन्दु पर A राष्ट्र ob' (आयात) + bT (घरेलू उत्पादन) के बराबर B-निर्यातो का उपभोग कर रहा है जबकि T बिन्दु पर Q'-b के कुल घरेलू उत्पादन मे से A राष्ट्र केवल b'b मात्रा का ही उपभोग कर रहा है।

व्यापार उदासीन वक्रों की विशेषताएँ

(Properties of trade indifference Curves)

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर व्यापार उदासीन वक्रो की निम्न विशेषताओं (Properties को ध्यान मे रखना उपयोगी सिद्ध हो सकता है —

(1) यदि A राष्ट्र प्रत्येक उत्पादन ब्लॉक पर A-निर्यातो व B-निर्यातो की समान मात्रा उत्पादित करता रहे तो व्यापार उदासीन वक्र व समुदाय उदासीन वक्र समानान्तर होंगे। उदाहरणार्थ, चित्र B-1 मे S व S' बिन्दु यदि समान उत्पादन संयोग का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं तो व्यापार उदासीन वक्र I_1 तथा

समुदाय उदासीन वक्र I_c तभी समानान्तर होंगे जब Q' मूलवाले उत्पादन ब्लॉक पर नया उत्पादन बिन्दु S' हो अर्थात समुदाय उदासीन वक्र I_c उत्पादन सम्भावना वक्र के S' बिन्दु पर स्पर्श हो।

(2) लेकिन यदि भिन्न उत्पादन ब्लॉकों पर A-निर्यातों व B-निर्यातों के भिन्न संयोग उत्पादित किये जा रहे हैं अर्थात चित्र B-1 में S तथा T जैसे उत्पादन बिन्दु हैं तो व्यापार उदासीन वक्र का ढाल समुदाय उदासीन वक्र के ढाल से भिन्न होगा। चित्र B-1 में I_t व्यापार उदासीन वक्र I_c समुदाय उदासीन वक्र से कम ढालू (less steep) है क्योंकि S बिन्दु से T बिन्दु को चलन करने पर उपभोग व उत्पादन दोनों की मात्रा में होने वाले परिवर्तनों का समावेश व्यापार उदासीन वक्र करता जबकि समुदाय उदासीन वक्र केवल उपभोग के परिवर्तनों का ही समावेश करता है अतः व्यापार उदासीन वक्र समुदाय उदासीन वक्र से कम ढालू है। चित्र B-1 से ज्ञात होता है कि यदि Q' वाला ब्लॉक समुदाय उदासीन वक्र I_c के S' बिन्दु पर स्पर्श करने हेतु नीचे खिसकाया जाय तो I_t वक्र I_c वक्र के समानान्तर होगा।

(3) समुदाय उदासीन वक्र I_c की भाँति व्यापार उदासीन वक्र I_t का ढाल भी ऋणात्मक होता है।

(3) समुदाय उदासीन वक्रों की भाँति व्यापार उदासीन वक्र भी मूल बिन्दु की ओर उन्नतोदर (convex) होते हैं।

(5) अनेक व्यापार उदासीन वक्रों में से I_t जैसी एक उदासीन वक्र अवश्य ऐसी होगी जो सदैव ही मूल बिन्दु o से गुजरेगी। I_t से नीचे स्थित सभी व्यापार उदासीन वक्र o-x अक्ष को काटेंगी (जब कि समुदाय उदासीन वक्र o-x अक्ष को कभी नहीं काटता है) तथा I_t से ऊँची स्थित सभी व्यापार उदासीन वक्र o-y अक्ष को काटेंगी।

(6) प्रत्येक समुदाय उदासीन वक्र के तद्रूप (Corresponding) एक व्यापार उदासीन वक्र होता है। उदाहरणार्थ, चित्र B-1 में I_c के तद्रूप I_t वक्र है तथा नीचे समुदाय उदासीन वक्र I_c' के तद्रूप I'_t है एवं ऊँचे समुदाय उदासीन वक्र I_c'' के तद्रूप ऊँचा व्यापार उदासीन वक्र I''_t है। इस तथ्य से यह भी स्पष्ट हो जाना चाहिए कि चूँकि एक ऊँचा व्यापार उदासीन वक्र ऊँचे समुदाय उदासीन वक्र के तद्रूप होता है अतः ऊँचा व्यापार उदासीन वक्र ऊँचे कल्याण के स्तर का द्योतक होता है। लेकिन एक दिये हुए व्यापार उदासीन वक्र पर राष्ट्र का
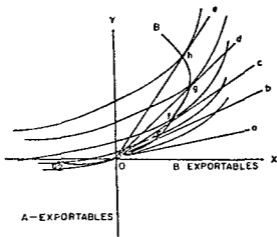
चित्र B–2—अर्पण वक्र की व्युत्पत्ति

कल्याण का स्तर समान रहता है, इसलिए दिये हुए व्यापार उदासीन वक्र पर राष्ट्र व्यापार व बिना व्यापार की स्थिति के बीच समभाव पाया जाता है।

अब हम व्यापार उदासीन वक्र की सहायता से B राष्ट्र के अर्पण वक्र की व्युत्पत्ति करेंगे। एक अर्पण वक्र भिन्न सापेक्ष वस्तु कीमत अनुपात दर्शाने वाली रेखाओं व राष्ट्र के व्यापार उदासीन वक्रो के स्पर्श बिन्दुओ का पथ (locus) होता है। चित्र B-2 मे e, f, g व h बिन्दुओं पर व्यापार उदासीन वक्र वस्तु कीमत अनुपात रेखाओ a, b, c, d आदि के स्पर्श है, अत इन बिन्दुओ को जोडने वाली रेखा o, e, f g, h ही B राष्ट्र का अर्पण वक्र है।

चित्र B-2 में प्रारम्भ मे मूल बिन्दु से कुछ दूरी तक अर्पण वक्र का ढाल व्यापार पूर्व वस्तु कीमत अनुपात दर्शाने वाली रेखा के समान है। तत्पश्चात् B-निर्यातो की कीमत में वृद्धि के साथ-साथ B राष्ट्र के निर्यातो मे भी वृद्धि होती जाती है। यदि वस्तु कीमत अनुपात रेखा oa रेखा से कम ढालू (less steeper) हो जाती है अर्थात् B राष्ट्र के आयातो की कीमत इनकी B राष्ट्र मे व्यापार पूर्व कीमत से भी अधिक हो जाती है तो B राष्ट्र का अर्पण वक्र दक्षिण-पश्चिम चतुर्थांश मे पाया जायेगा तथा B राष्ट्र अपनी आयात वस्तु का निर्यात करने लगेगा। यह सम्भावना चित्र B-2 मे a_2 बिन्दु द्वारा दर्शायी गयी है।

4

हैक्शर-ओलीन प्रमेय–अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधुनिक सिद्धान्त

(Heckscher-ohlin Theorem—Modern Theory of International Trade)

यदि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधार तुलनात्मक लागतों में अन्तर है तो प्रश्न यह उठता है कि भिन्न राष्ट्रों में वस्तु उत्पादन लागतों में अन्तर क्यों पाये जाते हैं ? अर्थात् भिन्न राष्ट्रों के उत्पादन सम्भावना वक्रों की आकृति भिन्न क्यों होती है ? इस प्रश्न का उत्तर नोबल पुरस्कार विजेता अर्थशास्त्री प्रो ओलीन (ohlin) ने दो भागों में प्रदान किया है। प्रथम तो यह कि भिन्न वस्तुओं के उत्पादन में उत्पादन के साधन भिन्न अनुपातों में प्रयुक्त किये जाते हैं तथा द्वितीय यह की भिन्न राष्ट्रों म साधन सम्पन्नताएँ भिन्न होती है। स्वय ओलीन के ही शब्दों मे "भिन्न वस्तुओं के उत्पादन मे उत्पादन के साधनों का बहुत भिन्न अनुपातों में प्रवेश होता है और इसलिए (भिन्न राष्ट्रों में उत्पादक साधनों के भिन्न सापेक्ष मूल्य होने के कारण) उत्पादन मे अन्तर्राष्ट्रीय विशिष्टीकरण लाभप्रद होता है, यह तथ्य इतना स्पष्ट है कि यह शायद ही ध्यान में आने से बच पाया हो, फिर भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सिद्धान्त मे इस तथ्य की लम्बे समय तक उपेक्षा की जाती रही है।"[1]

इस सिद्धान्त का प्रतिपादन प्रो ओलीन ने अपने अध्यापक एली हैक्शर (Eli Heckscher) की अन्तर्दृष्टियों के आधार पर किया था अतः इस विश्लेषण को हैक्शर-ओलीन सिद्धान्त के नाम से जाना जाता है।

हैक्शर-ओलीन सिद्धान्त के अनुसार कोई भी राष्ट्र उस वस्तु का निर्यात करेगा जिसके उत्पादन में उस राष्ट्र के अपेक्षाकृत बाहुल्य वाले साधन की अधिक मात्रा

---

1 Ohlin, B —Interregional and International Trade, p 29

"The fact that the productive factors enter into the production of different Commodities in very different proportions, and that therefore (relative prices of the factors being different in different countries) an international specialization of production is profitable is so obvious that it can hardly have escaped notice. Yet this fact was long ignored in international trade theory"

उपयोग मे आती है तथा उस वस्तु का आयात करेगा जिसमे उस राष्ट्र के सापेक्ष रूप से दुर्लभ साधन की अपेक्षाकृत अधिक मात्रा उपयोग मे आती है।

ओलीन के शब्दो मे, "सामान्यतया प्रत्येक क्षेत्र मे बाहुल्य वाले साधन अपेक्षाकृत सस्ते होते है एव कमी वाले (scanty) साधन अपेक्षाकृत मँहगे। जिन वस्तुओ के उत्पादन मे पहले वाले (former) साधनो की अधिक तथा बाद वाले (latter) साधनो की कम आवश्यकता होती है उनका उन वस्तुओ के विनिमय मे निर्यात होता है जिनम साधनो की विपरीत अनुपातो मे आवश्यकता होती है।"[2]

स्पष्ट है कि हैक्शचर-ओलीन सिद्धान्त के अनुसार भारत जैसा श्रम-सम्पन्न राष्ट्र श्रम-गहन वस्तुओ का निर्यात करेगा तथा पूँजी साधन की दुर्लभता के कारण पूँजी-गहन वस्तुओ का आयात करेगा।

भौतिक परिभाषा व कीमत परिभाषा

(The Physical and the Price Definitions)

हैक्शचर-ओलीन सिद्धान्त की दो भिन्न परिभाषाएँ हैं—प्रथम तो भौतिक परिभाषा है जो नोबल पुरस्कार विजेता प्रो. लियोनतीफ (Leontief) द्वारा प्रदान की गयी है। इस परिभाषा के अनुसार

यदि

$$\left(\frac{K}{L}\right)_{I} > \left(\frac{K}{L}\right)_{II}$$

तो प्रथम राष्ट्र पूँजी सम्पन्न एव श्रम दुर्लभ राष्ट्र है। यहाँ पर K से अभिप्राय सम्बन्धित राष्ट्र म उपलब्ध समस्त पूँजी की मात्रा से है तथा L से अभिप्राय उस राष्ट्र मे उपलब्ध समस्त श्रम की मात्रा से है।

द्वितीय परिभाषा कीमत परिभाषा है जो कि स्वय हैक्शचर-ओलीन द्वारा प्रदान की गयी है। इस परिभाषा के अनुसार यदि

---

2 Ohlin, B —op cit p. 63

' Generally, abuudant factors are relatively Cheap scanty factors are relatively dear, in each region Commodities requiring for their production much of the former and little of the latter are exported in exchange for goods that call for factors in the opposite proportions"

$$\left(\frac{P_K}{P_L}\right)_I < \left(\frac{P_K}{P_L}\right)_{II}$$

तो प्रथम राष्ट्र पूँजी सम्पन्न तथा श्रम दुर्लभ राष्ट्र है। यहाँ पर $\frac{P}{P_L}$ व्यापार पूर्व साम्य मे श्रम की कीमत के रूप मे पूँजी की कीमत है। यदि भौतिक परिभाषा का उपयोग किया जाय तो हैक्श्चर-ओलीन प्रमेय का सत्यापन निम्न चार चरणो में स्थापित किया जा सकता है[3] —

1 सर्वप्रथम हम यह दर्शाते हैं कि पूँजी सम्पन्न प्रथम राष्ट्र उत्पादन मे समान वस्तु-कीमत अनुपात पर द्वितीय राष्ट्र की तुलना मे ऊँचा $\left(\frac{x}{y}\right)$ अनुपात उत्पादित करेगा। यहाँ पर x वस्तु पूँजी गहन वस्तु मानी गई है।

2. द्वितीय, हम यह मान लेते हैं कि दोनो राष्ट्रो मे उपभोग का ढाँचा पूर्णतया एक जैसा है अर्थात् दोनो राष्ट्रो मे समान वस्तु कीमत अनुपात पर उपभोग मे $\left(\frac{x}{y}\right)$ अनुपात समान होगा।

3. उपर्युक्त दो मान्यताओ के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुचते है कि व्यापार पूर्व साम्यावस्था मे $\left(\frac{P_x}{P_y}\right)_I < \left(\frac{P_x}{P_y}\right)_{II}$ और इस प्रकार यह तर्क पूर्ण करते हैं कि श्रम सम्पन्न राष्ट्र मे व्यापार पूर्व साम्यावस्था में पूँजी गहन वस्तु की सापेक्ष कीमत कम होगी, तत्पश्चात्

4 यह तर्क दिया जाता है कि पूँजी सम्पन्न राष्ट्र पूँजी-गहन वस्तु का निर्यात करेगा तथा श्रम-गहन वस्तु का आयात।

यदि कीमत परिभाषा का अनुसरण किया जाय तो हैक्श्चर-ओलीन प्रमेय का सत्यापन सीधा इस तर्क से प्रारम्भ होता है कि किसी भी राष्ट्र के बाहुल्य वाले साधन

3. विस्तृत विवेचन के लिए देखिए
Bhagwati, J —The Proofs of the Theorems on Comparative Advantage—E J., Mar. 1967, pp 75-83

की जिस वस्तु के उत्पादन मे अपेक्षाकृत अधिक मात्रा प्रयुक्त की जाती है उस वस्तु की व्यापार पूर्व साम्य कीमत उस राष्ट्र मे अन्य राष्ट्र की तुलना म कम होगी। अत कीमत परिभाषा के आधार पर हैक्श्चर-ओलीन प्रमेय के सत्यापन के लिए भौतिक परिभाषा के सत्यापन मे प्रयुक्त किये गए तीन विशिष्ट चरणो की आवश्यक्ता नही रहती है। क्योकि हमारी तकनीकी मान्यताएँ वस्तु व साधन अनुपातो मे अनन्य (unique) सम्बन्ध स्थापित कर देती हैं। अत

$$\left(\frac{P_K}{P_L}\right)_I < \left(\frac{P_K}{P_L}\right)_{II}$$ से हमे सीधा यह निष्कर्ष प्राप्त होता

है कि $\left(\frac{P_X}{P_Y}\right)_I < \left(\frac{P_X}{P_Y}\right)_{II}$ इससे आगे भौतिक परिभाषा वाले केवल चौथे चरण के तर्क (एक राष्ट्र उस वस्तु का निर्यात करेगा जिसकी सापेक्ष कीमत व्यापार पूर्व साम्य म अन्य राष्ट्र की तुलना में कम हो तथा दूसरी वस्तु का आयात करेगा) की आवश्यक्ता रह जाती है। ध्यान रहे कि कीमत परिभाषा मे भौतिक परिभाषा के चरण (3) के उपयोग की आवश्यक्ता नही रहती है।

हैक्श्चर-ओलीन सिद्धान्त की मान्यताएँ

(Assumptions underlying the H O. Theory)

विश्लेषण को और आगे बढ़ाने से पूर्व हैक्श्चर-ओलीन प्रमेय की मान्यताओ से अवगत होना अति आवश्यक है। हैक्श्चर-ओलीन प्रमेय की प्रमुख मान्यताएँ निम्न हैं —

(1) दो राष्ट्र, दो वस्तुएँ, व दो साधन

(2) दोनो राष्ट्रों मे भिन्न साधन सम्पन्नताएँ अर्थात् $\left(\frac{K}{L}\right)_I > \left(\frac{K}{L}\right)_{II}$

(3) दोनो राष्ट्रो मे वस्तु व साधन बाजारों मे पूर्ण प्रतियोगिता,

(4) दोनो राष्ट्रों मे दी हुई वस्तु का उत्पादन फलन एक जैसा[4], लेकिन भिन्न वस्तुओं म भिन्न साधन गहनता अर्थात् $\left(\frac{K}{L}\right)_X > \left(\frac{K}{L}\right)_Y$,

4 "The Physical conditions of Production are everywhere the same——". Ohlin, oP cit, p 9

(5) रेखीय समरूप उत्पादन फलन,

(6) पैमाने के स्थिर प्रतिफल लेकिन साधन विशेष का ह्रासमान प्रतिफल,

(7) दोनों राष्ट्रों में उपभोग का प्रारूप एक जैसा,

(8) साधन गहनता प्रतिलोमता की अनुपस्थिति (No factor intensity—Reversal)

(9) पूर्ण रोजगार, साधन पूर्ति स्थिर व राष्ट्र के भीतर साधनों की पूर्ण गतिशीलता किन्तु राष्ट्रों के मध्य अगतिशीलता,

(10) शून्य परिवहन लागत तथा पूर्ण रूप से स्वतन्त्र व्यापार।

उपर्युक्त मान्यताओं को ध्यान में रखते हुए यदि भौतिक परिभाषा का उपयोग किया जाए, तो हैक्सचर-ओहलीन प्रमेय का सत्यापन चित्र 4.1 की सहायता से स्पष्ट किया जा सकता है।
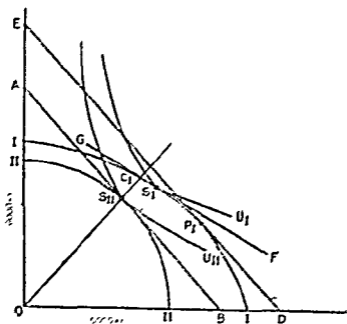
चित्र 4.1—हैक्सचर-ओहलीन प्रमेय : भौतिक परिभाषा

चित्र 4.1 मे II II द्वितीय राष्ट्र का रूपान्तरण वक्र है तथा U_{II} इस राष्ट्र का समुदाय उदासीन वक्र। इस राष्ट्र मे व्यापार पूर्व साम्य वस्तु-कीमत अनुपात A-B रखा के ढाल द्वारा दर्शाया गया है। व्यापार पूर्व साम्य उत्पादन व उपभोग विन्दु S_{II} है।

अब मान लीजिए कि पूंजी साधन की मात्रा मे अभिवृद्धि हो जाती है और $\left(\frac{K}{L}\right)_x > \left(\frac{K}{L}\right)_y$ है। अत उत्पादन सम्भावना वक्र विवर्त (shift) होकर I I हो जायेगा। उत्पादन सम्भावना वक्र I-I वक्र II-II की तुलना मे सभी बिन्दुओ पर बाहर की तरफ है, अत- यह दर्शाता है कि साधन पूर्ति मे वृद्धि के परिणामस्वरूप एक अथवा दोनो वस्तुओ का पूर्व से अधिक उत्पादन सम्भव है। लेकिन y वस्तु की तुलना मे x वस्तु पूंजी गहन है, अतः पूंजी साधन की पूर्ति मे वृद्धि के कारण उत्पादन सम्भावना वक्र पूंजी गहन वस्तु x वाले अक्ष पर बाहर की ओर अधिक विवर्त होगा। अब मान लीजिय कि पूंजी सम्पन्न प्रथम राष्ट्र का उत्पादन सम्भावना वक्र I I है। यदि हम यह मानलें कि दोनो राष्ट्रो मे वस्तु कीमत अनुपात समान है तो राष्ट्र I-I मे व्यापार पूर्व साम्यावस्था में वस्तु कीमत अनुपात दर्शाने वाली D-E रेखा A-B कीमत रेखा के समानान्तर होगी। अब यदि हम दोनो राष्ट्रो म एक जैसा उपभोग का ढाँचा मान लें तो प्रथम राष्ट्र का उपभोग विन्दु, मूल विन्दु से S_{II} विन्दु से गुजरने वाली सरल रेखा पर, C_1 होगा। इसका अभिप्राय यह है कि समान वस्तु कीमत अनुपात पर दोनो राष्ट्रो मे x तथा y वस्तुओ का समान अनुपात मे उपभोग हो रहा है। इसका आशय निसन्देह यह है कि दोनो राष्ट्रो मे समुदाय पसन्दगियां न केवल एक जैसी ही हैं अपितु होमोथेटिक (Homothetic) भी हैं। लेकिन प्रथम राष्ट्र का उत्पादन बिन्दु P_1 है जबकि उपभोग बिन्दु S_1 है, अतः उत्पादन व उपभोग विन्दु भिन्न होने के कारण प्रथम राष्ट्र व्यापार पूर्व साम्यावस्था मे नहीं है। स्पष्ट है कि हमारी मान्यताओ के अन्तर्गत प्रथम एव द्वितीय राष्ट्र मे व्यापार पूर्व साम्यावस्था म समान वस्तु कीमत अनुपात नही बना रह सकता, क्योकि DE रेखा के ढाल वाले वस्तु कीमत अनुपात पर प्रथम राष्ट्र मे y वस्तु का उत्पादन इस वस्तु की माँग की तुलना म कम है, अतः माँग-पूर्ति मे साम्य स्थापित होने हेतु यह आवश्यक है कि y वस्तु के सापेक्ष मूल्य मे वृद्धि हो। माँग व पूर्ति की शक्तियो की क्रिया-प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप प्रथम राष्ट्र का व्यापार पूर्व साम्य बिन्दु I-I रूपान्तरण वक्र पर P_1 बिन्दु के बायी ओर C_1 बिन्दु के दक्षिण पूर्व मे विस्थापित होगा, चित्र 4.1 मे ऐसा साम्य बिन्दु S_1 है तथा व्यापार पूर्व साम्य वस्तु कीमत अनुपात FG रेखा के ढाल वाला है। स्पष्ट है कि FG वस्तु

कीमत अनुपात रेखा AB रेखा से कम ढालू (flatter) है, जिसका अभिप्राय है कि $\left(\frac{P_X}{P_Y}\right)_I < \left(\frac{P_X}{P_Y}\right)_{II}$ अत यह सुनिश्चित हो जाता है कि प्रथम राष्ट्र x वस्तु का निर्यात करेगा तथा y वस्तु का आयात जो कि हैक्शचर-ग्रोलीन प्रमेय के निष्कर्ष के अनुरूप है ।

हैक्शचर-ग्रोलीन प्रमेय की कीमत परिभाषा

हैक्शचर-ग्रोलीन प्रमेय की कीमत परिभाषा के अनुसार यदि

$$\left(\frac{P_K}{P_L}\right)_I < \left(\frac{P_K}{P_L}\right)_{II}$$

तो प्रथम राष्ट्र पूँजी सम्पन्न राष्ट्र है तथा इस प्रमेय के अनुसार यह राष्ट्र पूँजी गहन वस्तु का निर्यात एव श्रम गहन वस्तु का आयात करेगा, इस सम्भावना को हम चित्र 4.2 की सहायता से स्पष्ट कर सकते है ।
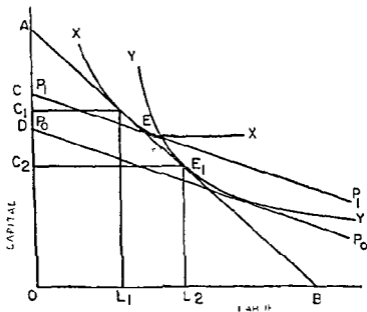
चित्र 4 2—हैक्शचर-ग्रोलीन प्रमेय कीमत परिभाषा

हैक्सचर-ओलीन मॉडल के ढांचे में व्यापाररत राष्ट्रों का साम्य

(Equilibrium of Trading countries in the Heckscher-Ohlin framework)

हैक्सचर-ओलीन मॉडल की मान्यताओं के अन्तर्गत व्यापाररत राष्ट्रों का साम्य चित्र 4.3 द्वारा स्पष्ट किया गया है।

एक जैसे उत्पादन फलनों (Identical Production Functions) की मान्यता के आधार पर हम कह सकते हैं कि प्रथम राष्ट्र पूँजी सम्पन्न राष्ट्र है क्योंकि समस्त साधनों को प्रयुक्त करके यह राष्ट्र पूँजी-गहन वस्तु x की अपेक्षाकृत अधिक मात्रा उत्पादित कर सकता है, जबकि द्वितीय राष्ट्र में श्रम-साधन के बाहुल्य के कारण समस्त साधनों की सहायता से इस राष्ट्र में श्रम-गहन वस्तु y का अपेक्षाकृत अधिक उत्पादन सम्भव है।

चित्र 4.3 (a) तथा (b) में क्रमशः प्रथम व द्वितीय राष्ट्र के उत्पादन सम्भावना वक्र तथा समुदाय उदासीन वक्र दर्शाये गये हैं। व्यापारपूर्व साम्यावस्था में प्रथम राष्ट्र का उत्पादन व उपभोग बिन्दु E_I तथा द्वितीय राष्ट्र का E_{II} है। इन बिन्दुओं पर दोनों राष्ट्रों में उत्पादन सम्भावना वक्र तथा समुदाय उदासीन वक्र घरेलू वस्तु कीमत अनुपात रेखा के स्पर्श हैं।
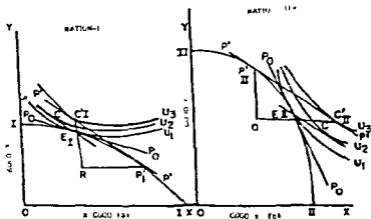
चित्र 4.3 – हैक्सचर-ओलीन मॉडल में व्यापाररत राष्ट्रों का साम्य

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार प्रारम्भ होने के पश्चात प्रथम राष्ट्र पूँजी-गहन वस्तु x के उत्पादन में विशिष्टीकरण करेगा व x वस्तु का निर्यात करेगा अतः इस राष्ट्र का उत्पादन बिन्दु E_I से विवर्त होकर P'_I हो जाता है। इसके विपरीत द्वितीय राष्ट्र श्रम-गहन वस्तु y के उत्पादन में विशिष्टीकरण करेगा तथा इस वस्तु का निर्यात करेगा अतः द्वितीय राष्ट्र का उत्पादन बिन्दु E_{II} से विवर्त होकर P'_{II} हो जाता है। व्यापारोपरांत साम्यावस्था में प्रथम तथा द्वितीय राष्ट्र के उपभोग बिन्दु क्रमशः C'_I तथा C'_{II} है।

दोनों राष्ट्रों के चित्रों में P'-P' रेखायें समानान्तर हैं, इन रेखाओं का ढाल अन्तर्राष्ट्रीय कीमत अनुपात है। P'–P' रेखाओं के समानान्तर होने का अभिप्राय यह है कि व्यापारोपरांत साम्यावस्था में दोनों राष्ट्रों में वस्तु कीमत अनुपात समान हो जाता है।

इसके अतिरिक्त एक राष्ट्र के निर्यात दूसरे राष्ट्र के आयातों के ठीक बराबर हों इसके लिए यह आवश्यक है कि P'-P' रेखायें दोनों चित्रों में समान लम्बाई वाली हों, अतः प्रथम राष्ट्र के चित्र 4.3 (a) में P'_I-C'_I दूरी द्वितीय राष्ट्र के चित्र 4 3(b) में P'_{II}-C की दूरी के ठीक बराबर है।

चित्र में प्रथम राष्ट्र के निर्यात R-P'_I, द्वितीय राष्ट्र के आयात Q-C'_{II} के ठीक बराबर हैं। इसी प्रकार प्रथम राष्ट्र के आयात R-C'_I द्वितीय राष्ट्र के निर्यात Q-P'_{II} के बराबर है। चित्र 4 3(a) में कीमत रेखा का ढाल $\dfrac{R\text{-}C'_I}{R\text{-}P'}$ है, अर्थात् प्रचलित व्यापार की शर्तों पर प्रथम राष्ट्र R-P'_I मात्रा के निर्यात के विनिमय में R-C'_I आयात प्राप्त कर सकेगा। इसी प्रकार प्रचलित व्यापार की शर्तों पर चित्र 4.3(b) में Q-C_{II} व Q-P'_{II} मात्राओं का विनिमय सम्भव है।

चित्र 4.3(a)व(b) से स्पष्ट है कि व्यापार के परिणामस्वरूप प्रत्येक राष्ट्र उदासीन वक्र U_1 से U_3 पर पहुँचने में सफल हुआ है, यही इन राष्ट्रों को व्यापार से प्राप्त लाभ (gains) है। स्पष्ट है कि व्यापार के परिणामस्वरूप प्रत्येक राष्ट्र उच्चतर कल्याण के स्तर पर है। चित्र 4.3 में राष्ट्रों का U_1 से U_3 उदासीन वक्रों पर चलन वास्तव में दो तरह के लाभों का परिणाम है : प्रथम, विनिमय से प्राप्त लाभ तथा द्वितीय विशिष्टीकरण से प्राप्त लाभ। इन दोनों तरह के लाभों को पृथक करने की विधि यह है कि व्यापार पूर्व साम्य बिन्दु से अन्तर्राष्ट्रीय कीमत अनुपात रेखा के समानान्तर रेखा खींचिए, वह रेखा जहाँ कहीं भी उदासीन वक्र के स्पर्श हो वह बिन्दु विनिमय से प्राप्त लाभ

दर्शायेगा,तत्पश्चात् u_2 से u_3 पर चलन विशिष्टीकरण के लाभ दर्शायेगा। उदाहरणार्थ, चित्र 4.3 (a) मे E_I -C' रेखा ग्रन्तर्राष्ट्रीय कीमत ग्रनुपात रेखा P'-P' के समानान्तर है तथा यह उदासीन वक्र u_2 के C बिन्दु पर स्पर्श है ग्रत E_I से C तक चलन प्रथम राष्ट्र के विनिमय से प्राप्त लाभ दर्शाता है क्योंकि ये लाभ ग्रन्तर्राष्ट्रीय कीमत ग्रनुपात लागू करने से प्राप्त हुए हैं। चूँकि उत्पादन बिन्दु व्यापारपूर्व वाला (E_I) ही रखा गया है ग्रत इस लाभ मे उत्पादन मे विशिष्टीकरण के लाभ सम्मिलित नही है। लेकिन परिवर्तित वस्तु कीमत ग्रनुपात की स्थिति मे उत्पादक E_I बिन्दु पर साम्यावस्था मे नही है (E_I -C कीमत रेखा E_I बिन्दु पर उत्पादन सम्भावना वक्र के स्पर्श नही है), ग्रत उत्पादक परिवर्तित वस्तु कीमत ग्रनुपात के ग्रनुरूप ग्रपने उत्पादन में समायोजन करेंगे जिससे उत्पादन बिन्दु E_I से विवर्त होकर P'_I हो जायेगा जिसके परिणाम स्वरूप उपभोग बिन्दु C सेC_{II} हो जायेगा ग्रर्थात् राष्ट्र समुदाय उदासीन वक्र U_2 से U_3 पर चलन करेगा, ग्रत C से C_{II} का चलन विशिष्टीकरण से प्राप्त लाभ दर्शाता है।

इसी प्रकार चित्र 4 3 (b) मे E_{II} से C बिन्दु का चलन द्वितीय राष्ट्र के विनिमय से प्राप्त लाभ दर्शाता है तथा C से C_{II} का चलन विशिष्टीकरण से प्राप्त लाभो को प्रदर्शित करता है।

हैक्शचर-ग्रोलीन सिद्धान्त की ग्रालोचनाएँ

(Criticisms of the H O Theory)

हैक्शचर-ग्रोलीन सिद्धान्त की मान्यताग्रो व साधन तथा वस्तु की परिभाषाग्रो की ग्रालोचनाएँ की गयी हैं, ये ग्रालोचनाएँ निम्न है —

1 हैक्शचर-ग्रोलीन प्रमेय मे उत्पादन के साधनो को परिभाषित करना काफी कठिन कार्य है। यदि हम उत्पादक साधनो को मोटे तौर पर भूमि, श्रम, पूँजी ग्रादि श्रेणियो मे परिभाषित करते हैं तो हम इस तथ्य को नजर ग्रन्दाज कर देते हैं कि उत्पादक साधन समरूप नही होते है। उत्पादक साधनो के ग्रनेक ग्रप्रतियोगी समूह विद्यमान होने के तथ्य को भी ग्रनदेखा नही किया जा सकता है। इसके विपरीत यदि हम उत्पादक साधनो को सकीर्णरूप मे परिभाषित करते हैं तो इसका परिणाम यह होगा कि साधन विशेष केवल राष्ट्र विशेष मे ही विद्यमान पाया जाएगा तथा ग्रधिकाश ग्रन्तर्राष्ट्रीय व्यापार निरपेक्ष लाभ के ग्राधार पर होता हुग्रा पाया जाएगा।

2 हैक्शचर-ग्रोलीन सिद्धान्त की समस्त राष्ट्रो मे समान उपभोग का प्रारूप मान लेने की मान्यता भी ग्रवास्तविक है।

3. हैक्शचर-ग्रोलीन सिद्धान्त मे एक ग्रन्य दुविधा वस्तुग्रो को उत्पादक साधनो से भिन्न करने से सम्बद्ध है क्योंकि ग्रधिकाश विश्व व्यापार ग्रर्द्ध-निर्मित वस्तुग्रो

में अर्थात् ऐसी वस्तुओं में होता है जो अन्तिम उपभोग के काम में नहीं आती है अपितु उनकी सहायता से अन्य वस्तुएँ निर्मित की जाती है, उदाहरणार्थ, कपड़ा तैयार करने हेतु धागे का आयात ।

4 श्रम के अप्रतियोगी समूहों से सम्बद्ध एक अन्य दुविधा पूँजी से श्रम को भिन्न करने से सम्बन्धित है। जब वस्तु विशेष के उत्पादन में प्रशिक्षित व तकनीकी दृष्टिकोण से कुशल श्रम कार्यरत हो तो ऐसी वस्तु को श्रम-गहन अथवा पूँजी-गहन वस्तु के रूप में परिभाषित करना सम्भव नहीं है क्योंकि इंजिनियर्स तथा टेक्नोशियन्स ऐसी शिक्षण संस्थाओं की उपज (Products) होते हैं जिनमें अत्यधिक पूँजी लगी हुई है अतः इस प्रकार के कुशल श्रम को एक साधारण श्रमिक के समरूप मान लेना अनुचित होगा।

5. हैक्शर-ओलीन सिद्धान्त की एक गम्भीर मान्यता समस्त राष्ट्रों में एक जैसे उत्पादन फलन मान लेना है। लेकिन दी हुई वस्तु का समस्त राष्ट्रों में एक जैसा उत्पादन फलन मान लेने का अभिप्राय यह है कि समस्त राष्ट्रों में उस वस्तु को उत्पादित करने हेतु समान तकनीकी सुविधाएँ उपलब्ध हैं। लेकिन यह मान्यता अवास्तविक है ।

6. अन्त में हम कह सकते हैं कि वास्तविक जगत में व्यापार का ढाँचा हैक्शर-ओलीन सिद्धान्त के अनुरूप नहीं पाया गया है। नोबल पुरस्कार विजेता प्रो. लियोनतीफ (Leontief) ने अमेरिका के आयात निर्यात उद्योगों का अध्ययन करने पर पाया कि विश्व के सर्वाधिक पूँजी सम्पन्न राष्ट्र अमेरिका के आयात-प्रतिस्थापन उद्योग निर्यात उद्योगों की तुलना में अधिक पूँजी-गहन हैं अर्थात् अमेरिका के आयात उसके निर्यातों से अधिक पूँजी गहन पाये गये। प्रो० लियोनतीफ के इस निष्कर्ष को अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र में 'लियोनतीफ विरोधाभास (Leontief Paradox) के नाम से जाना जाता है। लियोनतीफ विरोधाभास का विस्तृत अध्ययन हम परिशिष्ट-C में करेंगे।

हैक्शर-ओलीन तथा रिकार्डो के सिद्धान्तों में माँग की भूमिका

(Role of Demand in Heckscher-Ohlin theory and the Ricardian Theory)

प्रो० जगदीश भगवती[5] (Jagdish Bhagwati) ने रिकार्डो के मॉडल व हैक्शर ओलीन मॉडल में माँग की भूमिका की जाँच की है। यहाँ पर हम पहले

5 Bhagwati, J.—The Proofs of the Theorems on Comparative Advantage—Economic Journal, (Mar 1967), pp. 75 83

रिकार्डो के मॉडल में मांग की भूमिका पर प्रकाश डालेंगे तत्पश्चात् हैक्शर-ओलीन मॉडल में मांग की भूमिका की जाँच करेंगे।

प्रो० भगवती ने दर्शाया है कि रिकार्डो के मॉडल में मांग की शर्तों पर प्रतिबन्ध की अनुपस्थिति में, दो राष्ट्रों में वस्तु कीमत अनुपात भिन्न होने के बावजूद भी उनके मध्य व्यापार होना आवश्यक नहीं है। इसका कारण मांग की शर्तों का इस प्रकार का होना है जिसके परिणामस्वरूप राष्ट्र में व्यापारपूर्व अवस्था में बहु-साम्य विद्यमान हो।

प्रो० भगवती ने अपने इस बिन्दु को अर्पण वक्र (offer curve) द्वारा प्रस्तुत किया है लेकिन इस बिन्दु को हम उत्पादन सम्भावना वक्र द्वारा आसानी से स्पष्ट कर सकते हैं।

चित्र 4 4 में इस बिन्दु को स्पष्ट किया गया है। माना कि चित्र-4 4 में व्यापार पूर्व साम्यावस्था में राष्ट्र का उत्पादन व उपभोग बिन्दु E है। E बिन्दु पर उत्पादन सम्भावना वक्र समुदाय उदासीन वक्र U_1 के स्पर्श है। अब मान लीजिए कि अन्तर्राष्ट्रीय वस्तु कीमत अनुपात A B1 रेखा के ढाल वाला निर्धारित हो जाता है तो व्यापाररत राष्ट्र का उत्पादन बिन्दु परिवर्तित होकर A हो जायेगा अर्थात् विचारार्थ राष्ट्र Y वस्तु के उत्पादन में पूर्ण विशिष्टीकरण करेगा।
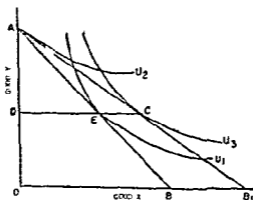
चित्र 4 4—भिन्न उत्पादन फलनों के बावजूद व्यापार की अनुपस्थिति

यदि समुदाय उदासीन वक्र आपस में काटते हुए नहीं हैं तो व्यापारोपरात साम्य उपभोग बिन्दु C जैसा कोई भी बिन्दु हो सकता है। यदि व्यापारोपरात साम्य उपभोग

बिन्दु C है तो विचारार्थ राष्ट्र Y वस्तु की AD मात्रा के निर्यात के विनिमय मे X वस्तु की DC मात्रा का ग्रायात करेगा तथा व्यापार के परिणामस्वरूप राष्ट्र ऊँचे उदासीन वक्र U_3 पर पहुँच जायेगा। लेकिन यदि समुदाय उदासीन वक्र ग्रापस मे काटते हुए हैं तो नया उपभोग बिन्दु ग्रन्तर्राष्ट्रीय कीमत ग्रनुपात रेखा AB_1 पर A बिन्दु सहित कही भी स्थित हो सकता है। यदि नया उपभोग बिन्दु A निर्धारित हो जाता है (A बिन्दु पर AB रेखा उदासीन वक्र U_2 के स्पर्श है) तो ग्रन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की सम्भावना समाप्त हो जाती है क्योकि राष्ट्र का उत्पादन व उपभोग दोनो ही A बिन्दु पर हो रहे हैं।

ग्रत: माँग की शर्तों पर प्रतिबन्ध की ग्रनुपस्थिति मे रिकार्डो का मॉडल सत्य नही बना रहता है।

ग्रब हमारे समक्ष प्रश्न यह है कि रिकार्डो के मॉडल को मान्य बनाये रखने हेतु माँग पर किस प्रकार के प्रतिबन्ध लगाने ग्रावश्यक है? वास्तव मे रिकार्डो के मॉडल को मान्य बनाये रखने हेतु हमे माँग पर गम्भीर प्रतिबन्ध लगाने की ग्रावश्यक्ता नही है।

चूँकि *एक साधन वाली ग्रर्थव्यवस्था मे ग्राय का वितरण ग्रपरिवर्तित रहता है* ग्रत: एक सु-व्यव्हरित (well-behaved) समुदाय उदासीन मानचित्र प्राप्त करने हेतु हमे केवल यह मान्यता माननी ग्रावश्यक है कि व्यक्तिगत उदासीन वक्र सु-व्यव्हरित है।

एक ग्रन्य समान रूप से सौम्य प्रतिबन्ध प्रो. हेरी जॉनसन (Harry Johnson) ने इंगित किया है। वह यह मान्यता हो सकती है कि समस्त वस्तु कीमत ग्रनुपातो पर प्रत्येक राष्ट्र मे दोनो वस्तुग्रो की कुछ मात्रा का उपभोग ग्रवश्य होता रहे। इस मान्यता के परिणामस्वरूप उत्पादन सम्भावना वक्र के कोने पर उपभोग बिन्दु विद्यमान होने की सम्भावना समाप्त हो जाती है।

प्रो० जगदीश भगवती[6] व प्रो० के० इनाडा[7] (Inada) ने हैक्श्चर-ग्रोलीन मॉडल मे माँग की भूमिका की जाँच की है तथा यह दर्शाया है कि समुदाय पसन्दगी पर उचित प्रतिबन्धो की ग्रनुपस्थिति मे कीमत परिभाषा के रूप मे हैक्श्चर-ग्रोलीन प्रमेय की सत्यता खतरे मे पड सकती है। हैक्श्चर-ग्रोलीन के द्वि-साधन मॉडल म जहाँ कि

6. Bhagwati J op cit,
7 Inada, K.—A Note on the H O Theorem Economic Record Mar 2, 1967, pp 88 96

उत्पादन सम्भावना वक्र मूल बिन्दु की ओर नतोदर होता है, आपस में काटते हुए समुदाय उदासीन वक्रों की उपस्थिति के परिणामस्वरूप दो राष्ट्रों के मध्य साधन सम्पन्नताओं की भिन्नताओं के बावजूद भी न केवल अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की अनुपस्थिति ही सम्भव है अपितु हैक्श्चर-ओलीन प्रमेय द्वारा पूर्व-कथित (Predicted) व्यापार के ढाँचे के ठीक विपरीत दिशा में व्यापार होना भी सम्भव है।
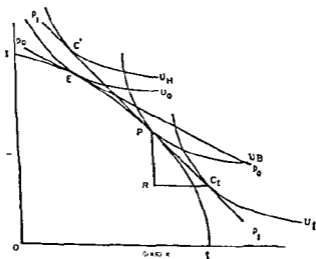
चित्र 4 5—हैक्श्चर-ओलीन प्रमेय के निष्कर्षों पर माँग का प्रभाव

चित्र 4 5 में प्रथम राष्ट्र अपेक्षाकृत पूँजी सम्पन्न राष्ट्र है तथा इसका उत्पादन सम्भावना वक्र I–I है। व्यापारपूर्व साम्य वस्तु-कीमत अनुपात po-po रेखा के ढाल द्वारा दर्शाया गया है। व्यापार प्रारम्भ होने के पश्चात् अन्तर्राष्ट्रीय वस्तु कीमत अनुपात p_1-p_1 रेखा के ढाल वाला निर्धारित हो जाता है। पूँजी सम्पन्न राष्ट्र प्रथम अपेक्षाकृत पूँजी-गहन वस्तु X के उत्पादन में विष्टीकरण करता है अत उत्पादन बिन्दु व्यापारपूर्व साम्य उत्पादन बिन्दु E से विवर्त होकर P' हो जाता है। P' बिन्दु पर p_1-p_1 रेखा उत्पादन सम्भावना वक्र के स्पर्श है। अब हैक्श्चर-ओलीन प्रमेय को मान्य बनाये रखने हेतु यह आवश्यक है कि इस राष्ट्र का उपभोग बिन्दु व्यापार की शर्तों की रेखा P_1-P_1 पर p' बिन्दु के बायीं ओर हो। इस प्रकार का एक बिन्दु C' है। लेकिन C' उपभोग बिन्दु U_H समुदाय उदासीन वक्र पर है जो कि U_o उदासीन वक्र को नहीं काट रही है। अर्थात् सुव्यवहृत उदासीन वक्रों की स्थिति में हैक्श्चर-ओलीन

प्रमेय मान्य है। लेकिन यदि समुदाय उदासीन वक्र सु-व्यवहरित नहीं है तो व्यापारोपरात साम्य उपभोग बिन्दु p_1-p_1 रेखा पर कहीं भी स्थित हो सकता है। प्रो० भगवती के अनुसार यदि नया उदासीन वक्र U_B है तो P' साम्य उपभोग बिन्दु होगा एवं साधन सम्पन्नता की भिन्नता के बावजूद भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार नहीं होगा।

प्रो० इनाडा (Inada) ने दर्शाया है कि यदि नया समुदाय उदासीन वक्र U_1 है तो साम्य उपभोग बिन्दु C_I निर्धारित होगा। इस स्थिति मे यह राष्ट्र y - वस्तु का निर्यात करता हुआ पाया जायेगा तथा व्यापार की दिशा हैक्श्चर - ओलीन प्रमेय द्वारा पूर्व कथित (predicted) दिशा से ठीक विपरीत होगी। उदाहरणार्थ, C_I उपभोग बिन्दु की स्थिति मे चित्र मे दर्शाया गया पूँजी प्रधान प्रथम राष्ट्र श्रम-गहन वस्तु y का निर्यात व पूँजी-गहन वस्तु x का आयात करता हुआ पाया जायेगा। चित्र मे उदासीन वक्र U_o हैक्श्चर-ओलीन, U_B भगवती तथा U_I इनाडा के बिन्दुओं से सम्बद्ध है।

अत. हैक्श्चर-ओलीन सिद्धान्त को मान्य बनाए रखने हेतु माँग पक्ष के सम्बन्ध में यह मान लेना पर्याप्त होगा कि समुदाय उदासीन वक्र सु-व्यवहरित है, अथवा इसी बात को हम यो कह सकते हैं कि प्रत्येक राष्ट्र का व्यवहार विवेकशील व्यक्तिगत उपभोक्ता की भाँति है। यह मान्यता आपस मे काटते हुए समुदाय उदासीन वक्रों की सम्भावना को समाप्त कर देगी।

हैक्श्चर-ओलीन तथा रिकार्डो की प्रमेयों की तुलना

(Comparision between H O. and the Ricardian Theorem)

रिकार्डो की प्रमेय तथा हैक्श्चर-ओलीन प्रमेय दो पूर्णतया भिन्न परिकल्पनाएँ (hypotheses) हैं।

इन दोनो प्रमेयों मे सबसे महत्वपूर्ण समानता यह है कि दोनो ही सिद्धान्तो में व्यापार का आधार तुलनात्मक लागतों म भिन्नताएँ हैं, अन्यथा दोनो प्रमेय एक दूसरे से पूर्णतया भिन्न हैं। दोनो सिद्धान्तो म निम्न प्रमुख अन्तर हैं :—

(1) रिकार्डो के सिद्धान्त मे तुलनात्मक लागतो म अन्तर का कारण दो राष्ट्रों म उत्पादन फलनो की भिन्नता है जबकि हैक्श्चर–ओलीन सिद्धान्त में दोनों राष्ट्रों मे एक जैसे उत्पादन फलन की मान्यता मानली गयी है।

(2) हैक्श्चर-ओलीन सिद्धान्त का विश्लेषणात्मक ढाँचा रिकार्डो के सिद्धान्त

के विश्लेषणात्मक ढाँचे में पूर्णतया भिन्न है। रिकार्डों के सिद्धान्त में, उत्पादन के एक साधन (श्रम) की मान्यता है, तथा इस मान्यता के साथ पैमाने के स्थिर प्रतिफलों की मान्यता मानकर, साधन पूर्ति को व्यापार के ढाँचे के निर्धारण के लिए पूर्णतया असम्बद्ध (irrelevant) कर दिया गया है। दूसरी ओर हैक्शचर-ओलीन मॉडल में उत्पादन में दो साधनों की मान्यता मानकर तुलनात्मक लाभ निर्धारण में साधन सम्पन्नता को प्रमुख निर्धारक घटक बना दिया गया है।

(3) अन्तर (2) की मान्यताओं के परिणाम स्वरूप रिकार्डों के सिद्धान्त में स्थिर लागतों वाला उत्पादन सम्भावना वक्र तथा हैक्शचर-ओलीन मॉडल में बढ़ती हुई लागतों वाला उत्पादन सम्भावना वक्र प्राप्त होता है।

(4) अन्तर (3) के उत्पादन सम्भावना वक्रों के अस्तित्व के कारण रिकार्डों के मॉडल में व्यापाररत राष्ट्र निर्यात वस्तु में पूर्ण विशिष्टीकरण करता है जबकि हैक्शचर-ओलीन माडल में पूर्ण विशिष्टीकरण अवश्यम्भावी नहीं है (सामान्यतया हैक्शचर-ओलीन मॉडल में राष्ट्र आंशिक विशिष्टीकरण करते हुए पाये जाते हैं)।

(5) माँग की शर्तों पर प्रतिबन्ध के दृष्टिकोण से रिकार्डों के मॉडल में केवल यह प्रतिबन्ध पर्याप्त है कि व्यापार की अनुपस्थिति में दोनों राष्ट्रों में दोनों वस्तुओं का उपभोग व उत्पादन होता रहे। जबकि हैक्शचर-ओलीन सिद्धान्त में राष्ट्रों में लगभग एक जैसी अभिरुचियों (tastes) की मान्यता माननी पड़ती हैं, जो कि माँग की शर्तों पर अधिक कड़ा प्रतिबन्ध है।

(6) रिकार्डों के सिद्धान्त में एक साधन की मान्यता के कारण व्यापार से पूर्व व पश्चात् आय का वितरण अपरिवर्तित रहता है जबकि हैक्शचर-ओलीन सिद्धान्त में आय का पुनर्वितरण सम्भव है।

(7) अन्तर (6) के कारण रिकार्डों के मॉडल में व्यापार के परिणाम स्वरूप प्रत्येक व्यक्ति के कल्याण के स्तर में वृद्धि होती है जबकि हैक्शचर-ओलीन सिद्धान्त के सम्बन्ध में ऐसा होना आवश्यक नहीं है। रिकार्डों के सिद्धान्त में केवल एक स्थिति में ही बड़े राष्ट्र के कल्याण के स्तर में वृद्धि नहीं होती है और ऐसा उस समय होता है जबकि बड़े राष्ट्र का व्यापारपूर्व वाला वस्तु कीमत अनुपात अन्तर्राष्ट्रीय कीमत अनुपात निर्धारित हो जाता है।

(8) प्रो जगदीश भगवती[8] ने इंगित किया है कि हैक्शर-ओलीन सिद्धान्त रिकार्डो के सिद्धान्त से इसलिए भी भिन्न है कि इसे स्पष्ट रूप से यथार्थमूलक (Positive) सिद्धान्त में योगदान के रूप में विदेशी व्यापार के प्रारूप को स्पष्ट करने हेतु प्रस्तुत किया गया था, व्यापार के लाभों (gains) पर जोर देने के लिए अथवा व्यापार सिद्धान्त की कल्याणकारी प्रस्तावनाएँ (welfare propositions) विस्थापित करने के दृष्टिकोण से नहीं।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अन्य सिद्धान्त★

(Other Theories of International Trade)

हैक्शर-ओलीन सिद्धान्त में साधन सम्पन्नताओं में भिन्नता को व्यापार का आधार माना गया है। परन्तु कुछ अन्य आधारों के कारण भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सम्भव है अत. समय-समय पर अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र के विशेषज्ञों ने इन आधारों को इंगित किया है एव अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के कुछ अन्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। इन अन्य सिद्धान्तों की सक्षिप्त रूपरेखा नीचे प्रस्तुत की जा रही है।

1 मानव निपुणता (Human Skills) सिद्धान्त

इस सिद्धान्त के प्रमुख प्रतिपादक लियोनतीफ (Leontief), भगवती (Bhagwati), केनर (Kener) क्राविस (Kravis), कीसिंग (Keesing), वाएहरेर (Waehrer), कीनन (Kenen) युदीन (Yudin), रोसकेम्प (Roskamp), मेकमीकिन (McMeekin), भारद्वाज (Bhardwaj), लेरी (Lary) आदि अर्थशास्त्री हैं। मानव निपुणता सिद्धान्त के अनुसार पेशावर कार्मिकों (professonal personnel) एव अत्यधिक प्रशिक्षित श्रम के बाहुल्य के परिणाम स्वरूप निपुणता-गहन वस्तुओं का निर्यात किया जाता है। अत इस प्रकार के व्यापार में निर्यात वस्तु की प्रमुख विशेषता उत्पादन व वितरण में आवश्यक निपुणता होती है।

2 पैमाने की बचत (Scale Economy) सिद्धान्त

इस सिद्धान्त के प्रमुख प्रतिपादक ओलीन (Ohlin), ड्रेज (Dreze),

---

8 Bhagwati J —The Pure Theory of Int Trade A Survey, E J Mar 1964 pp 1 84

★ इन सिद्धान्तों के सक्षिप्त लेकिन सारगर्भित विवचन तथा सन्दर्भग्रन्थों के लिए देखिए—

Hufbauer G C —The Impact of National charaeterstics and Technology on the commodity composition of Trade in Manufactured goods—printed in Vernon R (eds)—The Technology factor in International Trade (New York NBER 1970)

हफबाऊर (Hufbauer), एव कीसिंग (Keesing) हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार वर्द्धमान पैमाने के प्रतिफलो के अन्तर्गत उत्पादित वस्तुओ के विशाल घरेलू बाजार वस्तु के निर्यातो मे सहायक होते हैं जबकि स्थिर पैमाने के प्रतिफलो के अन्तर्गत उत्पादित वस्तुओ के निर्यात मे छोटे घरेलू बाजार सहायक होते हैं। इस तरह की निर्यात वस्तुओ की विशेषता उनके उत्पादन व वितरण मे प्राप्त पैमाने की मितव्ययताओ की सीमा होती है।

3 उत्पादन की अवस्था (Stage of production) सिद्धान्त

इस सिद्धान्त के प्रतिपादक ड्रेज(Dreze)जैसे अर्थशास्त्री व आयात प्रतिस्थापन के पक्षधर अर्थशास्त्री हैं। आयात प्रतिस्थापन के पक्ष मे तर्क देते हुए अर्थशास्त्री इस सिद्धान्त की अप्रत्यक्ष रूप से वकालात करते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार नवीनतम तकनीकी(Sophistication)उत्पादक वस्तुओ के निर्यात मे सहायक होती है जबकि सरल तकनीकी (Simplicity) 'हल्की' उपभोग वस्तुओ के उत्पादन मे सहायक होती है। इस तरह की निर्यात वस्तुओ की विशेषता अन्तिम उपभोक्ता से आर्थिक दूरी (Economic Distance) होती है।

4 तकनीकी अन्तराल (Technological gap) सिद्धान्त

इस सिद्धान्त के प्रमुख प्रतिपादक टकर (Tucker), क्राविस (Kravis), पोसनर (Posner), हफबाउर (Hufbauer), डॉगलास (Douglass), एजेन्डोर्फ (Egendorf), ग्रुबर-मेहता (Gruber Mehta), वर्नन (Vernon), कीसिंग (Keesing) आदि अर्थशास्त्री हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार नई वस्तुओ के शुरू के उत्पादको को निर्यात के लाभ प्राप्त होते हैं जबकि बाद के उत्पादको को निर्यात सवर्द्धन के लिए निम्न मजदूरी अथवा अन्य स्थैतिक विशेषता पर निर्भर रहना पड़ता है, उत्पादन मे राष्ट्रीय प्रवेश का क्रम ऐसी निर्यात वस्तुओ की प्रमुख विशेषता होती है।

5. उत्पाद चक्र (Product cycle) सिद्धान्त

इस सिद्धान्त के प्रमुख प्रतिपादक हर्श (Hirsch), वर्नन (Vernon), वेल्स (Wells), एव स्टॉबाफ(Stobaugh) हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार नवीनतम तकनीकी व प्रारम्भ मे उत्पादन करना मानकीकृत (Standardized) वस्तुओ के निर्यात मे सहायक होता है। इस तरह की निर्यात वस्तुओ की प्रमुख विशेषता वस्तु भिन्नता (Differentiation of Commodities) होती है।

6 अधिमान समरूपता (Preference similarity)

इस सिद्धान्त के प्रतिपादक प्रो० लिन्डर (Linder) है। लिन्डर के सिद्धान्त के अनुसार सर्वाधिक समान आर्थिक ढाँचे वाली अर्थव्यवस्थाओं के मध्य व्यापार सर्वाधिक गहन (Most intensive) होता है जबकि पूर्णतया भिन्न ढाँचे वाली अर्थव्यवस्थाओं के मध्य व्यापार न्यूनतम गहनता (least intensive) वाला होता है। इन निर्यात वस्तुओं का प्रमुख विशेषता आयात, निर्यात व घरेलू व्यापार के लिए उत्पादित वस्तुओं की समरूपता होती है।

अन्त मे हम कह सकते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के उपर्युक्त आधुनिकतम सिद्धान्तों मे एक प्रमुख समानता यह है कि इन सिद्धान्तों के अनुसार राष्ट्रीय विशेषताएँ व वस्तु विशेषताएँ ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की जननी है।

———

परीशिष्ट—C

APPENDIX—C

रिकार्डो के सिद्धान्त व हैक्शचर-ओलीन सिद्धान्त को आनुभविक जांच

(Empirical Investigation of the Ricardian theory and the Heckscher-Ohlin theory)

वास्तविक जगत म व्यापार का आधार रिकार्डो का तुलनात्मक लागत सिद्धान्त है अथवा नहीं तथा विभिन्न राष्ट्रों के मध्य हैक्श्वर-ओलीन सिद्धान्त के अनुरूप व्यापार होता है अथवा नहीं, यह जानने हेतु अर्थशास्त्रियों ने भिन्न राष्ट्रों के आयात-निर्यात व्यापार के आंकडो की समय-समय पर जाँच की है।

इस परिशिष्ट मे हम सर्वप्रथम रिकार्डो के सिद्धान्त से सम्बन्धित अध्ययनो एव तत्पश्चात हैक्श्वर-ओलीन सिद्धान्त से सम्बन्धित अध्ययनो को प्रस्तुत करेंगे।

रिकार्डो के सिद्धान्त की आनुभविक जांच

(Empirical Investigation of the Ricardian Theory)

रिकार्डो के सिद्धान्त की आनुभविक जांच करने वाले प्रमुख अर्थशास्त्री जी डी ए मक्डुगाल[1] (G D A MacDougall), राबर्ट स्टन[2] (Robert Stern) एव बेला बालासा[3] ((Bela Balassa) हैं। सर्वप्रथम प्रो० मेक्डुगल ने रिकार्डो के तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की विस्तृत साख्यिकीय जाँच का थी। मेक्डुगाल का अध्ययन रोस्टाज (Rostas) के ब्रिटिश व अमेरिकन उद्योगो मे तुलनात्मक उत्पादकता के पूर्व अध्ययन के कारण सम्भव हो सका था।

यद्यपि मकडुगाल ने सन् 1937 के, स्टर्न ने सन् 1950 व 1959 के तथा बालासा ने सन् 1950 के व्यापार से सम्बन्धित आकडो का अध्ययन किया था, लेकिन

1 Mac Dougall, G D A — British and American Exports A study suggested by the Theory of Comparative Costs' Pt I in E J (Dec 1951) and Pt II in E J (Sept 1952)

2. Stern R —British and American Productivity and Comparative Costs in International Trade—Oxford Economic Papers, (October, 1962)

3 Balassa B—An Empirical Demonstration of Classical Campartive Cost Theory—Rev of Econ & Stat. (Aug 1963)

इन तीनो अर्थशास्त्रियो के अध्ययन अमेरिका व ब्रिटेन के व्यापार आंकडो पर ही केन्द्रित है ।

उपर्युक्त तीनो अध्ययनो मे यह जांच की गयी है कि मूल्य का श्रम-सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का प्रमुख निर्धारक घटक है अथवा नहीं। मूल्य के श्रम-सिद्धान्त के अनुसार श्रम-उत्पादकताओ की भिन्नताओ के कारण भिन्न वस्तुओ की उत्पादन लागत भिन्न होगी जिसके परिणामस्वरूप वस्तुओ की व्यापार-पूर्व कीमतें भी भिन्न होगी और यदि किसी राष्ट्र मे वस्तु विशेष की कीमत कम है तो वह राष्ट्र उस वस्तु का निर्यात करेगा।

प्रो० मेकडुगाल ने प्रतिष्ठित सिद्धान्त के अपने कार्यकारी रूप (Working Version) को निम्न शब्दो मे प्रस्तुत किया, "जब मूल्य के श्रम-सिद्धान्त को आधार मानकर दो राष्ट्रो की मान्यता मान ली जाती है, तो प्रत्येक राष्ट्र उन वस्तुओ का निर्यात करेगा जिन के उत्पादन मे उस राष्ट्र का अन्य राष्ट्र से प्रति-श्रमिक उत्पादन का अनुपात, उस राष्ट्र के अन्य राष्ट्र से मौद्रिक मजदूरी दर अनुपात, से अधिक हो।"[4] अर्थात् मेकडुगाल ने इस परिकल्पना की जाँच की है कि जिस राष्ट्र मे वस्तु विशेष के उत्पादन मे श्रम-उत्पादकता अपेक्षाकृत अधिक होगी वह राष्ट्र उस वस्तु का निर्यात करेगा।

सन् 1937 मे ब्रिटेन व अमेरिका मे ऊँची आयात प्रशुल्क दरें लगी हुई थी अत· प्रो० मेकडुगाल ने इन दोनो राष्ट्रो के अन्य राष्ट्रो को किये जाने वाले निर्यातो पर ध्यान केन्द्रित किया है।

प्रो० मेकडुगाल से अपने अध्ययन के निष्कर्ष म दावा किया कि अपरिष्कृत मूल्य का श्रम सिद्धान्त ब्रिटेन व अमेरिका के निर्मित माल के निर्यात व्यापार की व्याख्या (explanation) प्रदान करता है। प्रो० मेकडुगाल ने पाया कि अमेरिका व ब्रिटेन के निर्यात अशो व श्रम उत्पादकता मे उच्च सहसम्बन्ध (high correlation) है।

स्टर्न व बालासा ने अपने अध्ययनो मे मेकडुगाल के अध्ययन से सम्बन्धित नवीनतम् तथ्य प्रस्तुत किये व अपने अध्ययनो से मेकडुगाल के पुरोगामी अध्ययन के निष्कर्षों की पुष्टि की। लेकिन प्रो० जगदीश भगवती (Jagdish Bhagwati) ने अपने मार्च 1964 के सर्वे लेख5 मे मेकडुगाल के अध्ययन के आंकडो की प्रतीपगमन (Reg-

4 Mac Dougall, G D A —Op cit P 697

5 Bhagwati, J —The pure Theory of International Trade . A survey [E J March, 1964], reprinted in Essays in Int Economic Theory, edited by Feenstra, R C. Vol. 2, pp 313-432.

ression) विश्लेषण से जाँच करके मैकडूगाल के निष्कर्षों में सन्देह व्यक्त किया है। प्रो० भगवती के ही शब्दों में "हम लघुगुणक (logarithms) लें अथवा नहीं निर्यात कीमत अनुपातों की श्रम-उत्पादकता अनुपातों पर रेखीय प्रतीपगमन (Linear regressions) लगभग पूर्णतया निराशाजनक (hopeless) है।"[6]

प्रो० भगवती आगे लिखते हैं कि तुलनात्मक इकाई श्रम-लागतों व निर्यात-कीमत अनुपातों के मध्य सम्बन्ध की जाँच करने पर भी हम उतने ही निराशाजनक परिणाम प्राप्त होते हैं।"[7]

इसी प्रकार निर्यात-कीमत अनुपात को श्रम-उत्पादकता अनुपातों व मजदूरी दर अनुपात का फलन मानकर प्रतीपगमन गुणांकों का परिकलन करने पर भी प्रो० भगवती को कमजोर (Poor) परिणाम प्राप्त हुए।

अन्त में प्रो० भगवती ने मैकडूगाल, स्टर्न व बालासा के अध्ययन से सम्बन्धित विचार निम्न शब्दों में व्यक्त किये हैं "ये परिणाम (प्रो० भगवती के परिणाम) सीमित तो जैसे हैं वैसे हैं ही, रिकार्डो के दृष्टिकोण (जैसा इसे सामान्यतया समझा जाता है) पर पर्याप्त सन्देह व्यक्त करते हैं। अतः सामान्य धारणा (मैकडूगाल, बालासा व स्टर्न के परिणामों पर आधारित) के विपरीत अभी तक रिकार्डो की परिकल्पना के पक्ष में प्रमाण (evidence) नहीं है।"[8]

अतः मैकडूगाल, स्टर्न व बालासा के अध्ययनों के निष्कर्षों को हमें उस समय तक अन्तिम रूप से स्वीकार नहीं करना चाहिए जब तक कि और अधिक निश्चित प्रमाण प्राप्त नहीं हो जाते हैं।

हैक्शर-ओलीन सिद्धान्त की आनुभविक जाँच

(Empirical investigation of the Heckscher-Ohlin theory)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के ढाँचे के निर्धारक के रूप में हैक्शर-ओलीन मॉडल की नोबल पुरस्कार विजेता प्रो० वासीलि डब्लू० लियोनतीफ[9] द्वारा की गई आनुभविक जाँच अर्थशास्त्र में की गई आनुभविक जाँचों में शायद सर्वाधिक विख्यात हुई है।

6. Ibid, p 331
7 Ibid, p 331.
8 Ibid, p 332
9 Leontief, Wassily W —Domestic Production and Foreign Trade : The American capital position Re—examined [Proceedings of the American Philosophical Society, Vol 97, 1953] reprinted in Bhagwati, J (eds) International Trade (1969), pp 93-139

प्रो० लियोनतीफ ने हैक्शर-ओलीन सिद्धान्त की जाँच करने हेतु अमेरिका की सन् 1947 की आदा-प्रदा सारणी (input-output table) का उपयोग किया था। इस सारणी से किसी भी वस्तु समूह मे प्रयुक्त पूँजी तथा श्रम की मात्रा ज्ञात की जा सकती है। लेकिन ऐसी सारणी केवल अमेरिका के लिए ही उपलब्ध थी अत प्रो० लियोनतीफ ने मूल निर्यातकर्ता राष्ट्रो मे अमेरिका के आयातो मे प्रयुक्त श्रम व पूँजी की मात्रा की बजाय अमेरिका के आयात प्रतिस्थापन उद्योगो मे प्रयुक्त श्रम व पूँजी की मात्राओ का अपने अध्ययन म उपयोग किया। यह प्रक्रिया अपनाना तभी उपयुक्त है जबकि अमेरिका व अन्य राष्ट्रो मे अमेरिका की आयात वस्तुओ का उत्पादन फलन एक जैसा (Identical) हो, चूँकि हैक्शर-ओलीन सिद्धान्त दी हुई वस्तु के विभिन्न राष्ट्रो मे एक जैसे उत्पादन फलन की मान्यता मानता है अत लियोनतीफ की जाँच प्रक्रिया उपयुक्त ही थी।

इस प्रकार प्रो० लियोनतीफ ने अमेरिका मे 1 मिलियन डालर मूल्य की आयात प्रतिस्थापन वस्तुओ व 1 मिलियन डालर मूल्य की निर्यात वस्तुओं में प्रयुक्त श्रम व पूँजी की इकाइयो का परिकलन किया तो निम्न सारणी मे दर्शाये परिणाम प्राप्त हुए।

सारणी[10]—1

सन् 1947 मे अमेरिका मे प्रति 1 मिलियन डालर मूल्य के आयात प्रतिस्थापन व निर्यात मे प्रयुक्त पूँजी व श्रम

	निर्यात	आयात प्रतिस्थापन
पूँजी	$ 2,550,780	$ 3,091,339
श्रम (मानव वर्ष)	182	170
पूँजी / श्रम	$ 13,991 / मानव वर्ष	$ 18,184 / मानव वर्ष

सामान्यतया अमेरिका को विश्व का सर्वाधिक पूँजी सम्पन्न राष्ट्र माना जाता है। अत हैक्शर–ओलीन सिद्धान्त के अनुसार अमेरिका से पूँजी-गहन वस्तुओ का निर्यात व श्रम-गहन वस्तुओ का आयात किया जाना चाहिए। लेकिन प्रो० लियोनतीफ के अध्ययन के परिणाम इसके ठीक विपरीत पाए गये। अत प्रो० लियोनतीफ के अध्ययन के निष्कर्षों को 'लियोनतीफ विरोधाभास' (Leontief Paradox) कहा जाता है।

10 Source Leontief, W W —Op cit , Table 2

सारणी 1 से स्पष्ट है कि अमेरिका की निर्यात वस्तुओं में प्रति श्रम-वर्ष 13,991 डालर पूँजी प्रयुक्त की जाती है जबकि आयात प्रतिस्थापन वस्तुओं के उत्पादन में प्रतिश्रम-वर्ष 18,184 डालर। अत अमेरिका की निर्यात वस्तुओं की तुलना में आयात प्रतिस्थापन वस्तुएँ अधिक पूँजी गहन है।

स्पष्ट है कि प्रो० लियोनतीफ के अध्ययन के निष्कर्षों के अनुसार अमेरिका के व्यापार की दिशा के सन्दर्भ मे हैक्श्चर-ओलीन सिद्धान्त सन्तोषजनक व्याख्या प्रदान नही करता है।

प्रो० लियोनतीफ जैसी ही जाँच कई अन्य राष्ट्रों के व्यापार के आँकड़ो के आधार पर भी की गयी है।

भारतवर्ष के व्यापार के सन्दर्भ म बम्बई विश्वविद्यालय के प्रो० आर भारद्वाज[11] ने अपने सन् 1962 के अध्ययन म पाया कि भारतवर्ष श्रम-गहन वस्तुओं के निर्यात व पूँजी गहन वस्तुओं का आयात करता है। अत भारत का व्यापार हैक्श्चर-ओलीन सिद्धान्त के अनुरूप है।

लेकिन भारत व अमेरिका के मध्य व्यापार के अध्ययन म प्रो० भारद्वाज ने पाया कि भारत अमेरिका को पूँजी-गहन वस्तुओ का निर्यात कर रहा था। जबकि अमेरिका से स्वय श्रम-गहन वस्तुओं का आयात कर रहा था। अत भारत व अमेरिका के मध्य व्यापार हैक्श्चर-ओलीन सिद्धान्त द्वारा इंगित दिशा के ठीक विपरीत पाया गया।

डब्लू० स्टालपर (W Stolper) एव के० रोसकेम्प[12] (K Roskamp) शेष पूर्वी यूरोप के साथ पूर्वी जर्मनी के व्यापार का अध्ययन कर के इस निष्कर्ष पर पहुचे कि पूर्वी जर्मनी के निर्यात पूँजी-गहन हैं एव आयात श्रम-गहन। चूँकि शेष पूर्वी यूरोप की तुलना मे पूर्वी जर्मनी पूँजी सम्पन्न है, अत यह अध्ययन हैक्श्चर-ओलीन सिद्धान्त को सही साबित करता है।

टोटेमोटो (Totemoto) तथा इचीमूरा[13] (Ichimura) ने जापान के विदेशी व्यापार के अध्ययन से ज्ञात किया कि जापान शेष विश्व को पूँजी-गहन वस्तुओं का

11 Bharadwaj R —Structural Basis for India s Foreign Trade Bombay 1962 and 'Factor proportion and the structure of Indo U S Trade I E J Oct 1962

12 Stolper, W and Roskamp K — Input-output Table for East Germany with Application to foreign Trade—Bulletin of Oxford Institute of Stat Nov 1961

13. Totemoto M and Ichimura S —Factor Proportions and Foreign Trade The Case of Japan —Rev of Econ & Stat, Nov 1959

निर्यात करता है जबकि स्वयं श्रम-गहन वस्तुओ का आयात कर रहा है। चूँकि जापान जनाधिक्य वाला राष्ट्र है अत यह निष्कर्ष हैक्श्चर-ओलीन सिद्धान्त के निष्कर्ष से विपरीत है।

हाँ, अमरिका व जापान के बीच व्यापार मे इन्ही अर्थशास्त्रियो ने पाया कि जापान श्रम-गहन वस्तुओ का निर्यात करता है व पूँजी गहन वस्तुओ का आयात। अत जापान व अमेरिका का व्यापार हैक्श्चर-ओलीन सिद्धान्त के अनुरूप पाया गया।

वाहल[14] Wahl) ने कनाडा के व्यापार के अध्ययन से पाया कि कनाडा पूँजी-गहन वस्तुओ का निर्यात करता है व श्रम-गहन वस्तुओ का आयात। लेकिन कनाडा का अधिकाश व्यापार अमेरिका के साथ होता है अत यह निष्कर्ष हैक्श्चर-ओलीन सिद्धान्त के निष्कर्ष से विपरीत है।

उपर्युक्त अध्ययनो से स्पष्ट है कि केवल जापान व अमेरिका के मध्य व्यापार तथा पूर्वी जर्मनी व पूर्वी यूरोप के मध्य व्यापार के सन्दर्भ मे हैक्श्चर-ओलीन सिद्धान्त खरा उतरता है। अत हैक्श्चर-ओलीन सिद्धान्त की सत्यता स्वीकार करने से पूर्व और अधिक अध्ययनो की प्रतिक्षा करना उचित प्रतीत होता है।

लियोनतीफ विरोधाभास के भिन्न स्पष्टीकरण

(Different Explanations of Leontief Paradox)

प्रो० लियोनतीफ ने स्वय ने व अन्य कई अर्थशास्त्रियो ने 'लियोनतीफ विरोधाभास' के स्पष्टीकरण प्रदान किये है, जिनका अध्ययन अत्यन्त रोचक प्रतीत होता है।

लियोनतीफ ने स्वय ने अपने निष्कर्षों का दो तरह से स्पष्टीकरण प्रदान किया है।

प्रथम स्पष्टीकरण — जिसको प्रो० लियोनतीफ अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं—श्रम-उत्पादकताओ मे अन्तर के रूप म है। लियोनतीफ ने स्पष्ट किया कि अमेरिका के श्रम को अन्य राष्ट्रो के श्रम के समान कुशल मानकर तुलना नही की जानी चाहिए क्योकि अमेरिका के श्रमिक की उत्पादकता अन्य देशो के श्रमिको से तीन गुणा अधिक है। प्रो० लियोनतीफ के अनुसार यह एक तरीका हो सकताहै जिससे कि उनके निष्कर्ष हैक्श्चर-ओलीन के निष्कर्षो से मेल खा जायें। प्रो० लियोनतीफ के अनुसार "असमायोजित आँकडे दर्शाते हैं उससे तिगुणा करने पर अमेरिका मे प्रति 'समतुल्य श्रमिक' पूँजी

14 Wahl, D F —Capital and Labour Requirements for Canada's Foreign Trade—Canadian Journal of Economics and Pol Science, Aug 1961.

की पूर्ति अन्य बहुत से देशों की तुलना में अधिक की बजाय कम पायी जायेगी।'[15] प्रो० लियोनतीफ का सुझाव है कि यदि सन् 1947 की 65 मिलियन अमेरिकन श्रम शक्ति को तिगुना कर दिया जाता है तो यह अन्य राष्ट्रों की 195 मिलियन श्रमशक्ति के बराबर हो जायेगी। अत अमेरिका को तुलनात्मक रूप से श्रम सम्पन्न राष्ट्र माना जाना चाहिए न कि पूँजी सम्पन्न।

यदि राष्ट्रों में उत्पादन फलन एक जैसा हो, साधन-गहनता-प्रतिलोमता (factor-intensity reversal) की अनुपस्थिति हो, एव विभिन्न राष्ट्रों में उत्पादन के साधन एक जैसे व समरूप हो (सिवाय अमेरिका में श्रम की तिगुनी कुशलता के) तो लियोनतीफ का स्पष्टीकरण ठीक ही प्रतीत होता है। लेकिन ये मान्यताएँ काफी गम्भीर हैं।

अधिकाश अर्थशास्त्री इस बात से सहमत हैं कि अमेरिका का श्रमिक अन्य राष्ट्रों के श्रमिक से अधिक कार्यक्षमता वाला है। प्रो० लियोनतीफ ने स्वय के पक्ष मे आई० बी० क्राविस (I B Kravis) के एक अध्ययन की ओर ध्यान दिलाया है जिसमे यह इंगित किया गया है कि अमेरिका के आयात-प्रतिस्पर्द्धी उद्योगों की तुलना में निर्यात-उद्योगो में मजदूरी अधिक है। लेकिन यह तथ्य लियोनतीफ की इस मान्यता के प्रतिकूल है कि श्रम सभी राष्ट्रों में समरूप है, क्योंकि समरूप श्रम की मजदूरी भी समान होती है।

अमेरिका के श्रमिक की तिगुनी कार्यक्षमता का औचित्य इस आधार पर भी ठहराया जा सकता है कि कुशल श्रमिक पूँजी-गहन शिक्षण संस्थाओं की देन होते हैं अत इन श्रमिकों में काफी पूँजी का निवेश हो चुका होता है। लेकिन फिर हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि अमेरिका पूँजी-गहन वस्तुओं के निर्यात तो करता है लेकिन ये निर्यात मानव-पूँजी गहन हैं।

प्रो० लियोनतीफ ने एक अन्य स्पष्टीकरण पूँजी साधन को मोटे रूप में परिभाषित करने व उत्पादन के केवल दो साधनों का समावेश करने से सम्बन्धित दिया है। लियोनतीफ के अनुसार "इन समस्त सारणियों में अदृश्य लेकिन सदैव उपस्थित तृतीय साधन के रूप में अथवा साधनों के पूरे अतिरिक्त कुलक (set) के रूप में, इस राष्ट्र की उत्पादक क्षमता और विशेष कर शेष विश्व के सन्दर्भ में तुलनात्मक लाभ निर्धारित करने वाला घटक, प्राकृतिक साधन जैसे कृषि भूमि, वन, नदियाँ व हमारे प्रचुर खनन भण्डार हैं" ।[16] अत प्राकृतिक साधन घटक का समावेश करके लियोनतीफ विरोधाभास

15. Leontief, W W —Op. cit, p 128
16 Leontief, W,W —Op cit, p, 136

का स्पष्टीकरण दिया जा सकता है। उदाहरणार्थ, यह सम्भव है कि निर्यातो की तुलना मे आयातो म अधिक पूँजी प्रयुक्त हो लेकिन फिर भी आयात भूमि-गहन हो। अथवा यदि पूँजी व भूमि एक दूसरे के प्रतिस्थापन है लेकिन दोनों ही श्रम के पूरक हैं तो यह सम्भव है कि आयात प्रतिस्थापन वस्तुएँ अमेरिका म तो पूँजी-गहन हो लेकिन अन्य राष्ट्रो मे भूमि-गहन। इस प्रकार तृतीय साधन को शामिल करके लियोनतीफ विरोधाभास के सम्भावित स्पष्टीकरण दिये जा सकते हैं।

चूँकि प्रो० लियोनतीफ ने अमेरिका के आयात प्रतिस्थापन व निर्यात उद्योगो पर ही अपना अध्ययन केन्द्रित किया था, अत लियोनतीफ विरोधाभास का एक स्पष्टीकरण साधन-गहनता-प्रतिलोमता (factor-Intensity reversals) के रूप मे दिया जा सकता है। साधन-गहनता-प्रतिलोमता की स्थिति मे यह सम्भव है कि एक पूँजी प्रधान देश श्रम-गहन वस्तुओ का निर्यात करे लेकिन फिर भी अन्य राष्ट्रो की तुलना मे अपने निर्यात उद्योगो मे अधिक पूँजी-गहन तकनीकी का उपयोग करे। यह सम्भव है कि प्रो० लियोनतीफ अपने अध्ययन मे अन्य राष्ट्रो को शामिल करते तो अमेरिका के निर्यात उन राष्ट्रो की तुलना मे अधिक पूँजी-गहन पाये जाते इस प्रकार साधन गहनता प्रतिलोमता की सहायता से लियोनतीफ के निष्कर्षों का स्पष्टीकरण सम्भव है।

साधन-गहनता-प्रतिलोमता की सम्भावना ज्ञात करने हेतु प्रो० बी एस. मिनहास[17] (B S. Minhas) ने अध्ययन किये हैं। प्रो० मिनहास व कुछ अन्य अर्थशास्त्रियो[18] ने 'प्रतिस्थापन की स्थिर लोच' (Constant elasticity of substitution) वाला एक नया उत्पादन-फलन प्रतिपादित किया था। इस उत्पादन-फलन का परिकलन करते समय प्रो० मिनहास ने पाया कि विभिन्न राष्ट्रो मे सापेक्ष साधन कीमतो की व्यावहारिक रूप से सम्बद्ध विस्तार-सीमा मे साधन-गहनता प्रतिलोमता काफी पायी जाती है। अत प्रो० मिनहास के निष्कर्षों के आधार पर लियोनतीफ विरोधाभास को साधन-गहनता-प्रतिलोमता के सहारे स्पष्ट किया जा सकता है।

लेकिन प्रो० मिनहास की पुस्तक की आलोचनात्मक समीक्षा करते हुए प्रो०

---

17 Minhas, B.S.—International Comparison of Factor costs and Factor use—*Amesterdam, North-Hallond Publishing Co., 1963*

18 Arrow, K.J , Chenery, H B , Minhas, B.S., and Solow, R M ,—Capital—Labour substitution and Economic Efficiency—Rev *of Econ and Stat (Vol. 43), Aug ,* 1958

लियोनतीफ[19] ने इंगित किया कि 210 सम्भावित प्रतिलोमताओं में से साधन कीमतों की सम्बद्ध विस्तार सीमा में केवल 17 प्रतिलोमताएँ घटित हुईं। अतः लियोनतीफ के अनुसार साधन कीमतों की सम्बद्ध विस्तार सीमा में साधन-गहनता-प्रतिलोमता बहुत कम घटित होती है।

लियोनतीफ विरोधाभास का एक अन्य स्पष्टीकरण हॉफमयर[20] (Hoffmeyer) ने प्रदान किया है। उनके मतानुसार यदि प्रा० लियोनतीफ की उद्योगों की सूचि में से प्राकृतिक साधनों की प्रचुरमात्रा द्वारा निर्मित वस्तुओं को हटा दिया जाए तो प्राशातीत निष्कर्ष-अमरिका पूँजी-गहन वस्तुओं का निर्यात करेगा तथा श्रम-गहन वस्तुओं का आयात-प्राप्त किया जा सकता है।

हाफमेयर का निष्कर्ष भी पूर्णतया सन्तोषजनक नहीं है क्योंकि अमेरिका पट्रोलियम, ताम्बा आदि कुछ ऐसी वस्तुएँ निर्यात करता है जो कि अत्यधिक पूँजी-गहन वस्तुएँ हैं।

प्रो० ट्राविस[21] (Travis) ने लियोनतीफ विरोधाभास को अमरिका की व्यापार नीति के सन्दर्भ में स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। ट्राविस ने इंगित किया कि लियोनतीफ के अध्ययन के वर्ष में अमेरिका का व्यापार अत्यधिक संरक्षित था अतः लियोनतीफ का विरोधाभास तो मात्र प्रकृति का मजाक (quirk of nature) ही था।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि लियोनतीफ विरोधाभास व इसके स्पष्टीकरणों से हैक्शचर-ओलीन मॉडल की सत्यता अथवा असत्यता के बारे में निश्चित निर्णय पर पहुँचना सम्भव नहीं है।

---

19 Leontief, W W —An International Comparison of Factor Cost and Factor use—AER (Vol 54) June 1964

20 Haffmeyer E —The Leontief Paradox Critically Examined—Manchester School of Economic and Social Studies (Vol 26), May, 1958

21 Travis, W P —The Theory of Trade and Protection Cambridge Mass, Harvard University Press 1964

5

साधन-कीमत समानीकरण एवं अन्य सम्बन्धित प्रमेय

(The Factor-Price Equalization and other related Theorems)

दो राष्ट्रों में व्यापार पूर्व अवस्था में वस्तु-कीमतें भिन्न होने का परिणाम अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार है। शून्य परिवहन लागतों की स्थिति में राष्ट्रों के मध्य व्यापार में वृद्धि तब तक सम्भव है जब तक कि व्यापार में शामिल वस्तुओं की कीमतें दोनों राष्ट्रों में पूर्ण रूप से समान नहीं हो जाती हैं।

व्यापार के परिणामस्वरूप व्यापाररत राष्ट्रों में न केवल वस्तुओं की ही कीमतें समान होती है वरन उत्पादन के साधनों की कीमतें भी समान होने की प्रवृत्ति पायी जाती है। साधन-कीमत समानीकरण की इस प्रवृत्ति को हम निम्न प्रकार से स्पष्ट कर सकते हैं व्यापार में राष्ट्र उस वस्तु का निर्यात करेगा जिसके उत्पादन में उस राष्ट्र के बाहुल्य वाले साधन की अपक्षाकृत अधिक मात्रा उपयोग में आती है, अतः व्यापार *के परिणामस्वरूप प्रत्येक राष्ट्र में बाहुल्य वाले साधन की माँग व उसके प्रतिफल में* वृद्धि होगी। इसी प्रकार प्रत्येक राष्ट्र उस वस्तु का आयात करता है जिसके उत्पादन में उस राष्ट्र के दुर्लभ साधन की अपेक्षाकृत अधिक मात्रा प्रयुक्त की जाती है, अतः प्रत्येक राष्ट्र में व्यापार के कारण दुर्लभ साधन कम दुर्लभ होगा तथा उसके प्रतिफल में कमी होगी।

दूसरे शब्दों में निर्यातों के कारण प्रत्येक राष्ट्र के बाहुल्य वाले तथा सस्ते साधन पर विश्व माँग केन्द्रित होगी जिससे उन साधन के प्रतिफल में वृद्धि होगी तथा आयातों के परिणामस्वरूप प्रत्येक राष्ट्र के दुर्लभ साधन की माँग पर दबाव घटेगा अतः दुर्लभ तथा मँहगे साधन के प्रतिफल में कमी होगी।

अतः स्पष्ट है कि व्यापार के परिणामस्वरूप व्यापाररत राष्ट्रों में साधन-कीमत समानीकरण की प्रवृत्ति पायी जाएगी। साधन-कीमत समानीकरण की इस प्रवृत्ति को *अगले पृष्ठ के चार्ट में दर्शाया गया है। श्रम सम्पन्न राष्ट्र-भारत तथा पूँजी सम्पन्न* राष्ट्र-अमरिका-में व्यापार प्रारम्भ होने के कारण साधन-कीमतों के परिवर्तन चार्ट में दर्शायेनुसार होंगे।
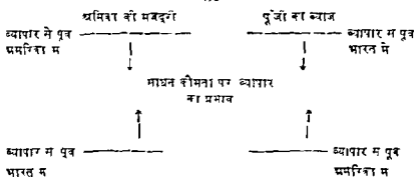
व्यापार पूर्व साधन कीमतें क्षैतिज (horizontal) रेखाओं की ऊँचाई द्वारा दर्शायी गयी है तथा व्यापार के साधन कीमतों पर प्रभाव को तीरों (arrows) की दिशा द्वारा दर्शाया गया है। दोनों राष्ट्रों के तीर एक दूसरे की ओर अग्रसर हो रहे हैं अर्थात् साधन-कीमत समानीकरण की प्रवृत्ति स्पष्ट दिखाई दे रही है। साधन-कीमत समानीकरण की यह प्रवृत्ति उस समय तक जारी रहेगी जब तक कि राष्ट्र पूर्ण विशिष्टीकरण न कर लें अथवा साधन-कीमतें पूर्णतया समान न हो जाये।

कुछ प्रतिबंधक मान्यताओं के अन्तर्गत यह दर्शाया जा सकता है कि व्यापार के परिणामस्वरूप साधन-कीमत समानीकरण की यह प्रवृत्ति उस बिन्दु तक पहुँच सकती है जहाँ पर दोनों व्यापाररत राष्ट्रों में साधनों की कीमत पूर्णतया समान हो जाय। साधन-कीमत समानीकरण प्रमेय को हैक्श्चर-ओलीन मॉडल की मान्यताओं के अन्तर्गत प्रमाणित किया जाता है।

प्रमेय की मान्यताएँ

(Assumptions underlying the Theorem)

1. दो राष्ट्र [भारत (I) तथा अमरिका (A)]
2. दो वस्तुएँ व दो उत्पादन के साधन
3. समस्त राष्ट्रों में वस्तु व साधन बाजारों में पूर्ण प्रतियोगिता
4. रेखीय-समरूप उत्पादन-फलन*
5. दी हुई वस्तु का उत्पादन-फलन दोनों राष्ट्रों में एक जैसा

* रेखीय समरूप उत्पादन फलन का विस्तृत विवेचन इस अध्याय की परिशिष्ट D में दिया गया है।

6 पैमाने के स्थिर-प्रतिफल का नियम लेकिन साधन उत्पत्ति ह्रास नियम का क्रियाशील होना

7 पूर्ण विशिष्टीकरण का अभाव

8. साधन गहनता प्रतिलोमता का अभाव
(No factor intensity-reversal)

9 दोनो राष्ट्रो मे भिन्न साधन सम्पन्नता अर्थात्

$$\left(\frac{K}{L}\right)_I < \left(\frac{K}{L}\right)_A$$

10 दोनो राष्ट्रो म उपभोग का प्रारूप एक जैसा

11. दोना वस्तुओ म भिन्न साधन-गहनता अर्थात् साधनो की किसी भी सापेक्ष कीमत पर

$$\left(\frac{K}{L}\right)_{X_2} > \left(\frac{K}{L}\right)_{X_1}$$

12 शून्य परिवहन लागतें।

साधन-कीमत समानीकरण प्रमेय का निरूपण

(The Demonstration of Factor-Price Equalization Theorem)

प्रत्येक राष्ट्र मे व्यापारपूर्व साम्यावस्था म वस्तु-कीमत अनुपात दर्शानेवाली रेखा उत्पादन सम्भावना वक्र तथा समुदाय उदासीन वक्र के दिये हुए बिन्दु पर एक साथ स्पर्श होनी चाहिए अर्थात् व्यापारपूर्व साम्यावस्था म निम्न शर्त पूरी होती है —

$$MRS = \frac{Px_2}{Px_1} = MRT \qquad (1)$$

यहाँ MRS अर्थात् सीमान्त प्रतिस्थापन की दर समुदाय उदासीन वक्र का ढाल है तथा MRT अर्थात सीमान्त रूपान्तरण की दर उत्पादन सम्भावना वक्र का ढाल। $\frac{Px_2}{Px_1}$ वस्तु-कीमत अनुपात रेखा का ढाल x_2 वस्तु की सापेक्ष कीमत है, जो कि साम्यावस्था म रूपान्तरण वक्र व समुदाय उदासीन वक्र के दिये हुए बिन्दु पर एक साथ स्पर्श है।

करण करता है । यह निष्कर्ष भी हैक्शर-ओलीन प्रमेय के निष्कर्ष के अनुरूप है । I राष्ट्र मे व्यापारोपरान्त साम्यावस्था मे साधन-कीमत अनुपात u बिन्दु पर समोत्पत्ति वक्रो के स्पर्श खीची गयी रेखा $L^{r'}{}_I$-$K^{r'}{}_I$ के ढाल द्वारा दर्शाया गया है। $L^r{}_I$-$K^r{}_I$ *साधन-कीमत रेखा व्यापार पूर्व की साधन-कीमत रेखा* $L^r{}_I$-$K^r{}_I$ *से अधिक* ढालू है जिसका अभिप्राय यह है कि I राष्ट्र में व्यापारोपरान्त साम्यावस्था मे व्यापार पूर्व साम्यावस्था की तुलना म श्रम साधन का प्रतिफल बढेगा तथा पूँजी साधन का प्रति फल घटेगा, अर्थात् $\left(\frac{P_L}{P_K}\right)_U > \left(\frac{P_L}{P_K}\right)_T$ । A राष्ट्र मे व्यापारोपरान्त साम्य बिन्दु v पर x_1 तथा x_2 वस्तु के समोत्पत्ति वक्रो के v बिन्दु पर स्पर्श साधन कीमत रेखा $K^{r'}{}_A$-$L^{r'}{}_A$ व्यापार पूर्व साम्यावस्था की साधन कीमत रेखा $K^r{}_A$-$L^r{}_A$ से कम ढालू है जिसका अभिप्राय यह है कि पूँजी सम्पन्न राष्ट्र A मे व्यापार के परिणामस्वरूप श्रम साधन अपक्षाकृत सस्ता तथा पूँजी साधन अपेक्षाकृत मँहगा हो गया है अर्थात् $\left(\frac{P_L}{P_K}\right)_V < \left(\frac{P_L}{P_K}\right)_S$ ।

व्यापार के परिणामस्वरूप दोनो राष्ट्रो मे साधन कीमत रेखाओ $K^r{}_I$-$L^r{}_I$ तथा $K^{r'}{}_A$-$L^{r'}{}_A$ के परिवर्तित ढाल इन दोनो रेखाओ के एक दूसरे के समान्तर होने की प्रवृत्ति दर्शाते है। अत हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि व्यापार के परिणामस्वरूप व्यापाररत राष्ट्रो मे साधन-कीमत समानीकरण की प्रवृत्ति पायी जाती है ।

व्यापार के परिणामस्वरूप साधन कीमतो मे इस प्रकार के परिवर्तनो का कारण x_2 तथा x_1 वस्तु के उत्पादन म प्रयुक्त साधनो के अनुपातो का परिवर्तित होना है । उदाहरणार्थ I राष्ट्र म T बिन्दु की तुलना म U बिन्दु पर x_2 तथा x_1 दोनो ही वस्तुओ के उत्पादन म ऊँचा $\frac{K}{L}$ अनुपात प्रयुक्त किया जा रहा है (x_2 वस्तु के उत्पादन मे राष्ट्र I मे U व T बिन्दुओ पर प्रयुक्त होने वाले साधन अनुपात क्रमश विस्तार पथ ox_2-F तथा ox_2-G दर्शाते हैं) अत राष्ट्र I मे दोनो ही वस्तुओ के उत्पादन मे पूँजी की सीमान्त भौतिक उत्पत्ति गिरेगी व श्रम की सीमान्त भौतिक उत्पत्ति बढेगी। इसका कारण हमारे मॉडल की सीमान्त उत्पत्ति-ह्रास नियम के क्रियाशील होने की मान्यता है ।

A राष्ट्र म व्यापारोपरांत साम्य बिन्दु S की तुलना मे दोनो ही वस्तुओ के

यह विशेषता होती है कि सीमान्त-उत्पत्ति अनुपात केवल मात्र प्रयुक्त किये गये साधन कीमत अनुपात पर निर्भर करता है। A राष्ट्र के अधिकतम कुशलता पथ के V बिन्दु पर तथा I राष्ट्र के U बिन्दु पर निम्न शर्त पूरी होती है।

$$(MRTS)_A = (MRTS)_I = \frac{MP_L}{MP_K} \qquad (3)$$

यहां पर सीमान्त उत्पादकता को x_1 अथवा x_2 किसी भी वस्तु के रूप में माना जा सकता है क्योंकि अधिकतम कुशलता पथ पर x_1 तथा x_2 के समोत्पत्ति वक्रों के ढाल समान हैं अतः प्रत्येक वस्तु उत्पादन में सीमान्त उत्पादकता का अनुपात ठीक बराबर होगा।

वैकल्पिक रूप से यह दर्शाया जा सकता है कि चित्र 5-1 में $o'x_2$-E रेखा अर्थात A राष्ट्र के x_2 वस्तु के विस्तार पथ का ढाल I-राष्ट्र के x_2 वस्तु के विस्तार पथ ox_1-F के ढाल के ठीक बराबर है। अतः पूर्व में सिद्ध किया गया है ठीक उसी प्रकार के तर्क की कड़ी से यह दर्शाया जा सकता है कि x_2 वस्तु के रूप में भी सीमान्त प्रतिस्थापन की तकनीकी दरें $(MRTS_2)$ साधनों की सीमान्त उत्पादकता के अनुपात के बराबर होंगी। परिणामस्वरूप U तथा V बिन्दुओं पर निम्न शर्तें पूरी होंगी:

$$\left(\frac{MP_L}{MP_K}\right)_A = \left(\frac{MP_L}{MP_K}\right)_I$$

पूर्ण प्रतियोगिता की मान्यता के आधार पर हम कह सकते हैं कि किसी भी साधन का प्रतिफल उसकी सीमान्त उत्पादकता के बराबर होगा। अतः स्पष्ट है कि व्यापार के परिणामस्वरूप दोनों राष्ट्रों में साधनों की सापेक्ष कीमतें पूर्णतया समान हो जाती हैं अर्थात्

$$\left(\frac{P_L}{P_K}\right)_A = \left(\frac{P_L}{P_K}\right)_I$$

अतः चित्र 5-1 में व्यापाररत राष्ट्रों के साम्य में A राष्ट्र की साधन-कीमत अनुपात रेखा $K_A{}^{F'}$-$L_A{}^{F'}$ तथा I राष्ट्र की साधन-कीमत रेखा $L_I{}^{F'}$-$K_I{}^{F'}$ समानान्तर हैं।

व्यापार के परिणामस्वरूप पूर्ण साधन-कीमत समानीकरण प्रमाणित करने हेतु हम यूलर (Euler) की प्रमेय का सहारा लेना पड़ेगा। यूलर की प्रमेय दर्शाती है कि

किसी वस्तु के साम्य उत्पादन में उस वस्तु मे प्रयुक्त प्रत्येक साधन की सीमान्त उत्पत्ति को उसम कार्यरत साधन की मात्रा से गुणा करने पर प्राप्त गुणनफलो का योग उस वस्तु के कुल उत्पादन के ठीक बराबर होगा। यह तो हम जानते ही हैं कि रेखीयता (Linearity) का आशय यह है कि प्रत्यक साधन की औसत-उत्पत्ति स्थिर रहेगी। मॉडल की इन दो विशेषताओ की सहायता से हम प्रो० के० लक्नास्टर[1] (K Lancaster) का अनुसरण करते हुए निरपेक्ष साधन कीमत समानीकरण का सत्यापन कर सकते है।

चित्र 5 1 मे U बिन्दु पर दर्शायी गयी साधन एव उत्पत्ति की मात्राओ को हम यूलर की प्रमेय मे निम्न प्रकार से व्यक्त कर सकते हैं

$$(x_{1I}) = (ox_1\text{-}L_I^{x'_1})\ \ MPL + (ox_1\text{-}K_I^{x'_1})\ .\ MP_K \qquad (4)$$

यहाँ $(ox_1\text{-}L_I^{x'_1})$, u बिन्दु पर x_1 वस्तु के उत्पादन मे प्रयुक्त कुल श्रमिको की सख्या है तथा $(ox_1\text{-}K_I^{x'_1})$, x_1 के उत्पादन मे प्रयुक्त कुल पूँजी की इकाइयाँ। यहाँ (x_{1I}), I राष्ट्र मे साम्य बिन्दु U पर x_1 वस्तु का कुल उत्पादन है। पूँजी की औसत-उत्पत्ति ज्ञात करने हेतु हम कुल उत्पादन को पूँजी की इकाइयो से भाग देकर समीकरण को निम्न रूप मे लिख सकते हैं :

$$\frac{(x_{1I})}{(ox_1\text{-}k_I^{x'_1})} = -\frac{(ox_1\text{-}L_I^{x'_1})}{(ox_1\text{-}k_I^{x'_1})}\ .\ MPL + MP_K' \qquad (5)$$

उपर्युक्त समीकरण के दायी ओर के भाग मे से MP_K कॉमन लेने पर,

$$\frac{(ox_{1I})}{(ox_1\text{-}k_I^{x'_1})} = MP_K\left[1 + \frac{(ox_1\text{-}L_I^{x'_1})}{(ox_1\text{-}k_I^{x'_1})}\ .\ \frac{MP_L}{MP_K}\right] \qquad (6)$$

जैसा कि पूर्व मे दर्शाया जा चुका है कि साधनो के दिये हुए अनुपात पर $\frac{MP_L}{MP_K}$ स्थिर है अत ox_1-D रेखा के प्रत्येक बिन्दु पर $\frac{MP_L}{MP_K}$ समान है। पैमाने के स्थिर

1 Lancaster, K —The H O Trade Model A Geometric Treatment—Economica, Vol 24 (1957), pp 19 39 Reprinted in Bhagwati, J (eds) International Trade-(Penguin—1969).

प्रतिफलों की मान्यता का अभिप्राय यह होता है कि किसी भी दिये हुए साधन अनुपात पर साधनों की औसत उत्पत्ति समान रहती है अर्थात् V तथा U बिन्दुओं पर पूँजी का औसत उत्पत्ति $(ox_1{}_1/ox_1\text{-}k_1 \ x'_1)$ स्थिर है। यह हम जानते हैं कि ox_1-D विस्तार-पथ के प्रत्येक बिन्दु पर (u बिन्दु सहित) साधन अनुपात $\frac{(ox_1\text{-}L_1 \ x'_1)}{(ox_1\text{-}K_1 \ x'_1)}$ स्थिर है। अत हम कह सकते हैं कि ox_1-D रेखा पर V बिन्दु पर मात्राओं के बारे में जो सत्य है वही इस रेखा व U बिन्दु पर भी सही है। इस प्रकार V तथा U बिन्दुओं पर समीकरण का बायाँ भाग व कोष्टक के अन्दर की सभी मात्राएँ एक समान हैं अत. समीकरण (6) का एक मात्र शेष तत्त्व MP_X भी V तथा U बिन्दुओं पर समान होगा।

अभिप्राय यह है कि V बिन्दु राष्ट्र A से सम्बद्ध है तथा U बिन्दु राष्ट्र I से, इसलिए $(MP_X)_A = (MP_X)_I$ इसी प्रकार के तर्क की कड़ी की सहायता से यह दर्शाया जा सकता है कि $(MP_L)_A = (MP_L)_I$। अन्त में पूर्ण प्रतियोगिता की मान्यता के आधार पर हम कह सकते हैं कि $(MP_L) = (P_L)$ तथा $(MP_X) = (P_X)$ अत $(P_X)_A = (P_X)_I$ तथा $(P_L)_A = (P_L)_I$.

अत स्पष्ट है कि हमारे मॉडल की मान्यताओं के अन्तर्गत व्यापाररत राष्ट्रों में पूर्ण साधन-कीमत समानीकरण सम्भव है।

साधन-कीमत समानीकरण प्रमेय के सत्यापन की वैकल्पिक विधि

(Alternative method of demonstrating the theorem)

लर्नर (Lerner) की विधि :—प्रो० ए० पी० लर्नर ने समोत्पत्ति वक्रों की सहायता से साधन-कीमत समानीकरण प्रमेय का निरूपण किया है। मान लीजिये कि चित्र 5 2 में x_2 तथा x_1 वस्तुओं के समोत्पत्ति वक्र अमेरिका तथा भारत दोनों राष्ट्रों में उत्पादन फलन का प्रतिनिधित्व करते हैं। x_2 तथा x_1 वस्तुओं के समोत्पत्ति वक्र इस प्रकार से चुने गये हैं कि वे व्यापारोपरान्त साम्यावस्था में x_1 तथा x_2 वस्तुओं की ऐसी मात्राएँ प्रदर्शित करें जिनका मौद्रिक मूल्य समान हो। उदाहरणार्थ, ये वक्र x_2 वस्तु की 2 इकाइयाँ तथा x_1 वस्तु की 3 इकाइयाँ प्रदर्शित कर सकते हैं अथवा x_2 वस्तु की 20 इकाइयाँ तथा x_1 वस्तु की 30 इकाइयाँ प्रदर्शित कर सकते हैं। रेखीय समरूप
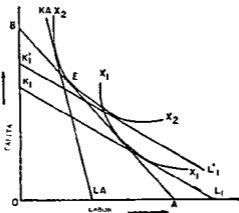
चित्र 5-2 साधन-कीमत समानीकरण—लर्नर विधि

उत्पादन फलन की मान्यता के कारण समोत्पत्ति वक्र अधिक मात्रा प्रदर्शित करें अथवा कम उनकी आकृति (Shape) अपरिवर्तित रहेगी।

अतः दोनों राष्ट्रों में वस्तुओं के एक जैसे उत्पादन फलनों व व्यापारोपरांत साम्य में समान वस्तु-कीमत अनुपातों की स्थिति में चित्र 5.2 भारत तथा अमेरिका दोनों ही राष्ट्रों की स्थिति का प्रतिनिधित्व कर रहा है।

माना कि भारत में व्यापारपूर्व साम्यावस्था में सापेक्ष साधन कीमतें k_1-L_1 रेखा के ढाल वाली हैं। k_1-L_1 साधन कीमत रेखा x_1 वस्तु के समोत्पत्ति वक्र के स्पर्श है अतः यह x_1 वस्तु की उत्पादन लागत दर्शाती है। लेकिन x_2 वस्तु के समोत्पत्ति वक्र के स्पर्श उसी ढाल वाली साधन-कीमत रेखा k_1'-L_1', k_1-L_1 साधन कीमत रेखा से दायीं ओर ऊपर विद्यमान है, जिसका अभिप्राय यह है कि समान मूल्य के x_2 वस्तु के उत्पादन की भारत में ऊँची लागत होगी। अत. भारत की व्यापारपूर्व साधन-कीमतें सगत (consistent) नहीं है। सगत साधन कीमत रेखा के लिए यह आवश्यक है कि वह समान मूल्य के वस्तु उत्पादन की दोनों वस्तुओं की समान लागत दर्शाये।

इसी प्रकार के तर्क की सहायता से दर्शाया जा सकता है कि अमेरिका में प्रचलित साधन कीमतें, जो कि k_A-L_A के ढाल द्वारा दर्शायी गयी है, सगत नहीं है। अमेरिका में समान मूल्य के x_1 वस्तु के उत्पादन की लागत x_2 वस्तु के उतने ही मूल्य के उत्पादन से अधिक है।

चित्र 5-2 में केवल B-A ही ऐसी सुसगत साधन कीमत रेखा है जो कि x_2 तथा

x_1 दोनो वस्तुग्रो के समोत्पत्ति वक्रो के स्पर्श है एव इन वस्तुग्रो के समान मूल्य के उत्पादन की समान लागत दर्शाती है। चित्र 5-2 मे केवल B-A रेखा ही सुसगत साधन-कीमत रेखा है, तथा यह चित्र दोनो राष्ट्रो की स्थिति का प्रतिनिधित्व कर रहा है, इसलिए व्यापारोपरांत साम्यावस्था मे दोनो ही राष्ट्रो मे B-A रेखा के ढाल वाला साधन-कीमत अनुपात विद्यमान रहेगा। ग्रत व्यापार के परिणामस्वरूप दोनो राष्ट्रो मे साधन कीमतें समान होगी।

वास्तविक जगत मे साधन-कीमत समानीकरण क्यों नहीं ?

(Why does Factor Price fail to equalize in the real world ?

वास्तविक जगत मे साधन-कीमत समानीकरण की स्थिति प्राप्त नही होने का प्रमुख कारण यह है कि साधन-कीमत समानीकरण के सत्यापन मे मानी गयी अधिकाश मान्यताएँ अवास्तविक हैं।

वास्तविक जगत मे प्राप्त न होने वाली मान्यताग्रो मे से प्रमुख है पूर्ण प्रतियोगिता, साधन-गहनता प्रतिलोमता का अभाव, शून्य परिवहन लागतें, स्वतत्र व्यापार एव एक जैसे उत्पादन फलन ग्रादि।

साधन कीमत समानीकरण प्रमेय को साबित करने हेतु पूर्ण प्रतियोगिता की मान्यता पूरी होनी ग्रतिग्रावश्यक है। पूर्ण प्रतियोगिता के ग्रभाव मे न तो सीमान्त इकाई लागत व वस्तु कीमत ही समान बनी रहेगी ग्रौर न ही उत्पादन के साधनो को प्राप्त प्रतिफल उनकी सीमान्त उत्पत्ति के बराबर होगे। ग्रत वस्तु-कीमत व साधन-कीमत की ग्रापसी कडी समाप्त होने के कारण हम वस्तु-कीमत समानीकरण से साधन-कीमत समानीकरण का निष्कर्ष प्राप्त नही कर सकेंगे।

यह तो हमे ज्ञात ही है कि वास्तविक जगत मे भिन्न श्रेणियो के एकाधिकार, ग्रल्प विक्रेताधिकार व एकाधिकारात्मक बाजारो की स्थिति पाई जाती है। ग्रत वास्तविक जगत में साधन-कीमत समानीकरण की स्थिति प्राप्त नहीं होने का प्रमुख कारण प्रतियोगिता की ग्रपूर्णताएँ माना जा सकता है।

साधन-गहनता प्रतिलोमता (Factor-Intensity Reversals) के विद्यमान होने से साधन-कीमत समानीकरण सम्भव नही है।

साधन गहनता प्रतिलोमता का ग्रभिप्राय यह है कि साधन कीमतो के एक विशिष्ट कुलक (Set) पर एक वस्तु श्रम-गहन है जबकि साधन कीमतो के किसी ग्रन्य कुलक पर वही वस्तु पूँजी-गहन है।

साधन गहनता प्रतिलोमता की स्थिति में हैक्स्चर-ओहलिन प्रमेय तथा साधन-कीमत समानीकरण प्रमेय दोनों ही अमान्य (invalid) हो जाती हैं। साधन गहनता प्रतिलोमता विद्यमान होने पर यह बतलाना कठिन होगा कि व्यापार के परिणामस्वरूप व्यापाररत राष्ट्रों के मध्य साधन कीमतों के अन्तर बढ़ेंगे अथवा घटेंगे।

साधन-कीमत समानीकरण प्रमेय पर साधन गहनता प्रतिलोमता का प्रभाव चित्र 5-3 की सहायता से स्पष्ट किया गया है। चित्र 5 3 में x_2 वस्तु का समोत्पत्ति वक्र वा चित्र 5-2 वाला ही है लेकिन x_1 वस्तु के उत्पादन में साधन प्रतिस्थापन अधिक सीमा तक सम्भव है।

चित्र 5.3 में भारत में साधन-कीमत अनुपात $I-I_1$ रेखा के ढाल वाला है जबकि अमेरिका में $A-A_1$ रेखा के ढाल वाला। भारत में x_2 वस्तु के उत्पादन में o-d विस्तार पथ द्वारा दर्शाये गये अनुपात में साधन प्रयुक्त किये जा रहे हैं जबकि x_1 के उत्पादन में o-c विस्तार पथ द्वारा प्रदर्शित अनुपात में।

स्पष्ट है कि भारत में d तथा c बिन्दुओं पर $\left(\frac{K}{L}\right)_{X_2} > \left(\frac{K}{L}\right)_{X_1}$ अर्थात् x_2 वस्तु अपेक्षाकृत पूँजी-गहन उत्पादन तरीकों से उत्पादित की जा रही है। इसके विपरीत अमेरिका में B व C बिन्दुओं पर, $\left(\frac{K}{L}\right)_{X_2} < \left(\frac{K}{L}\right)_{X_1}$ अर्थात् x_2 वस्तु अपेक्षाकृत श्रम-गहन तकनीकों की सहायता से उत्पादित की जा रही है। अतः साधन गहनता प्रतिलोमता की स्थिति विद्यमान है।

चित्र 5-3 में यदि हम x_1 तथा x_2 वस्तु के समोत्पत्ति वक्रों को समान मौद्रिक मूल्य की वस्तु की मात्रा प्रदर्शित करता हुआ मान लें तो अमेरिका में साधन कीमत रेखा सगत साधन-कीमत रेखा है ($A-A_1$ रेखा दोनों वस्तुओं के समोत्पत्ति वक्रों के स्पर्श है अत. यह उनकी समान लागत दर्शाती है)। इसी प्रकार भारत में $I-I_1$ साधन-कीमत रेखा भी सगत है क्योंकि यह x_1 तथा x_2 दोनों वस्तुओं की समान लागत दर्शाती है। अतः यह सम्भव है कि व्यापारोपरान्त साम्यावस्था में दोनों राष्ट्रों में $A-A_1$ तथा $I-I_1$ रेखाओं जैसे दो भिन्न साधन-कीमत अनुपात बने रहें तथा साधन-कीमत समानीकरण न हो पाए।
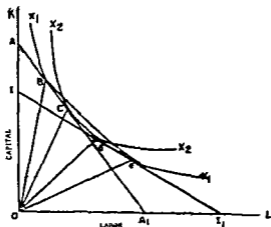
चित्र 5 3 : साधन गहनता प्रतिलोमता

प्रो० बी०एस० मिनहास[2] (B.S. Minhas) ने अपने स्थिर प्रतिस्थापन की लोच (C E.S) वाले उत्पादन फलन की सहायता से यह पाया कि अमेरिका मे व्यावहारिक रूप से सम्बद्ध साधन-कीमत अनुपातो की विस्तार सीमाओ मे साधन गहनता प्रतिलोमता की उपस्थिति पायी गयी है अत. साधन-गहनता प्रतिलोमता का विद्यमान होना वास्तविक जगत मे साधन-कीमत समानीकरण न होने का दूसरा महत्त्वपूर्ण कारण हो सकता है ।

साधन-कीमत समानीकरण प्रमेय का निरूपण करते समय हमने शून्य परिवहन लागत की मान्यता भी मानी है। लेकिन हम जानते हैं कि वास्तविक जगत मे परिवहन लागतो के बिना अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सम्भव नही है। इसी तरह से व्यापार मे भिन्न प्रकार के प्रशुल्क, कोटा आदि बाधक घटक भी साधन-कीमत समानीकरण मे बाधा प्रस्तुत करते हैं। प्रो० ओलीन के अनुसार"————जब परिवहन लागतो व अन्य बाधाओ को विश्लेषण मे सम्मिलित किया जाता है तो इस तरह का समानीकरण (साधन-कीमत समानीकरण) स्पष्ट ही असम्भव है।"[3]

वास्तविक जगत मे साधन कीमत समानीकरण होने मे एक अन्य बाधा भिन्न राष्ट्रो मे भिन्न उत्पादन फलनो की उपस्थिति है।

2. Minhas, B S —The homohypallagic produc ion function, factor intensity reversals and the H O theorem—JPE, Vol 70 (1962), pp 138-56.

3 Ohlin, B —op cit, p 27.

ऐरो, चेनरी, मिनहास व सोलो[4] ने अपने अध्ययनों में पाया है कि भिन्न राष्ट्रों में उत्पादन फलनों में एक स्थिर पैमाने के घटक (Constant Scale factor) का अन्तर पाया जाता है। इस स्थिति में निरपेक्ष साधन-कीमत समानीकरण सम्भव नहीं है। लेकिन चूँकि भिन्न राष्ट्रों में दी हुई वस्तु के उत्पादन में सापेक्ष साधन अनुपात समान पाए जाते हैं अतः राष्ट्रों में सापेक्ष साधन-कीमत समानीकरण सम्भव है।

प्रो० ओलीन के अनुसार "यह अवलोकन, (observation) कि व्यापार के परिणामस्वरूप साधन-कीमत समानीकरण की प्रवृत्ति होगी, कई दृष्टिकोणों से परिमार्जित (qualify) किया जाना चाहिए। भिन्न राष्ट्रों में उत्पादन के साधनों के गुणों में अन्तर, पूर्णतया भिन्न तकनीकी प्रक्रियाओं के उपयोग की सम्भावना, बड़े पैमाने की मितव्ययताएँ तथा आर्थिक स्थायित्व व करों में अन्तर, पूर्व के विश्लेषण को न केवल धुंधला (blur) ही कर देते हैं अपितु यह सुनिश्चित कर देते हैं कि व्यापार से वास्तविक साधन-कीमत समानीकरण कुछ मिलाकर किस सीमा तक सम्भव है।"[5]

रिब्जिन्सकी प्रमेय

(The Rybczynski Theorem)

स्थिर वस्तु व साधन कीमत की मान्यता के अन्तर्गत साधन पूर्ति में वृद्धि का वस्तु उत्पादन पर प्रभाव स्पष्ट करने हेतु एक महत्वपूर्ण प्रमेय टी०एम० रिब्जिन्सकी[6] (T.M. Rybczynski) द्वारा प्रतिपादित की गयी थी जिसे रिब्जिन्सकी प्रमेय (Rybczynski Theorem) के नाम से जाना जाता है।

इस प्रमेय के अनुसार स्थिर वस्तु कीमत अनुपात पर साधन विशेष की पूर्ति में वृद्धि से उस वस्तु के निरपेक्ष उत्पादन में वृद्धि होगी जिसमें अतिरिक्त पूर्ति वाला साधन अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में प्रयुक्त किया जाता है तथा दूसरी वस्तु के निरपेक्ष उत्पादन में कमी होगी। रिब्जिन्सकी प्रमेय में निहित आर्थिक तर्क को निम्न प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है :—

मान लीजिए कि केवल श्रम साधन की मात्रा में वृद्धि होती है, तो स्थिर वस्तु कीमत अनुपातों पर प्रत्येक उद्योग में साधन प्रतिफल व इसके परिणामस्वरूप साधन-

4 Arrow, Chenery Minhas & Solow—Capital Labour Substitution and Economic Efficiency—Rev of Econ & Stat (Vol 43) 1961 pp 225-51

5 Ohlin, B—op cit p 77

6 Rybczynski, T M—Factor Endowment and Relative Commodity Prices—Economica Nov. 1955 pp 336-41.

कीमत अपरिवर्तित रहेंगे। पूर्ण रोजगार बनाए रखने हेतु अर्थव्यवस्था मे अतिरिक्त श्रम-शक्ति का पूर्ण-रोजगार आवश्यक है तथा इस पूर्ण रोजगार से प्रत्येक उद्योग मे स्थिर पूँजी/श्रम अनुपात के कारण श्रम-गहन वस्तु का उत्पादन निश्चय ही बढ़ेगा। चूँकि प्रत्येक वस्तु के उत्पादन मे प्रत्येक साधन की न्यूनतम मात्रा प्रयुक्त करनी आवश्यक है, अत पूँजी की स्थिर पूर्ति खपाने हेतु श्रम-गहन वस्तु मे आवश्यक अतिरिक्त पूँजी पूँजी-गहन वस्तु के उत्पादन से हटाई जायेगी जिसका अभिप्राय यह है कि पूँजी-गहन वस्तु का उत्पादन घटेगा।

रिबॉजिन्सकी प्रमेय का बॉक्स चित्र की सहायता से निरूपण किया जा सकता है—

चित्र 5-4 मे ox_1-LA राष्ट्र मे उपलब्ध कुल श्रम की मात्रा है तथा ox_1-K कुल पूँजी की मात्रा। x_1 वस्तु के मूल o-x_1 से x_1 वस्तु का उत्पादन मापा गया है तथा ox_2 मूल से x_2 वस्तु का उत्पादन।

मान लीजिये कि ox_1-S-ox_2 अधिकतम कुशलता पथ पर प्रारम्भिक उत्पादन बिन्दु S है, अत· विस्तार पथ ox_1-S तथा ox_2-S का ढाल क्रमश: x_1 तथा x_2 वस्तुओं के उत्पादन मे S बिन्दु पर प्रयुक्त पूँजी/श्रम अनुपात दर्शाता है। ox_1-S विस्तार पथ
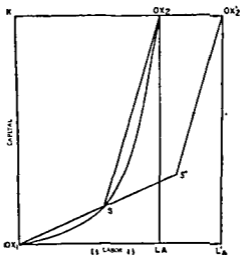
चित्र 5 4—स्थिर वस्तु कीमत अनुपात एवं साधन पूर्ति मे वृद्धि (रिबॉजिन्सकी प्रमेय)

ox_2-S विस्तार पथ से कम ढालू है अर्थात् x_1 वस्तु x_2 वस्तु की तुलना में श्रम-गहन है। S बिन्दु पर x_1 वस्तु का उत्पादन ox_1-S है तथा x_2 वस्तु का उत्पादन ox_2-S है।

अब मान लीजिए कि इस राष्ट्र में श्रमिकों की पूर्ति म LA-L'A वृद्धि होकर राष्ट्र की कुल श्रम शक्ति ox_1-L'A हो जाती है। चूँकि प्रत्येक वस्तु के उत्पादन में पूँजी/श्रम अनुपात पूर्ववत् ही बना रहता है, अत साधन-पूर्ति में वृद्धि के पश्चात् नया उत्पादन बिन्दु S' होगा। नया उत्पादन बिन्दु S', ox_1-S विस्तार पथ को आगे बढ़ाकर तथा ox'_2-S' विस्तार पथ ox_2-S के समानान्तर खींचकर प्राप्त किया गया है। श्रम-पूर्ति म वृद्धि के बाद वाले बाक्स में मात्र S' ही ऐसा बिन्दु है जिस पर दोनों वस्तुओं के उत्पादन में पूँजी/श्रम अनुपात ठीक वही है जो S पर था।

इस सन्दर्भ में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि क्या S बिन्दु अधिकतम कुशलता पथ पर स्थित है ? इस प्रश्न का उत्तर निश्चय ही 'हाँ' है, क्योंकि ox_1-S विस्तार-पथ x_1 वस्तु के सभी समोत्पाद वक्रों को समान ढाल पर काटेगा। इसी प्रकार ox_2-S व ox_2'-S' विस्तार-पथ समानान्तर हैं। अत ये रेखायें भी x_2 वस्तु के समोत्पत्ति वक्रों को समान ढाल पर काटेंगी। अतः S व S बिन्दुओं पर सीमान्त भौतिक उत्पादकता के अनुपात समान हैं, इसलिए S' बिन्दु पर अनुकूलतम उत्पादन की शर्त पूरी हो रही है एवं यह ox_1-L'A-ox_2'-K बॉक्स में अधिकतम कुशलता पथ पर स्थित है।

हमारी रेखीय उत्पादन फलन की मान्यता के कारण वस्तु उत्पादन में परिवर्तनों को मूल बिन्दु से खींचे गये विस्तार-पथ पर मापा जा सकता है। चित्र 5-4 में ox_1-S' दूरी ox_1-S दूरी से अधिक है, अत. श्रम साधन की पूर्ति में वृद्धि के परिणामस्वरूप श्रम-गहन वस्तु x_1 के उत्पादन में वृद्धि हुई है। इसी प्रकार ox'_2-S' दूरी ox_2-S दूरी से कम है, अत. पूँजी-गहन वस्तु X_2 का उत्पादन घट गया है।

स्टॉलपर-सेम्युअलसन प्रमेय

(The Stolper–Samuelson Theorem)

स्टॉल्पर-सेम्युअलसन[7] प्रमेय के अनुसार वस्तु विशेष की कीमत में वृद्धि के परिणामस्वरूप उस वस्तु में गहन साधन के वास्तविक प्रतिफल म वृद्धि होगी तथा अगहन (unintensive) साधन के वास्तविक प्रतिफल में कमी, इसी प्रकार वस्तु विशेष की कीमत म कमी के परिणामस्वरूप उस वस्तु में गहन साधन के वास्तविक प्रतिफल में कमी तथा अगहन साधन के वास्तविक प्रतिफल म वृद्धि होगी।

7 Stolper, W F & Samuelson, P A —Protection and Real Wages—Rev of Economic studies (Vol 9) 1941, Pp 58-73, reprinted in Bhagwati, J —(eds)— International Trade Pp 245-268

अत वस्तु कीमत मे परिवर्तन का साधनो की कीमतो पर प्रभाव ज्ञात करने हेतु स्टॉल्पर-सेम्युअलसन प्रमेय का अध्ययन आवश्यक है। आयात-प्रशुल्क में वृद्धि के कारण आयात वस्तु के मूल्य मे सामान्यतया वृद्धि होती है, अत प्रशुल्क के साधन-कीमतों पर प्रभाव ज्ञात करने हेतु भी स्टॉल्पर-सेम्युअलसन प्रमेय का ज्ञान आवश्यक है।

स्टॉल्पर-सेम्युअलसन प्रमेय के अनुसार "चाहे किसी भी वस्तु के रूप मे देखें *अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के परिणामस्वरूप राष्ट्र के दुर्लभ साधन का वास्तविक प्रतिफल* गिरेगा।"[8]

स्टॉल्पर-सेम्युअलसन ने अपने लेख मे *सर्वप्रथम व्यापार के साधन-कीमतों* पर प्रभाव से सम्बन्धित प्रचलित विचारो का अध्ययन किया व साराश निम्न शब्दों में प्रस्तुत किया —

"साराश हम इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं (1) प्रतिष्ठित सिद्धान्त के सकीर्णतम रूप मे साधनो के सापेक्ष व निरपेक्ष अशो पर व्यापार के प्रभाव की समस्या का शायद ही उदय होता हो क्योकि वहाँ केवल एक साधन की मान्यता मानली जाती है। (2) इस बेलचीली (rigid) प्रणाली की सीमाओ से बाहर यह लम्बे समय से माना जाता रहा है कि उत्पादन के दुर्लभ (small) विशिष्ट साधनो के सापेक्ष तथा शायद निरपेक्ष अश मे सरक्षण के परिणामस्वरूप वृद्धि हो सकती है। इस पहलू पर विशेष ध्यान अप्रतियोगी समूहो के सन्दर्भ मे ही दिया गया था। (3) विशाल श्रेणियो (Large Categories) के सन्दर्भ में दृष्टिकोण (opinion) अधिक विभाजित है। स्वतत्र व्यापार के परिणामस्वरूप श्रम जैसे विशाल (large) उत्पादक साधन के सापेक्ष अश मे कमी की सभावना को लग-भग सभी स्वीकार करते हैं। यहा तक कि कुछ विचारक उत्पादन के बाहुल्य वाले साधन की वास्तविक आय म कमी को स्वीकार करते हैं। लेकिन सभी लेखक निरपेक्ष अशों मे कमी को लग-भग असभव मानते हैं तथा कुछ लेखको का सापेक्ष अश के सन्दर्भ मे भी यही विश्वास है। कई यह मानते हैं कि अन्तिम समस्या से सम्बन्धित कोई भी पूर्वाग्रह (a priori) की स्थिति सभव नहीं है। (4) लेखको का बडा बहुमत इसे स्वय सिद्ध (axiomatic) मानता है कि वास्तविक आय पर प्रभाव की गणना करते समय उपभोक्ता के बजट म प्रवेश करने वाली वस्तुओ की कीमतो के व्यवहार को ध्यान में रखना आवश्यक है। इस प्रकार यदि किसी साधन विशेष के मालिक केवल निर्यात वस्तु (प्रो पीगू की शब्दावली में यह मजदूरी वस्तु है) का उपभोग करते हैं तो मजदूरी-वस्तु आयातित वस्तु होने की स्थिति मे भिन्न परिणाम प्राप्त होगा। चू कि वास्तविक

8 Ibid., p 257

जगत मे उपभोग विविधता होती है, अतः मजदूरी-वस्तु की अवधारणा अत्यधिक सरलीकृत है। तथा इसमे सूचकांकों की गम्भीर समस्या निहित प्रतीत होती है।

चित्र 5.5 मे सापेक्ष रूप से पूंजी सम्पन्न व श्रम दुर्लभ राष्ट्र का बॉक्स चित्र दर्शाया गया है। चित्र* 5 5 मे व्यापारपूर्व साम्य बिन्दु M है। M बिन्दु पर X_1 वस्तु के उत्पादन मे प्रयुक्त साधन-अनुपात OX_1-D विस्तार पथ द्वारा दर्शाया गया है जबकि X_2 वस्तु मे प्रयुक्त साधन अनुपात OX_2-H विस्तार-पथ द्वारा। व्यापारपूर्व साधन-कीमत अनुपात $\left(\frac{P_L}{P_K}\right)_r$ K_A^r-L_A^r रेखा के ढाल द्वारा दर्शाया गया है।

हेक्शचर-ओलीन प्रमेय के अनुरूप व्यापार मे पूंजी सम्पन्न राष्ट्र अमेरिका (A) पूंजी-गहन वस्तु X_2 के उत्पादन मे विशिष्टीकरण करेगा अतः इस राष्ट्र का उत्पादन बिन्दु अधिकतम कुशलता पथ पर M से N हो जाता है। N बिन्दु पर M बिन्दु की
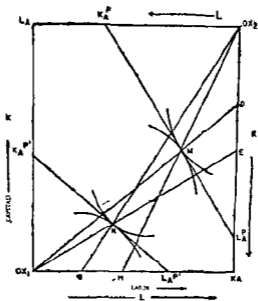
चित्र 5 : 5 स्टॉल्पर-सेम्युअलसन प्रमेय

* इस चित्र के विश्लेषण को समझने मे कठिनाई महसूस करने वाले विद्यार्थी कृपया परिशिष्ट B के बॉक्स चित्र व साधन-कीमत समानीकरण प्रमेय के प्रमाणीकरण के लिए प्रयुक्त चित्र 5-1 का पूर्व अध्ययन करें।

तुलना मे A राष्ट्र x_1 तथा x_2 दोनों ही वस्तुएँ नीचे पूँजी/श्रम अनुपात की सहायता से उत्पादित कर रहा है। चित्र मे विस्तार पथ ox_2–H की तुलना मे ox_2-G कम ढालू है इसी प्रकार ox_1-D की तुलना मे ox_1-E कम ढालू है, अत ox_1 तथा ox_2 दोनों ही वस्तुओ के उत्पादन म M की तुलना म N बिन्दु पर नीचा पूँजी/श्रम अनुपात प्रयुक्त किया जा रहा है।

हमारी रेखीय उत्पादन-फलन की मान्यता के आधार पर सीमान्त उत्पत्ति ह्रास नियम के कार्यान्वित होने के कारण हम यह कह सकते हैं कि N बिन्दु की तुलना मे M बि दु पर श्रम/पूँजी की सीमान्त भौतिक उत्पादकता का अनुपात अधिक है, अर्थात

$$\left(\frac{MPP_L}{MPP_K}\right)_M > \left(\frac{MPP_L}{MPP_K}\right)_N$$

चूँकि पूण प्रतियोगिता मे साधनो की सीमान्त उत्पादकता का अनुपात साधन कीमत अनुपात के बराबर होता है, अत हम लिख सकते हैं कि—

$$\left(\frac{P_L}{P_K}\right)_M > \left(\frac{P_L}{P}\right)_N$$

चित्र 5-5 मे M बिन्दु से गुजरने वाली साधन-कीमत अनुपात रेखा K_{P_A}-L_{P_A}, का N बिन्दु से गुजरने वाली साधन कीमत रेखा $K_{P'_A}$-L_{P_A} से अधिक ढालू होना भी दर्शाता है कि व्यापार के परिणामस्वरूप राष्ट्र के बाहुल्य वाले साधन पूँजी के सापेक्ष प्रतिफल मे वृद्धि हुई है तथा दुर्लभ साधन की सापेक्ष मजदूरी गिरी है।

चूँकि चित्र 5 5 मे M तथा N दोनों ही बिन्दुओ पर दोनों साधनों के पूर्ण रोजगार की स्थिति है, अत हम कह सकते है कि राष्ट्रीय आय मे श्रम साधन के अश मे वृद्धि हुई है। इसी प्रकार यह भी स्पष्ट है कि व्यापार बन्द कर देने पर (जैसा कि निषेधात्मक प्रशुल्क द्वारा सम्भव है) अर्थात् N से व्यापारपूर्व बिन्दु M पर चलन करने से दोनों ही वस्तुओ के उत्पादन मे ऊँचा पूँजी/श्रम अनुपात प्रयुक्त किया जायेगा। अत पूँजी की सीमान्त उत्पादकता व ब्याज दर घटेगी तथा श्रम की सीमान्त उत्पादकता व मजदूरी दर बढेगी। अत प्रशुल्क के परिणामस्वरूप राष्ट्र के बाहुल्य वाले साधन के प्रतिफल मे कमी होती है व दुर्लभ साधन के प्रतिफल मे वृद्धि।

रेखीय समरूप उत्पादन-फलन का आशय यह है कि साधन प्रतिफलों का योग कुल उत्पादन के ठीक बराबर होगा तथा प्रतियोगिता के परिणामस्वरूप सामान्य लाभ अर्जित किया जायेगा।

माना कि कुल श्रम शक्ति L, पूँजी की मात्रा K, मजदूरी की दर W एवं ब्याज दर r व राष्ट्रीय आय Y है, तो

$$Y = L\ W + K\ r \quad (1)$$

राष्ट्रीय आय में श्रम का अंश $L \times W$ है तथा पूँजी का अंश $K \times r$ है। मान लीजिए कि समीकरण (1) N बिन्दु पर स्वतंत्र व्यापार की स्थिति दर्शाती है तथा निम्न समीकरण (2) M बिन्दु पर निषेधात्मक प्रशुल्क के कारण व्यापार की अनुपस्थिति दर्शाती है, तो

$$Y_1 = L\ W_1 + K\ r_1 \quad (2)$$

यहाँ, Y_1 प्रशुल्क की स्थिति में राष्ट्रीय आय है, W_1 नई मजदूरी की दर व r_1 नयी ब्याज की दर है।

हम जानते ही हैं कि प्रशुल्क के कारण M बिन्दु पर $W_1 > W$ तथा $r_1 < r$ जिसका अभिप्राय यह है कि $L\ W_1 > L\ W$ तथा $K\ r_1 < K\ r$ अर्थात राष्ट्रीय आय में श्रम का अंश अधिक व पूँजी का अंश कम हो गया है।

क्या यह सम्भव है कि प्रशुल्क के कारण राष्ट्रीय आय Y_1, Y की तुलना में कम हो, अत मजदूरी की दरें बढ़ जायें लेकिन श्रमिकों को कम राष्ट्रीय आय का अधिक अंश मिले जिससे उन्हें निरपेक्ष हानि हो ? ऐसा सम्भव नहीं है। यह तो सम्भव है कि प्रशुल्क के कारण राष्ट्रीय आय कम हो जाये लेकिन हमारे उदाहरण के दुर्लभ साधन (श्रम) के सापेक्ष व निरपेक्ष प्रतिफल दोनों में ही वृद्धि होगी। ऐसा इसलिए सम्भव होगा कि प्रशुल्क लगाने से साधनों के पुनरावंटन के परिणामस्वरूप दोनों ही वस्तुओं का उत्पादन अधिक पूँजी-गहन बन जायेगा तथा श्रम की सीमान्त उत्पादकता दोनों ही वस्तुओं में बढ़ जायेगी। अत श्रम का प्रतिफल किसी भी वस्तु के रूप में मापें, मजदूरी की दरें ऊँची पायी जावेगी तथा पूर्ण रोजगार के कारण राष्ट्रीय आय में श्रमिकों का वास्तविक अंश अधिक होगा।

अत स्पष्ट है कि स्टॉल्पर-सेम्युअलसन प्रमेय प्रशुल्क के राष्ट्रीय आय के वितरण पर पड़ने वाले प्रभावों में महत्त्वपूर्ण अन्तर्दृष्टि प्रदान करती है। यह सम्भव है कि अमेरिका जैसे पूँजी प्रधान राष्ट्र में सगठित श्रमिक राष्ट्रीय आय में अपना अंश बढ़ाने हेतु आयातों पर प्रशुल्क बढ़ाने के लिए वकालत करें। लेकिन स्टॉल्पर-सेम्युअलसन प्रमेय भी हेक्शचर ओलीन मॉडल वाली समस्त मान्यताओं पर आधारित है एवं इनमें से बहुत सी मान्यताएँ वास्तविक जगत में प्राप्त नहीं होती है—विशेषकर पूर्ण प्रतियोगिता की व सदैव ही पूर्ण रोजगार की मान्यताएँ वास्तविक जगत में प्राप्त नहीं होती हैं। अतः इस प्रमेय का व्यवहार म क्रियाशील होना अस्पष्ट सा प्रतीत होता है।

परिशिष्ट—D
(Appendix—D)

रेखीय समरूप उत्पादन फलन

(Linearly Homogenous Production Function)

साधन-कीमत-समानीकरण प्रमेय के सत्यापन मे हमने स्थान-स्थान पर रेखीय समरूप उत्पादन फलन की विशेषताओं का उपयोग किया है। अत इस परिशिष्ट म रेखीय उत्पादन फलन की प्रमुख विशेषताओं का विश्लेषण प्रस्तुत करना उचित होगा।

किसी भी उत्पादन फलन को r श्रेणी का समरूप उस स्थिति मे कहते हैं जब इसके प्रत्येक स्वतत्र चर (independent variable) को λ से गुणा करने पर फलन का मूल्य भी λ^r से बढ जाए। इस तथ्य को निम्न उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया गया है —

माना कि उत्पादन फलन निम्न रूप मे है :—

$$X = f(K, L) \qquad (1)$$

अब यदि हम पूँजी व श्रम साधनों को λ गुणा बढादें तो x वस्तु का उत्पादन भी λ गुणा बढ जायेगा, जैसा कि निम्न समीकरण से स्पष्ट है —

$$\lambda x = f(\lambda K, \lambda L) \qquad \text{यहाँ } \lambda > 0 \text{ है}$$

यहाँ उत्पादन λ^1 से बढा है अत यह प्रथम श्रेणी का समरूप (homogenous of degree one) उत्पादन फलन है अर्थात् पैमाने के स्थिर प्रतिफलों का नियम क्रियाशील हो रहा है।

रेखीय समरूप उत्पादन फलन की एक अन्य विशेषता यह है कि श्रम तथा पूँजी साधनों की औसत उत्पत्ति को उपर्युक्त उत्पादन फलन मे पूँजी/श्रम अनुपात $K^* \left(= \frac{K}{L}\right)$ के रूप मे व्यक्त किया जा सकता है। यदि हम समीकरण (1) के प्रत्यक स्वतत्र चर को $K \left(= \frac{1}{L}\right)$ से गुणा करते है तो, रेखीय समरूपता के कारण उत्पादन भी x से बढकर $Kx \left(= \frac{X}{L}\right)$ हो जाता है तथा समीकरण (1) का दायाँ भाग परिवर्तित होकर

$$f\left(\frac{K}{L}, \frac{L}{L}\right) = f\left(\frac{K}{L}, 1\right) = f(K^*, 1)$$

हो जायेगा। चूंकि मूल फलन मे जहाँ कही भी K व L चर आयेंगे उन्हें क्रमश K^* तथा 1 द्वारा प्रतिस्थापित कर दिया जायेगा अत उत्पादन फलन का दायाँ भाग मात्र पूंजी / श्रम अनुपात (K^*) का फलन बन जाता है। माना कि यह फलन $\phi(K^*)$ है तो समीकरण के दोनों पक्षों को समान करने पर हम लिख सकते हैं कि

$$AP_L = \frac{X}{L} = \phi K^* \qquad (2)$$

AP_K को भी निम्न रूप मे व्यक्त किया जा सकता है

$$AP_K = \frac{X}{K} = \frac{X}{L} \cdot \frac{L}{K} = \frac{\phi(K^*)}{K^*} \qquad (3)$$

दोनो साधनो की औसत उत्पत्ति K^* अर्थात् पूंजी / श्रम अनुपात का फलन होने के कारण रेखीय समरूपता का यह आशय है कि जब तक उत्पादन मे पूंजी/श्रम अनुपात स्थिर बना रहेगा तब तक साधनो की औसत उत्पत्ति भी स्थिर रहेगी। अत जब उत्पादन फलन प्रथम श्रेणी का समरूप होता है तो श्रम तथा पूंजी की औसत उत्पत्ति पूंजी तथा श्रम चरों मे शून्य श्रेणी की समरूप (homogeneous of degree Zero) होती है क्योंकि पूंजी व श्रम मे समान अनुपात मे वृद्धि करने से (अर्थात K^* स्थिर रखने से) साधनो की औसत उत्पत्ति अपरिवर्तित रहेगी।

इसी प्रकार श्रम तथा पूंजी की सीमान्त उत्पत्ति भी केवल मात्र K/L अनुपात अर्थात् K^* पर ही निर्भर रहती है अर्थात् साधन सीमान्त उत्पत्ति को भी मात्र K^* के फलन के रूप मे व्यक्त किया जा सकता है।

सीमान्त उत्पत्ति प्राप्त करने हेतु हम कुल उत्पादन को समीकरण (2) से निम्न रूप मे व्यक्त कर सकते हैं :

$$X = L\,\phi(K^*) \qquad (4)$$

अब हम X का K तथा L के प्रति अवकलन (differentiation) करेंगे। इस उद्देश्य हेतु निम्न दो परिणाम उपयोगी सिद्ध होंगे :—

$$\frac{\partial K^*}{\partial K} = \frac{\partial}{\partial K}\left(\frac{K}{L}\right) = \frac{1}{L} \qquad (5)$$

तथा

$$\frac{\partial K^*}{\partial L} - \frac{\partial}{\partial L}\left(\frac{K}{L}\right) = \frac{-K}{L^2} \qquad (b)$$

अब हम अवकलन के परिणामों को निम्न रूप में व्यक्त कर सकते हैं —

$$MP_K = \frac{\partial x}{\partial k} = \frac{\partial}{\partial k}\left[L\,\phi(K^*)\right] \qquad (5)$$

$$= L\,\frac{\partial\phi(K^*)}{\partial k} = L\,\frac{d\phi(K^*)}{d(K^*)}\,\frac{\partial K^*}{\partial K}$$

$$= L\,\phi'(K^*)\left(\frac{1}{L}\right) = \phi'(K^*)$$

(ऊपर के a परिणाम से)

$$MP_L = \frac{\partial x}{\partial L} - \frac{\partial}{\partial L}\left[L\phi(K^*)\right] \qquad (6)$$

$$= \phi(K^*) + L\,\frac{\partial\phi(K^*)}{\partial L}$$

$$= \phi(K^*) + L\phi'(K^*)\,\frac{\partial K^*}{\partial L}$$

$$= \phi(K^*) + L\phi'(K^*)\,\frac{-K}{L^2}$$

(ऊपर के परिणाम b द्वारा)

$$= \phi(K^*) - K^*\phi'(K^*)$$

अर्थात् स्पष्ट है कि MP_K तथा MP_L पूँजी/श्रम अनुपात K^* का फलन है। अत समान पूँजी/श्रम अनुपात प्रयुक्त करने पर साधनों की सीमान्त उत्पादकता का अनुपात भी समान होगा।

यूलर की प्रमेय (Euler s Theorem)

$$K\frac{\partial x}{\partial k} + L\frac{\partial x}{\partial L} = X$$

अर्थात् प्रत्येक साधन को उसकी सीमान्त उत्पत्ति से गुणा करके गुणनफलों का योग करने पर यह कुल उत्पादन के ठीक बराबर होगा।

यूलर की प्रमेय का स्पष्ट सत्यापन निम्न प्रकार से किया जा सकता है

$$K \frac{\partial x}{\partial k} + L \frac{\partial x}{\partial L} = K\phi'(K^*) + L[\phi(K^*) - K^*\phi'(K^*)]$$

(समीकरण 5 व 6 के परिणाम से)

$$= K\phi'(K^*) + L\phi(K^*) - K\phi'(K^*) \qquad [K^* = (K/L)]$$

$$= L\phi(K^*) = x$$

6

व्यापार की शर्तें
(Terms of Trade)

व्यापार की शर्तों की अवधारणा
(Concept of the Terms of Trade)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के प्रतिष्ठित सिद्धान्त तथा आधुनिक सिद्धान्त मे हमने व्यापार की शर्तों की अवधारणा का उपयोग किया था। रिकार्डो के मॉडल मे व्यापार की शर्तों की सीमाओ से अभिप्राय उन तुलनात्मक लागत अनुपातो से था जिनके मध्य अन्तर्राष्ट्रीय कीमत अनुपात निर्धारित होता है। रिकार्डो ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे यथार्थ (exact) व्यापार की शर्तों को निर्धारित करने का प्रयास नही किया था। व्यापार की शर्तों के निर्धारण के प्रश्न का जे० एस० मिल ने विस्तार से विवेचन किया है।

आयातो व निर्यातो की कीमतो का सम्बन्ध ही व्यापार की शर्तें हैं। व्यापार की शर्तों की अनेक अवधारणाओ मे अन्तर किया जा सकता है—उदाहरणार्थ सकल वस्तु विनिमय व्यापार की शर्तें, शुद्ध वस्तु विनिमय व्यापार की शर्तें, आय व्यापार की शर्तें, वास्तविक लागत व्यापार की शर्तें, तथा उपयोगिता व्यापार की शर्तें। प्रो० मीयर[1] (Meier) ने व्यापार की शर्तों की उपर्युक्त विभिन्न अवधारणाओ को तीन समूहो मे समाविष्ट किया है, जो निम्न प्रकार हैं —

(1) वे व्यापार की शर्तें जिनका सम्बन्ध वस्तुओ के मध्य विनिमय से है —इस श्रेणी मे व्यापार की शर्तों की तीन अवधारणाएँ सम्मिलित की जाती हैं—

(a) सकल वस्तु विनिमय व्यापार की शर्तें
(Gross barter terms of trade)

---

1 Meier, G M —International Trade and Development (Harper & Row, New York rev ed 1967) p 41

(b) शुद्ध वस्तु विनिमय व्यापार की शर्तें
(Net barter terms of trade)

(c) आय व्यापार की शर्तें
(Income terms of trade)

(2) वे व्यापार की शर्तें जिनका सम्बन्ध उत्पादन कारको के अदल-बदल से होता है : इस समूह मे व्यापार की शर्तों की दो अवधारणाएँ शामिल की जाती है—

(a) एक-कारकीय व्यापार की शर्तें
(Single-factoral terms of trade) तथा

(b) द्वि-कारकीय व्यापार की शर्तें
(Double-factoral terms of trade)

(3) वे व्यापार की शर्तें जो व्यापार से प्राप्त लब्धियो (gains) का निर्वचन (interpretation) उपयोगिता विश्लेषण के रूप मे करती हैं —

इस समूह मे भी दो व्यापार की शर्तों की अवधारणाओ का समावेश किया जाता है—

(a) वास्तविक लागत व्यापार की शर्तें तथा
(Real cost terms of trade)

(b) उपयोगिता व्यापार की शर्तें
(Utility terms of trade)

प्रो० टाउसिग (Toussig) ने वस्तु व्यापार की शर्तों का विश्लेषण करते समय शुद्ध (net) तथा सकल (gross) व्यापार की शर्तों मे भेद किया था। 'वस्तु' अथवा 'शुद्ध' व्यापार की शर्तों (Tc) को निम्न रूप मे व्यक्त किया जा सकता है —

$$Tc = \frac{Px}{Pm}$$

यहाँ Px तथा Pm क्रमश आयात व निर्यात कीमतो के निर्देशाक है।

Tc मे वृद्धि का अभिप्राय यह है कि मात्र कीमत सम्बन्धो के आधार पर *निर्यातो की दी हुई मात्रा के विनिमय मे आयातो की अधिक मात्रा प्राप्त की जा* सकती है।

आयातो व निर्यातो की सापेक्ष कीमतो की तुलना करने हेतु निर्देशाको का उपयोग किया जाता है। सर्वप्रथम किसी आधार वर्ष मे राष्ट्र के निर्यातो को प्रत्येक

वस्तु के कुल व्यापार मे उसके प्रतिशत के आधार पर भार प्रदान करके औसत निर्यात कीमत की गणना करली जाती है। तत्पश्चात् बाद के किसी वर्ष के लिए भी इसी तरह से निर्देशाक प्राप्त कर लिया जाता है। यह बाद के वर्ष का निर्देशाक निर्यात कीमतो मे औसत परिवर्तन को इगित करता है। आयातो के लिए भी ठीक इसी विधि से एक निर्देशाक प्राप्त कर लिया जाता है। तत्पश्चात् निर्यात कीमतो के आयात कीमतो से अनुपात के परिवर्तन की निम्न प्रकार से गणना की जाती है :

$$Tc = \frac{Px_1}{Px^0} \Big/ \frac{Pm_1}{Pm_0}$$

यहाँ x तथा m क्रमश निर्यात व आयात हैं तथा 1 व 0 क्रमशः दिये हुए वर्ष व आधार वर्ष को इगित करते हैं।

उदाहरणार्थ, माना कि राष्ट्र विशेष की व्यापार की शर्तों के लिए हम 1965 को आधार वर्ष लेते हैं, अत उस वर्ष के आयात व निर्यात कीमतो के निर्देशाक 100 हैं। यदि 1975 मे निर्यात वस्तुओ का निर्देशाक 120 व आयात वस्तुओ का निर्देशाक 140 हो जाता है तो व्यापार की शर्तों का परिवर्तन निम्न प्रकार से दर्शाया जा सकता है :—

$$Tc = \frac{120}{100} \Big/ \frac{140}{100} = 0\ 86 \text{ (लगभग)}$$

अर्थात् 0 86 × 100 = 86। इसका अभिप्राय यह है कि इस राष्ट्र की व्यापार की शर्तें 1965 की तुलना मे 1975 मे 14% प्रतिकूल हो गयी हैं। इस परिवर्तन को दो तरह से निर्वचित किया जा सकता है। या तो हम यह कह सकते हैं कि इस राष्ट्र को दी हुई निर्यातो की मात्रा के विनिमय मे 14% कम आयात प्राप्त हो रहे हैं अथवा दी हुई आयातो की मात्रा प्राप्त करने हेतु इस राष्ट्र को 16% अधिक निर्यात देने होगे। अत: स्पष्ट है कि आयातो की कीमत स्थिर रहने पर एव निर्यातो की कीमत मे वृद्धि हो जाने पर अथवा निर्यातो की कीमत स्थिर रहने पर एव आयातो की कीमत घट जाने पर व्यापार की शर्तें राष्ट्र के अनुकूल हो जायेंगी।

टाउसिग के अनुसार विशुद्ध व्यापार की शर्तों की अवधारणा तभी सम्बद्ध (relevant) हैं जबकि दो राष्ट्रों के मध्य व्यापार में केवल आयात-निर्यात ही शामिल हों।

यदि भुगतान सतुलन मे एक तरफा भुगतान सम्मिलित होने के कारण निर्यातों

अथवा आयातों के मौद्रिक मूल्य में आधिक्य (excess) है तो सम्बद्ध अवधारणा सकल व्यापार की शर्तों (Tg) की है। सकल वस्तु विनिमय व्यापार की शर्तें राष्ट्र के समस्त निर्यातों की भौतिक मात्रा तथा समस्त आयातों की भौतिक मात्रा के मध्य विनिमय अनुपात को मापती हैं। Tg को निम्न रूप में व्यक्त किया जा सकता है :—

$$Tg = \frac{Qm}{Qx}$$

यहाँ Qm तथा Qx क्रमश: आयातों व निर्यातों की मात्रा के निर्देशांक हैं। Tg में वृद्धि का अभिप्राय यह है कि व्यापार की शर्तें राष्ट्र के अनुकूल हो गयी हैं अर्थात् आधार वर्ष की तुलना में दिये हुए निर्यातों के विनिमय में राष्ट्र को अधिक आयातों की मात्रा प्राप्त हो रही है।

यदि आयातों का कुल मूल्य निर्यातों के कुल मूल्य के ठीक बराबर हो अर्थात् *Px Qx = Pm Qm तो Tc तथा Tg समान होंगी, जैसा कि निम्न प्रकार से स्पष्ट है :—*

$$Px\,Qx = Pm.Qm$$

दोनों तरफ Pm.Qx का भाग देने पर $\frac{Px}{Pm} = \frac{Qm}{Qx}$ अर्थात् व्यापार सन्तुलन में साम्य की अवस्था में शुद्ध वस्तु विनिमय व्यापार की शर्तें सकल वस्तु विनिमय व्यापार की शर्तों के बराबर होंगी।

बहुत सी बार विकासशील व अर्द्धविकसित राष्ट्रों के लिए निर्यातों की मात्रा के परिवर्तन महत्त्वपूर्ण होते हैं अत: विशुद्ध व्यापार की शर्तों में व्यापार की मात्रा के परिवर्तन शामिल किये जाते हैं, ऐसा करने हेतु 'आय व्यापार की शर्तों' (Ty) की अवधारणा का उपयोग किया जाता है तथा इसे निम्न रूप में व्यक्त किया जाता है :—

$$Ty = Tc \left(\frac{Qx_1}{Qx_0}\right)$$

हमारे पूर्व के उदाहरण में व्यापार की मात्रा के परिवर्तन सम्मिलित करके आय व्यापार की शर्तों को व्यक्त किया जा सकता है। माना कि सन् 1965 से 1975 के मध्य Qx, 100 से बढ़कर 120 हो गया है तो राष्ट्र की आय व्यापार की शर्तें इस प्रकार होंगी :—

$$Ty = (120/140)\ 120 = (0\ 857)\ (120) = 102\ 84$$

जिसका अभिप्राय यह है कि सन् 1965 से 1975 की अवधि मे विचारार्थ राष्ट्र की 'आयात करने की क्षमता' (capacity to import) 2 84 बढ गयी है। यद्यपि इस राष्ट्र की शुद्ध वस्तु विनिमय व्यापार की शर्तें इसी अवधि में 14% प्रतिकूल हो गयी थी। आय व्यापार की शर्तों की अवधारणा अर्द्धविकसित राष्ट्रो के लिए विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण हैं क्योकि इन राष्ट्रो को आर्थिक विकास के लिए पूँजीगत वस्तुओ के आयातो पर निर्भर रहना पडता है।

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि विशुद्ध व्यापार की शर्तों के प्रतिकूल होने का अभिप्राय यह है कि आधार वर्ष की तुलना मे दिये हुए वर्ष मे दी हुई निर्यातो की मात्रा के विनिमय मे कम आयात प्राप्त हो सकेंगे। लेकिन कारको की उत्पादकता मे परिवर्तनो से निर्यात वस्तु के उत्पादन की कुशलता मे वृद्धि होना सम्भव है। उत्पादकता के इन परिवतनो का समावेश करने हेतु 'एक कारकीय व्यापार की शर्तों (Tf) की अवधारणा का उपयोग किया जाता है। Tf को निम्न रूप से व्यक्त किया जाता है —

$$Tf = Tc\left(\frac{Fx_0}{Fx_1}\right)$$

यहाँ $\left(\frac{Fx_0}{Fx^1}\right)$ लागत मे परिवर्तनो के सूचक (index) का व्युत्क्रम (reciprocal) है जिसे निर्यातो मे प्रति इकाई कारको की प्रयुक्त मात्रा के रूप मे व्यक्त किया गया है। अत, *Tf निर्यातो के उत्पादन मे प्रति इकाई कारको की प्रयुक्त* मात्रा से प्राप्त आयातो की भौतिक मात्रा का सूचक है। इस सूचक को प्रो० वाइनर[2] (Viner) ने 'एक-कारकीय व्यापार की शर्तों का सूचक' कहा है। वाइनर के अनुसार 'यदि निर्यात वस्तुओ के औसत तकनीकी गुणाको के रूप मे उत्पादन लागत के सूचक का निर्माण करना सभव हो तथा वस्तु-व्यापार की शर्तों के सूचक को निर्यात वस्तु के तकनीकी गुणाको के व्युत्क्रम सूचक से गुणा कर दिया जाय तो जो सूचक प्राप्त होगा वह स्वय वस्तु व्यापार की शर्तों की तुलना मे व्यापार से लब्धियो की प्रवृत्ति का उत्तम पथ प्रदर्शक होगा।'[3]

---

2 Viner, J.—Studies in the Theory of International Trade (New York Harper & Bros, publishers, 1937) p 559

3 Viner, J —Ibid p 559

यदि वस्तु व्यापार की शर्तों (Tc) में आयात व निर्यात दोनों क्षेत्रों की उत्पादकता में होने वाले परिवर्तन शामिल किये जायें तो 'द्वि-कारकीय व्यापार की शर्तों' (Tff) के निर्देशाक को प्रयुक्त किया जाता है। द्वि-कारकीय व्यापार की शर्तों को निम्न रूप में व्यक्त किया जाता है—

$$Tff = Tc \left(\frac{Fm_1/Fmo}{Fx_1/Fxo}\right)$$

यहाँ (Fm₁/Fmo) आयातो की प्रति इकाई में प्रयुक्त कारको की मात्रा के रूप में लागत में परिवर्तनों का सूचक है। Tff दर्शाता है कि हमारे राष्ट्र के उत्पादक-कारक की एक इकाई के उत्पादन के विनिमय में विदेशी राष्ट्र के कितने उत्पादक-कारको का उत्पादन प्राप्त होगा। यदि उत्पादन में स्थिर लागतो की स्थिति विद्यमान है तो द्वि-कारकीय व वस्तु-विनिमय व्यापार की शर्तों में परिवर्तन की प्रवृत्ति एक जैसी होगी।

प्रो० वाइनर के अनुसार व्यापार से प्राप्त लब्धियो के सूचक का और अधिक सही माप करने हेतु एक-कारकीय व्यापार की शर्तों के निर्देशाक को निर्यात वस्तुओ के उत्पादन में प्रयुक्त तकनीकी गुणाको के 'अनुपयोगिता गुणाक' के व्युत्क्रम (reciprocal) के सूचक से गुणा करके 'वास्तविक लागत व्यापार की शर्तों का सूचक' (Tc, f, r) प्राप्त किया जा सकता है। वास्तविक लागत व्यापार की शर्तों के सूचक को निम्न रूप म व्यक्त किया सकता है —

$$Tc, f, r = Tc \left(\frac{Fx_0}{Fx_1}\right) \left(\frac{Rx_0}{Rx_1}\right)$$

यहाँ $\left(\frac{Rx_0}{Rx_1}\right)$ तकनीकी गुणाको की प्रति इकाई अनुपयोगिता की मात्रा का सूचक है तथा Tc, f, r प्रति इकाई वास्तविक लागत से प्राप्त विदेशी वस्तुओ की भौतिक मात्रा का सूचक है।

लेकिन व्यापार से प्राप्त लब्धियाँ केवल इस तथ्य पर निर्भर नहीं करती कि निर्यात वस्तुओ के उत्पादन में लगी प्रति इकाई वास्तविक लागत में विदेशी वस्तुओ की

व्यापार की शर्तों की उपर्युक्त अवधारणाओं में से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण Tc, Ty तथा Tf हैं, Tff अर्थात् द्वि-कारक व्यापार की शर्तें इतनी अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। विकासशील राष्ट्रों के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण व्यापार की शर्तों की अवधारणा 'आय व्यापार की शर्तें' (Ty) है। लेकिन व्यापार की शर्तों की विभिन्न अवधारणाओं में से वस्तु व्यापार की शर्तों अथवा विशुद्ध व्यापार की शर्तों (Tc को मापना सर्वाधिक आसान है, अत अधिकाश समय हम Tc का ही उपयोग करते हैं। Tc का इतना अधिक उपयोग होने के कारण इन्हें 'व्यापार की शर्तें' कहकर भी सम्बोधित किया जाता है।

व्यापार की शर्तों के निर्धारक घटक

(Factors Determining Terms of Trade)

व्यापार की शर्तों को प्रभावित करने वाले घटकों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है —

(1) अल्पकालीन, व (2) दीर्घकालीन।

अल्पकाल में व्यापार की शर्तें व्यापारिक नीति विनिमय दर, एकपक्षीय हस्तान्तरण भुगतान अथवा चक्रीय उच्चावचनों में परिवर्तनों के द्वारा परिवर्तित हो सकती हैं।

दीर्घकाल में व्यापार की शर्तों में परिवर्तनों के निर्धारक कारकों को उत्पादन व उपभोग में होने वाले संरचनात्मक (structural) परिवर्तनों से जोड़ा जाता है। इन घटकों का विस्तृत विवरण आगे दिया जा रहा है —

व्यापारिक नीति में परिवर्तन

(Changes in Commercial policy)

राष्ट्र प्रशुल्क लगाकर व्यापार की शर्तों को अपने पक्ष में परिवर्तित करने में सफल हो सकता है। लेकिन प्रशुल्क द्वारा व्यापार की शर्तें प्रशुल्क लगाने वाले राष्ट्र के अनुकूल तभी होंगी जब निम्न दो शर्तें पूरी हों :—

प्रथम तो यह है कि सामने वाले राष्ट्र का अर्पण-वक्र मूल बिन्दु से सरल रेखा (straight line) न हो अर्थात् सामने वाले राष्ट्र का अर्पण वक्र अनन्त लोच वाला न हो।

दूसरा यह कि सामने वाला राष्ट्र प्रतिशोध के रूप में प्रशुल्क नहीं लगाये।

प्रशुल्क का व्यापार की शर्तों पर प्रभाव अर्पण-वक्र चित्र 6.1 द्वारा दर्शाया गया है। चित्र 6.1 में OA तथा OB क्रमश A तथा B राष्ट्रों के अर्पण-वक्र हैं। यदि B-राष्ट्र आयात प्रशुल्क लगाता है तो इस राष्ट्र का अर्पण-वक्र OB से विवर्त हो कर OB_1 हो जायेगा। इसका अभिप्राय यह है कि B राष्ट्र पूर्व की तुलना में आयातों
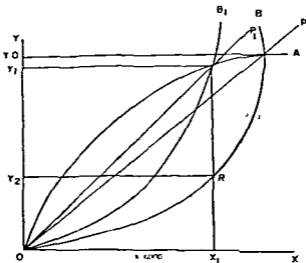
चित्र 6.1 : प्रशुल्क से व्यापार की शर्तों मे सुधार

की प्रत्येक मात्रा के बदले कम निर्यात अर्पण करने को तत्पर है। प्रशुल्क के परिणाम स्वरूप y वस्तु के आयातों का स्तर o-yo से घटकर $o\text{-}y_1$ हो जाता है। प्रशुल्क से पूर्व साम्य व्यापार की शर्तें op रेखा के ढाल द्वारा दर्शायी गयी थी। प्रशुल्क लगाने के बाद साम्यावस्था मे व्यापार की शर्तों को दर्शाने वाली रेखा op_1 है। op रेखा की तुलना मे op_1 रेखा का ढाल अधिक है (ध्यान रहे यह ढाल $\left(\frac{Px}{Py}\right)$ अनुपात है)। अत op_1 रेखा op की तुलना में B-राष्ट्र की निर्यात वस्तु x की ऊँची कीमत दर्शाती है। स्पष्ट है कि प्रशुल्क लगाने मे व्यापार की शर्तें B-राष्ट्र के पक्ष मे परिवर्तित हो गयी हैं। चित्र 6.1 मे प्रशुल्क लगाने से पूर्व B-राष्ट्र ox_1 निर्यातों के बदले y वस्तु की oy_2 *मात्रा प्राप्त करने को तत्पर था जबकि प्रशुल्क लगाने के पश्चात्* ox_1 *निर्यातों* के बदले यह राष्ट्र oy_1 आयातों की मात्रा प्राप्त कर रहा है जिसमें से $y_1\text{-}y_2$ आयात B-राष्ट्र की सरकार के पास प्रशुल्क के रूप मे चला जाता है।

के निर्यातों की कीमतें अधिक नहीं गिरें तथा वे A-राष्ट्र की मुद्रा के रूप में लगभग अव-मूल्यन के प्रतिशत से ही बढ़ जायेंगी। exA कम होना इसलिए आवश्यक है कि A-राष्ट्र के निर्यातों की कीमत A की मुद्रा में अवमूल्यन की प्रतिशत में बढ़ जायेंगी। इन शर्तों

के परिणामस्वरूप $\frac{exB}{exA}$ अनुपात ऊँचा बना रहेगा। exA अधिक होना इसलिए

आवश्यक है कि A के आयातों में काफी कमी होगी। अतः B राष्ट्र की मुद्रा के रूप में A के आयातों की कीमत गिरेगी। exB कम होना इसलिए आवश्यक है कि ज्यों ही A-राष्ट्र में B के निर्यातों की माँग घटेगी, B राष्ट्र के निर्यातों की कीमत भी घट

जायेगी। इन शर्तों के परिणामस्वरूप $\frac{e_xB}{exA}$ अनुपात कम बना रहेगा।

स्पष्ट ही है कि यदि दोनों राष्ट्रों में पूर्ति लोचें अनन्त हैं तो exA. exB < exA exB तथा अवमूल्यन के परिणामस्वरूप व्यापार की शर्तें अवमूल्यनकर्ता राष्ट्र A के प्रतिकूल हो जायेंगी। वास्तव में इन परिस्थितियों में व्यापार की शर्तें अवमूल्यन के प्रतिशत के बराबर प्रतिकूल हो जायेंगी।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि अवमूल्यन के परिणामस्वरूप यदि व्यापार सन्तुलन प्रतिकूल हो जाता है तो व्यापार की शर्तें भी अवमूल्यनकर्ता राष्ट्र के प्रति-कूल हो जायेंगी।

सैद्धान्तिक विश्लेषण में भी अर्थशास्त्री अवमूल्यन के व्यापार की शर्तों पर प्रभाव के बारे में एकमत नहीं हैं। फ्रैंक डी० ग्राहम (Frank D. Graham) जैसे कट्टर प्रतिष्ठित (ultra-class cist) अर्थशास्त्री मानते हैं कि अवमूल्यन के परिणामस्वरूप व्यापार की शर्तें अपरिवर्तित रहेंगी क्योंकि राष्ट्र विशेष अवमूल्यन द्वारा विश्व-बाजार कीमतों में परिवर्तन नहीं ला सकता है। राष्ट्र विशेष के लिए विश्व-बाजार की कीमतें दी हुई व अपरिवर्तित रहती हैं। ऐसी स्थिति में अवमूल्यन के परिणामस्वरूप अवमूल्यनकर्ता राष्ट्र की मुद्रा के रूप में आयातों व निर्यातों की कीमतें अवमूल्यन की प्रतिशत से बढ़ जाती हैं। लेकिन चूँकि एक सामान्य राष्ट्र के निर्यातों की माँग लोच व आयातों की पूर्ति लोच अनन्त होती है अतः व्यापार की शर्तें अपरिवर्तित रहेंगी।

कट्टर-प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के विपरीत प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों का मानना है कि अवमूल्यन में व्यापार की शर्तें प्रतिकूल हो जाती हैं तथा अधिमूल्यन से अनुकूल क्योंकि राष्ट्र विशेष का विशिष्टीकरण निर्यात वस्तुओं में होता है न कि आयात

से कम रोजगार की मान्यता मान ली जाए तो एक पक्षीय भुगतानो का व्यापार की शर्तों पर प्रतिकूल प्रभाव पडना आवश्यक नही है।

४. चक्रीय उच्चावचन

(Cyclical fluctuations)

आर्थिक मन्दी व तेजी के कारण भी व्यापार की शर्तें प्रभावित होती हैं। यदि आयातकर्त्ता राष्ट्रो मे मुद्रा स्फीति की अपेक्षाकृत ऊँची दर है तो आयातो की माँग मे वृद्धि के परिणामस्वरूप व्यापार की शर्तें निर्यातकर्त्ता राष्ट्र के पक्ष मे परिवर्तित हो सकती हैं। इसके विपरीत यदि आयातकर्त्ता राष्ट्रो मे मन्दी की स्थिति है तो माँग घटने के कारण व्यापार की शर्तें निर्यातकर्त्ता राष्ट्र के प्रतिकूल हो सकती हैं। लेकिन इस सन्दर्भ मे हमे यह ध्यान रखना होगा कि माँग मे परिवर्तन का व्यापार की शर्तों पर प्रभाव इस बात पर निर्भर करेगा कि माँग मे किस प्रकार का परिवर्तन हुआ है।

५. व्यापार की शर्तें व आर्थिक विकास

(Terms of Trade and Economic Growth)

दीघकाल मे व्यापार की शर्तों को उपभोग व उत्पादन के सरचनात्मक परिवर्तन प्रभावित करते हैं। प्रो० भगवती[8] (Bhagwati) ने इगित किया है कि जिन अर्थशास्त्रियो ने (उदाहरणार्थ, एच जी. जॉनसन व डब्ल्यू एम कॉर्डन) आर्थिक विकास के व्यापार की शर्तों पर प्रभाव के अध्ययन का प्रयत्न किया है, वे व्यापार की शर्तों मे परिवर्तन की दिशा को विस्थापित करने मे ही सफल हुए हैं न कि परिवर्तन की सीमा को। अत प्रो० भगवती ने सन् 1958 मे अपने लेख 'अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार व आर्थिक विस्तार' मे इस कमी को पूरा करने का प्रयास किया है।

आर्थिक विकास के व्यापार की शर्तों पर प्रभाव को निम्न चित्र 6 4 की सहायता से स्पष्ट किया जा सकता है।

चित्र 6 4 मे साधन पूर्ति मे वृद्धि के परिणामस्वरूप उत्पादन पर पडने वाले पाँच प्रकार के प्रभाव स्पष्ट किये गये हैं। माना कि चित्र 6 4 मे प्रारम्भिक व्यापार की शर्तों की रेखा MN है। अत P बिन्दु साम्य उत्पादन बिन्दु है। आर्थिक विकास के उत्पादन पर प्रभाव स्पष्ट करने हेतु हम यह जानना चाहेंगे कि प्रारम्भिक वस्तु कीमत-अनुपात पर राष्ट्र के उत्पादन म किस प्रकार का परिवर्तन होगा। अत. M_1N_1

8 Bhagwati, J —International Trade and Economic Expansion—in Bhagwati (ed) —International Trade—P 311
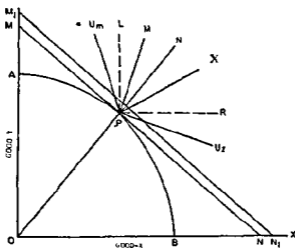
चित्र 6.4 . साधन वृद्धि व भिन्न प्रकार के उत्पादन प्रभाव

रेखा MN रेखा के समानान्तर खींची गयी है। M_1N_1 रेखा प्रारम्भिक वस्तु-कीमत अनुपात लेकिन उत्पादन की वृद्धि को इंगित करती है।

अब यदि उत्पादन की वृद्धि P बिन्दु से PN रेखा वाले पथ पर होती है तो आर्थिक विकास के बावजूद राष्ट्र x तथा y वस्तुएँ उसी अनुपात मे उत्पादित कर रहा है जिस अनुपात मे आर्थिक विकास से पूर्व कर रहा था। अत उत्पादन प्रभाव तटस्थ (neutral) होगा। यदि उत्पादन विस्तार रेखा PN रेखा के दायी ओर बढती है और Px जैसी रेखा पर नया उत्पादन बिन्दु है तो इसका अभिप्राय यह है कि विकास के परिणामस्वरूप उत्पादन मे x वस्तु का अनुपात बढ गया है अर्थात् उत्पादन प्रभाव मे निर्यात अभिनति (Export bias) है। इसी प्रकार यदि उत्पादन विस्तार रेखा PN से बायी ओर ऊपर बढती है और PM जैसी रेखा पर नया उत्पादन बिन्दु विद्यमान है तो उत्पादन मे y वस्तु का अनुपात बढ गया है अर्थात् उत्पादन प्रभाव मे आयात अभिनति (Import bias) है।

लेकिन महत्त्वपूर्ण तथ्य तो यह है कि जब तक नया उत्पादन बिन्दु P मूल बिन्दु वाले L-P-R जैसे समकोण द्वारा निर्धारित सीमाओ के मध्य किसी भी रेखापर है तब तक आर्थिक विकास को निर्यात अभिनति वाले, आयात अभिनति वाले अथवा तटस्थ विकास के रूप मे परिभाषित किया जा सकता है। लेकिन यदि नया उत्पादन बिन्दु

L-P-R समकोण की सीमाओं के बाहर विद्यमान है तो विकास को निर्यात चरम-पक्षपाती (ultra-export biased) अथवा आयात चरम-पक्षपाती (ultra-import biased) के रूप में परिभाषित किया जाता है। चित्र 6.4 में यदि नया उत्पादन-बिन्दु P-uz जैसी ऋणात्मक ढाल वाली रेखा पर विद्यमान है तो विकास निर्यात चरम-पक्ष पाती है। निर्यात चरम-पक्षपाती विकास का अभिप्राय यह है कि आर्थिक विकास के परिणामस्वरूप उत्पादन में न केवल निर्यात वस्तु का अनुपात बढ़ जाता है अपितु आयात वस्तु के घरेलू उत्पादन की मात्रा में निरपेक्ष कमी हो जाती है। इसी प्रकार चित्र 6.4 में नया उत्पादन बिन्दु यदि P-um जैसी ऊपर की दिशा में ऋणात्मक ढाल वाली रेखा पर विद्यमान है तो विकास आयात चरम-पक्षपाती है। आयात चरम पक्षपाती विकास का आशय यह है कि आर्थिक विकास के परिणामस्वरूप उत्पादन में न केवल आयात वस्तु का अनुपात बढ़ जाता है अपितु निर्यात वस्तु के उत्पादन की मात्रा में निरपेक्ष कमी हो जाती है।

विकास का व्यापार की शर्तों पर प्रभाव ज्ञात करने हेतु उपर्युक्त उत्पादन प्रभावों के साथ-साथ हमें उपभोग प्रभावों को ज्ञात करना भी आवश्यक है। तटस्थ उत्पादन प्रभाव व भिन्न प्रकार के उपभोग प्रभावों का व्यापार की शर्तों पर प्रभाव चित्र 6.5 में
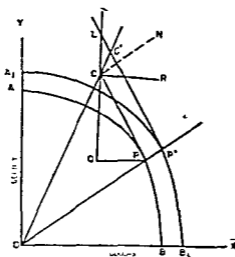
चित्र 6.5 : तटस्थ आर्थिक विकास का व्यापार पर प्रभाव

स्पष्ट किया गया है। चित्र 6.5 में मान लीजिये कि उत्पादन के दोनों साधनों में समान अनुपात में वृद्धि होती है तथा तकनीकी अपरिवर्तित रहती है तो उत्पादन सम्भावना वक्र समस्त दिशाओं में समान रूप से बाहर की ओर अकेला जाकर A-B से A_1-B_1 हो जायेगा। इस तरह के आर्थिक विकास का व्यापार की शर्तों पर प्रभाव ज्ञात करने हेतु हमें सर्वप्रथम यह जानना आवश्यक है कि पुरानी व्यापार की शर्तों पर कुल व्यापार में वृद्धि होगी अथवा कमी। यदि राष्ट्र पुरानी व्यापार की शर्तों पर पूर्व से अधिक व्यापार करने को उद्यत है तो व्यापार की शर्तें इस राष्ट्र के प्रतिकूल हो जायेंगी और यदि पूर्व से कम व्यापार करने को उद्यत है तो अनुकूल तथा साधन वृद्धि से पूर्व जितना ही व्यापार करने को उद्यत है तो व्यापार की शर्तें यथावत बनी रहेंगी।

चित्र 6.5 में QPC त्रिभुज साधन वृद्धि से पूर्व की व्यापार की मात्रा दर्शाता है, P-C व्यापार की शर्तों पर निर्यात-वस्तु की Q-P मात्रा से आयात वस्तु की Q-C मात्रा का विनिमय हो रहा है। उत्पादन में तटस्थ वृद्धि के परिणामस्वरूप नया उत्पादन बिन्दु O-P-P' रेखा पर P' होगा जिसका अभिप्राय यह है कि साधन वृद्धि से पूर्व तथा बाद में x तथा y वस्तु का समान अनुपात में उत्पादन हो रहा है। यह परिणाम हमारी रेखीय समरूप उत्पादन फलन की मान्यता तथा अपरिवर्तित व्यापार की शर्तों (चित्र में P-C रेखा P'-C' रेखा के समानान्तर है) की मान्यता के आधार पर प्राप्त किया गया है।

अब प्रमुख प्रश्न यह है कि आर्थिक विकास के परिणामस्वरूप उपभोग में किस प्रकार का परिवर्तन होता है। उपभोग में परिवर्तनों को स्पष्ट करने हेतु हम C मूल बिन्दुवाला L-C-R समकोण बना लेते हैं। यदि नया उपभोग बिन्दु L-C-R त्रिभुज द्वारा निर्धारित सीमा रेखाओं के बीच कहीं भी विद्यमान है तो हम कह सकते हैं कि यदि x तथा y दोनों वस्तुओं में से कोई भी 'घटिया' वस्तु नहीं है तो आर्थिक विकास के परिणामस्वरूप नया उपभोग बिन्दु L-C-R समकोण द्वारा निर्धारित सीमा रेखा के मध्य ही विद्यमान होगा। यदि x तथा y वस्तु की माँग की आय-लोच इकाई है तो नया उपभोग बिन्दु मूल बिन्दु से खींची गयी O-C-C_1 रेखा पर ही बना रहेगा अर्थात् आय में वृद्धि के बावजूद x तथा y वस्तु की कीमतें यथावत् रहने की अवस्था में इनको पुराने अनुपात में ही उपभोग किया जायेगा। इस तरह के उपभोग प्रभाव को हम तटस्थ (Neutral) उपभोग प्रभाव कहते हैं।

लेकिन यह आवश्यक नहीं है कि आय में वृद्धि के परिणामस्वरूप माँग में तटस्थ (Neutral) वृद्धि ही हो। यदि y वस्तु की माँग की आय लोच इकाई से अधिक है

तथा x वस्तु की आय-लोच इकाई से कम तो नया उपभोग बिन्दु C-C' रेखा से ऊपर L-C C' क्षेत्र मे पाया जायेगा अर्थात् आय मे वृद्धि के कारण पुराने वस्तु कीमत अनुपात पर उपभोग मे y वस्तु का अनुपात बढ जायेगा। इस तरह के उपभोग प्रभाव को प्रो० हेरी जॉनसन (Harry Johnson) ने उपभोग मे व्यापार अन्व-अभिनति (Pro-Trade-biased) वृद्धि का नाम दिया है। इसी प्रकार यदि y वस्तु की माँग की आय-लोच इकाई से कम है तथा x वस्तु की आय-लोच इकाई से अधिक तो आय उपभोग वक्र C-C' रेखा के दायी ओर C'-C-R क्षेत्र मे पाया जायेगा अर्थात पुराने वस्तु कीमत अनुपात पर आय मे वृद्धि हो जाने पर उपभोग में y-वस्तु का अनुपात घट जायेगा।

अब हम उपभोग व उत्पादन प्रभावो का सयुक्त प्रभाव ज्ञात करके आर्थिक विकास का व्यापार की शर्तों पर प्रभाव ज्ञात कर सकते हैं। चित्र 6 5 म यदि नया उपभोग बिन्दु C' है तो स्पष्ट ही है कि आय मे वृद्धि के परिणामस्वरूप पुराने वस्तु कीमत अनुपात पर राष्ट्र पूर्व से अधिक व्यापार करने को उद्यत होगा क्योंकि चित्र 6 5 मे P-C रेखा P-C रेखा के समानान्तर लेकिन P-C रेखा से अधिक लम्बी है। अत विकास के परिणामस्वरूप व्यापार की शर्तें इस राष्ट्र के प्रतिकूल हो जायेंगी तथा इसका अर्पण-वक्र चित्र 6 6 मे दायी ओर विवर्त होकर OB से OB_1 हो जायेगा। अत स्पष्ट है कि यदि सामने वाले राष्ट्र A का अर्पण-वक्र अनन्त लोच वाला नही है
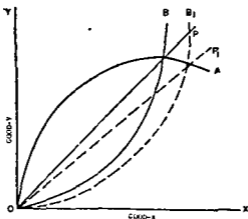
चित्र 6 6 उत्पादन मे तटस्थ वृद्धि तथा समस्थित (Homothetic) माँग का व्यापार की शर्तों पर प्रभाव

तो व्यापार की शर्तें विकास करने वाले राष्ट्र के प्रतिकूल हो जायेंगी जैसा कि चित्र 6 6 में OP_1 रेखा द्वारा दर्शाया गया है।

यद्यपि आय में वृद्धि का तटस्थ प्रभाव होना सम्भव है लेकिन सदैव ही ऐसा नहीं होता है। अतः आय-उपभोग रेखा C-C' ही हो यह आवश्यक नहीं है। यदि आयात-वस्तु y की मांग में अपेक्षाकृत अधिक वृद्धि हो जाती है तो राष्ट्र विकास के पश्चात् और भी अधिक व्यापार करने को उद्यत होगा (चित्र 6 5 में नया उपभोग-बिन्दु C' से ऊपर होगा) तथा व्यापार की शर्तें इस राष्ट्र के और अधिक प्रतिकूल हो जायेंगी। यह भी सम्भव है कि मांग निर्यात वस्तु के कुछ पक्ष में हो जाये लेकिन फिर भी विकास करने वाले राष्ट्र के व्यापार की शर्तें प्रतिकूल हो जाएँ। चित्र 6.5 में यदि नया उपभोग बिन्दु C-N रेखा से ऊपर तथा C-C' रेखा से नीचे विद्यमान है तो मांग निर्यात वस्तु के पक्ष में परिवर्तित होगी लेकिन फिर भी राष्ट्र पुराने कीमत अनुपात पर पूर्व से अधिक व्यापार करने को उद्यत है (चित्र में C'-N के बीच के बिन्दुओं से P' तक खींची गयी रेखाएँ P–C रेखा के समानान्तर लेकिन इससे अधिक लम्बी होगी) अतः व्यापार की शर्तें इस राष्ट्र के प्रतिकूल हो जायेंगी। चित्र 6 5 में नया उपभोग बिन्दु यदि C-N रेखा पर विद्यमान है तो P-C व P-N रेखाएँ समानान्तर व समान लम्बाई की होंगी अतः विकास के बावजूद राष्ट्र पूर्व जितना ही व्यापार करने को उद्यत होगा तथा आर्थिक विकास का व्यापार की शर्तों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।

विकासोन्मुख राष्ट्रों की व्यापार की शर्तें

(Terms of Trade of Developing nations)

उपर्युक्त सैद्धान्तिक विश्लेषण के आधार पर अर्द्ध-विकसित राष्ट्र व्यापार की शर्तें उनके प्रतिकूल होने का प्रमुख कारण यह बताते हैं कि उनका विकास निर्यात चरम-पक्षपाती होता है तथा मांग आयातों के पक्ष में अधिक परिवर्तित हो जाती है।

प्रेबिश[9], (Prebisch) सिंगर[10], (Singer) मिरडल[11] (Myrdal) व

9 Prebish, R —Towards a New Trade Policy for Development (New york, united Nations), 1964

10 Singer, H —The Distribution of Gains between Investing and Borrowing Countries—A E Rev , May, 1950

11 Myrdal, G —Development & Underdevelopment (Cairo · National Bank of Egypt)—1959
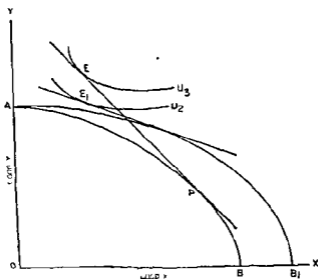
चित्र 6.7 : कल्याण अवकारक विकास
(Immiserizing Growth)

E था जबकि विकास के बाद राष्ट्र E_1 बिन्दु पर U_3 से U_2 समुदाय उदासीन वक्र पर आ जाता है। कल्याण अवकारक विकास के लिए अग्रलिखित आवश्यक शर्तें हैं —

1. स्थिर वस्तु कीमत अनुपात पर राष्ट्र में विकास के परिणामस्वरूप निर्यात वस्तु के उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि हो।

2. राष्ट्र महत्त्वपूर्ण निर्यातकर्त्ता हो ताकि इस राष्ट्र के निर्यातों की पर्याप्त वृद्धि से इसकी व्यापार की शर्तें प्रतिकूल हो जायें।

3. राष्ट्र के निर्यातों की शेष विश्व में माँग की आय लोच बहुत कम हो।

4 राष्ट्र की व्यापार पर भारी निर्भरता हो।

प्रेबिश (Prebisch) एवं सिंगर (Singer) ने अपना यह निष्कर्ष कि व्यापार की शर्तों की विकासशील राष्ट्रों के प्रतिकूल हो जाने की प्रवृत्ति होती है, संयुक्त राष्ट्र संघ के सन् 1944 के एक अध्ययन से प्राप्त किया था जिसमें यह दर्शाया गया था कि ब्रिटेन की व्यापार की शर्तें सन 1870 में 100 से बढ़कर 1938 में 170 हो गयी थी। चूँकि ब्रिटेन निर्मित माल का निर्यात करता था तथा कच्ची सामग्री का आयात एवं विकासशील राष्ट्र कच्ची सामग्री का निर्यात करते थे एवं निर्मित माल का आयात। अतः प्रेबिश व सिंगर ने यह निष्कर्ष निकाला कि विकासशील राष्ट्रों की

व्यापार की शर्तें 100 से घटकर $\left(\frac{100}{170}\right)100 = 59$ हो गयी थी। इस निष्कर्ष की अनेक आधारों पर आलोचनाएँ की गयी, लेकिन हाल ही मे सन् 1980 मे स्प्राओस[14] (Spraos) न प्रेबिश एव सिगर के मूल* निष्कर्षों की अधिकाश आलोचनाओ को आधारहीन सिद्ध करके यह दर्शाया है कि सन् 1870 से सन् 1938 की अवधि मे वस्तु व्यापार की शर्तें विकासशील राष्ट्रो के प्रतिकूल हुई हैं।

व्यापर की शर्तों का महत्त्व
(Importance of Terms of Trade)

व्यापार की शर्तों के परिकलन (computation) से सबधित अनेक कठिनाइयो के बावजूद इनका अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र मे काफी महत्त्व है जो कि निम्न बिन्दुओ से स्पष्ट होता है—

1. महत्त्वपूर्ण व्यापारवर्ती राष्ट्रो की राष्ट्रीय आय का निर्धारक :—व्यापार की शर्तें ऐसे राष्ट्रो के लिए विशेष रूप से महत्वपूर्ण है जिनका विदेशी व्यापार राष्ट्रीय आय का बडा प्रतिशत है। ऐसे राष्ट्रो की व्यापार की शर्तों मे परिवर्तन से उनके भुगतान सन्तुलन व राष्ट्रीय आय पर काफी प्रभाव पडता है।

2. आर्थिक घटको के विशुद्ध (net) प्रभाव का सूचक —अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धो को प्रभावित करने वाले अनेक घटको के विशुद्ध प्रभाव (net effect) को इगित करने का व्यापार की शर्तें एक सुविधाजनक सूचक है। उदाहरणार्थ, व्यापार से प्राप्त लब्धियो, राष्ट्र की आयात-क्षमता आदि का ज्ञान व्यापार की शर्तों मे परिवर्तन की दिशा से प्राप्त करना सभव है।

3. राष्ट्र के कल्याण के स्तर पर प्रभाव :—व्यापार की शर्तें व्यापाररत राष्ट्रो के कल्याण के स्तर मे होने वाले परिवर्तनो को निर्धारित करने वाला महत्त्वपूर्ण घटक भी है। व्यापार के परिणामस्वरूप राष्ट्र के कल्याण के स्तर मे वृद्धि हुई है अथवा नही यह ज्ञात करने हेतु अन्य घटको के साथ व्यापार की शर्तों के परिवर्तनो को ज्ञात करना भी आवश्यक होता है।

4. कारको के प्रतिफलो के वितरण का निर्धारक —व्यापार की शर्तों मे परिवर्तन से उत्पादक कारकों के मध्य आय का वितरण प्रभावित होता है। उदाहरणार्थ, वस्तु व्यापार की शर्तों मे सुधार के परिणामस्वरूप निर्यात उद्योग मे बाहुल्य मे उपयोग मे आने वाले कारक के सापेक्ष प्रतिफल में वृद्धि हो जाती है।

14 Spraos J —The Statistical Debate on the Net Barter Terms of Trade between Primary commodities and Manufactures—Economic Journal, March, 1980

चित्र 7.2 में लम्बवत् अक्ष पर भारत व अमेरिका में X वस्तु की प्रति इकाई कीमत डालर में मापी गयी है। भारतवर्ष में O बिन्दु से दायीं ओर चलन करने पर x-वस्तु की बढ़ती हुई मात्राएँ दर्शायी गयी हैं। भारतवर्ष में x वस्तु के माँग वक्र D_1-D_1 का ऋणात्मक ढाल है तथा S_1S_1 पूर्ति-वक्र का धनात्मक ढाल। अमेरिका के चित्र में O बिन्दु से बायीं ओर चलन करने पर x-वस्तु की बढ़ती हुई मात्राएँ दर्शायी गयी है। D_a-D_a माँग-वक्र x वस्तु की कीमत व माँग में विपरीत सम्बन्ध दर्शाता है। अतः कीमत गिरने के साथ-साथ x वस्तु की माँगी गयी मात्रा में वृद्धि हो रही है। इसी प्रकार O बिन्दु से बायीं ओर चलन करने पर x-वस्तु की बढ़ती हुई मात्रा की ओर ध्यान दें तो S_a-S_a पूर्ति वक्र कीमत व पूर्ति का धनात्मक सम्बन्ध दर्शादिया।

व्यापारपूर्व साम्यावस्था में भारत में E_1 साम्य बिन्दु है जबकि अमेरिका का साम्य बिन्दु E_a है। अतः स्पष्ट है कि अमेरिका में X-वस्तु की व्यापारपूर्व कीमत भारत में व्यापार पूर्व कीमत से कम है। स्पष्ट है कि अमेरिका x-वस्तु का निर्यात करेगा तथा भारत x वस्तु का आयात।

परिवहन लागतों की अनुपस्थिति में व्यापाररत राष्ट्रों की साम्य कीमत OP निर्धारित होगी। OP साम्य कीमत ज्ञात करने की विधि यह है कि दोनों राष्ट्रों के चित्र में एक ऐसी क्षैतिज रेखा खींचीये जो कि अमेरिका की आधिक्य पूर्ति को भारत की आधिक्य माँग के ठीक बराबर प्रदर्शित करे। चित्र 7.2 में अमेरिका की आधिक्य पूर्ति ef भारत की आधिक्य माँग gb के ठीक बराबर है। अमेरिका में घरेलू पूर्ति Pe घरेलू माँग Pf से ef अधिक है। इसी प्रकार भारत में घरेलू पूर्ति Pg घरेलू माँग Ph से कम है। अतः अमेरिका x-वस्तु का निर्यात करेगा तथा भारत आयात।

OP साम्य कीमत यह दर्शाती है कि व्यापार में निर्यातकर्ता राष्ट्र को निर्यात-वस्तु की व्यापारपूर्व कीमत की तुलना में ऊँची कीमत प्राप्त होती है। जबकि आयातकर्ता राष्ट्र को आयतित वस्तु व्यापारपूर्व कीमत से कम कीमत पर उपलब्ध होती है।

हमारे विश्लेषण में अब हम परिवहन लागतें आसानी में शामिल कर सकते हैं। परिवहन लागतों की उपस्थिति में आयातकर्ता राष्ट्र भारत में X-वस्तु की कीमत निर्यातकर्ता राष्ट्र अमेरिका की तुलना में प्रति इकाई परिवहन लागत के बराबर अधिक होगी। चित्र 7.2 में अमेरिका व भारत आधी-आधी परिवहन लागत वहन करते हैं। सामान्यतया भारत के माँग व पूर्ति वक्र अमेरिका के माँग व पूर्ति वक्रों की तुलना में

जितनी अधिक दरें होंगी उतना ही भारत को परिवहन लागतों का अधिक वहन करना होगा।

परिवहन लागतों की उपस्थिति में भारत व अमेरिका के चित्रों में हम दो ऐसी क्षैतिज कीमत रेखाएँ खींचते हैं जो अमेरिका की आधिक्य पूर्ति को भारत की आधिक्य माँग के ठीक बराबर दर्शाये तथा भारत में अमेरिका की कीमत की तुलना में परिवहन लागत के बराबर अधिक कीमत दर्शाये। चित्र 7.2 में P_a-P_1 परिवहन लागत है। चित्र 7.2 की सहायता से हम परिवहन लागतों के व्यापार पर प्रभावों को भली-भाँति स्पष्ट कर सकते हैं।
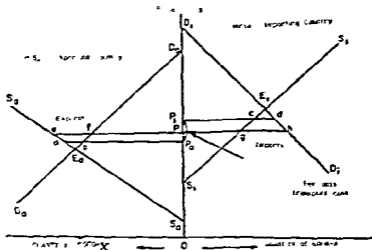
चित्र 7.2 : आंशिक साम्य व परिवहन लागतें

प्रथम, यह स्पष्ट है कि परिवहन लागतों की उपस्थिति से व्यापार की शर्तें अमेरिका व भारत दोनों के ही प्रतिकूल हो गयी हैं। परिवहन लागतों की अनुपस्थिति में साम्य कीमत O-P थी। परिवहन लागतों की उपस्थिति में अमेरिका OP से नीची कीमत O-P_a पर निर्यात कर रहा है, जबकि भारत अब आयातों की O-P_1 कीमत चुका रहा है जो कि परिवहन लागतों की अनुपस्थिति की कीमत O-P से अधिक है।

द्वितीय, यह है कि परिवहन लागत की अनुपस्थिति में अमेरिका x-वस्तु की P e मात्रा का उत्पादन करता था जबकि परिवहन लागतों को शामिल करने के बाद

अमेरिका x-वस्तु की P_a-a मात्रा का उत्पादन कर रहा है। चूँकि P_a-a < P-c अत: स्पष्ट है कि परिवहन लागतो की उपस्थिति के कारण निर्यातकर्ता राष्ट्र की विशिष्टीकरण की श्रेणी कम हो जाती है। तृतीय, यह कि परिवहन लागत की अनुपस्थिति मे भारत X-वस्तु की g-h मात्रा का आयात करता था जबकि परिवहन लागतो को शामिल करने के बाद भारत के आयात c-d रह जाते हैं। चूँकि c-d आयात g-h आयात की मात्रा से कम है, अत. राष्ट्र का उपभोग का स्तर परिवहन लागतो की अनुपस्थिति की तुलना मे नीचा हो गया है।

चित्र 7.2 मे ef > ab तथा gh > c-d अर्थात् परिवहन लागतो की उपस्थिति से व्यापार की मात्रा मे कमी हो गयी है। स्पष्ट है कि परिवहन लागतो की उपस्थिति से दोनो ही राष्ट्रो की व्यापार से प्राप्त लब्धियाँ कम हो जाती हैं।

परिवहन लागतो की उपस्थिति का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रभाव तो यह है कि इनकी उपस्थिति के कारण हमारे प्रमुख प्रश्न —राष्ट्र किन वस्तुओ का व्यापार करेगा ?—के उत्तर मे सशोधन करना पडगा। किसी भी वस्तु के व्यापार मे शामिल होन के लिए आवश्यक शर्त यह है कि दोनो राष्ट्रो मे व्यापारपूर्व वस्तु कीमतो के अन्तर परिवहन लागत से अधिक होने चाहिए। चित्र 7.3 मे अमेरिका व भारत मे x-वस्तु की कीमत के अन्तर की तुलना मे परिवहन लागत अधिक है, अत: इस वस्तु का व्यापार मे शामिल होना सभव नही है।

चित्र 7.3 मे भारत व अमेरिका मे व्यापारपूर्व X-वस्तु की कीमत क्रमश OP_i व o-P_a है जबकि परिवहन लागत t-c है, स्पष्ट हो परिवहन लागत वस्तु कीमत अन्तर से अधिक है, अत इस वस्तु का आयात-निर्यात सम्भव नही है।

अत परिवहन लागतो की उपस्थिति मे उन्ही वस्तुओ का आयात-निर्यात मे शामिल होना सभव है जिनकी दोनो राष्ट्रो की व्यापार पूर्व कीमतो के अन्तर परिवहन लागतो से अधिक है।

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि अत्यधिक ऊँची परिवहन लागतो वाली वस्तुओ का व्यापार सभव नही है।

हाल ही के वर्षों में परिवहन लागतो मे हुइ महत्त्वपूर्ण कमी विश्व व्यापार मे वृद्धि का प्रमुख कारण है। परिवहन लागतो मे कमी नयी वस्तुओ के व्यापार मे शामिल होने का भी प्रमुख कारण हो सकता है।

कुछ वस्तुओ का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मात्र परिवहन लागतो की उपस्थिति के
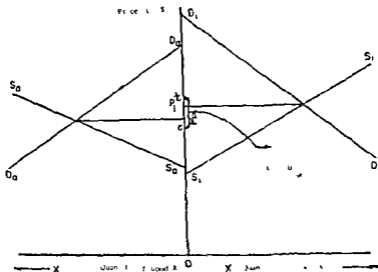
चित्र 7.3 परिवहन लागत राष्ट्रों की व्यापारपूर्व कीमतों के अन्तर से अधिक

कारण ही होता है। उदाहरणार्थ, जर्मनी उत्तर मे फ्रास को इस्पात निर्यात करता है जबकि दक्षिण मे फ्रास से इस्पात का आयात करता है।

परिवहन लागतों की भेदात्मक प्रकृत्ति

(Discriminatory Nature of Transport costs)

यदि वस्तुओं के भार व आकार के अनुसार परिवहन लागतें निर्धारित होती तो उन्हे व्यापार के मॉडल मे शामिल करने मे कोई कठिनाई नही होती। लेकिन परिवहन लागतें केवल वस्तु के भार व आकार पर ही निर्भर नहीं करती हैं। इसी प्रकार वस्तु के भार व आकार का भी सदैव ही धनात्मक सम्बन्ध नही होता है। सामान्यतया जब कोई वस्तु मूल्यवान होती है तो उस वस्तु की उतने ही भार वाली कम मूल्यवान वस्तु की तुलना मे अधिक परिवहन लागत चुकानी पडती है।

भिन्न परिवहन के साधन भिन्न दूरी के लिए भिन्न परिवहन लागत वसूल करते हैं। जहाजों मे एक बार माल लाद देने के बाद उसे कम दूरी तक ढोया जाए अथवा अधिक दूरी तक, लागत मे विशेष अन्तर नही आता है क्योकि जहाज मे स्थिर लागत अधिक महत्त्वपूर्ण होती है अर्थात जहाज से माल ढोने मे दूरी की वृद्धि के साथ किराये-

चित्र 7.4 : भिन्न परिवहन-साधनों से माल ढोने की लागत
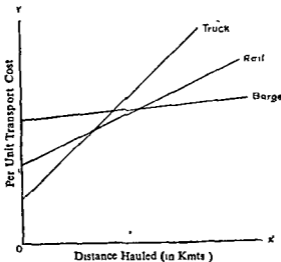
भाड़े में विशेष वृद्धि नहीं होती है अतः चित्र 7.4 में जहाज परिवहन की लागत दर्शाने वाली रेखा दूरी बढने के साथ तेजी से ऊपर की ओर नहीं बढ़ेगी।

रेल परिवहन में भी स्थिर लागतें महत्त्वपूर्ण हैं, लेकिन जहाज परिवहन से कम महत्त्वपूर्ण होती हैं। अतः रेल परिवहन की लागत दर्शाने वाली रेखा दूरी में वृद्धि के साथ जहाज परिवहन की लागत दर्शाने वाली रेखा की तुलना में अधिक तेजी से ऊपर की ओर बढ़ती है। ट्रक से माल ढोने में स्थिर लागत नगण्य होती है लेकिन प्रत्यक्ष प्रचालन (Direct operative) लागत बहुत अधिक होती है, अत. ट्रक से माल ढोने की लागत दर्शाने वाली रेखा दूरी में वृद्धि के साथ तेजी से ऊपर की ओर बढ़ती है।

चित्र 7.4 से स्पष्ट है कि अल्प दूरी तक माल ढोने के लिए ट्रक सर्वाधिक सस्ता, लम्बी दूरी के लिए जहाज सर्वाधिक सस्ता एवं मध्यम दूरी के लिए रेल सर्वाधिक सस्ता परिवहन का साधन है।

परिवहन लागतों में भार व आकार के अनुपात में वृद्धि नहीं होने का एक अन्य कारण यह है कि परिवहन लागत के कुछ तत्त्व जैसे बन्दरगाह का भाड़ा, वित्तीय लागत व आढ़त, आदि स्थिर रहते हैं, अतः दूरी बढ़ने के साथ-साथ इन भुगतानों की

प्रति किलोमीटर लागत घटती जाती है। इसके अलावा खाली वापिस लौटते समय जहाज को थपेड़ों से बचाने हेतु पत्थर, लोहा आदि डालने की आवश्यकता (returning in ballast) से बचने हेतु लगभग नगण्य किराया भाड़ा लेने की परिपाटी के कारण भी परिवहन लागतें विभेदात्मक बनी रहती हैं।

इसी प्रकार विस्फोटक माल के बहुत ऊँचे किराये-भाड़े वसूल करने की परिपाटी भी परिवहन लागतों को वस्तु के भार व आकार से अधिक बना देती है।

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि परिवहन लागतें लगभग पूर्णतया भेदात्मक होती हैं तथा किसी निश्चित आधार के अनुसार निर्धारित नहीं की जाती हैं अतः परिवहन लागतों को किसी सैद्धान्तिक मॉडल में शामिल करना अत्यधिक दुष्कर कार्य है।

8

प्रशुल्क
(The Tariff)

प्रस्तावना
(Introduction)

सरक्षण प्रदान करने की विभिन्न रीतियो मे से आयात प्रशुल्क व आयात नियताश सर्वाधिक प्रचलित हैं। आयातित वस्तुओ पर लागू करो की प्रणाली को प्रशुल्क कहते हैं जबकि आयात वस्तु की अधिकतम आयातित मात्रा निर्धारित कर दी जाती है तो इसे आयात नियताश कहते है।

इस अध्याय मे हम प्रशुल्क के प्रभावो का विस्तृत विश्लेषण प्रस्तुत करेंगे तत्पश्चात् अध्याय-9 मे आयात नियताश के प्रभावो का अध्ययन करेंगे।

प्रशुल्क के प्रभावों का विभिन्न दृष्टिकोणो से अध्ययन किया जा सकता है, उदाहरणार्थ, प्रशुल्क का उद्योग विशेष पर प्रभाव, राष्ट्र के क्षेत्र विशेष पर प्रभाव, *उत्पादक कारको पर प्रभाव, राष्ट्र विशेष पर प्रभाव अथवा सम्पूर्ण विश्व पर प्रभाव।* किसी एक दृष्टिकोण से प्राप्त प्रभाव की दिशा का दूसरे दृष्टिकोण से प्राप्त प्रभाव की दिशा से ठीक विपरीत होना सम्भव है, जैसे प्रशुल्क के परिणामस्वरूप व्यापार की शर्तों *मे सुधार से प्रशुल्क लगाने वाले राष्ट्र के कल्याण के स्तर मे वृद्धि हो सकती है* लेकिन सम्पूर्ण विश्व के दृष्टिकोण से देखा जाए तो कल्याण का स्तर स्वतत्र व्यापार की तुलना मे नीचा पाया जा सकता है।

प्रशुल्क के प्रभाव
(Effects of the Tariff)

प्रशुल्क के प्रभावो का अध्ययन सामान्यतया निम्न शीर्षको के अन्तर्गत किया जाता है।

(1) आयात प्रतिस्थापन प्रभाव
(The Import Substitution effect)

(2) सरक्षण प्रभाव
(The protection effect)

(3) उपभोग प्रभाव
(The Consumption effect)

(4) राजस्व प्रभाव
(The Revenue effect)

(5) पुनर्वितरण प्रभाव
(The Redistribution effect)

(6) उत्पादक कारको पर प्रभाव
(The effect on productive Factors)

(7) कल्याण के स्तर पर प्रभाव
(The Welfare effect)

(8) व्यापार की शर्तों पर प्रभाव
(The Terms of Trade effect)

(9) घरेलू मूल्य-अनुपात पर प्रभाव
(The effect on Domestic Price ratio)

(10) प्रतिस्पर्द्धात्मक प्रभाव
(The Competitive effect)

(11) आय-प्रभाव
(The Income effect)

(12) भुगतान सतुलन प्रभाव
(The Balance of Payments effect)

प्रशुल्क के उपर्युक्त प्रभावो मे से अधिकाश प्रभाव आशिक-साम्य चित्र 8 1 मे दर्शाये जा सकते है।

चित्र 8 1 मे $D\text{-}D_1$ तथा $S\text{-}S_1$ क्रमश राष्ट्र के घरेलू माँग व पूर्ति वक्र है। प्रशुल्क की अनुपस्थिति वाली विदेशी पूर्ति कीमत O–P को स्थिर माना गया है। OP कीमत पर x वस्तु का उपभोग $O\text{-}X_3$ है जिसमे से घरेलू पूर्ति O-X तथा आयातो की मात्रा $x\text{-}x_3$ है। स्पष्ट ही है कि x वस्तु के घरेलू उत्पादको को भी OP कीमत पर
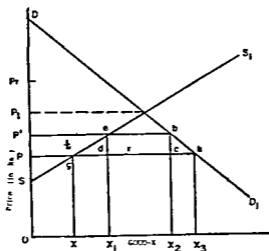
चित्र 8 1 आयात प्रशुल्क के प्रभाव-आंशिक साम्य

माल विक्रय करना होगा क्योंकि विदेशी कीमत से अधिक कीमत पर x वस्तु का विक्रय सम्भव नहीं है।

अब मान लीजिए कि x वस्तु के आयातों पर सरकार P-P' प्रति इकाई प्रशुल्क लगा देती है। चूँकि हमने विदेशी कीमत स्थिर मान रखी है अतः घरेलू कीमत प्रशुल्क की मात्रा के बराबर बढ़कर O-P' हो जायेगी। चित्र 8.1 में P-Pt के बराबर प्रशुल्क लगाने से यदि घरेलू कीमत Pt हो जाती है तो इस प्रशुल्क को निषेधात्मक प्रशुल्क' (Prohibitive Tariff) कहा जायगा। निषेधात्मक प्रशुल्क इतनी ऊँची प्रशुल्क होती है कि इस प्रशुल्क वाली कीमत पर घरेलू माँग व पूर्ति बराबर हो जाती है तथा आयातों की मात्रा शून्य हो जाती है। यदि कोई राष्ट्र P-Pt से अधिक प्रशुल्क लगाता है तो घरेलू कीमत में वृद्धि प्रशुल्क की पूरी मात्रा के बराबर नहीं होगी। उदाहरणार्थ, चित्र 8 1 में P-Pt प्रशुल्क लगाने पर भी कीमत Pt से अधिक नहीं हो सकती है, अतः प्रशुल्क लगाने से घरेलू कीमत अधिक से अधिक बिना व्यापार वाली घरेलू कीमत तक बढ़ सकती है।

चित्र 8 1 में P-P' प्रशुल्क के कुछ प्रभाव स्पष्ट हैं जिनका विवरण नीचे दिया गया है :—

1. आयात प्रतिस्थापन प्रभाव :—P P' प्रशुल्क लगाने के पश्चात् xg से

कुछ अधिक लागत वाले घरेलू उत्पादक भी x- वस्तु का विक्रय करने में सक्षम हैं अतः घरेलू उत्पादन ox से बढ़कर ox_1 हो जाता है।

स्वतन्त्र व्यापार की OP कीमत पर xx_1 मात्रा आयातों का एक हिस्सा थी, लेकिन प्रशुल्क लगाने के पश्चात् घरेलू उत्पादन में $x x_1$ की वृद्धि इन आयातों का प्रतिस्थापन कर देती है, अतः उत्पादन में $x x_1$ की वृद्धि को आयात प्रतिस्थापन प्रभाव के नाम से जाना जाता है।

2. संरक्षण प्रभाव —संरक्षण प्रभाव से अभिप्राय ऊँची लागत वाले अकुशल घरेलू उत्पादकों को संरक्षण प्रदान करने से है। चित्र 8.1 में x बिन्दु से आगे घरेलू उत्पादन बढ़ाकर उत्तरोत्तर अधिक अकुशल उत्पादकों को संरक्षण दिया जा रहा है। x वस्तु की $x x_1$ मात्रा के अतिरिक्त उत्पादन की अकुशलता का योग त्रिभुजाकार क्षेत्र द्वारा प्रदर्शित किया गया है, अतः d क्षेत्र संरक्षण प्रभाव दर्शाता है। दी हुई प्रशुल्क का संरक्षण प्रभाव अधिक होगा अथवा कम यह निश्चय ही पूर्ति वक्र की लोच पर निर्भर करेगा। यदि पूर्ति-वक्र अधिक लोचदार है तो संरक्षण प्रभाव अधिक और यदि पूर्ति-वक्र बेलोचदार है तो संरक्षण-प्रभाव कम होगा। यदि P-Pt प्रशुल्क लगा दी जाती है तो आयात का स्तर शून्य हो जायेगा। ऐसी प्रशुल्क का राजस्व प्रभाव तो शून्य होगा लेकिन संरक्षण प्रभाव महत्वपूर्ण होता है।

(3) उपभोग प्रभाव :—प्रशुल्क लगाने से x वस्तु की कीमत में P-P' वृद्धि के कारण x वस्तु का उपभोग $o\text{-}x_3$ से घटकर $o\text{-}x_2$ हो जाता है। उपभोग में $x_2\text{-}x_3$ की इस कमी को उपभोग प्रभाव के नाम से जाना जाता है।

(4) राजस्व प्रभाव :- P-P' प्रति इकाई प्रशुल्क से सरकार r द्वारा दर्शाये गये आयताकार क्षेत्र के बराबर राजस्व प्राप्त करती है। अतः r आयत को राजस्व-प्रभाव के नाम से जाना जाता है। r आयताकार क्षेत्र नये आयातों $(x_1\text{-}x_2)$ व प्रति इकाई प्रशुल्क P-P' के गुणाकार के बराबर है। यदि आयात वस्तु का घरेलू उत्पादन नहीं हो रहा है तो प्रशुल्क का राजस्व प्रभाव तो होगा लेकिन संरक्षण प्रभाव शून्य होगा।

(5) पुनर्वितरण प्रभाव :—प्रशुल्क के परिणामस्वरूप कीमत में वृद्धि से उपभोक्ताओं से उत्पादकों के पक्ष में आय का पुनर्वितरण होता है जिसे पुनर्वितरण प्रभाव के नाम से जाना जाता है। चित्र 8.1 में पुनर्वितरण प्रभाव t क्षेत्र द्वारा दर्शाया गया है।

पुनर्वितरण प्रभाव को भली-भाँति स्पष्ट करने हेतु हमें उपभोक्ता की अतिरेक व उत्पादकों की अतिरेक में परिवर्तन ज्ञात करना आवश्यक है । आंशिक साम्य चित्र में उपभोक्ता की अतिरेक माँग वक्र के नीचे के क्षेत्र व साम्य कीमत रेखा के ऊपर के क्षेत्र द्वारा मापी जाती है, जबकि उत्पादकों का अतिरेक पूर्ति-वक्र के ऊपर के क्षेत्र तथा साम्य कीमत रेखा के नीचे के क्षेत्र द्वारा मापा जाता है। चित्र 8.1 में स्वतन्त्र व्यापार की कीमत O-P पर उपभोक्ताओं का अतिरेक PDb तथा उत्पादकों का अतिरेक SgP है। प्रशुल्क वाली कीमत OP' पर उपभोक्ता का अतिरेक घटकर P'Db हो जाता है जबकि उत्पादकों का अतिरेक बढ़कर SeP' हो जाता है। अतः उत्पादकों के अतिरेक में t क्षेत्र के बराबर वृद्धि प्रशुल्क के परिणामस्वरूप उपभोक्ताओं से उत्पादकों के पक्ष में आय का पुनर्वितरण है। उपभोक्ताओं के अतिरेक में कुल कमी PP'bb क्षेत्र द्वारा दर्शायी गयी है जिसमें से t क्षेत्र द्वारा दर्शायी गयी आय उत्पादकों के पास हस्तान्तरित हो जाती है अतः t क्षेत्र को हस्तान्तरण प्रभाव (transfer effect) भी कहा जाता है। चित्र 8.1 में P से P' कीमत बढ़ जाने पर x वस्तु के नये व पुराने सभी उत्पादकों को P' कीमत प्राप्त होने लगती है। अतः x वस्तु के पुराने उत्पादक अतिरिक्त आय अर्जित करते हैं। प्रशुल्क लगाने की वकालत करते समय सामान्यतया अपेक्षाकृत ऊँची लागत वाले सीमान्त उत्पादकों ($x\,x_1$ उत्पादन की विस्तार सीमा वाले उत्पादकों) को संरक्षण प्रदान करने की बात कही जाती है जबकि वास्तव में वस्तु के पुराने उत्पादक अधिक लाभ अर्जित करने हेतु प्रशुल्क बढ़वाने के प्रयत्न करते हुए होते हैं।

(6) उत्पादक कारकों पर प्रभाव :—आंशिक साम्य चित्र 8.1 में प्रशुल्क के उपभोक्ताओं से उत्पादकों के पक्ष में आय के पुनर्वितरण प्रभाव को दर्शाया गया है लेकिन प्रशुल्क के परिणामस्वरूप उत्पादक कारकों के मध्य भी आय का पुनर्वितरण होता है।

प्रशुल्क से उत्पादक कारकों में आय के पुनर्वितरण प्रभावों को स्पष्ट करने वाली प्रमेय को स्टॉलपर-सेम्युअलसन प्रमेय के नाम से जाना जाता है। स्टॉलपर-सेम्युअलसन प्रमेय का विस्तृत विवेचन अध्याय-5 में दिया जा चुका है। यहाँ पर इतना ही स्पष्ट कर देना पर्याप्त होगा कि प्रशुल्क के परिणामस्वरूप आयात वस्तु की कीमत में वृद्धि होती है अतः आयात प्रतिस्थापन उद्योग में अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में प्रयुक्त राष्ट्र के दुर्लभ कारक के सापेक्ष व निरपेक्ष प्रतिफल में वृद्धि होगी तथा बाहुल्य वाले कारक के प्रतिफल में कमी। इसी तथ्य को निम्न प्रकार से भी स्पष्ट किया जा सकता है चूँकि स्वतन्त्र व्यापार से राष्ट्र के बाहुल्य वाले कारक के प्रतिफल में वृद्धि तथा दुर्लभ-कारक के प्रतिफल में कमी होती है, अतः प्रशुल्क लगाने से व्यापार में कमी के

परिणामस्वरूप कारक कीमत मे स्वतंत्र व्यापार की प्रार प्रसार होने से कारक-कीमत मे होने वाले परिवर्तन की दिशा के विपरीत दिशा म परिवर्तन होगा प्रर्थात् प्रशुल्क से राष्ट्र के दुर्लभ-कारक के प्रतिफल मे वृद्धि तथा बाहुल्य वाले कारक के प्रतिफल मे कमी होगी।

प्रत स्पष्ट है कि प्रशुल्क के परिणामस्वरूप प्राय का पुनर्वितरण राष्ट्र के बाहुल्य वाले कारक से दुर्लभ कारक के पक्ष मे होता है।

(7) कल्याण के स्तर पर प्रभाव —चित्र 8 1 मे प्रशुल्क लगाने से समुदाय को होने वाली हानि दो त्रिभुजाकार क्षेत्रो d व c द्वारा दर्शायी गयी है। d तथा c क्षेत्रो को प्रशुल्क की 'विशुद्ध हानि' (deadweight loss of tariff) के नाम से जाना जाता है।

चित्र 8 1 मे प्रशुल्क लगाने से उपभोक्ता की बचत मे कमी PP bh क्षेत्र के बराबर है। इसमे से t क्षेत्र तो उपभोक्ताओ से उत्पादको के पास प्राय के रूप म हस्तातरित हो गया है तथा r क्षेत्र सरकारी राजस्व है। शेष d त्रिभुज या क्षेत्र $x\ x_1$ उत्पादन की विस्तार सीमा के उत्पादको की प्रकुशलता के कारण ऊँची लागत है प्रत यह क्षेत्र समुदाय की हानि है। इसी प्रकार c क्षेत्र समुदाय के उपभोग मे कटौती के परिणामस्वरूप उपभोक्ता की प्रतिरेक मे होने वाली कमी है। प्रत d तथा c क्षेत्र 'प्रशुल्क की विशुद्ध हानि' प्रथवा 'प्रशुल्क की लागत' को दर्शाते हैं।

(8) व्यापार की शर्तों पर प्रभाव —प्रशुल्क से व्यापार की शर्तें प्रशुल्क लगाने वाले राष्ट्र के पक्ष मे परिवर्तित हो सकती हैं, लेकिन इसके लिये दो प्रावश्यक शर्तें हैं

(1) प्रथम तो यह कि विदेशी पूर्ति-वक्र अनन्त लोचवाला न हो, तथा

(2) द्वितीय यह है कि सामने वाला राष्ट्र प्रतिशोध के रूप मे प्रशुल्क न लगाये। यदि सामने वाला राष्ट्र प्रतिशोध के रूप मे प्रशुल्क लगाता है तो प्रशुल्क स व्यापार की शर्तों मे सुधार होना अनिश्चित हो जाता है।

प्रशुल्क के व्यापार की शर्तों पर प्रभाव को प्राशिक साम्य चित्र की सहायता से प्रथवा प्रर्पण वक्र चित्र द्वारा दर्शाया जा सकता है।

प्राशिक साम्य चित्र 8.2 मे प्रशुल्क का व्यापार की शर्तों पर प्रभाव दर्शाया गया है।

चित्र 8 2 मे स्वतंत्र व्यापार व शून्य परिवहन लागत की स्थिति मे साम्य कीमत OP पर प्रमेरिका प्रपनी प्राधिक्य पूर्ति ef का निर्यात करता है जो कि भारत के

चित्र 8.2 आंशिक साम्य व प्रशुल्क
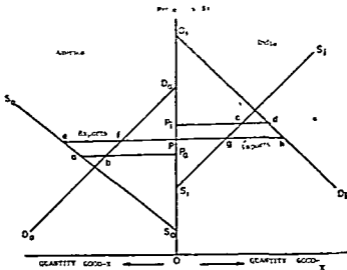
आयात gh के बराबर है। प्रशुल्क के परिणामस्वरूप अमेरिका की निर्यात कीमत OP से घटकर O P_a हो जाती है जबकि भारत में आयातों की कीमत OP से बढ़कर OP_1 हो जाती है। व्यापार का स्तर ef (=gh) से घटकर ab (=cd) हो जाता है।

दी हुई प्रशुल्क से व्यापार की शर्तों पर कितना प्रभाव पड़ेगा यह निर्यातकर्ता राष्ट्र में माँग व पूर्ति दोनों पर निर्भर करेगा। निर्यातकर्ता राष्ट्र में माँग व पूर्ति जितनी अधिक लोचदार होगी व्यापार की शर्तों में उतना ही कम परिवर्तन होगा। यदि निर्यातकर्ता राष्ट्र में पूर्ति अधिक लोचदार है तो उत्पादक उत्पादन के कारकों को आसानी से एक क्षेत्र से हटाकर दूसरे क्षेत्र में प्रयुक्त कर सकते हैं तथा अर्थव्यवस्था में जितनी अधिक लचक होगी उतनी ही व्यापार की शर्तें निर्यातकर्ता राष्ट्र के प्रतिकूल होंगी। ध्यान रहे यदि निर्यातकर्ता राष्ट्र में पूर्ति वक्र की लोच अनन्त है अर्थात् पूर्ति-वक्र लगभग क्षैतिजीय है तो प्रशुल्क का व्यापार की शर्तों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। इसी प्रकार निर्यातकर्ता राष्ट्र में माँग अधिक लोचदार है तो इसका अभिप्राय यह है कि उपभोक्ता उपभोग में आयातों के स्थान पर निर्यातों का आसानी से प्रतिस्थापन कर सकते हैं अतः निर्यातकर्ता राष्ट्र में माँग जितनी अधिक लोचदार होगी उतनी ही व्यापार की शर्तें निर्यातकर्ता राष्ट्र के कम प्रतिकूल होंगी।

आयातकर्त्ता राष्ट्र मे माँग जितनी अधिक लोचदार होगी उतनी ही व्यापार की शर्तें आयातकर्त्ता राष्ट्र के पक्ष मे अधिक परिवर्तित होगी। इसी प्रकार आयातकर्त्ता राष्ट्र मे आयात प्रतिस्थापन उद्योग मे पूर्ति जितनी अधिक लोचदार होगी उतनी ही व्यापार की शर्तें आयातकर्त्ता राष्ट्र के पक्ष मे अधिक परिवर्तित होगी।

चित्र 8 2 मे दोनो राष्ट्रो के माँग व पूर्ति वक्र एक जैसी लोच वाले है, अत प्रशुल्क लगाने से कीमत मे कुछ वृद्धि तो आयातकर्त्ता राष्ट्र मे होगी तथा कुछ कमी निर्यातकर्त्ता राष्ट्र मे। प्रशुल्क का व्यापार की शर्तों पर प्रभाव अर्पण वक्र चित्र की सहायता से अधिक स्पष्ट रूप से दर्शाया जा सकता है। चित्र 8 3 मे A तथा B राष्ट्र के अर्पण वक्र क्रमश: OA तथा OB हैं। B राष्ट्र द्वारा प्रशुल्क लगाने से इसका अर्पण-वक्र OB_1 हो जाता है। स्वतत्र व्यापार की व्यापार की शर्तें OP रेखा द्वारा दर्शायी गयी हैं। O P रेखा का ढाल वस्तु-कीमत अनुपात दर्शाता है। प्रशुल्क
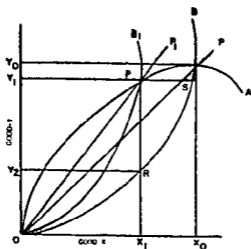
चित्र 8 3 . प्रशुल्क से व्यापार की शर्तों मे सुधार

लगाने से व्यापार की शर्तें P_1 रेखा के ढाल वाली $\left(\frac{Px}{Py}\right)_{P_1}$ हो जाती हैं। चूँकि

$$\left(\frac{Px}{Py}\right)_{P_1} > \left(\frac{Px}{Py}\right)_{P}$$ अत प्रशुल्क से

व्यापार की शर्तें प्रशुल्क लगाने वाले राष्ट्र B के पक्ष मे परिवर्तित हो गयी हैं।

चित्र 8 3 मे प्रशुल्क को निर्यात वस्तु के रूप मे अथवा आयात वस्तु के रूप मे व्यक्त किया जा सकता है।

चित्र 8 3 से स्पष्ट है कि प्रशुल्क लगाने से पूर्व B राष्ट्र y वस्तु की oy_1 मात्रा के बदले x वस्तु की y_1s मात्रा अर्पण करने का तत्पर था लेकिन प्रशुल्क लगाने के पश्चात् y वस्तु की oy_1 मात्रा के बदले यह राष्ट्र x वस्तु की केवल y_1p' मात्रा निर्यात करता है। अत P'S निर्यात प्रशुल्क के रूप में सरकार को राजस्व प्राप्त हो जाता है। y वस्तु पर आयात प्रशुल्क के रूप मे B राष्ट्र प्रशुल्क लगाने से पहले y वस्तु की Rx_1 मात्रा के बदले x-वस्तु की y_2R मात्रा अर्पण करने को तत्पर था जबकि प्रशुल्क लगाने के पश्चात् B राष्ट्र Ox_1 निर्यात के बदले X_1P आयात प्राप्त करता है जिसमे से P'-R सरकार के पास प्रशुल्क राजस्व के रूप मे चला जाता है। स्पष्ट है कि प्रशुल्क लगाने से व्यापार की शर्तें B राष्ट्र के पक्ष मे परिवर्तित हो गयी हैं, अत महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि क्या B राष्ट्र को अधिकाधिक प्रशुल्क लगाते जाना चाहिए। इस प्रश्न का उत्तर प्रदान करते हेतु अर्थशास्त्रियो ने 'अनुकूलतम प्रशुल्क (Optimum Tariff) की अवधारणा प्रदान की है।

अनुकूलतम प्रशुल्क

(Optimum Tariff)

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि यदि सामने वाले राष्ट्र का अर्पण-वक्र मूल बिन्दु से सरल रेखा अर्थात अनन्त लोच वाला नही है तो प्रशुल्क लगाकर राष्ट्र व्यापार की शर्तें अपने पक्ष मे परिवर्तित करने मे सफल हो सकता है ऐसी स्थिति मे अधिकतम लाभ प्राप्त करने हेतु राष्ट्र को अनुकूलतम प्रशुल्क (Optimum Tariff) लगानी चाहिए।

प्रो० हेलर (Heller) के अनुसार "अनुकूलतम प्रशुल्क वह प्रशुल्क की दर है जो कि प्रशुल्क लगाने वाले राष्ट्र को उच्चतम समुदाय उदासीन वक्र पर पहुँचा दे और इससे उस राष्ट्र को उच्चतम सम्भव कल्याण के स्तर पर पहुँचा दे।"[1]

1 Heller, R H—International Trade Theory and Empirical Evidence (rev ed Englewood Cliffs N J Prentice Hall, Inc 1973), p 170

अनुकूलतम प्रशुल्क के अस्तित्व का कारण प्रशुल्क मे वृद्धि के परिणामस्वरूप दो विरोधी शक्तियो का कार्यरत होना है —(1) प्रशुल्क लगाने वाले राष्ट्र के व्यापार की शर्तें अधिकाधिक अनुकूल होती जाती हैं लेकिन साथ ही साथ (2) और ऊंचे प्रशुल्क से आयातो की मात्रा मे उत्तरोत्तर कटौती होती है।

अनुकूलतम स्थिति उस समय प्राप्त होती है जब (1) के कारण कुल लाभ (2) से होने वाली हानि से सर्वाधिक हो।

अर्पण वक्र चित्र के रूप मे हम अनुकूलतम प्रशुल्क को निम्न प्रकार से परिभाषित कर सकते हैं —

अनुकूलतम प्रशुल्क वह प्रशुल्क है जो प्रशुल्क लगाने वाले राष्ट्र को उसके उच्चतम व्यापार उदासीन वक्र (Trade Indifference Curve) पर पहुंचा दे तथा वह उच्चतम व्यापार उदासीन वक्र सामने वाले राष्ट्र के अर्पण वक्र के स्पर्श होना चाहिए।

चित्र 8.4 मे प्रशुल्क के परिणामस्वरूप B राष्ट्र का अर्पण-वक्र OB से OB_1 हो जाता है यह प्रशुल्क वास्तव मे अनुकूलतम प्रशुल्क है क्योंकि प्रशुल्क लगाने से B
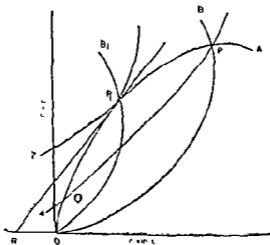
चित्र 8.4 : अनुकूलतम प्रशुल्क

राष्ट्र अपने उच्चतम व्यापार उदासीन वक्र संख्या 7 (व्यापार उदासीन वक्र परिशिष्ट B में स्पष्ट किये गये हैं) पर पहुँच गया है। वास्तव में ऐसा कोई भी प्रशुल्क जिससे B राष्ट्र का अर्पण-वक्र A राष्ट्र के अर्पण-वक्र को P-Q हिस्से में काटे, B राष्ट्र को व्यापार उदासीन वक्र 4 से ऊँचे वक्र पर पहुँचा देता है, लेकिन अनुकूलतम प्रशुल्क लगाकर B राष्ट्र अपने उच्चतम व्यापार उदासीन वक्र पर पहुँच गया है। B राष्ट्र का उच्चतम व्यापार उदासीन वक्र A राष्ट्र के अर्पण वक्र के स्पर्श होना भी आवश्यक है क्योंकि B राष्ट्र का साम्य A राष्ट्र के अर्पण-वक्र पर ही सम्भव है।

व्यापार की शर्तों की रेखा RP1 को B राष्ट्र के व्यापार उदासीन वक्र के स्पर्श खींचा गया है क्योंकि हमने व्यापार की शर्तों को मापने की प्रो० मीड[2] (Meade) द्वारा उपयोग में ली गयी विधि का अनुसरण किया है। RP_1 रेखा जहाँ क्षैतिज अक्ष को काटती है वही प्रशुल्क का माप है। चित्र 8 4 में RO प्रशुल्क है।

अनुकूलतम प्रशुल्क की गणना अर्पण-वक्र की लोच की सहायता से की जा सकती है। चित्र 8.5 में B राष्ट्र का प्रशुल्क वाला अर्पण-वक्र A राष्ट्र के अर्पण-वक्र को P_1 बिन्दु पर काटता है चित्र 8.5 में y की x के रूप में घरेलू कीमत $\left(\frac{bP_1}{ba}\right)$ को यदि हम P_1 द्वारा इंगित करें एवं y की x के रूप में विदेशी कीमत

चित्र 8.5 : अनुकूलतम प्रशुल्क व अर्पण वक्र की लोच

2. Meade, J.E.—A Geometry of International Trade—p 76, Figure XXII.
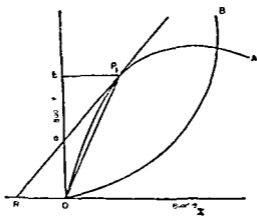
(व्यापार की शर्तें) $\frac{P_1 b}{ob}$ को π द्वारा इंगित करें तो y वस्तु की विदेशी कीमत पर लगी अनुकूलतम् प्रशुल्क निम्न समीकरण द्वारा व्यक्त की जा सकती है :—

$$P_1 = (1 + t)\,\pi$$

$$P_1 = \pi + \pi t$$

अथवा

$$\pi t = P_1 - \pi$$

$$t = \frac{P_1}{\pi} - 1 \qquad (1)$$

∴ P_1 तथा π का उपर्युक्त मूल्य समीकरण (1) में रखने पर

$$t = \frac{(bP_1/ba)}{(bP_1/ob)} - 1$$

$$= \frac{bP_1}{ba} \times \frac{ob}{bP_1} - 1$$

$$t = \frac{ob}{ba} - 1$$

लेकिन $\frac{ob}{ba}$ विदेशी अर्पण वक्र की कुल लोच (efrd) है* अतः

$$t = efrd - 1 \qquad (2)$$

अर्थात् अनुकूलतम प्रशुल्क अर्पण वक्र की कुल लोच में से 1 घटाकर प्राप्त की जा सकती है। अर्पण वक्र के फलनात्मक सम्बन्ध को हम निम्न रूप में व्यक्त कर सकते हैं —

---

* अर्पण-वक्र की तीनों लोचों की व्युत्पत्ति व विस्तृत विवेचन हेतु देखिए, अध्याय-3.

$y = F(x)$ तथा इससे व्युत्पन्न माँग वक्र[3] का रूप अग्रलिखित होगा $x = f\left(\frac{x}{y}\right)$

एव विदेशी अर्पण वक्र की माँग लोच (efd) को निम्न सूत्र के रूप मे व्यक्त किया जा सकता है

$$efd = \frac{y/x}{x} \cdot \frac{dx}{d(y/x)} = -\frac{y}{x^2} \Big/ \frac{d(y/x)}{dx} \qquad (3)$$

$$= -\frac{y}{x^2} \Big/ \frac{x\,dy - y.dx}{x^2 \quad dx} \quad \text{(अवकलन करने पर)}$$

$$= -\frac{y \;.\; dx}{x\,dy - y.dx}$$

अश व हर को dx.y से भाग देने पर

$$efd = -\frac{1}{\dfrac{x\,dy}{y\,dx} - 1}$$

लेकिन $\frac{x\,dy}{y\,dx}$ अर्पण वक्र की कुल लोच efrd का व्युत्क्रम (reciprocal) है

अत:

$$efd = \frac{1}{\dfrac{1}{efrd} - 1}$$

$$= \frac{efrd}{1\text{-}efrd}$$

3. Johnson, H G —Alternative optimum Tariff Formulae, pp. 56-61, In—International Trade and Economic Growth—(Harward Univ Press, 1961)

अथवा

$$efd = \frac{efrd}{efrd - 1} \qquad (4)$$

अथवा

$$efrd = \frac{efd}{efd - 1}$$

समीकरण (2) से अनुकूलतम प्रशुल्क $t = efrd - 1$ अतः

$$t = \frac{efd}{efd - 1} - 1$$

अथवा

$$t = \frac{1}{efd - 1} \qquad (5)$$

अर्थात् अनुकूलतम प्रशुल्क विदेशी अर्पण वक्र की माँग लोच में से इकाई घटा के व्युत्क्रम (reciprocal) के बराबर होती है।

इसी प्रकार अर्पण वक्र से व्युत्पन्न पूर्ति वक्र का रूप निम्न होगा

$$x = g\,(x/y)$$

तथा विदेशी पूर्ति-वक्र की लोच को निम्न सूत्र के रूप में व्यक्त किया जा सकता है।

$$efs = \frac{x/y}{y} \cdot \frac{dy}{d\left(\frac{x}{y}\right)} = \frac{x}{y^2} \Big/ \frac{d\left(\frac{x}{y}\right)}{dy} \qquad (6)$$

$$efs = \frac{x}{y^2} \Big/ \frac{y\,dx - x\,dy}{y^2 \,.\, dy} \quad \text{(अवकलन करने पर)}$$

$$= \frac{x \cdot dy}{ydx - xdy}$$

अंश व हर को x dy से भाग देने पर

$$efs = \frac{1}{\frac{y.dx}{x.dy} - 1}$$

लेकिन $\frac{y.dx}{x.dy}$ अर्पण वक्र की कुल लोच efrd है अतः

$$efs = \frac{1}{efrd - 1}$$

अथवा

$$efrd = \frac{efs + 1}{efs} \qquad (7)$$

समीकरण (2) से अनुकूलतम प्रशुल्क $t = efrd - 1$, अतः

$$t = \frac{efs + 1}{efs} - 1$$

अथवा

$$t = \frac{1}{efs} \qquad (8)$$

अर्थात् अनुकूलतम प्रशुल्क विदेशी अर्पण वक्र की पूर्ति लोच के व्युत्क्रम (reciprocal) के बराबर होती है ।

उपर्युक्त तीनों लोचों में से अर्पण-वक्र की माँग लोच (efd) अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण है अतः हम इस लोच के अनुकूलतम प्रशुल्क से सम्बन्ध का विस्तृत विवेचन करेंगे।

समीकरण 5 से

$$t = \frac{1}{efd - 1}$$

उदाहरणार्थ, यदि विदेशी अर्पण-वक्र की माँग लोच 5 है तो अनुकूलतम प्रशुल्क

$$t = \frac{1}{5-1} = \frac{1}{4} = 0\ 25$$

अर्थात् 25 प्रतिशत प्रशुल्क लगाने से राष्ट्र अपने कल्याण के उच्चतम स्तर पर पहुँचेगा। इसी प्रकार यदि विदेशी राष्ट्र के अर्पण-वक्र की लोच अनन्त (∞) है तो अनुकूलतम प्रशुल्क

$$t = \frac{1}{\infty - 1} = O$$

अर्थात कल्याण के अधिकतम स्तर पर बने रहने हेतु राष्ट्र को प्रशुल्क नहीं लगानी चाहिए जैसा कि निम्न चित्र 8 6 से स्पष्ट है

चित्र 8.6 मे विदेशी राष्ट्र A के अर्पण वक्र की लोच अनन्त है अत B राष्ट्र के द्वारा आयात प्रशुल्क लगाने से व्यापार की मात्रा तो P से घटकर P_1 हो जाती है लेकिन व्यापार की शर्तें अपरिवर्तित रहती हैं। वास्तव मे ऐसी स्थिति मे प्रशुल्क लगाने से राष्ट्र का कल्याण का स्तर घट जाता है।
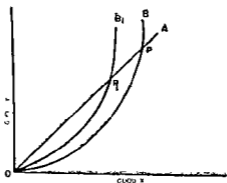
चित्र 8.6 : विदेशी राष्ट्र के अर्पण वक्र की अनन्त लोच व प्रशुल्क

इसी प्रकार यदि विदेशी अर्पण-वक्र की लोच इकाई है तो

$$t = \frac{1}{1-1} = \infty$$

अर्थात् कल्याण का स्तर अधिकतम करने हेतु इस राष्ट्र को ऊँची से ऊँची प्रशुल्क लगानी चाहिए। इस बिन्दु को निम्न चित्र 8 7 की सहायता से स्पष्ट किया गया है।

चित्र 8.7 मे OA विदेशी राष्ट्र का अर्पण-वक्र है। OA अर्पण-वक्र के od हिस्से की लोच अनन्त है जबकि e f हिस्सा इकाई लोच वाला है। यदि प्रारम्भिक साम्य बिन्दु f है तो B राष्ट्र को तब तक प्रशुल्क बढाते जाना चाहिए जब तक कि बिन्दु e व d के मध्य साम्य स्थापित न हो जाए। d बिन्दु के पीछे A अर्पण-वक्र का od
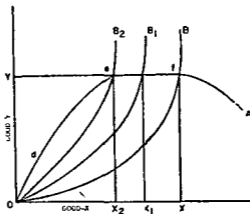
चित्र 8.7 विदेशी अर्पण-वक्र की इकाई लोच व अनुकूलतम प्रशुल्क

पूर्णतया लोचदार हिस्सा है इसलिए और अधिक प्रशुल्क लगाना लाभप्रद नही होगा। अत: स्पष्ट है कि अनुकूलतम प्रशुल्क d-e जैसे अर्पण-वक्र के लोचदार हिस्से म ही निर्धारित होती है। -

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि अर्पण-वक्र के e-f हिस्से म विदेशी अर्पण वक्र OA की इकाई लोच से अधिकतम लाभ अर्जित करने हेतु B राष्ट्र को प्रशुल्क बढात ही जाना चाहिए। यह तो हम जानते ही हैं कि अर्पण-वक्र के इकाई लोच वाले हिस्से

में व्यापार की शर्तों में परिवर्तन के बावजूद A राष्ट्र का कुल व्यय o-y निर्यात की मात्रा पर स्थिर बना रहता है अत इस स्थिति से लाभान्वित होने हेतु B–राष्ट्र को अपने x-वस्तु के निर्यात x_1 से घटाकर x_2 तक लाकर न्यूनतम कर देने चाहिए।

इसी प्रकार यदि विदेशी अर्पण-वक्र बेलोचदार है चित्र 8 7 में f-A हिस्सा) तो अनुकूलतम प्रशुल्क ऋणात्मक होगी उदाहरणार्थ, यदि अर्पण-वक्र की लोच $\frac{1}{2}$ है तो

$$t = \frac{1}{\frac{1}{2} - 1} = -2$$ अर्थात् प्रशुल्क - 2 होगी। इस स्थिति मे राष्ट्र को

विदेश अर्पण-वक्र के लोचदार हिस्से तक चलन करने से लाभ होगा। अत निष्कर्ष स्वरूप हम कह सकते हैं कि अनुकूलतम प्रशुल्क विदेशी अर्पण-वक्र के उस हिस्से मे निर्धारित होती है जहाँ विदेशी अर्पण-वक्र की लोच इकाई से अधिक लेकिन अनन्त से कम हो।

(9) घरेलू मूल्य अनुपात पर प्रभाव :—प्रशुल्क का घरेलू मूल्य अनुपात पर प्रभाव इतना स्पष्ट नहीं है जितना प्रतीत होता है। प्रो० मेजलर (Metzler) के सन् **1949** के पुरोगामी लेख[4] के प्रकाशन से पूर्व यह स्वीकार कर लिया गया था कि प्रशुल्क लगाने से आयात वस्तु के सापेक्ष मूल्य मे वृद्धि होगी, अत प्रशुल्क के आयातों के घरेलू मूल्य पर प्रभावों पर और अधिक विचार नहीं किया गया।

यदि विचारार्थ राष्ट्र छोटा राष्ट्र है तथा विश्व बाजार मे अनन्त पूर्ति लोच वाला पूर्ति-वक्र है तो आयात प्रशुल्क से निश्चय ही आयात वस्तु के घरेलू मूल्य अनुपात मे प्रशुल्क के अनुपात से वृद्धि होगी क्योंकि ऐसी स्थिति मे व्यापार की शर्तें पूर्ववत् ही बनी रहती हैं। लेकिन यदि प्रशुल्क लगाने वाला राष्ट्र बड़ा आयातकर्ता है तथा प्रशुल्क लगाकर विश्व बाजार म प्रचलित कीमत को प्रभावित करने में सक्षम है तो घरेलू कीमत अनुपात निम्न विपरीत दिशा मे कार्यरत शक्तियों द्वारा प्रभावित होगा (1) प्रशुल्क लगाने से आयात के सापेक्ष घरेलू मूल्य मे वृद्धि होगी, तथा (2) प्रशुल्क म व्यापार की शर्तों मे सुधार के परिणामस्वरूप आयात वस्तु का घरेलू कीमत अनुपात घटेगा। अत: इन विपरीत दिशा में कार्यरत शक्तियों को ध्यान में रखते हुए प्रशुल्क के आयात वस्तु के

4 Metzler, Lloyd A—Tariffs, the Terms of Trade and the Distribution of National Income—(J P E, Feb, 1949, pp 1-29), reprinted in collected papers of Metzler (Harvard Univ Press, Cambridge, Mass. 1973), pp 159 197

घरेलू कीमत अनुपात पर प्रभाव ज्ञात करने हेतु उपयुक्त माप दण्ड (*Criterion*) प्राप्त करना आवश्यक है।

वास्तव में प्रशुल्क लगाने के परिणामस्वरूप आयात वस्तु के घरेलू कीमत अनुपात का *बढ़ना, कम होना अथवा यथावत् रहना सम्भव है। प्रो० मेजलर ने* इन तीनो स्थितियो के लिए आवश्यक शर्तों पर विचार किया है। लेकिन प्रो० मेजलर के इन तीनो स्थितियो के लिए आवश्यक शर्तों के अध्ययन से पूर्व हम अर्पण-वक्र चित्र की सहायता से प्रशुल्क के घरेलू कीमत अनुपात पर प्रभाव को स्पष्ट करेंगे।

चित्र 8 8 मे A तथा B राष्ट्रो के अर्पण-वक्र क्रमश OA व OB हैं। प्रशुल्क का घरेलू कीमत अनुपात पर प्रभाव स्पष्ट करने हेतु हमे सर्वप्रथम यह इंगित करना होगा कि प्रशुल्क आयात वस्तु y के रूप मे वसूल की जानी है अथवा निर्यात वस्तु x के रूप मे। यदि B राष्ट्र की सरकार निर्यात कर लगाकर निर्यात वस्तु x के रूप मे प्रशुल्क वसूल करती है तो चित्र 8 8 में घरेलू कीमत अनुपात *O-Pb_1 रेखा वाला होगा।* व्यापार मे y वस्तु की OU मात्रा के बदले x वस्तु की OW मात्रा का विनिमय हो रहा है जिसमे से B राष्ट्र की सरकार E_1W प्रशुल्क वसूल कर लेती है अत A राष्ट्र को ou के विनिमय में UE_1 मात्रा ही प्राप्त होती है (ध्यान रहे प्रशुल्क लगाने के बाद व्यापार की शर्तें OE_1 रेखा द्वारा प्रदर्शित की जायेंगी जो कि चित्र 8 8 मे नही खीची *गयी हैं)। अत प्रशुल्क लगाने के बाद घरलू कीमत अनुपात O-Pb_1 रेखा के ढाल* वाला है जबकि व्यापार की शर्तों को दर्शाने वाली रेखा OE_1 है।
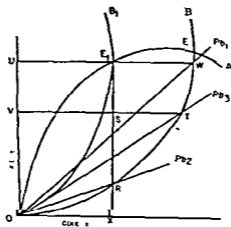
चित्र 8.8 : प्रशुल्क व घरेलू कीमत अनुपात

इसके विपरीत यदि प्रशुल्क B राष्ट्र की आयात वस्तु y के रूप में वसूल की जाती है तो घरेलू कीमत अनुपात $O\text{-}Pb_2$ रेखा वाला होगा। B राष्ट्र को ox निर्यातों के विनिमय में $X\text{-}E_1$ आयात प्राप्त होंगे जिसमें से सरकार E_1R प्रशुल्क वसूल कर लेती है तथा B राष्ट्र के नागरिकों को Rx मात्रा प्राप्त होती है।

यदि B राष्ट्र की सरकार कुछ प्रशुल्क आयात वस्तु के रूप म वसूल करती है व कुछ निर्यात के रूप में तो घरेलू कीमत अनुपात रेखा $O\text{-}Pb_3$ होगी। इस स्थिति में $F_1\text{-}S$ प्रशुल्क आयात वस्तु y के रूप में व S-T प्रशुल्क निर्यात वस्तु x के रूप में वसूल की जा रही है।

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि $O\text{-}Pb_1$, $O\text{-}Pb_3$ व $O\text{-}Pb_2$ तीनों ही कीमतें स्वतंत्र व्यापार की शर्तों (O-E) की तुलना में आयात वस्तु y की x के रूप में ऊँची कीमतें हैं (ध्यान रहे कि कीमत रेखाओं का ढाल $\frac{Px}{Py}$ है)। अत व्यापार की शर्तों में सुधार के बावजूद प्रशुल्क लगाने से B राष्ट्र में आयात वस्तु का घरेलू मूल्य अनुपात बढ़ जाता है।

प्रो० मेजलर ने इंगित किया कि प्रशुल्क लगाने से आयात वस्तु का घरेलू मूल्य अनुपात बढ़े, यह आवश्यक नहीं है, प्रशुल्क के परिणामस्वरूप आयात वस्तु का घरेलू मूल्य अनुपात घट भी सकता है। प्रो० मेजलर के तर्क को चित्र 8 9 द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। मेजलर प्रभाव प्राप्त करने हेतु विदेशी राष्ट्र का अर्पण वक्र बेलोचदार होना आवश्यक है, अतः चित्र 8.9 में A राष्ट्र का अर्पण वक्र OA पर्याप्त बेलोचदार खींचा गया है। यदि आयात वस्तु घटिया वस्तु है तो विदेशी अर्पण-वक्र लोचदार होने पर भी मेजलर विरोधाभास पाया जा सकता है। लेकिन हमारे विश्लेषण में आयात वस्तु सामान्य वस्तु है। अतः OA अर्पण वक्र बेलोचदार होना आवश्यक है।

चित्र 8.9 में स्वतंत्र व्यापार की स्थिति में O-E व्यापार की शर्तें दर्शाने वाली रेखा है। B राष्ट्र द्वारा प्रशुल्क लगाने से व्यापार की शर्तें B राष्ट्र के पक्ष में परिवर्तित होकर $O\text{-}E_1$ हो जाती हैं। आयात वस्तु की घरेलू कीमत रेखा स्वतंत्र व्यापार वाली कीमत रेखा OE से $O\text{-}Pb_1$ हो जाती है। अतः स्पष्ट है कि प्रशुल्क लगाने से आयात वस्तु y की सापेक्ष घरेलू कीमत गिर गयी है। चित्र 8.9 में आयात वस्तु y की ou मात्रा का x वस्तु की uw मात्रा से विनिमय हो रहा है। इसमें से B राष्ट्र की सरकार $E_1\text{-}W$ प्रशुल्क वसूल कर लेती है। अतः A राष्ट्र
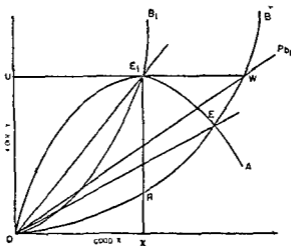
चित्र 8.9 प्रशुल्क लगाने से आयात वस्तु के मूल्य में कमी
(मेजलर विरोधाभास)

को ou के विनिमय में $U\text{-}E_1$ मात्रा प्राप्त हो रही है (ध्यान रहे प्रशुल्क लगाने के बाद व्यापार की शर्तों की रेखा $O\text{-}E_1$ है)।

मेजलर विरोधाभास में निहित दुर्बोध (difficult) आर्थिक तर्क को निम्न प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है :

मान लीजिए कि प्रशुल्क लगाने वाले राष्ट्र के निर्यातों की विदेशी माँग लोच efd है तथा K प्रशुल्क आगम का वह अनुपात है जो कि आयातों पर व्यय किया जाता है (अर्थात् K आयात वस्तु के उपभोग की सीमांत प्रवृत्ति है) तो प्रशुल्क के परिणाम-स्वरूप घरेलू कीमत अनुपात अपरिवर्तित रहने के लिए आवश्यक शर्त को निम्न प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है

$$efd = 1 - K$$

अर्थात् प्रशुल्क लगाने वाले राष्ट्र के निर्यातों की विदेशी माँग-लोच प्रशुल्क आगम से आयातों पर व्यय नहीं किये गये अनुपात (1-K) के बराबर होनी चाहिए। यदि विदेशी माँग लोच इससे अधिक है तो प्रशुल्क लगाने से आयात वस्तु के सापेक्ष घरेलू मूल्य में वृद्धि होगी, और यदि लोच कम है तो आयातों का सापेक्ष मूल्य घटेगा।

दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि यदि $efd > 1\text{-}K$ तो प्रशुल्क लगाने से

आयातो के सापेक्ष मूल्य मे वृद्धि होगी और यदि efd < 1-K तो कमी। इस अन्तिम शत को हम निम्न रूप म व्यक्त कर सकते हैं —

$$efd + K < 1$$

दूसरे शब्दो मे हम यह सकत है कि यदि विदेशी मांग लोच व आयात उपभोग की घरेलू सीमान्त प्रवृत्ति का योग इकाई से कम है तो प्रशुल्क लगाने से आयात वस्तु की सापेक्ष घरेलू कीमत घटेगी। इसी शत को मेजलर विरोधाभास' (Metzler Paradox) के नाम से जाना जाता है।

वैकल्पिक रूप से हम कह सकते हैं कि 'मेजलर विरोधाभास' के लिए आवश्यक शर्त यह है कि efd निर्यात वस्तु के उपभोग की सीमान्त प्रवृत्ति (= 1-K) से कम होनी चाहिए। अत स्पष्ट है कि मेजलर विरोधाभास' के लिए आवश्यक शर्त यह है कि घटिया वस्तु की अनुपस्थिति मे आयात वस्तु की मांग बेलोचदार होनी चाहिए। यदि आयात वस्तु घटिया वस्तु है तो K < O होगा व विदेशी मांग लोचदार होने की स्थिति मे भी मेजलर विरोधाभास' घटित हो सकता है।

इस परिणाम का अर्थशास्त्र के दृष्टिकोण से स्पष्टीकरण ग्रहण करने हेतु घरेलू राष्ट्र द्वारा लगायी गई प्रशुल्क के परिणामस्वरूप स्थिर घरेलू कीमतो पर प्रत्येक राष्ट्र के घरेलू बाजारो मे होने वाले परिवर्तनो पर ध्यान केन्द्रित करना होगा। प्रशुल्क लगाने से व्यापार की शर्तों मे सुधार से राष्ट्र की वास्तविक आय मे वृद्धि होगी, पूर्ववत् वस्तु कीमत अनुपात पर बढी हुई आय का एक अश निर्यात वस्तु के उपभोग पर व्यय किया जायेगा। हमारे विश्लेषण मे आय में से निर्यात वस्तु पर व्यय किया गया अश 1-k है। स्थिर वस्तु कीमत अनुपात की मान्यता के कारण उपभोग अथवा उत्पादन मे प्रतिस्थापन प्रभाव असभव है। विदेशी राष्ट्र पर ध्यान केन्द्रित करने से ज्ञात होता है कि प्रशुल्क लगाने वाले राष्ट्र की व्यापार की शर्तों मे सुधार के परिणामस्वरूप विदेशी राष्ट्र मे प्रशुल्क लगाने वाले राष्ट्र की निर्यात वस्तु की मांग घटेगी, इस मांग का प्रतिनिधित्व efd द्वारा किया गया है।

यदि प्रशुल्क लगाने वाले राष्ट्र की निर्यात वस्तु की घरेलु मांग मे वृद्धि 1-K, इस वस्तु की विदेशी राष्ट्र मे मांग, जिसका प्रतिनिधित्व efd द्वारा किया गया है, से अधिक है तो पूर्ववत् वस्तु कीमत अनुपात पर प्रशुल्क लगान वाले राष्ट्र की निर्यात वस्तु की आधिक्य मांग उत्पन्न हो जायेगी। अत पुन साम्य विस्थापित होने हेतु स्वदेशी निर्यात-वस्तु के सापेक्ष मूल्य मे वृद्धि होगी जिसका अभिप्राय यह है

कि पुन साम्य विस्थापित होने हेतु स्वदेशी आयात-वस्तु के सापेक्ष मूल्य मे कमी होगी।

प्रो० मेजलर के इन सृजनात्मक निष्कर्षों को प्रो० सॉडरस्टन एव प्रो० विन्ड[5] (Sodersten and Vind) ने हाल ही मे चुनौति दी है, लेकिन प्रो० आर० डब्लू जॉन्स[6] ने सॉडरस्टन एव विन्ड के तर्क की भ्रामक (Spurious) प्रकृति को प्रभावी ढग से साबित किया है।

10. प्रतिस्पर्द्धात्मक प्रभाव :—व्यापार विहीन अर्थव्यवस्थाओ मे विभिन्न श्रेणी के एकाधिकार पनपते हैं, अत: प्रशुल्क लगाकर व्यापार घटाने से घरेलू उद्योगों मे अकुशलता पनपगी तथा आधुनिकतम नव परिवर्तन अपनाने के लिए प्रेरणायें समाप्त हो जायेंगी।

प्रशुल्क लगाने से सरक्षण प्राप्त उद्योगो मे प्रतिस्पर्द्धा की शक्ति क्षीण हो जाती है, अत प्रशुल्क का प्रतिस्पर्द्धात्मक प्रभाव प्रतिस्पर्द्धा पर प्रतिकूल प्रभाव का द्योतक है।

विशुद्ध सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से हम कह सकते हैं कि यदि उद्योग विशेष विदेशी प्रतिस्पर्द्धा मे टिकने म असमर्थ है तो ऐसे उद्योग का बन्द हो जाना ही उचित होगा एव इस उद्योग से निर्मुक्त उत्पादन के साधनों को ऐसे उद्योगो म प्रयुक्त किया जाना चाहिए जिनमे राष्ट्र का तुलनात्मक लाभ है। ऐसा करने से राष्ट्र के कल्याण के स्तर मे वृद्धि होगी।

लेकिन व्यवहार मे अनेक ऐसे कारण है जिनके आधार पर उद्योगों को प्रशुल्क द्वारा सरक्षण प्रदान किया जाता है, उदाहरणार्थ, ऐसे उद्योग को सुरक्षा के दृष्टिकोण से आवश्यक माना जा सकता है, ऐसा उद्योग रोजगार प्रदान करने के दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण हो सकता है। ऐसे उद्योग को राजनेता सरक्षण प्रदान करवाने का प्रयत्न कर सकते हैं अथवा ऐसा उद्योग क्षेत्रीय नियोजन के दृष्टिकोण से आवश्यक समझा जा सकता है।

11 प्रशुल्क का आय प्रभाव :--प्रशुल्क लगाने से यदि आयात कम हो जाते है तो राष्ट्र क आयातो पर घटे व्यय को राष्ट्र के भीतर व्यय किया जायेगा

5 Sodersten, Bo, and Vind, K.,—Tariff and Trade in General Equilibrium—(A E. Rev —June, 1968) pp 394-408

6 Jones, R.W.—Tariffs and Trade in General Equilibrium—(A E Rev —June 1969), pp, 418-424

आर्थिक क्रिया मे प्रति इकाई योगित मूल्य (value added) मे होने वाली वह प्रतिशत वृद्धि है जो कि प्रशुल्क सरचना (tariff structure) द्वारा सम्भव होती है ।[7]

प्रशुल्क की प्रभावी दर न केवल उत्पादन क्रिया द्वारा उत्पादित वस्तु पर लगे प्रशुल्क पर निर्भर करती है। अपितु उपादान गुणाकों (input coefficients) व उपादानों पर लगे प्रशुल्कों पर भी निर्भर करती है।

माना कि आयातित वस्तु J मे एक ही उपादान I उपयोग मे आता है तथा यह उपादान भी आयातित है। यह भी मान लीजिए कि हम 10$ के मूल्य की J वस्तु (जूता) आयात करते हैं तथा आयातित जूते म $ 5 के मूल्य का I (चमडा) उपयोग मे लिया गया है, हम यह भी मान लेते है कि विनिमय दर $ 1 = Rs 10 है। अत तैयार जूते म *योगित मूल्य (Rs 100—Rs 50 =) 50 रु है।*

प्रशुल्क की प्रभावी दर ज्ञात करने हेतु हमे प्रशुल्क लगाने से पूर्व तथा प्रशुल्क लगाने के बाद के योगित मूल्य की गणना करनी होती है क्योकि प्रशुल्क के परिणाम-स्वरूप योगित मूल्य मे होन वाली प्रतिशत वृद्धि ही प्रशुल्क की प्रभावी दर है।

अब यदि जूते के आयात पर 20% तथा चमडे के आयातो पर शून्य प्रशुल्क है तो *योगित मूल्य ($12 — $5) अर्थात् Rs 120 — Rs 50 = Rs 70* हो जाता है। अत योगित मूल्य मे प्रशुल्क के कारण 20 रु की वृद्धि हुई है जो कि $\frac{20}{50} \times 100 = 40\%$ प्रति इकाई योगित मूल्य की वृद्धि है। यही प्रशुल्क की प्रभावी दर है।

अब यदि जूते पर 20% प्रशुल्क के साथ-साथ चमडे के आयात पर भी 10% प्रशुल्क लगाया जाता है तो योगित मूल्य (120 रु — 55रु =) 65 रु. हो जाता है तथा योगित मूल्य मे $\frac{15}{50} \times 100 = 30\%$ की वृद्धि ही प्रशुल्क की प्रभावी दर है।

मान्यताएँ (Assumptions)—प्रशुल्क की प्रभावी दर की गणना के लिए दिये गये सूत्र के पीछे कॉर्डन ने अग्रलिखित मान्यताएँ मानी थी —

7 Corden, W M—The structure of a tariff system and the effective Protective Rate',—J P E June 1966 Reprinted in Bhagwati, J (ed.) International Trade p 285.

(1) समस्त भौतिक उपादान-उत्पाद गुणाक स्थिर हैं,

(2) समस्त निर्यातो की मांग लोचें एव समस्त आयातो की पूर्ति लोचें अनन्त हैं।

(3) प्रशुल्क, अन्य कर व उपदान लगाने के पश्चात् भी समस्त व्यापार योग्य वस्तुओ का व्यापार होता रहता है ताकि प्रत्येक आयात वस्तु की घरेलू कीमत विदशी कीमत व प्रशुल्क के योग के बराबर हो।

(4) कुल व्यय को उपयुक्त मौद्रिक व राजकोषीय नीतियो द्वारा पूर्ण रोजगार की आय के स्तर पर बनाये रखा जाता है।

(5) पूर्ति एव मांगकर्त्ता राष्ट्रो के मध्य समस्त प्रशुल्क एव अन्य व्यापार कर व उपदान अविभेदात्मक (non-discriminatory) हैं।

प्रशुल्क की प्रभावी दर की गणना का सूत्र

(The formula for the effective protective rate)

मान लीजिए कि आयातित वस्तु j है तथा इसमे एक ही उपादान i उपयाग मे लिया जाता है और इसका भी आयात हो रहा है। आयात प्रशुल्क के सिवाय j तथा i को प्रभावित करने वाले अन्य कोई कर अथवा उपदान नही है। तो j उत्पादन क्रिया के लिए प्रशुल्क की प्रभावी दर की गणना के सूत्र की निम्न प्रकार से व्युत्पत्ति की जा सकती है :—

मानाकि

V_j = प्रशुल्क की अनुपस्थिति मे j उत्पादन क्रिया मे j वस्तु में प्रति इकाई योगित मूल्य

V'_j = प्रशुल्क सरचना के परिणामस्वरूप j उत्पादन क्रिया मे j वस्तु म प्रति-इकाई योगित मूल्य

g_j = j उत्पादन क्रिया मे प्रशुल्क की प्रभावी दर

p_j = प्रशुल्क की अनुपस्थिति मे j वस्तु का प्रति इकाई मूल्य

a_{ij} = प्रशुल्क की अनुपस्थिति मे i का j की लागत से अनुपात

t_j = j वस्तु पर प्रशुल्क की दर

t_i = i पर प्रशुल्क की दर

अतः

$$V_j = p_j(1 - a_{ij}) \qquad (1)$$

$$V'_j = p_j[(1 + t_j) - a_{ij}(1 + t_i)] \qquad (2)$$

$$g_j = \frac{V'_j - V_j}{V_j} \qquad (3)$$

समीकरण (1) व (2) के मान (3) में रखने पर

$$g_j = \frac{p_j[(1 + t_j) - a_{ij}(1 + t_j)] - p_j(1 - a_{ij})}{p_j(1 - a_{ij})}$$

$$= \frac{1 + t_j - a_{ij} - a_{ij}t_i - 1 + a_{ij}}{1 - a_{ij}}$$

$$g_j = \frac{t_j - a_{ij}t_i}{1 - a_{ij}} \qquad (4)$$

समीकरण (4) वाला मूल सूत्र है इसके आशय का सार निम्न प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है —

यदि $t_j > t_i$, तो $g_j > t_j > t_i$

यदि $t_j < t_i$, तो $g_j < t_j < t_i$

यदि $t_j = t_i$, तो $g_j = t_j = t_i$

यदि $t_j < a_{ij} t_i$, तो $g_j < 0$

उपर्युक्त विश्लेषण के सार को हम निम्न प्रकार से व्यक्त कर सकते हैं —

यदि सांकेतिक (nominal) प्रशुल्क की दर उपादान पर प्रशुल्क की दर से अधिक है तो प्रभावी प्रशुल्क की दर सांकेतिक दर से अधिक, कम है तो प्रभावी दर सांकेतिक से कम और समान है तो प्रभावी व सांकेतिक प्रशुल्क की दरें भी समान होंगी। ऋणात्मक प्रभावी प्रशुल्क उस स्थिति में होगा जब प्रशुल्क के परिणामस्वरूप उत्पादन लागत की निरपेक्ष वृद्धि वस्तु की कीमत में वृद्धि से अधिक हो।

प्रभावी दर पर t_j t_i तथा a_{ij} में परिवर्तनों के प्रभावों को समीकरण (4) के मूल सूत्र का इनके सन्दर्भ में अवकलन करके क्रमशः निम्न प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है —

$$\frac{\partial g_j}{\partial t_j} = \frac{1}{1 - a_{ij}}$$

$$\frac{\partial g_j}{\partial t_i} = - \frac{a_{ij}}{1 - a_{ij}}$$

$$\frac{\partial g_j}{\partial a_{ij}} = \frac{t_j - t_i}{(1 - a_{ij})^2}$$

समीकरण (4) को हम निम्न प्रकार से भी लिख सकते हैं —

$$t_j = (1 - a_{ij})\, g_j + a_{ij}\, t_i \qquad (4\ 1)$$

जिसका अभिप्राय यह है कि तैयार माल पर साकेनिक दर उसकी स्वय की प्रभावी दर तथा उपादान पर प्रशुल्क की दर का भारशील औसत है। यदि J वस्तु के उत्पादन मे बहुत से उपादानो का उपयोग होता है तथा सभी उपादान आयातित है तो

$$g_j = \frac{t_i - \sum_{i=1}^{n} a_{ij}\, t_i}{1 - \sum_{i=1}^{n} a_{ij}} \qquad (4\ 2)$$

यह तथ्य महत्त्वपूर्ण है कि किसी वस्तु की प्रभावी प्रशुल्क की दर उस वस्तु म प्रयुक्त उपादानो मे लग उपादानो पर प्रशुल्को म परिवतनो से प्रभावित नहीं हाती है।

प्रो० कॉडन ने प्रशुल्क की प्रभावी दर की अवधारणा के आधार पर प्रशुल्क की चार भिन्न अवधारणाओ को इगित किया है —

प्रथम, यदि उद्योग विशेष की वस्तु पर सांकेतिक दर धनात्मक है तो उस उद्योग को सरक्षण प्रदान है। लेकिन साकेतिक दरें उपभोग प्रभाव के लिए तो महत्त्वपूर्ण हैं *परन्तु प्रशुल्क के उत्पादन प्रभाव क बारे मे कुछ भी इगित नही करतीहैं।*

द्वितीय, यदि उद्योग विशेष की वस्तु पर प्रशुल्क की प्रभावी दर धनात्मक है *तो उस उद्योग को सरक्षण प्रदान है। यदि विनिमय दर अपरिवर्तित रहे तथा* व्यापार म शामिल नहीं होने वाली वस्तुओ का कीमतें दी हुई हैं तो धनात्मक प्रभावी

चौथे, प्रशुल्क की प्रभावी दरों की सहायता से हम विकसित राष्ट्रों की प्रशुल्क संरचना को भी भली-भाँति समझ सकते हैं। विकसित राष्ट्र कच्चे माल का आयात तो निःशुल्क करते हैं अर्द्ध-निर्मित माल के आयातों पर मामूली प्रशुल्क लगाये रखते हैं तथा तैयार माल के आयातों पर ऊँची प्रशुल्क की दरें बनाये रखते हैं। प्रशुल्क की इस संरचना के कारण विकसित राष्ट्रों में इस प्रकार के तैयार माल उत्पादित करने वाले उद्योगों की प्रशुल्क की प्रभावी दर सांकेतिक दर से काफी अधिक बनी रहती है। विकसित राष्ट्रों की इस प्रकार की प्रशुल्क संरचना के परिणामस्वरूप अर्द्धविकसित राष्ट्रों में औद्योगीकरण को प्रोत्साहन नहीं मिल पाता है। क्योंकि एक ओर तो अर्द्ध-विकसित राष्ट्रों से कच्चा माल आसानी से निर्यात होता रहता है तथा दूसरी ओर तैयार माल के निर्यात ऊँची प्रशुल्क दरों के कारण हतोत्साहित होते हैं।

प्रशुल्क की प्रभावी दर का विश्लेषण राष्ट्र के निर्यातों की स्थिति के अध्ययन में भी सहायक है। उदाहरणार्थ, यदि राष्ट्र के निर्यातकर्त्ताओं को निर्यात वस्तु में उपयोग में आने वाले आयातित उपादानों पर प्रशुल्क चुकाने के परिणामस्वरूप स्वतंत्र व्यापार की स्थिति की तुलना में योगित मूल्य में कमी हो जाती है तो विश्व-बाजार की कीमत पर निर्यात करने हेतु निर्यात वस्तु को उपदान (subsidy) दिया जाना आवश्यक होता है।

प्रशुल्क की प्रभावी दर के सूत्र के पीछे निहित मान्यताओं का मूल्यांकन

(Evaluation of the assumptions made in the formula for the effective protective rate)

प्रथम, यह कि प्रशुल्क की प्रभावी दर के सूत्र में उपादान गुणांक (a_{ij}) को स्थिर मान लिया गया है। यह मान्यता सही नहीं है। आर्थिक सिद्धान्तों के अध्ययन से हमें ज्ञात होता है कि समोत्पत्ति वक्र मूल बिन्दु की ओर उन्नतोदर होते हैं तथा इन वक्रों की आकृति के अनुरूप साधन कीमत अनुपातों में परिवर्तनों के परिणामस्वरूप उत्पादन में उपयोग किये जाने वाले साधन कीमत अनुपात भी परिवर्तित होते हैं। प्रशुल्क के परिणामस्वरूप उपादानों की कीमत परिवर्तित होती है अतः उपादान गुणांक स्थिर मान लेना उचित नहीं है।

द्वितीय, यह कि यदि हम उपादानों पर प्रशुल्क के परिणामस्वरूप उपादानों के उपयोग में लिए जाने वाले अनुपातों (a_{ij}) के परिवर्तनों को स्वीकार कर लें तो प्रशुल्क की प्रभावी दर का सूत्र एक ऐसी समीकरण बन जाता है जिसमें दो अज्ञात

(unknown) aij तथा gi-है मन दो मज्ञातों वाली एक समीकरण का हल सम्भव नही होगा।

प्रो० कॉर्डन की प्रभावी प्रशुल्क की मवधारणा मे योगित मूल्य की साधन भावटन मे केन्द्रीय भूमिका की मान्यता भी उचित नही है। मार्थिक सिद्धान्तो मे साधन भावटन मे केन्द्रीय भूमिका लाभ (profits) को प्रदान की जाती है। लाभ व योगित मूल्य मे एक ही दिशा मे तथा एक समान परिवर्तन होना मावश्यक नही है।

मत हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि प्रशुल्क की प्रभावी दर की मवधारणा भाशिक साम्य विश्लेषण पर माधारित है जिसमे मन्य बातो को समान मान लिया गया है जबकि वास्तव मे मन्य बातें समान रहती नही हैं।

प्रशुल्क का सामान्य साम्य विश्लेषण

(General Equilibrium Analysis of a Tariff)

भाशिक साम्य विश्लेषण मे प्रशुल्क के केवल वस्तु विशेष पर प्रभावो पर ध्यान केन्द्रित किया गया था। यदि हमे सम्पूर्ण मायात प्रतिस्थापन क्षेत्र को सरक्षण प्रदान करना है तो प्रशुल्क के प्रभावो को सामान्य साम्य विश्लेषण के रूप मे प्रस्तुत करना होगा। *सामान्य साम्य विश्लेषण की सहायता* से प्रशुल्क के उत्पादन व उपभोग प्रभाव दर्शाने के मलावा हम कुछ मतिरिक्त मन्तरदृष्टि भी प्राप्त कर सकते हैं।

मान लीजिए कि विचारार्थ राष्ट्र x तथा y दो वस्तुमो का उत्पादन कर रहा है जो कि क्रमशः निर्मितमाल व कृषि उत्पाद हैं।

चित्र 8 10 मे स्वतत्र व्यापार मे विचारार्थ राष्ट्र निर्मित माल के उत्पादन मे विशिष्टीकरण करता है तथा साम्य उत्पादन एव साम्य उपभोग बिन्दु क्रमश P' व C' हैं। अब मान लीजिये कि यह राष्ट्र कृषि उत्पादो के मायातो पर मायात प्रशुल्क लगा देता है एव घरेलू उत्पादन बिन्दु P' से Pt हो जाता है तो P' से Pt उत्पादन का परिवर्तन 'सरक्षण प्रभाव' कहलायेगा तथा प्रशुल्क लगाने से उपभोग बिन्दु का C' से Ct होना 'उपभोग प्रभाव' दर्शाता है।

नया उपभोग बिन्दु Ct निर्धारित होने के पीछे हमारी यह मान्यता है कि विचारार्थ राष्ट्र प्रशुल्क लगाकर विश्व बाजार कीमत को प्रभावित नही कर सका है *मत. चित्र 8.10 मे Pt-Ct रेखा P'-C' स्वतत्र व्यापार की शर्तों वाली रेखा के* समानान्तर खीची गयी है। लेकिन प्रशुल्क लगाने से मायात वस्तु y के घरेलू मूल्य मे प्रशुल्क के बराबर वृद्धि हो जाती है। मतः घरेलू मूल्य मनुपात PD रेखा के ढाल द्वारा दर्शाया गया है।
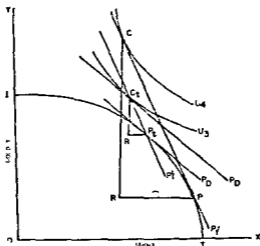
चित्र 8 10 : सामान्य साम्य मे प्रशुल्क व्यापार की शर्तें यथास्थिर

प्रशुल्क वाली घरेलू कीमत रेखा PD उत्पादन सम्भावना वक्र के Pt बिन्दु पर स्पर्श है अत साम्य उत्पादन बिन्दु Pt होगा। साम्य उपभोग बिन्दु Ct पर P_D के *समानान्तर खीची गयी कीमत रेखा P'D समुदाय उदासीन वक्र* u_4 *के ठीक उस* बिन्दु पर स्पर्श है जहाँ पर अन्तर्राष्ट्रीय कीमत अनुपात रेखा P f समुदाय उदासीन वक्र u_3 को काटती है। ऐसा इसलिए आवश्यक है कि व्यापार अन्तर्राष्ट्रीय कीमत अनुपात रेखा के ढाल के अनुरूप ही सम्भव है। चित्र 8.10 मे प्रशुल्क की स्थिति में विचारार्थ राष्ट्र R'-Ct आयात के विनिमय मे R'-Pt निर्यात कर रहा है तथा

P f रेखा का ढाल भी $\frac{R'—Ct}{R'—Pt}$ है अत व्यापार मे R'-Pt निर्यातो के विनिमय मे R'-Ct आयात प्राप्त करना सम्भव है।

चित्र 8 10 में प्रशुल्क *PD* अथवा *PD'* (प्रशुल्क सहित वाला घरेलू कीमत अनुपात दर्शाने वाली) तथा Pf अथवा Pf (अन्तर्राष्ट्रीय कीमत अनुपात दर्शाने वाली) रेखाओं के ढाल के अन्तर के बराबर है।

चित्र 8 10 से स्पष्ट है कि प्रशुल्क लगाने से यदि व्यापार की शर्तें अपरिवर्तित रहती हैं तो प्रशुल्क लगाने वाले राष्ट्र का कल्याण का स्तर घट जाता है अत.

वाले उदासीन वक्र U_3 से ऊँचा उदासीन वक्र है। अतः स्पष्ट है कि यदि एक राष्ट्र बड़ा आयातकर्ता है तो वह प्रशुल्क द्वारा व्यापार की शर्तों को प्रभावित करके प्रशुल्क से विशुद्ध लब्धि अर्जित कर सकता है।

ध्यान रहे कि यदि व्यापार की शर्तें स्वतः ही परिवर्तित होतीं एवं विचाराधीन राष्ट्र प्रशुल्क नहीं लगाता तो इस राष्ट्र की व्यापार से लब्धियाँ और भी अधिक होतीं तथा राष्ट्र का साम्य उपभोग बिन्दु U_5 समुदाय उदासीन वक्र पर C" होता।

---

(4) भुगतान की शर्तों (Payment Conditions) द्वारा आयातों का नियमन, तथा

(5) अधिभारो (Surcharges) (अथवा बहु-विनिमय दरो) से सम्बद्ध अतिरिक्त तदर्थ (ad hoc) नियमन जिनसे आयात लाइसेंस की उपादेयता की लागत निर्धारित होती है।

आयात नियतांश के प्रभाव

(*Effects of an import Quota*)

यदि आयातकर्ता राष्ट्र को वस्तु विशेष के विदेशी माँग व पूर्ति वक्रो की आकृति ज्ञात है तथा ये वक्र बेलोचदार नही हैं तो प्रशुल्क व नियताश के प्रभाव एक समान होंगे।

इस सन्दर्भ मे प्रो० जगदीश भगवती ने प्रशुल्क व नियताश की समानता (*equivalence*) की अवधारणा को निम्न शब्दों मे व्यक्त किया है

'——— प्रशुल्क व नियताश इस आशय से समान होते हैं कि स्पष्ट प्रशुल्क दर (explicit tariff rate) आयातों का वह स्तर उत्पन्न करेगी जिसे वैकल्पिक रूप से नियताश तय (set) कर दिया जाये तो वह स्पष्ट प्रशुल्क के बराबर निहित प्रशुल्क (implicit tariff) उत्पन्न करेगा और इसी प्रकार (and, pairwise) नियताश वह निहित प्रशुल्क उत्पन्न करेगा जिसे वैकल्पिक रूप से स्पष्ट प्रशुल्क तय कर दी जाये तो वह नियतांश के बराबर आयातो का स्तर उत्पन्न करेगी।'[1]

प्रशुल्क व नियताश की समानता को आंशिक साम्य चित्र 9 1 की सहायता से भली-भाँति स्पष्ट किया जा सकता है। चित्र 9.1 पिछले अध्याय के चित्र 8 1 की पुनरावृत्ति मात्र है, अन्तर केवल यह है कि यहाँ हम प्रशुल्क व कोटा के वैकल्पिक प्रभावों पर ध्यान केंद्रित करके दोनो की समानता का अध्ययन करेंगे।

चित्र 9 1 मे हम P P प्रशुल्क लगायें अथवा x_1-x_2 मात्रा के बराबर आयात नियतांश निर्धारित करें उपभोग प्रभाव, सरक्षण प्रभाव व पुनर्वितरण प्रभाव एक समान ही होंगे।

चित्र 9 1 मे x_1-x_2 मात्रा के बराबर नियताश निर्धारित करने पर x-वस्तु की कीमत P से बढ़कर P हो जाती है, अत x_2-x_3 उपभोग मे कमी नियताश का उपभोग-

1' Bhagawati J.—'On the Equivalence of Tariffs and Quotas in—*Tariffs Trade and Growth*—Cambridge MIT press, 1969, p 248
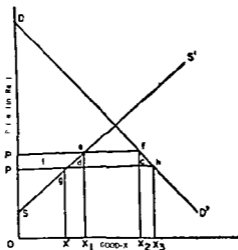
चित्र 9.1 प्रशुल्क व नियताश मे समानता

प्रभाव, x-x1 घरेलू उत्पादन मे वृद्धि नियताश का आयात प्रतिस्थापन प्रभाव व t द्वारा दर्शाया गया क्षेत्र नियताश का पुनर्वितरण प्रभाव है।

प्रशुल्क के प्रभावो के चित्र मे हमने edcf आयताकार द्वारा राजस्व प्रभाव दर्शाया था, लेकिन नियताश में यह क्षेत्र आयातकर्त्ता राष्ट्र की सरकार के पास राजस्व के रूप मे जाए, यह आवश्यक नही है। अतः प्रशुल्क व नियताश के प्रभावो मे राजस्व प्रभाव का अन्तर मुख्य अन्तर है।

यदि आयातकर्त्ताओ का एकाधिकार है तो edcf क्षेत्र आयातकर्त्ताओ को प्राप्त हो सकता है और यदि निर्यातकर्त्ता राष्ट्र सगठित हैं तो यह क्षेत्र निर्यातको के पास जा सकता है, अथवा इस क्षेत्र मे से कुछ हिस्सा आयातकर्त्ताओ को तथा कुछ निर्यातकर्त्ताओ को प्राप्त हो सकता है।

मान लीजिए कि आयातकर्त्ता राष्ट्र की सरकार आयात लाइसेन्सो की निलामी करके edcf के बराबर राजस्व अर्जित कर लेती है तो प्रशुल्क व नियताश के प्रभाव पूर्णतया एक समान हो जायेंगे।

चित्र 9.1 से स्पष्ट है कि x_1-x_2 मात्रा के बराबर नियताश निर्धारित करने से निहित प्रशुल्क P-P' के बराबर उत्पन्न होती है, वैकल्पिक रूप से यदि हम P-P के

बराबर स्पष्ट प्रशुल्क लगाएँ तो आयातों का स्तर x_1-x_2 उत्पन्न होगा। अतः स्पष्ट है कि चित्र 9.1 प्रशुल्क व नियतांश में समानता (equivalence) दर्शाता है। जब प्रशुल्क व नियतांश एक समान होते हैं तो स्वाभाविक ही है कि प्रशुल्क व नियतांश के प्रभाव भी एक जैसे होंगे।

नियतांश का उद्गम

(Origin of Quotas)

यदि प्रशुल्क व नियतांश के प्रभाव एक समान होते हैं तो महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि तीसा के दशकों में नियतांश इतने अधिक प्रचलित क्यों हुए? इस प्रश्न का उत्तर तीन हिस्सों में प्रदान किया जा सकता है:

प्रथम, ऐसी वस्तुएँ जिनके आयातों पर सर्वप्रथम नियतांश निर्धारित किये गये थे उनके विदेशी पूर्ति वक्र पूर्णतया बेलोचदार थे।

यदि विदेशी पूर्ति-वक्र बेलोचदार है तो प्रशुल्क लगाकर आयातकर्ता राष्ट्र व्यापार की शर्तें अनुकूल करने में व राजस्व अर्जित करने में तो सफल हो सकता लेकिन अपने आयात प्रतिस्थापन उद्योगों का उचित प्रशुल्क लगाकर संरक्षण प्रदान करने में असमर्थ रहता है क्योंकि प्रशुल्क के बराबर विदेशी राष्ट्र कीमत घटा सकता है। अतः ऐसी परिस्थितियों में घरेलू उद्योगों को संरक्षण प्रदान करने हेतु नियतांश तय करना आवश्यक हो जाता है। कृषि-पदार्थों के पूर्ति-वक्र विशेष रूप से बेलोचदार होते हैं अतः इन वस्तुओं के घरेलू उत्पादन को संरक्षण प्रदान करने का प्रभावी उपकरण नियतांश ही है।

द्वितीय, विदेशी राष्ट्रों के पूर्ति वक्रों की आकृति का पूर्वानुमान न होने की स्थिति में यह तय करना लगभग असम्भव होता है कि घरेलू उद्योगों को निश्चित सीमा तक संरक्षण प्रदान करने हेतु प्रशुल्क का स्तर कितना निर्धारित किया जाये। यदि विदेशी राष्ट्र राशिपतन कर रहा है तो स्थिति और भी जटिल हो जाती है। इसके विपरीत नियतांश तय कर देने से घरेलू उद्योग को संरक्षण प्राप्त होना सुनिश्चित हो जाता है। अतः नियतांशों के उद्गम का दूसरा महत्त्वपूर्ण कारण नियतांश द्वारा प्रदत्त निश्चितता थी।

तृतीय, नियतांशों के उद्गम का कारण प्रशासनिक लचक थी। प्रशुल्क व व्यापार पर सामान्य समझौता (General Agreements on Tariffs and Trade) के

परमानुग्रहित राष्ट्र नियमों (Most favoured Nation Clauses) के द्वारा प्रशुल्क इतनी अधिक सस्थागत बन चुकी थी कि किसी भी राष्ट्र के लिए प्रशुल्क मे वृद्धि करना आसान कार्य नहीं रह गया था । इसके विपरीत नियतांश तय करना अपेक्षाकृत सरल कार्य था । अत: नियतांशों के उद्गम का तृतीय महत्वपूर्ण कारण प्रशासनिक लचक थी ।

प्रशुल्क व नियतांश के प्रचालन में अन्तर

(Differences in the operation of Tariffs and Quotas)

चित्र 9.1 के प्रशुल्क व नियतांश की समानता के प्रदर्शन से हमे यह धारणा नहीं बनानी चाहिए कि प्रशुल्क व नियतांश मे विशेष अन्तर नहीं है । वास्तव मे प्रशुल्क व नियतांश के प्रचालन मे महत्वपूर्ण अन्तर हैं जिनकी हम यहाँ विस्तार से चर्चा करेंगे :

(1) जब तक नियतांश प्रभावी रहता है (अर्थात् स्वतंत्र व्यापार की तुलना मे नियतांश की स्थिति मे आयातों की मात्रा कम रहती है) मांग अथवा पूर्ति के किसी भी परिवर्तन का प्रशुल्क के अन्तर्गत आयातित मात्रा मे समायोजन होता है जबकि नियतांश की स्थिति मे ऐसा समायोजन घरेलू कीमत मे होता है तथा आयातों की मात्रा पूर्ववत् बनी रहती है ।

प्रशुल्क व नियतांश के इस मूलभूत अन्तर को चित्र 9.2 द्वारा स्पष्ट किया गया है ।

चित्र 9.2 मे हमने विदेशी पूर्ति कीमत स्थिर मानी है अर्थात् विचारार्थ राष्ट्र छोटा आयातकर्त्ता है जो प्रशुल्क अथवा नियतांश लगाकर आयात वस्तु की विश्व बाजार मे प्रचलित कीमत को प्रभावित करने मे सक्षम नहीं है ।

स्वतंत्र व्यापार की स्थिति मे विदेशी कीमत OP तथा आयात ab (=gh) है । अब यदि P-P_1 प्रशुल्क लगा दी जाती है तो कीमत मे P-P_1 की वृद्धि हो जायेगी एव OP_1 कीमत पर आयातों की मात्रा घटकर cd (=ef) हो जाती है । वैकल्पिक रूप से यदि हम cd (=ef) मात्रा के बराबर आयात नियतांश तय देते हैं तो x वस्तु की कीमत स्वतंत्र व्यापार की OP कीमत से बढ़कर O-P_1 हो जाती है । अत: स्पष्ट है कि P-P_1 प्रशुल्क तथा cd (=ef) आयात नियतांश के प्रारम्भिक प्रभाव एक समान हैं । आयात नियतांश की स्थिति मे यदि सरकार लाइसेंसों की निलामी द्वारा प्रशुल्क
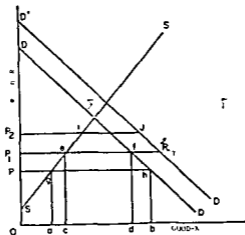
चित्र 9.2 घरेलू माँग मे वृद्धि तथा प्रशुल्क व नियताश के प्रभावो की तुलना

के समान राजस्व अर्जित कर लेती है तो P-P_1 प्रशुल्क तथा cd (=ef) आयात नियताश के प्रभाव पूर्णतया समान हो जाते हैं।

अब मान लीजिए कि घरेलू माँग मे वृद्धि के कारण घरेलू माँग वक्र D-D से D-D' हो जाता है। माँग-वक्र की विवर्ती (shift) के बावजूद प्रशुल्क की स्थिति मे घरेलू कीमत OP_1 ही बनी रहेगी क्योंकि घरेलू उत्पादक विदेशी पूर्ति वक्र (O-P_1) से अधिक कीमत वसूल करने मे असमर्थ हैं, अतः माँग वक्र की विवर्ती के परिणामस्वरूप आयातों का स्तर ef से बढकर ek हो जायेगा। अत माँग की वृद्धि का आयातित मात्रा म समायोजन हुआ है जबकि कीमत पूर्ववत् ही है। इसके विपरीत आयात नियताश की स्थिति मे आयातो का स्तर ef (=cd) मात्रा पर स्थिर बना रहता है अत माँग की विवर्ती के कारण घरेलू कीमत (O-P_1) से बढकर O-P_2 हो जायेगी एव आयातो की मात्रा IJ(=ef) स्थिर बनी रहेगी।

(2) प्रशुल्क व नियताश में एक अन्य महत्त्वपूर्ण अन्तर, जो कि प्रथम अन्तर में सम्मिलित है, लेकिन जिसकी ओर कम ध्यान दिया जाता है, यह है कि आयात वस्तु की विदेशी कीमत घरेलू कीमत से कम होने के कारण माँग घटने से घरेलू उत्पादन घट जाता है जबकि आयात का स्तर पूर्ववत् ही बना रहता है। घरेलू माँग मे कमी

(तथा/अथवा निर्यातकर्ता राष्ट्र मे माँग मे वृद्धि) के परिणामस्वरूप आयातो का स्तर उस समय तक यथास्थिर बना रहेगा जब तक कि नियताश अप्रभावी (अर्थात् विदेशी पूर्ति कीमत व घरेलू कीमत का समान हो जाना) नही हो जाता है। इस बिन्दु को चित्र 9 3 द्वारा स्पष्ट किया गया है।

चित्र 9 3 मे प्रारम्भिक माँग वक्र D-D व पूर्ति-वक्र S-S है अत स्वतत्र व्यापार मे कीमत O-P व आयातो की मात्रा a-b है। विदेशी पूर्ति कीमत स्थिर मान लेने पर $P\text{-}P_1$ प्रशुल्क लगाने से घरेलू कीमत बढकर $O\text{-}P_1$ हो जाती है तथा आयातो का स्तर घटकर cd (=ck) हो जाता है। वैकल्पिक रूप से यदि c-k मात्रा के स्तर पर नियताश तय कर दिया जाता है तो घरेलू कीमत O-P से बढकर $O\text{-}P_1$ हो जाती है अर्थात् नियताश की स्थिति मे निहित प्रशुल्क (implicit tariff) स्पष्ट प्रशुल्क $P\text{-}P_1$ के समान है।
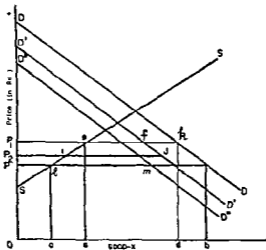
चित्र 9.3 : आयात नियताश की स्थिति मे आयातो का स्तर नियताश के स्तर पर निर्भर

अब मान लीजिए घरेलू माँग मे कमी से माँग वक्र D–D से विवर्त होकर D'-D' हो जाता है तो प्रशुल्क की स्थिति मे घरेलू कीमत $O\text{-}P_1$ ही बनी रहेगी तथा आयातो का स्तर ek (=cd) से घटकर ef हो जायेगा। इसके विपरीत आयात नियताश की स्थिति म आयातो का स्तर पूववत् ek(=ij) ही बना रहेगा जबकि कीमत $O\text{-}P_1$ से घटकर OP_2 हो जायेगी एव घरेलू पूर्ति $P_1\text{-}e$ से घटकर $P_2\text{-}i$ हो जायेगी।

अत स्पष्ट है कि आयात नियताश की स्थिति मे आयातों का स्तर नियताश द्वारा तय स्तर से कम उस समय तक नही हो सकता है जब तक कि स्वतन्त्र व्यापार मे घरेलू माँग व पूर्ति का अन्तर आयात नियताश-द्वारा तय मात्रा से कम नही हो जाता है। चित्र 9 3 मे यदि माँग-वक्र विवर्त होकर D"-D" हो जाता है तो आयातो का स्तर (Im) ठीक आयात नियताश की मात्रा (ek = ij) के बराबर है। D"-D" माँग-वक्र पर घरेलू कीमत गिरकर स्वतन्त्र व्यापार वाली कीमत O-P के बराबर हो जाती है, घरेलू कीमत व विदेशी कीमत का अन्तर समाप्त हो जाता है अत माँग-वक्र यदि D"-D" से नीचे विवर्त होता है तभी आयातो की मात्रा आयात नियताश के स्तर से कम हो सकती है अन्यथा नहीं।

(3) उपर्युक्त दो अन्तरो से स्पष्ट है कि आयात नियताश की स्थिति में आयातो का स्तर न तो नियताश द्वारा तय स्तर से अधिक हो सकता है और न ही कम। अत *नियताश प्रणाली के अन्तर्गत भुगतान सन्तुलन मे समायोजन जितना प्रतीत* होता है उससे भी कही अधिक दुष्कर हो जाता है। स्पष्ट है कि नियतांश प्रणाली के अन्तर्गत भुगतान सन्तुलन के समायोजन मे अत्यधिक दृढता (rigidity) आ जाती है।

(4) प्रभावी नियताश की स्थिति में आयातकर्ता व निर्यातकर्ता राष्ट्रो में विद्यमान कीमतों का अन्तर *प्रशुल्क व परिवहन लागतो द्वारा सृजित अन्तर से कही अधिक* बना रहता है। इसके विपरीत प्रशुल्क प्रणाली के अन्तर्गत, यदि निषेधात्मक प्रशुल्क नहीं है तो, दोनो राष्ट्रो की घरेलू कीमतो का अन्तर प्रशुल्क तथा हस्तान्तरण लागत (transfer cost) द्वारा सृजित अन्तर से अधिक लम्बे समय तक बना रहना सम्भव नही है।

अत प्रशुल्क प्रणाली के अन्तगत दोनो व्यापाररत राष्ट्रो की कीमत के मध्य सम्पर्क बना रहता है एव दोनो राष्ट्रो मे कीमतो के चलन एक दूसरे के समानान्तर होत रहते हैं। जबकि आयात नियताश की स्थिति में दोनो राष्ट्रो की कीमतो की आपसी कड़ी टूट जाती है।

(5) नियताश प्रणाली के अन्तर्गत दोनो राष्ट्रो मे विद्यमान कीमत अन्तराल का एक *महत्त्वपूर्ण परिणाम यह होता है कि नियताशाधीन आयातित वस्तु का व्यापार* अत्यधिक आकर्षक बन जाता है। आयात लाइसेंस प्राप्तकर्ता भारी लाभ अर्जित करते हैं।

अत कोटा प्रणाली के अन्तर्गत दो प्रकार की प्रशासनिक कठिनाइयों का उदय होता है —

प्रथम, तो यह कि पूर्तिकर्त्ता राष्ट्रों के मध्य नियतांश को कैसे आवंटित किया जाये तथा द्वितीय यह कि व्यक्तिगत आयातकर्त्ता को आयात लाइसेंस किस आधार पर आवंटित किये जाये।

आधार वर्ष के अनुसार वितरण न्यायोचित नहीं हो सकता है। यहाँ तक कि यदि हम समय-समय पर नयी फर्म्स (Firms) को नियतांश की एक निश्चित प्रतिशत आवंटित करने तथा शेष मात्रा का विद्यमान फर्म्स के मध्य समायोजन करने का प्रावधान रख दें तब भी इस मूलभूत कठिनाई का हल नहीं हो पायेगा कि नियतांश प्रणाली के अन्तर्गत प्रतियोगिता द्वारा सर्वाधिक उपयुक्त का चुनाव कैसे हो? इसके अतिरिक्त अल्प पूर्ति बनाये रखने हेतु निहित स्वार्थ उत्पन्न हो जाते हैं। अत. नियतांश प्रणाली द्वारा भ्रष्टाचार व धोखाधड़ी का बीजारोपण होता है।

(6) अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के क्षेत्र में आयात नियतांश प्रणाली में राष्ट्रों के मध्य भेदभाव टालना लगभग असम्भव होता है क्योंकि नियतांश आवंटित करने का कोई ऐसा स्वीकार्य सिद्धान्त नहीं है जिसे अविभेदात्मक कहा जा सके।

समय-समय पर नियतांश आवंटन के विभिन्न सिद्धान्तों को अविभेदात्मक बताकर प्रस्तुत किया गया है लेकिन इनमें से कोई भी संतोषजनक नहीं है। उदाहरणार्थ, पूर्तिकर्त्ता राष्ट्रों के लिए समान नियतांश निर्धारित करना स्पष्ट ही असमान (unequitable) होता है क्योंकि इसके अन्तर्गत छोटे व बड़े पूर्तिकर्त्ता राष्ट्रों के लिए समान नियतांश तय किया जाता है जो कि भेदात्मक है।

इसी प्रकार प्रतिवर्ष उच्चावचन होने वाली फसलों के सदर्भ में किसी आधारवर्ष के अनुपात में नियतांश आवंटित करना भी असन्तोषजनक व अन्यायपूर्ण होता है। औद्योगिक वस्तुओं के सन्दर्भ में भी परिस्थितियाँ के परिवर्तित होने के साथ-साथ नियतांश का आधार भी पुराना पड़ जाता है।

(7) कई बार यह तर्क प्रस्तुत किया जाता है कि नियतांश द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सम्बन्धों को स्थायी बनाये रखने में योगदान मिलता है क्योंकि आयातों के स्तर में माँग व पूर्ति की शक्तियों द्वारा उच्चावचन नहीं आ पाते हैं।

हाँ, यह तो सत्य है कि कुछ वस्तुओं की आयातित मात्रा में नियतांश द्वारा स्थायीकरण आया है तथा आ सकता है। आयातों के स्वरूप व मात्रा की

आवश्यकता में समय-समय पर परिवर्तन होते रहते हैं अत नियताश की कोई भी विस्तृत व्यवस्था जो कि आयातों की सरचना व मात्रा को स्थायी बनाये रखने वाली है उसमे निरन्तर परिवर्तन करते रहना आवश्यक होगा।

(8) प्रशुल्क व आयात नियताश के प्रचालन म एक अन्य अन्तर यह है कि नियताश प्रणाली के अन्तर्गत प्रशुल्क की तुलना म घरेलु उत्पादक अपने आपको अधिक सुरक्षित महसूस करता है एव इस सुरक्षा के परिणामस्वरूप उत्पादक नियताश-प्रणाली क अन्तर्गत प्रशुल्क की तुलना मे अधिक विनियोग व अधिक उत्पादन करने को प्रेरित होते हैं।

(9) लेकिन अन्तर (8) का दूसरा पहलू भी है, वह यह कि नियताश प्रणाली एकाधिकारी की स्थिति को पनपाने म योगदान देती है। मान लीजिए कि आयात वस्तु का घरेलु उत्पादक एकाधिकारी है, तो प्रशुल्क प्रणाली के अन्तर्गत यह एकाधिकारी अधिक से अधिक विदेशी कीमत व प्रशुल्क के योग के बराबर वस्तु की कीमत वसूल कर सकता है इससे अधिक नहीं। अब यदि प्रशुल्क प्रणाली बाद आयात के स्तर पर नियताश निर्धारित कर देते हैं तो घरेलु एकाधिकारी उत्पादन घटा देगा व कीमत बढा देगा और इस प्रकार अपनी एकाधिकारी शक्ति को वार्यरूप मे परिणित करना प्रारम्भ कर देगा। अत प्रशुल्क व नियताश दोनो प्रणालियों के अन्तर्गत आयातो की मात्रा समान होने पर भी प्रशुल्क को नियताश मे परिवर्तित कर देने से सम्भावित घरेलु एकाधिकार वास्तविक एकाधिकार का रूप धारण कर लेता है।

इस बिन्दु को प्रो० किन्डलबर्गर[1] का अनुसरण करते हुए चित्र 9.4 व 9.5 द्वारा स्पष्ट किया गया है।

चित्र 9.4 म विदेशी पूर्ति कीमत O-P को स्थिर मान लिया गया है अत: P-P' प्रशुल्क लगाने से घरेलु कीमत मे PP' की वृद्धि होने से यह O-P' हो जाती है। घरेलु एकाधिकारी का औसत आगम व सीमान्त आगम वक्र क्रमश AR व MR तथा सीमान्त लागत वक्र MC है। व्यापार की अनुपस्थिति मे साम्य उत्पादन बिन्दु MC=MR द्वारा निर्धारित होगा। लेकिन स्वतत्र व्यापार की स्थिति मे साम्य उत्पादन बिन्दु MC=P द्वारा निर्धारित होगा क्योंकि स्थिर विदेशी पूर्ति-वक्र P ही सीमान्त आगम वक्र होगा तथा एकाधिकारी O-P से ऊँची कीमत वसूल नहीं कर पायेगा, अत P कीमत रेखा ही सम्बद्ध सीमान्त आगम वक्र बन जाता है।

1 Kindleberger, C.P —International Economics (5th ed) Appendix E Pp 434-86.
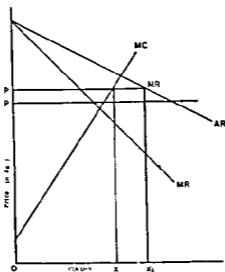
चित्र 9 4 : प्रशुल्क प्रणाली व घरेलू एकाधिकारी

P-P' प्रशुल्क लगाने के बाद एकाधिकारी को भी अपना माल O-P' कीमत पर विक्रय करना होगा। P' ही सीमान्त आगम वक्र बन जायेगा। अत प्रशुल्क की स्थिति मे एकाधिकारी का साम्य उत्पादन उस बिन्दु पर निर्धारित होगा जहाँ MC वक्र P'= MR' वक्र को काटेगा। चित्र 9.4 मे O-P कीमत पर घरेलू एकाधिकारी का साम्य उत्पादन o-x है जबकि P कीमत पर कुल माँग o-x1 है अत विचारार्थ राष्ट्र के आयातो की मात्रा x-x_1 है।

अब यदि प्रशुल्क प्रणाली के अन्तर्गत आयातो के स्तर (x-x_1) के बराबर नियतांश तय कर दिया जाये तो एकाधिकारी का नया AR वक्र कुल घरेलू माँग मे से नियतांश की मात्रा घटाकर प्राप्त किया गया AR' वक्र होगा।

AR' वक्र AR वक्र मे से नियतांश की x-x_1 मात्रा के बराबर क्षतिज दूरी घटाकर प्राप्त किया गया है। चूँकि नियतांश प्रणाली के अन्तर्गत x-x_1 से अधिक मात्रा का आयात सम्भव नहीं है अत *'AR' माँग वक्र मे नियतांश के समायोजन के पश्चात्* एकाधिकारी अपना साम्य उत्पादन व कीमत निर्धारित करता है। AR' के अनुरूप नया सीमान्त आगम वक्र MR' है। स्पष्ट है कि MR' को MC वक्र Z बिन्दु पर काटता है अत लाभ अधिकतम करने वाला उत्पादन o-x होगा तथा एकाधिकारी

की साम्य कीमत O-P'' होगी। O-P' कीमत पर P''-u घरेलू पूर्ति व uv नियताश प्रणाली के अन्तर्गत आयात की मात्रा कुल माँग P''-V के बराबर है।

चित्र 9 2 मे P' कीमत पर उपभोक्ताओ का अतिरेक RWP' क्षेत्र के बराबर तथा उत्पादकों का अतिरेक LWP' क्षेत्र के बराबर था।
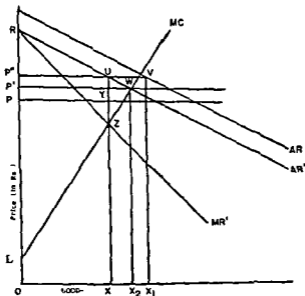
चित्र 9.5 : प्रशुल्क नियताश मे परिवर्तित, एकाधिकारी कीमत मे वृद्धि व उत्पादन मे कमी

अत उपभोक्ताओ व उत्पादकों के अतिरेको का योग LWR क्षेत्र के बराबर था जबकि P'' कीमत पर उपभोक्ता व उत्पादको के अतिरेक का योग LZUR क्षेत्र के बराबर है, अत UZW क्षेत्र प्रशुल्क को नियताश मे परिवर्तित करने से समुदाय के कल्याण के स्तर मे होने वाली हानि दर्शाता है।

जहाँ तक प्रशुल्क को नियताश मे परिवर्तित करने के पुनर्वितरण प्रभाव का प्रश्न है, हम कह सकते हैं कि P' कीमत पर उपभोक्ताओं का अतिरेक RWP' क्षेत्र के बराबर था जबकि P'' कीमत पर यह अतिरेक RUP'' क्षेत्र के बराबर है अत उपभोक्ताओ के अतिरेक में P'' UWP' क्षेत्र के बराबर कमी हुई है।

दूसरी ओर P' कीमत पर उत्पादको का अतिरेक LWP' क्षेत्र के बराबर था

कि स्वतन्त्र व्यापार मे घरेलू कीमतें (परिवहन लागतो को टालकर) व्यापार वाली विदेशी कीमतों के समान हो जाती हैं एव घरेलू कीमतें उत्पादन मे सीमान्त रूपान्तरण की दर व उपभोग मे सीमान्त प्रतिस्थापन की दर के समान हो जाती हैं जबकि व्यापार में एकाधिकार विहीन छोटे राष्ट्र की स्थिति मे विदेशी कीमतें विदेशी व्यापार मे साम्य वाली सीमान्त रूपान्तरण की दर के समान हो जाती हैं।"[4]

सक्षेप में हम कह सकते हैं कि स्वतन्त्र व्यापार सर्वोत्तम नीति इसलिए है कि इस नीति का अनुसरण करने पर 'परेटो इष्टतम' (Pareto optimality) प्राप्त करना सम्भव है।

केवल आधुनिक अर्थशास्त्री ही नही प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री (एडम स्मिथ, रिकार्डो आदि) भी स्वतन्त्र व्यापार को सर्वोत्तम नीति मानते थे। इन अर्थशास्त्रियो ने स्वतन्त्र व्यापार की लब्धियो की प्रभावी व्याख्या प्रस्तुत की थी। स्वतन्त्र व्यापार से प्राप्त कुछ अन्य लाभ इस प्रकार हैं :—

स्वतन्त्र व्यापार मे आयातकर्त्ता राष्ट्रों को आयात वस्तु न्यूनतम लागत पर प्राप्त होती है, इतना ही नही व्यापाररत राष्ट्रो को उपभोग हेतु अनेक ऐसी वस्तुएँ उपलब्ध हो जाती हैं जिनका विश्व मे कुछेक भागो मे ही उत्पादन सम्भव है।

इसके अतिरिक्त स्वतन्त्र व्यापार से हानिकारक एकाधिकारो पर रोक लगती है अथवा उनका विस्थापित होना अधिक दुष्कर हो जाता है।

स्वतन्त्र व्यापार से बाजार का विस्तार होता है तथा प्रत्येक राष्ट्र के उत्पादकों को विश्व के आधुनिकतम उत्पादन तकनीको को अपनाने की प्रेरणा मिलती रहती है।

अत. स्वतन्त्र व्यापार से अनेक लाभ प्राप्त होते हैं, लेकिन महत्त्वपूर्ण प्रश्न तो यह है कि क्या स्वतन्त्र व्यापार सर्वोत्तम नीति है ?

इस प्रश्न के उत्तर मे आधुनिक अर्थशास्त्री यह सिद्ध करने का प्रयास तो करते हैं कि व्यापार विहीन स्थिति की तुलना मे स्वतन्त्र व्यापार की स्थिति उत्तम है लेकिन वे यह तर्क प्रस्तुत करने को तत्पर नहीं है कि स्वतन्त्र व्यापार प्रतिबन्धित व्यापार से उत्तम है।

स्वतन्त्र व्यापार को इष्टतम नीति साबित करने हेतु विश्व व्यापार मे महत्त्व के दृष्टिकोण से छोटे व बडे राष्ट्र मे अन्तर करना आवश्यक है। छोटे राष्ट्र के सन्दर्भ मे तो यह दर्शाया जा सकता है कि स्वतन्त्र व्यापार ही 'इष्टतम' नीति है लेकिन बडे राष्ट्र के लिए स्वतन्त्र व्यापार की तुलना मे प्रतिबन्धित व्यापार उत्कृष्ट साबित हो

4 Bhagwati, J (edt)—International Trade (Penguin, 1969) pp 13-14

सकता है, फिर भी इतना तो सत्य है कि बड़े राष्ट्र के लिए भी स्वतन्त्र व्यापार अथवा किसी भी तरह का व्यापार व्यापार-विहीन स्थिति की तुलना में श्रेष्ठ है।

छोटे राष्ट्र के सन्दर्भ में स्वतन्त्र व्यापार नीति को सर्वोत्तम साबित करने हेतु उत्पादन सम्भावना वक्र का ज्यामितीय उपकरण बहुत ही उपयोगी सिद्ध हो सकता है। सर्वप्रथम हम यह दर्शायेंगे कि व्यापार विहीन स्थिति की तुलना में व्यापार वाली स्थिति उत्तम है।

चित्र 10.1 में I-I प्रथम राष्ट्र का उत्पादन सम्भावना वक्र है तथा Pf रेखा का ढाल स्वतन्त्र व्यापार में अन्तर्राष्ट्रीय कीमत-अनुपात दर्शाता है। चित्र में व्यापार की अनुपस्थिति की स्थिति में राष्ट्र का उपभोग बिन्दु उत्पादन सम्भावना वक्र I-I पर कहीं भी स्थित हो सकता है जबकि स्वतन्त्र व्यापार की स्थिति में राष्ट्र का उपभोग बिन्दु Pf रेखा पर स्थित होगा तथा यह स्पष्ट है कि सिवाय बिन्दु P के Pf रेखा I-I उत्पादन सम्भावना वक्र से बाहर की तरफ विद्यमान है जिसका अभिप्राय यह है कि स्वतन्त्र व्यापार में उपलब्ध उपभोग संयोग बिना व्यापार की स्थिति से उत्तम होगा।

ध्यान रहे कि उपर्युक्त निष्कर्ष प्राप्त करने हेतु हमने न तो छोटे राष्ट्र की मान्यता का सहारा लिया है और न ही इस सम्बन्ध में कोई मान्यता मानी है कि अन्तर्राष्ट्रीय कीमत अनुपात रेखा Pf किस प्रकार निर्धारित होती है।
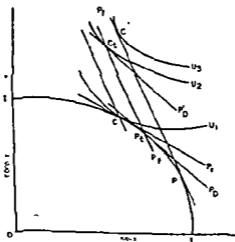
चित्र 10.1 : स्वतन्त्र व्यापार बनाम प्रशुल्क

व्यापार में प्रथम राष्ट्र x वस्तु का निर्यात करेगा तथा इसका साम्य उत्पादन बिन्दु P व साम्य उपयोग बिन्दु C' होगा जो कि समुदाय उदासीन वक्र U_3 पर स्थित है।

अब मान लीजिए कि यह राष्ट्र इतनी ऊँची आयात प्रशुल्क लगा देता है कि प्रशुल्क वाली कीमत पर घरेलू मांग व पूर्ति समान हो जाते हैं, अतः इस प्रशुल्क पर आयातों की मात्रा शून्य हो जाती है, चित्र 10 । मे Pt रेखा निषेधात्मक प्रशुल्क वाला घरेलू कीमत अनुपात दर्शाती है, अतः व्यापार विहीन स्थिति मे साम्य उत्पादन व उपभोग बिन्दु C है। चूँकि व्यापार की अनुपस्थिति मे साम्य उपभोग बिन्दु C समुदाय उदासीन वक्र u_1 पर है जबकि स्वतंत्र व्यापार वाला साम्य उपभोग बिन्दु C' ऊँचे उदासीन वक्र u_3 पर है अतः स्वतंत्र-व्यापार व्यापार-विहिन स्थिति से निश्चय ही उत्कृष्ट है।

अन्तर्राष्ट्रीय बाजार मे एकाधिकार वाले विशाल राष्ट्र के लिये बिना व्यापार की स्थिति की तुलना मे स्वतंत्र व्यापार की उत्कृष्टता दर्शाने हेतु प्रो० केम्प[5] (Kemp) ने निम्न स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया है :—

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे एकाधिकारी राष्ट्र व्यापार प्रतिबन्ध द्वारा व्यापार की शर्तें अपने पक्ष मे परिवर्तित करवा लेने मे सक्षम होता है अतः ऐसा राष्ट्र व्यापार प्रतिबंध द्वारा कल्याण के उच्च स्तर पर पहुँचने मे सफल हो सकता है।

लेकिन जब व्यापार प्रतिबन्ध द्वारा व्यापार विहीन अवस्था प्राप्त कर ली जाती है तो व्यापार की शर्तों मे सुधार से प्राप्त लाभ भी शून्य हो जाता है क्योंकि जब व्यापार ही नही हो रहा है तो विदेशी व्यापार की शर्तें अथवा उनसे प्राप्त लाभ विद्यमान होने का प्रश्न ही उत्पन्न नही होता है।

अतः प्रत्येक राष्ट्र के लिए व्यापार विहीन स्थिति की तुलना मे स्वतंत्र-व्यापार *अथवा व्यापार की स्थिति उत्कृष्ट होती है।*

अब हम यह दर्शाने का प्रयास करेंगे कि यदि विचारार्थ राष्ट्र छोटा राष्ट्र है अर्थात् यह राष्ट्र व्यापार प्रतिबन्धो द्वारा व्यापार की शर्तों को प्रभावित करने म सक्षम नहीं है तो ऐसे छोटे राष्ट्र के लिए प्रतिबन्धित व्यापार की तुलना में स्वतंत्र व्यापार निश्चय ही उत्कृष्ट (Superior) नीति होगी।

यद्यपि छोटे राष्ट्र के लिए स्वतंत्र व्यापार-नीति किसी भी तरह के व्यापार

5 Kemp, M C —The pure theory of International Trade and Investment (Prenctice Hall, 1969) Ch 12.

प्रतिबन्ध की स्थिति की तुलना मे उत्कृष्ट नीति होती है, लेकिन हम केवल तीन तरह के प्रतिबन्धो-प्रशुल्क, उपभोग कर व उपदान (Subsidy)—की स्थिति मे स्वतन्त्र व्यापार की उत्कृष्टता दर्शायेंगे।

सर्व प्रथम हम आयात प्रशुल्क लेते है। चित्र 10 1 मे राष्ट्र x वस्तु के उत्पादन मे विशिष्टीकरण करता है। एव स्वतन्त्र व्यापार की स्थिति म राष्ट्र का साम्य उत्पादन व उपभोग बिन्दु क्रमश· P' व C' है। अब मान लीजिये कि यह राष्ट्र y-वस्तु के आयातो पर प्रशुल्क लगा देता है अत: साम्य उत्पादन व उपभोग बिन्दु क्रमश Pt व Ct हो जाते हैं। चूंकि विचारार्थ राष्ट्र छोटा राष्ट्र है अत प्रशुल्क लगाने के बावजूद व्यापार की शर्तें अपरिवर्तित रहती हैं अस्तु P'f रेखा Pf के समानान्तर है। PD व P'D समानान्तर रेखायें प्रशुल्क वाले घरेलू कीमत-अनुपात को दर्शाती हैं। चूंकि PD रेखा Pt बिन्दु पर उत्पादन सभावना वक्र के स्पर्श है अत: साम्य उत्पादन बिन्दु Pt होगा। चूंकि उदासीन वक्र u2 प्रशुल्क सहित वाली घरेलू कीमत अनुपात रेखा P'D के Ct बिन्दु पर स्पर्श है, अत साम्य उपभोग बिन्दु Ct होगा। स्पष्ट है कि प्रशुल्क लगाने से उपभोक्ता व उत्पादक दोनो वर्ग नयी कीमत के अनुरूप अपने साम्य का समायोजन करते हैं। स्पष्ट ही है कि स्वतन्त्र व्यापार की स्थिति मे राष्ट्र का साम्य उपभोग बिन्दु C' उदासीन वक्र u_3 पर था जबकि प्रशुल्क लगाने के परिणामस्वरूप नया साम्य उपभोग बिन्दु Ct नीचे उदासीन वक्र-u_2 पर स्थित है, अत. प्रशुल्क की तुलना मे स्वतन्त्र व्यापार नीति उत्कृष्ट है।

चित्र 10 2 में आयात वस्तु y पर उपभोग कर का प्रभाव दर्शाया गया है। स्वतन्त्र व्यापार मे व्यापार की शर्तें दर्शाने वाली रेखा P'-C' है तथा साम्य उपभोग बिन्दु C' है।

अब यदि आयात वस्तु y पर उपभोग कर लगा दिया जाता है तो उपभोक्ताओं के लिए नयी कीमत PD रेखा के ढाल वाली हो जायेगी। ध्यान रहे कि उपभोग कर से केवल उपभोक्ताओ के लिए कीमत परिवर्तित होती है तथा उत्पादको के लिए वस्तु कीमत अनुपात पूर्ववत् ही बना रहता है। अत. उपभोग कर लगाने के बाद उत्पादन बिन्दु P' ही बना रहेगा। लेकिन कल्याण का स्तर उदासीन वक्र u_4 से घटकर u_3 वाला हो जाता है अत उपभोग कर की स्थिति की तुलना म स्वतन्त्र व्यापार-नीति उत्कृष्ट है।

इसके विपरीत आयात वस्तु y को उपदान प्रदान करने पर उत्पादको को उपदान वाली ऊँची कीमत प्राप्त होने लगती हैं। आयात वस्तु के घरेलू उत्पादन मे वृद्धि हो
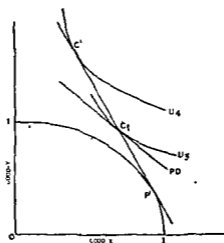
चित्र 10.2 . आयात वस्तु पर उपभोग कर का प्रभाव

जाती है लेकिन उपभोक्ताओ के लिए वस्तु-कीमत अनुपात यथावत् बना रहता है। चित्र 10.3 मे स्वतंत्र व्यापार मे व्यापार की शर्तें Pf-P' रेखा के ढाल द्वारा दर्शायी
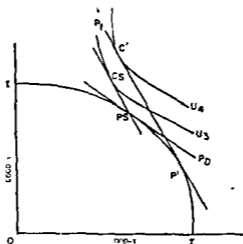
चित्र 10.3 : आयात वस्तु को उपदान प्रदान करने का प्रभाव

गयी है तथा साम्य उत्पादन व उपभोग बिन्दु क्रमशः P' व C' हैं। अब मान लीजिए कि आयात वस्तु y के उत्पादन को उपदान प्रदान कर दिया जाता है तो उत्पादकों के लिए कीमत अनुपात PD रेखा के ढाल वाला हो जायेगा तथा साम्य उत्पादन बिन्दु Ps व साम्य उपभोग बिन्दु Cs हो जाता है स्पष्ट है कि राष्ट्र का कल्याण का स्तर उदासीन वक्र u_4 से घटकर u_3 वाला हो जाता है अतः उपदान की स्थिति की तुलना में स्वतन्त्र व्यापार-नीति उत्कृष्ट है।

ध्यान रहे कि उपर्युक्त विश्लेषण में हमने छोटे राष्ट्र की मान्यता मान रखी थी। अतः व्यापार में हस्तक्षेप से व्यापार की शर्तें अपरिवर्तित बनी रहीं। इसके विपरीत यदि विचारार्थ राष्ट्र बड़ा राष्ट्र है व व्यापार में हस्तक्षेप द्वारा विश्व बाजार कीमत को प्रभावित करने में सक्षम है तो स्वतन्त्र व्यापार की अपेक्षा व्यापार प्रतिबन्ध की स्थिति में ऐसे राष्ट्र के कल्याण का स्तर ऊँचा हो सकता है, (यह स्थिति प्रशुल्क के अध्याय में चित्र 8.11 में दर्शायी गयी है) अतः बड़े राष्ट्र के लिए स्वतंत्र व्यापार श्रेष्ठतम नीति हो यह आवश्यक नहीं है।

हमारे अब तक के विश्लेषण का निष्कर्ष इस प्रकार है —

व्यापार विहीन स्थिति की तुलना में स्वतंत्र व्यापार प्रत्येक राष्ट्र के लिए उत्कृष्ट नीति है जबकि छोटे राष्ट्र के लिए स्वतंत्र व्यापार प्रतिबन्धित व्यापार की तुलना में भी उत्कृष्ट नीति है लेकिन बड़े राष्ट्र के लिए स्वतंत्र व्यापार की तुलना में प्रतिबन्धित व्यापार उत्कृष्ट सिद्ध हो सकता है।

द्वितीय सर्वोत्तम का सिद्धान्त

(The theory of the Second best)

यदि हम स्वीकार भी कर लें कि स्वतन्त्र व्यापार सर्वोत्तम नीति है तब भी 'परेटो इष्टतम' की आवश्यक शर्तें वास्तविक जगत में प्राप्त नहीं हो सकेंगी। वास्तविक जगत में 'इष्टतम' स्थिति प्राप्त करना लगभग असम्भव सा प्रतीत होता है। अतः प्रश्न यह उठता है कि यदि हम पूर्ण स्वतन्त्र व्यापार की स्थिति प्राप्त नहीं कर सकते तो क्या स्वतंत्र व्यापार की ओर बढ़ाया गया प्रत्येक कदम सर्वोत्तम की ओर अग्रसर होता है? इस प्रश्न का उत्तर निश्चय ही नकारात्मक है। बहुत सी स्थितियों में, जहाँ स्वतंत्र व्यापार की सर्वोत्तम नीति अपनाना सम्भव नहीं है, वहाँ द्वितीय सर्वोत्तम की नीति और अधिक कर लगाना हो सकती है। द्वितीय सर्वोत्तम नीति का प्रो० माइन ने इस प्रकार व्यक्त किया है 'प्रत्येक ऊपर की ओर रखा गया कदम ही उच्चतम पहाड़ी

पर चढ़ने में सहायक नहीं होता है, यदि कोई नीची पहाड़ी (foot hill) पर है तो मध्य ढाल को पार करने हेतु कुछ नीचे उतरना आवश्यक हो सकता है।"[6] अर्थात् स्वतंत्र व्यापार की ओर बढ़ाया गया प्रत्येक कदम सर्वोत्तम की ओर अग्रसर होना नहीं है अनेक बार सर्वोत्तम की ओर अग्रसर होने हेतु और अधिक हस्तक्षेप करना आवश्यक होता है।

द्वितीय सर्वोत्तम नीति के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं :—

शिशु उद्योग तर्क द्वितीय सर्वोत्तम नीति का ही उदाहरण है। यदि प्रतियोगिता व पूर्ण दूरदर्शिता की स्थिति (प्रथम सर्वोत्तम) विद्यमान हो तो साहसी उद्योग की शिशु अवस्था में प्रारम्भिक हानि वहन करने को तत्पर रहते तथा विवेकी बैंक अथवा अन्य ऋणदाता संस्थान ऐसे साहसियों के भविष्य में लाभ अर्जित करने के आसारों को ध्यान में रखते हुए उनके लिए वित्त व्यवस्था करने को तत्पर रहते। लेकिन प्रथम सर्वोत्तम की ये शर्तें पूरी नहीं होने की स्थिति में शिशु उद्योग को प्रशुल्क बढ़ाकर संरक्षण प्रदान करना साहसियों, बैंकों व अन्य वित्तीय संस्थानों का शिशु उद्योग के *उज्ज्वल भविष्य की ओर ध्यान आकर्षित करने की 'द्वितीय सर्वोत्तम' नीति हो सकती है*। अतः इस स्थिति में प्रशुल्क बढ़ाना 'द्वितीय सर्वोत्तम' अथवा 'तृतीय सर्वोत्तम' नीति हो सकती है न कि प्रशुल्क घटाना। इस स्थिति में शिशु उद्योग को 'उपदान' प्रदान करना शायद द्वितीय सर्वोत्तम नीति होगी।

इसी प्रकार यदि सांकेतिक व प्रभावी प्रशुल्क दरें भिन्न हैं तो कच्चो सामग्री के आयातों पर प्रशुल्क घटाने की बजाय बढ़ाना द्वितीय सर्वोत्तम नीति हो सकती है क्योंकि राजनैतिक अथवा सामाजिक कारणों से निर्मित माल के आयातों पर प्रशुल्क *समाप्त करने की 'प्रथम सर्वोत्तम' नीति का अनुसरण असम्भव हो सकता है।*

इसी प्रकार चुंगी संघ का निर्माण कर प्रशुल्क घटाने की नीति द्वारा चुंगी संघ के अकुशल सदस्य को संरक्षण प्रदान कर व्यापार दिशा-परिवर्तन (Trade diversion) द्वितीय सर्वोत्तम की नीति नहीं है, इसके बजाय सभी निर्यातकर्ता राष्ट्रों से आयातों पर प्रशुल्क बनाये रख कर न्यूनतम लागत वाले राष्ट्र से आयात करना 'द्वितीय सर्वोत्तम' की नीति होगी। अतः स्वतंत्र व्यापार से परे चलन करना (अर्थात् प्रशुल्क बनाये रखना न कि चुंगी संघ का निर्माण कर प्रशुल्क घटाना) 'द्वितीय सर्वोत्तम' नीति होगी।

---

6 Meade, J.E.—Trade & Welfare, Part IV, Quoted in Kindleberger, C.P.—International Economics (5th ed) p 200.

इसी प्रकार पेट्रोलियम निर्यातक राष्ट्रों के संघ 'ओपेक' (OPEC) की औद्योगिक राष्ट्रों को ऊँची कीमतों पर पेट्रोलियम निर्यात करने की नीति भी द्वितीय सर्वोत्तम' नीति का ही उदाहरण है। यह निश्चय ही 'प्रथम सर्वोत्तम' नीति नहीं है क्योंकि पेट्रोलियम पदार्थों की इस तरह से कीमत निर्धारित करने से उनकी कीमतों के कुशल कुलक (efficient set) में विकृति (distortion) उत्पन्न होती है। लेकिन यदि विकसित राष्ट्र अर्द्धविकसित राष्ट्रों को सहायता देने को तैयार नहीं हैं तो विश्व कल्याण के स्तर में समानता लाने हेतु अर्द्धविकसित राष्ट्रों द्वारा इन्हें ऊँची कीमत पर माल बेचना ही 'द्वितीय सर्वोत्तम' नीति होगी।

लेकिन 'द्वितीय सर्वोत्तम' की नीति लागू करते समय प्रो० हैरी जॉनसन (Harry Johnson) द्वारा दी गयी चेतावनी को ध्यान में रखना आवश्यक है, उनके अनुसार "द्वितीय सर्वोत्तम नियमों की अनुप्रयुक्ति हेतु उन परिस्थितियों का जिनमें ऐसी नीति वास्तव में कल्याण के स्तर में वृद्धि करेगी, सैद्धान्तिक व आनुभविक अन्वेषण करने हेतु प्रथम सर्वोत्तम' अर्थशास्त्री की आवश्यकता होती है जबकि यह नीति सामान्यतया ('चतुर्थ सर्वोत्तम' अर्थशास्त्रियों द्वारा बनायी जाती है एवं 'तृतीय सर्वोत्तम' अर्थशास्त्रियों द्वारा लागू की जाती है।"[7]

संरक्षण के पक्ष में तर्क

(Arguments for protection)

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों द्वारा बतायी गयी स्वतंत्र व्यापार की सर्वोत्तम नीति का अनुसरण सदैव ही सर्वोत्तम सिद्ध नहीं होता है। वास्तविक जगत में अनेक विकृतियाँ (distortions) पायी जाती हैं, उदाहरणार्थ विभिन्न प्रकार के एकाधिकार, राशिपातन, मितव्ययताओं का विद्यमान होना आदि। अतः समय-समय पर संरक्षण के पक्ष में तर्क दिये जाते रहे हैं। संरक्षण के पक्ष में दिये गये कुछ तर्क जो वैध हैं व सशर्त तर्क हैं जबकि कुछ तर्क प्रश्नात्मक (Questionable) हैं व कुछ अन्य तर्कों की गहराई से जाँच करने पर ही उनकी प्रकृति स्पष्ट होती है जबकि कुछ मिथ्या (fallacious) तर्क भी प्रस्तुत किये जाते हैं। इस अध्याय के शेष भाग में हम संरक्षण के पक्ष में दिये गये विभिन्न तर्कों का विस्तृत विश्लेषण प्रस्तुत करेंगे।

7 Johnson, H G – The Efficiency and Welfare Implications of the 'International Corporation' in Kindleberger (edt) The KInternational Corporation (The MIT Press, 1970) p 56

(a) संरक्षण के लिए सशर्त तर्क

(Qualified arguments for Protection)

1. शिशु उद्योग तर्क (Infant Industry Argument) : संरक्षण के लिये शिशु उद्योग तर्क सशर्त भी है तथा इस तर्क की गहराई से जांच करनी भी आवश्यक है।

शिशु उद्योगों को संरक्षण प्रदान करने का तर्क इस मान्यता पर आधारित है कि जिन उद्योगों को संरक्षण प्रदान किया जायेगा उन में राष्ट्र को सम्भावित (Latent) तुलनात्मक लाभ प्राप्त है अत सम्भावित लाभों को वास्तविक लाभों में परिणत करने हेतु इन उद्योगों को अस्थाई संरक्षण दिया जाना उचित है। अन्यथा विस्थापित विदेशी उत्पादकों की प्रतिस्पर्धा में शिशु उद्योग टिक नहीं पायेंगे एवं इनका शिशु अवस्था में ही गला घुंट जायेगा।

संरक्षण उसी स्थिति में प्रदान किया जाना उचित है जबकि संरक्षण प्राप्तकर्ता उद्योग स्पष्टतया राष्ट्र की साधन सम्पन्नता के अनुरूप हो एवं इस उद्योग द्वारा उत्पादित वस्तु के बाजार का भविष्य उज्ज्वल हो ताकि भविष्य में यह उद्योग अपने पैरों पर खड़ा हो सके। ऐसे उद्योगों को शिशु अवस्था में उस समय तक संरक्षण प्रदान किया जाना चाहिए जब तक कि वे परिपक्वता की अवस्था प्राप्त न कर लें। संरक्षण के शिशु उद्योग तर्क को चित्र 10.4 द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है—

मान लीजिए कि चित्र 10.4 में x वस्तु के उत्पादन में राष्ट्र को सम्भावित तुलनात्मक लाभ प्राप्त है, विश्व बाजार में x वस्तु की प्रति इकाई कीमत Pf है तथा प्रारंभिक अवस्था में अर्द्धविकसित राष्ट्र में वस्तु की प्रति इकाई लागत विश्व बाजार कीमत Pf से ऊँची PD है, अत. यदि इस वस्तु के उद्योग को विदेशी प्रतिस्पर्धा में बचाने हेतु संरक्षण प्रदान नहीं किया जाता है तो यह उद्योग पनप नहीं सकेगा। लेकिन Pf-Pd से अधिक प्रशुल्क लगाकर इस उद्योग को संरक्षण प्रदान कर दिया जाये तो अर्द्धविकसित राष्ट्र में यह उद्योग पनप सकता है। समय के साथ-साथ इस उद्योग में तकनीकी ज्ञान में वृद्धि होगी एवं बड़े पैमाने की बचतें प्राप्त हो सकेंगी तथा x_1 उत्पादन बिन्दु से आगे उत्पादन बढ़ाने पर प्रति इकाई लागत घटने के साथ-साथ संरक्षण की दर भी घटाई जा सकती है तथा जब x_2 उत्पादन बिन्दु प्राप्त किया जाता है तो संरक्षण पूर्णरूप से समाप्त किया जा सकता है। x_2 से आगे उद्योग की लागत विश्व कीमत से नीची होने के कारण यह उद्योग इस वस्तु का निर्यात करने लगेगा।

स्पष्ट है कि शिशु उद्योग तर्क ऐसी विभिन्न प्रकार की आन्तरिक व बाह्य मितव्ययताओं की उपस्थिति पर आधारित है जिनका उपयोग नहीं हो पाया है। पैमाने

चित्र 10.4 . शिशु उद्योग तर्क
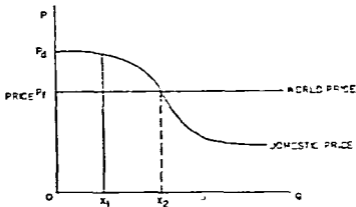
की आन्तरिक मितव्ययताओं का तर्क इस बिन्दु पर ध्यान केन्द्रित करता है कि नये उत्पादक को छोटे एवं गैर-आर्थिक पैमाने से उत्पादन प्रारम्भ करना पड़ता है एवं वह नीची लागतों वाले विदेशी उत्पादकों के समक्ष टिकने में असमर्थ होता है। लेकिन संरक्षण के परिणामस्वरूप उत्पादक पैमाने का विस्तार करेगा एवं अनुकूलतम बिन्दु पर वह विदेशी प्रतिस्पर्धा का मुकाबला करने में सक्षम हो जायेगा।

प्रो० एल्सवर्थ[8] ने शिशु उद्योग तर्क की जाँच करके निम्न बिन्दुओं की तरफ ध्यान आकर्षित किया है :—

प्रथम तो यह कि आन्तरिक मितव्ययताओं का तर्क निश्चय ही उत्पादन की प्रारम्भिक अवस्था की हानियों की भविष्य के लाभों से तुलना का प्रश्न है। लेकिन यह समस्या (प्रारंभिक अवस्था में हानि उठाने की समस्या) तो प्रत्येक फर्म के समक्ष होती है, चाहे वह आयात प्रतिस्थापन वाली वस्तु उत्पादित करे अथवा व्यापार में शामिल न होने वाली वस्तु। यदि विशुद्ध प्रतिफल वैकल्पिक विनियोगों की तुलना में अधिक है तो फर्म अपनी प्रारंभिक अवस्था की हानि को पूरा करने के लिए आवश्यक धनराशि (funds) उधार लेगी और यदि वैकल्पिक विनियोगों की तुलना में उद्योग विशेष में विशुद्ध प्रतिफल कम है तो फर्म विनियोग नहीं करेगी। क्या ऐसी स्थिति में संरक्षण आवश्यक है?

8 Ellsworth, P.T. & Leith, J.C.—International Economy (5th ed.) pp. 245-47.

इस बिन्दु पर शिशु उद्योग तर्क के पक्षधर यह इंगित करते हैं कि अर्द्ध विकसित राष्ट्रों में पूँजी बाजार अविकसित होते हैं तथा उत्पादक को उत्पादन की प्रारम्भिक अवस्था की हानि वहन करने के लिए पर्याप्त मात्रा में धनराशि उधार नहीं मिल सकेगी। अतः संरक्षण प्रदान किये जाने का औचित्य है।

ध्यान रहे कि इस बिन्दु पर तर्क की प्रकृति बदल गई है और यह तर्क शिशु उद्योगों को संरक्षण प्रदान करने का तर्क न बना रहकर अर्द्ध विकसित राष्ट्रों में पूँजी बाजारों के विकास के लिए तर्क बन जाता है। बाह्य मितव्ययताओं का तर्क शिशु उद्योग संरक्षण के पक्ष में यह इंगित करता है कि यद्यपि निजी प्रतिफल की दर के आधार पर उद्योग विशेष स्थापित करने का औचित्य नहीं है लेकिन सामाजिक प्रतिफल की दर के आधार पर इस उद्योग में विनियोग का औचित्य सम्भव है। इसका कारण यह हो सकता है कि संरक्षण प्रदत्त उद्योग के विस्तार से अन्य फर्मों की लागतों में कमी हो सकती है क्योंकि उनके लिए संरक्षण प्रदत्त उद्योग प्रशिक्षित-श्रमशक्ति तैयार कर सकता है अथवा इससे अन्य फर्मों को उत्पादन तकनीकी का विस्तार एवं ज्ञान प्राप्त हो सकता है। लेकिन इन क्रियाओं की लागतें व्यक्तिगत फर्मों को वहन करनी पड़ती हैं जबकि लाभान्वित सभी फर्में होती हैं। अतः यह तर्क दिया जाता है कि जब तक बाह्य मितव्ययतायें विकसित न हो जायें अस्थायी संरक्षण प्रदान किया जाना चाहिए।

लेकिन पुनः ध्यान देने पर ज्ञात होता है कि तर्क की प्रकृति बदल गयी है। *इन परिस्थितियों में यह सामाजिक विनियोगों में सुधार के लिए तर्क बन जाता है न* कि स्वयं संरक्षण के लिए।

शिशु उद्योग तर्क जब एक साथ कई उद्योगों के लिए अनुप्रयुक्त किया जाता है तो अतिरिक्त बाह्य मितव्ययताओं की सम्भावनाएँ विकसित होती हैं। सड़कों में सुधार होता है रेलों का निर्माण होता है शक्ति के संयत्र लगाये जाते हैं। तकनीकी एवं इंजीनियरी प्रशिक्षण प्रदान किया जाता है। ये ऐसी सुविधाएँ हैं जिनकी सभी उद्योगों को आवश्यकता होती है लेकिन आर्थिक दृष्टिकोण से किसी एक उद्योग के लिए इनका औचित्य नहीं है। लेकिन यहाँ भी तर्क सामाजिक ऊपरी विनियोग के लिए है न कि स्वयं संरक्षण के लिए।

बावजूद इस तथ्य के कि शिशु उद्योग तर्क विशिष्ट रूप से संरक्षण के लिये हो तर्क नहीं है (क्योंकि संरक्षण के अतिरिक्त भी बाजार में हस्तक्षेप के ऐसे तरीके हैं जो शिशु उद्योग के विकास की बाधाओं को समाप्त करने में मदद कर सकते हैं) इसे सामान्यतया प्रशुल्क के उत्पादन प्रभाव के माध्यम से वांछित उद्देश्य प्राप्त

करन की अन्य विधियो के सदृश भी माना जाता है। लेकिन यहाँ भी सावधानी आवश्यक है क्योंकि प्रशुल्क के उपभोक्ता के सन्तोष को घटाने वाले उपभोग प्रभाव भी पडते हैं। दूसरे शब्दो मे शिशु उद्योग सरक्षण से प्राप्त विशुद्ध लाभो मे से हमे प्रशुल्क के उपभोग प्रभावो की लागत भी घटानी चाहिए। अत सरक्षणात्मक प्रशुल्क मे ऐसी लागतें निहित हैं जो कि अन्य उपदान जैसी विधियो मे नहीं होती हैं।

अत स्पष्ट है कि शिशु उद्योग तर्क मान्य तो है लेकिन यह सशर्त तर्क है तथा ये शर्तें (Qualifications) ऐसी है जिनसे उस तर्क का महत्त्व लगभग समाप्त सा हो जाता है। इस तर्क की मुख्य शर्तें निम्न है –

(1) प्रथम तो यह कि यह तर्क ऐसे विकासशील राष्ट्रो के सदर्भ म ही उचित दर्शाया का सकता है जहाँ पूँजी बाजार पूर्ण विकसित नही हैं औद्योगिक राष्ट्रो के सदभ मे इस तर्क का विशेष महत्त्व नही हैं।

(2) द्वितीय, यह पता लगाना बडा दुष्कर कार्य है कि किन शिशु उद्योगो मे राष्ट्र का सम्भावित तुलनात्मक लाभ है तथा अनुभव से ज्ञात होता है कि सरक्षण प्रदान करने हेतु एक बार प्रशुल्क लगा देने पर उसे आसानी से समाप्त करना सभव नही होता है।

(3) तृतीय, यह कि शिशु उद्योग को उपदान प्रदान कर सरक्षण देकर प्रशुल्क के उपभोग प्रभाव को टाला जा सकता है तथा बाद की अवस्था मे उपदान को समाप्त करना भी अपेक्षाकृत आसान होता है।

साराश मे हम कह सकते हैं कि शिशु उद्योग तर्क अन्तत. शिशु उद्योगो के विकास मेआने वाली बाधाओ को दूर करने के लिए तर्क बनकर रह जाता है तथा यह इस तथ्य को नही दर्शाता है कि शिशु उद्योगो के विकास मे आने वाली बाधाओ को दूर करने की सरक्षण ही सर्वोत्तम विधि है।

(2) व्यापार की शर्तो मे सुधार :—

व्यापार की शर्तों से अभिप्राय निर्यातो व आयातो के मूल्य-अनुपात $\left(\frac{Px}{Pm}\right)$ से है। यदि किसी राष्ट्र के निर्यातो की कीमत मे वृद्धि हो जाती है अथवा आयातो की कीमत घट जाती है तो व्यापार की शर्तें उस राष्ट्र के अनुकूल हो जाती हैं।

कोई राष्ट्र आयातो पर प्रशुल्क लगाकर निम्न दो शर्तें पूरी होने की स्थिति मे

व्यापार की शर्तों को अनुकूल करने में सफल हो सकता है। प्रथम तो, यह कि सामने वाले राष्ट्र के अर्पण वक्र की लोच अनन्त नहीं होनी चाहिए तथा द्वितीय शर्त यह कि सामने वाला राष्ट्र प्रतिशोध के रूप में प्रशुल्क न लगाये।

जब राष्ट्र विशेष प्रशुल्क लगाता है तो सामने वाले राष्ट्र को एक तरह से यह कहता है कि वह आयात कम करना चाहता है क्योंकि प्रशुल्क लगाने के पश्चात् वह राष्ट्र दी हुई निर्यातों की मात्रा के विनिमय में आयातों की इस अधिक मात्रा का कुछ हिस्सा सीमा शुल्क अधिकारियों को प्रशुल्क के रूप में भुगतान कर देता है।

इस तर्क को अर्पण-वक्र चित्र द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है।*

यहाँ पर इतना स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि यदि विदेशी राष्ट्र का अर्पण-वक्र अनन्त लोच वाला नहीं है तो व्यापार की शर्तों को अनुकूल करने हेतु अनुकूलतम प्रशुल्क (Optimum Tariff) लगानी चाहिए। अनुकूलतम प्रशुल्क वह प्रशुल्क की दर है जो कि प्रशुल्क लगाने वाले राष्ट्र को उसके उच्चतम सम्भव कल्याण के स्तर पर पहुँचा देती है।**

अतः स्पष्ट है कि सरक्षण के लिए व्यापार की शर्तों में सुधार का तर्क मान्य तो है लेकिन ऊपर बताई गयी दो शर्तें पूरी होने पर ही मान्य है।

प्रो० हैरी जॉनसन[9] (Harry Johnson) ने अपने प्रसिद्ध लेख 'Optimum Tariffs and Retaliation' में यह दर्शाया है कि विदेशी राष्ट्र द्वारा प्रतिशोध के रूप में प्रशुल्क लगाने के बावजूद भी प्रशुल्क द्वारा व्यापार की शर्तें पहले प्रशुल्क लगाने वाले राष्ट्र के पक्ष में परिवर्तित हो सकती हैं।

प्रो० जॉन्सन ने अपने विश्लेषण में दो मान्यताएँ मानी हैं प्रथम, तो यह कि विदेशी राष्ट्र प्रतिशोध के रूप में इस आधार पर प्रशुल्क लगायेगा कि स्वदेशी राष्ट्र की प्रशुल्क अपरिवर्तित रहेगी तथा द्वितीय यह कि प्रत्येक राष्ट्र की आयातों की माँग

---

* प्रशुल्क के व्यापार की शर्तों पर प्रभाव के अर्पण वक्र द्वारा स्पष्टीकरण हेतु अध्याय 6 के चित्र 6 1, 6 2 व 6 3 का अध्ययन कीजिए।

** अनुकूलतम प्रशुल्क की अवधारणा के विस्तृत विवेचन हेतु देखिये अध्याय—8

9 Johnson, H G —'Optimum Tariffs and Retailation'—International Trade & Economic Growth —Studies in the Pure Theory—Chap 2

उसकी व्यापार की शर्तों के सापेक्ष के रूप मे लोचदार हो ताकि प्रशुल्क के परिणाम-स्वरूप प्रत्येक राष्ट्र के आयातो मे कटौती हो सके।

(3) घरेलू बाजार मे विकृतियाँ

(Distortions)

घरेलू अर्थव्यवस्था मे विकृतियो के परिणामस्वरूप प्रतिस्पर्धा एव स्वतंत्र व्यापार की स्थिति की तुलना मे कम लाभ प्राप्त होते हैं। यह तर्क शिशु उद्योग तर्क की भाँति अस्थायी सरक्षण के बजाय स्थायी सरक्षण के लिये तर्क है। घरेलू बाजार मे विकृतियाँ उत्पादन मे बाह्य मितव्ययताओ का पूरा उपयोग न होने के रूप मे, एकाधिकार एव एकाधिकारी कीमतो न रूप मे अथवा साधन बाजार म असाम्य के रूप मे विद्यमान हो सकती है तथा इन विकृतियो को प्रशुल्क द्वारा समाप्त किया जा सकता है।

मान लीजिये कि उत्पादन मे बाह्य मितव्ययताओ के परिणामस्वरूप वस्तु विशेष को उत्पादित करने की निजी तथा सामाजिक लागतो मे अन्तर विद्यमान हैं जैसा कि चित्र 10.5 मे Sp तथा Ss वक्रो की भिन्नताओ द्वारा दर्शाया गया है। इस वस्तु की स्वतंत्र व्यापार कीमत OP_1 एव उत्पादन OX_1 है लेकिन यदि घरेलू उत्पादन वास्तविक लागतो द्वारा शासित हो तो उत्पादन OX_2 होना चाहिये। अत इस विकृति को दूर करने हेतु विकृति के बराबर P_1-P_2 प्रशुल्क लगा दिया जाता है। इस प्रशुल्क के परिणामस्वरूप उत्पादक घरेलू उत्पादन को X_2 बिन्दु तक बढा देते हैं जिसके परिणामस्वरूप निजी एव सामाजिक लागतो की विकृति का प्रभाव समाप्त हो जाता है। (चित्र मे Sp तथा Ss वक्र क्रमशः निजी एव सामाजिक लागतो का प्रतिनिधित्व करते हैं)

लेकिन यह तर्क भी सशर्त है। क्योकि इस सबध मे सामान्य नियम यह है कि घरेलू बाजार की विकृतियो को घरेलू नीतियो द्वारा ही सही करना चाहिए। अत इस तरह की घरेलू विकृति को करो अथवा उपदानो द्वारा दूर किया जाना चाहिए ताकि सरक्षण के उपभोग प्रभाव को टाला जा सके।

(4) राशिपातन को रोकने का तर्क

(Antidumping)

राशिपातन रोकने के उपकरण के रूप मे सरक्षण प्रदान करने के तर्क को भी सशर्त तर्कों की श्रेणी मे शामिल किया जा सकता है। लेकिन इस तर्क की जाँच करने हेतु हमे राशिपातन के अर्थ, प्रकार व प्रभावो का ज्ञान होना आवश्यक है।

चित्र 10.5 : घरेलू विकृति को दुरुस्त करना : उपदान बनाम प्रशुल्क
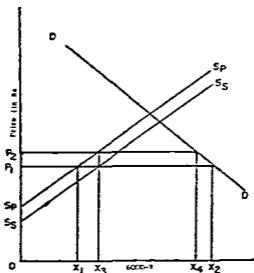
राशिपातन का अर्थ

(Defination of the Concept of Dumping)

राशिपातन से अभिप्राय स्वदेशी बाजार की तुलना में विदेशी बाजार में वस्तु को कम मूल्य पर बेचने से है। हेबरलर[10] (Haberler) के अनुसार "राशिपातन शब्द का अभिप्राय लगभग सर्वत्र ही यह लगाया जाता है कि किसी वस्तु को विदेशों में उस कीमत पर बेचा जाय जो कि उसी वस्तु की उसी समय व उन्हीं परिस्थितियों में (अर्थात् भुगतान आदि की समान दशाओं में) यातायात व्यय के अन्तरों को ध्यान में रखते हुए, देश की विक्रय कीमत से कम हो।"

राशिपातन की इसी से मिलती-जुलती परिभाषा प्रो० एल्सवर्थ[11] (Ellsworth) ने दी है, उनके अनुसार "राशिपातन का अर्थ विदेशों में उत्पादन लागत से कम पर माल बेचना नहीं है। अपितु इसका अर्थ परिवहन व्यय, प्रशुल्क व अन्य सभी हस्तां-

10. Haberler, G.V.—The theory of International Trade—p. 296.
11. Ellsworth, P.T. & Leith, J C.—The International Economy (5th ed.) p 250.

तरण लागतो के समायोजन के पश्चात् वस्तु को विदेशी बाजार मे घरेलू बाजार मे प्राप्त कीमत से कम कीमत पर बेचना है ।"

लेकिन आर्थिक सिद्धान्तो के दृष्टिकोण से प्रो० जैकब वाइनर[12] (Jacob Viner) ने राशिपातन की निम्न सामान्य परिभाषा प्रदान की है।

"राशिपातन दो बाजारो मे कीमत विभेद है।"

राशिपातन के लिए आवश्यक शर्तें

(Necessary Conditions for Dumping)

प्रो० हेबरलर ने राशिपातन लागू होने के लिए निम्न दो आवश्यक शर्तें बताई हैं :—

(1) वस्तुओ के पुन स्वदेश मे लौटने पर रोक होनी चाहिए, क्योकि यदि ऐसी रोक नही लगाई गयी तो स्वदेशी उपभोक्ता वस्तुओ को नीची कीमत वाले विदेशी बाजारो से क्रय करना प्रारम्भ कर देंगे। यदि दोनो राष्ट्रो मे प्रचलित कीमत अन्तर मामूली है तो परिवहन लागतें इस प्रकार के वस्तुओ के स्वदेश लौटने पर रोक लगा देगी लेकिन यदि दोनो राष्ट्रो की कीमतो का अन्तर बहुत अधिक है तो घरेलू बाजार को सरक्षण प्रदान करने हेतु प्रशुल्क लगाना आवश्यक हो जाता है। यदि विरल (Sporadic) राशिपातन है तब तो स्वदेश मे क्रेता मिलने की अनिश्चितता वस्तुओ के स्वदेश लौटने पर पर्याप्त रोक होगी लेकिन यदि सतत (Persistent) राशिपातन है तो आयात प्रशुल्क लगाना आवश्यक हो जाता है।

(2) दूसरी आवश्यक शर्त यह है कि स्वदेशी बाजार मे इस वस्तु का विक्रेता एकाधिकारी होना चाहिए क्योकि यदि स्वदेशी बाजार पूर्ण प्रतियोगिता वाला है तो उत्पादक उस वस्तु विशेष की कीमत को प्रभावित करने मे सक्षम नही होगा एव उसे बाजार मे प्रचलित मूल्य स्वीकार करना होगा।

अत' अपूर्ण प्रतियोगिता अथवा एकाधिकार की स्थिति राशिपातन के लिए दूसरी आवश्यक शर्त है चाहे ऐसा एकाधिकार आकार के द्वारा उत्पन्न किया जाये अथवा एक कार्टेल (cartel) के रूप मे सृजित किया जाये।

राशिपातन के विभिन्न रूप

(Different forms of Dumping)

राशिपातन को तीन भागो मे वर्गीकृत किया जाता है :—

12 Viner, J.—Dumping, p. 5 Quoted in Haberler Op Cit, p 296-97.

(1) सतत राशिपातन (Persistent dumping)
(2) परभक्षक राशिपातन (Predatory dumping) तथा
(3) विरल राशिपातन (Sporadic dumping)

(1) सतत राशिपातन

(Persistent Dumping)

सतत राशिपातन सतत लागू रहने वाला राशिपातन है। यदि विदेशी बाजार मे वस्तु की मांग की लोच एकाधिकार वाले स्वदेशी बाजार मे मांग की लोच से अधिक हैं तो विदेशी बाजार में स्वदेशी बाजार की तुलना मे नीची कीमत पर वस्तु का विक्रय करने से एकाधिकारी का लाभ अधिकतम होगा। इस प्रकार का राशिपातन दीर्घकाल तक लागू रह सकता है।

स्पष्ट ही है कि दीर्घकालीन राशिपातन हानि उठाकर जारी नही रखा जा सकता अर्थात् वस्तु को सीमान्त लागत से कम कीमत पर निरन्तर नहीं बेचा जा सकता है अत: लाभप्रद सतत राशिपातन तभी सम्भव है जब निम्न शर्तें पूरी हों :—

(a) जब उत्पादन मे प्रयुक्त स्थिर पूँजी का पूरा उपयोग नही हो रहा हो तथा निर्यात द्वारा प्रति इकाई उत्पादन लागत घटती हुई हो तो स्वदेशी कीमत, जो कि प्रतिस्पर्धात्मक मूल्य नहीं है, सीमान्त लागत से ऊँची बनी रहती है एव निर्यात कीमत कम से कम सीमान्त लागत के बराबर बनी रहे अन्यथा वस्तु हानि उठाकर निर्यात की जायेगी। इस प्रकार का राशिपातन सामान्यतया तभी सम्भव है जब उत्पादन मे घटती हुई लागतों का नियम क्रियाशील हो। इस प्रकार का राशिपातन बड़े ट्रस्टों व कार्टेलों द्वारा किया जाता है।

(b) यदि राज्य अथवा किसी अन्य सस्था द्वारा निर्यात सहायता प्रदान की जा रही हो तो उत्पादक सीमान्त लागत से कम मूल्य पर वस्तु बेचकर भी दीर्घकाल तक राशिपातन जारी रख सकता है।

(2) परभक्षक राशिपातन

(Predatory Dumping)

परभक्षक राशिपातन के अन्तर्गत विदेशी बाजार हथियाने के उद्देश्य से अथवा प्रतियोगिता नष्ट करने के उद्देश्य से कुछ समय के लिए विदेशी बाजार में हानि उठाकर औसत लागत से कम कीमत पर वस्तु का विक्रय किया जाता है। परभक्षक राशिपातन के अन्तर्गत विदेशी बाजार स्थापित कर लेने का अथवा प्रतियोगिता को पछाड़ देने का

उद्देश्य पूरा होने के बाद विदेशों में कीमत पुनः बढ़ा दी जाती है ताकि नयी अर्जित एकाधिकारी शक्ति का पूर्ण लाभ उठाया जा सके।

(3) विरल राशिपातन

(Sporadic Dumping)

आकस्मिक अथवा विरल राशिपातन के अन्तर्गत ऐसा माल जिसे स्वदेशी बाजार में नहीं बेचा जा सकता है उसे बेचने हेतु राशिपातन किया जाता है। सामान्यतया विक्रय मौसम के अन्त में बची-खुची पूर्ति को निकालने हेतु राशिपातन द्वारा विदेशी बाजार में नीची कीमत पर वस्तुएँ बेचने की प्रक्रिया को ही विरल राशिपातन कहा जाता है।

राशिपातन के प्रभाव

(Effects of Dumping)

राशिपातन के प्रभावों का पहले हम आयातकर्त्ता राष्ट्र के दृष्टिकोण से विवेचन करेंगे तथा बाद में निर्यातकर्त्ता राष्ट्र के दृष्टिकोण से।

1. आयातकर्त्ता राष्ट्र पर राशिपातन का प्रभाव :—

राशिपातन का सर्वाधिक विरोध उन राष्ट्रों द्वारा किया जाता है जिनमें वस्तुएँ राशिपतित (dump) की जाती है। लेकिन सामान्यतया राशिपतित आयातों का आवश्यकता से अधिक विरोध किया जाता है। यदि राशिपतित आयात ऐसी कीमत पर प्राप्त हो रहे हैं जो कि निर्यातकर्त्ता राष्ट्र में ली जाने वाली कीमत अथवा उत्पादन लागत से कम है तो भी आयातकर्त्ता देश को किसी भी रूप में हानि नहीं होगी बशर्ते कि सस्ते आयात भविष्य में भी जारी रहें।

आयातकर्त्ता राष्ट्र के दृष्टिकोण से यह महत्त्वपूर्ण नहीं है कि निर्यातकर्त्ता राष्ट्र को प्राकृतिक रूप से तुलनात्मक लाभ है इसलिए वस्तु सस्ती प्राप्त हो रही है अथवा वह राष्ट्र राशिपातन कर रहा है इसलिए सस्ती प्राप्त हो रही है न ही इस बात का कोई महत्त्व है कि राशिपातन विदेशी एकाधिकार के कारण ही रहा है अथवा विदेशी सरकार द्वारा प्रदत्त निर्यात उपदान (bounties) के कारण हो रहा है। इनमें से कोई भी परिस्थिति स्वतंत्र व्यापार के मूल तर्क का उल्लंघन नहीं करती है। उपर्युक्त परिस्थितियों का केवल इतना ही महत्त्व है कि इनसे यह ज्ञात होता है कि ऐसा राशिपातन लम्बे समय तक निरन्तर जारी रह पायेगा अथवा नहीं।

विदेशी निर्यातक द्वारा निर्यात वस्तु के उत्पादन में प्राकृतिक लाभ के कारण, विदेशी एकाधिकारी की राशिपातन की नीति द्वारा सम्भव राशिपातन की तुलना मे, आयातकर्त्ता राष्ट्र को अधिक लम्बी अवधि तक सस्ते आयात प्राप्त हो सकते है क्योकि विदेशी एकाधिकारी की राशिपातन की नीति से किया गया राशिपातन तो किसी भी क्षण समाप्त हो सकता है।

राशिपातन तब ही हानिकारक है जब यह दौर (spasms) के रूप मे हो और प्रत्येक दौर इतनी अवधि तक जारी रहे कि आयातकर्त्ता राष्ट्र मे उत्पादन का परिवर्तन (shifting) सभव हो गया हो तथा राशिपातन समाप्त होने पर उस परिवर्तन को उलटना पडे। ऐसा अनियमित (intermittent) राशिपातन आयातकर्त्ता राष्ट्र के लिए प्रतियोगी उद्योग न होने की स्थिति मे भी हानिकारक सिद्ध हो सकता है क्योकि इससे सस्ते आयात उपयोग मे लेने वाले एक ऐसे उद्योग की स्थापना हो जाती है जिसका सस्ते आयात बन्द होते ही जीवित रहना असभव हो जायेगा। इसके विपरीत यदि आयात वस्तु उपभोक्ता वस्तु है तो राशिपातन के कारण माँग मे विवर्तित होगी जिसे राशिपातन समाप्त होने पर पुन पलटना पडेगा अत इससे हानि होगी। ऐसा 'गलाघोट राशिपातन' (Cut throat dumping) निश्चय ही घातक होता है जिसका उद्देश्य प्रतियोगियो को पछाडकर ऊँची एकाधिकारी कीमत पर वस्तुएँ बेचना हो लेकिन ऐसा राशिपातन व्यवहार मे कम ही पाया जाता है क्योकि ऐसा कीमत युद्ध काफी महँगा पडता है तथा इस बात का भी निरन्तर खतरा बना रहता है कि कानूनी हस्तक्षेप के कारण एकाधिकारी अपनी महँगी विजय के लाभो से वचित न रह जाये।

2. निर्यातकर्त्ता राष्ट्र पर राशिपातन का प्रभाव :—

अब हम निर्यातकर्त्ता राष्ट्र के दृष्टिकोण से राशिपातन के प्रभावो का विश्लेषण करेंगे।

यदि स्वदेशी बाजार मे एकाधिकार अवश्यम्भावी है तो राशिपातन तभी लाभप्रद होगा जबकि इससे स्वदेशी राष्ट्र के उपभोक्ताओ को वस्तु कुछ नीची कीमत पर उपलब्ध हो सके लेकिन ऐसा तभी सभव है जबकि उत्पादन मे घटती हुई सीमान्त लागत की स्थिति विद्यमान हो।

इसके विपरीत यदि उत्पादन मे बढती हुई लागतों की स्थिति विद्यमान है तो राशिपातन के परिणामस्वरूप स्वदेशी उपभोक्ताओ के लिए निर्यात वस्तु की कीमत म वृद्धि हो जायगी। ऐसी स्थिति मे सही निर्णय लेने हेतु हमें राशिपातन के परिणाम-

स्वरूप निर्यात वस्तु की कीमत में वृद्धि से उपभोक्ताओं के अतिरेक में होने वाली कमी व उत्पादकों के अतिरेक म होने वाली वृद्धि की तुलना करनी पडती है। प्रो० वाइनर[13] (Viner) आश्वस्त हैं कि वे यह साबित कर सकते है कि ऐसी स्थिति मे उपभोक्ताओं के अतिरेक मे कमी की तुलना मे उत्पादको के अतिरेक मे वृद्धि कम होती है। यदि ऐसा होता है तो राशिपातन द्वारा स्वदेशी कीमत मे वृद्धि होन की दशा मे इसे हानिकारक ही माना जाना चाहिए।

उत्पादक वस्तुओं के राशिपातन पर सदैव ही अधिक ध्यान दिया जाता रहा है। स्वतन्त्र व्यापार के पक्षधर सदैव ही यह दर्शाते रहे कि राशिपातन से आयातकर्त्ता राष्ट्र लाभान्वित होते हैं और यह सत्य भी है। लेकिन हम तो यह देखना है कि निर्यातकर्त्ता राष्ट्र के दृष्टिकोण से राशिपातन के बारे मे निर्णय कैसे किया जाय। पूँजीगत सामान के राशिपातन से आयातकर्त्ता राष्ट्रों मे अनेक ऐसे उद्योग स्थापित हो जाते है जो कि निर्यातकर्त्ता राष्ट्र के उद्योगो के सस्ते पूँजीगत माल से निर्मित माल के बाजारमे प्रतिस्पर्धा करने लगते हैं। इस दृष्टिकोण से राशिपातन निर्यातकर्त्ता राष्ट्र के लिए हानिप्रद ही होता है इस तरह की हानि से बचने के दो उपाय है —

(a) ऐसी वस्तुओं की घरेलू एकाधिकारी कीमत घटा दी जाती है जिन्हे निर्मित रूप मे निर्यात किया जा सकता है तथा इन्हे अधिक निर्मित रूप (more finished form) मे निर्यात किया जाता है, तथा

(b) समानीकरण शुल्क (Equalising duty) द्वारा स्वदेशी उद्योगो के लिए घरेलू बाजार सुनिश्चित कर दिया जाता है।

निष्कर्ष रूप मे हम मेयर[14] (Mayer) से सहमति व्यक्त करते हुए कह सकते हैं कि राशिपातन अर्थात् विदेशो मे नीची कीमत पर माल बेचना इतना हानिप्रद नहीं है जितना कि घरेलू बाजार पर एकाधिकार एवं इसके परिणामस्वरूप ऊँची कीमत स्थापित होना है। स्वदेशी बाजार म एकाधिकार की स्थिति म राशिपातन का अपेक्षाकृत मामूली महत्व है और यह लाभप्रद भी हो सकता है तथा हानिप्रद भी।

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि परभक्षक राशिपातन (predatory dumping) सर्वाधिक घातक होता है अतः ऐसे राशिपातन को रोकने हेतु संरक्षण प्रदान

13. प्रो० वाइनर ने प्रो० हबरलर को लिखे पत्र व्यवहार मे अपना यह दृष्टिकोण व्यक्त किया है। देखिये—
Haberler, G V —The Terms of International Trade, P 315

14. देखिए :—
Haberler, G V —Op cit, p 317

करना उचित ठहराया जा सकता है लेकिन वास्तविक राशिपातन परभक्षक राशिपातन है अथवा सतत या विरल राशिपातन यह निर्णय लेना बडा ही दुष्कर कार्य होता है।

हाल ही के वर्षों मे जापान को अमेरिका के बाजारो में इस्पात व दूरदर्शन का राशिपातन करने का दोषी ठहराया गया है। इसी प्रकार यूरोपीय राष्ट्रो पर अमेरिका के बाजारो मे कारो का राशिपातन करने का आरोप भी लगाया जाता रहा है। अधिकाश औद्योगिक राष्ट्र अपन कृषि समर्थक कार्यक्रमो के तहत अतिरेक कृषि माल का प्राय राशिपातन करते रहते हैं। जब यह साबित हो जाता है कि राष्ट्र विशेष राशिपातन कर रहा है तो सामान्यतया निर्यातकर्त्ता राष्ट्र कीमत बढाने को तैयार हो जाते हैं ताकि उन्हें आयात प्रशुल्कों का सामना न करना पडे। उदाहरणार्थ, जापान के दूरदर्शन निर्यातकों ने सन् 1977 मे अमेरिका में दूरदर्शन सेटो की कीमत बढ़ा दी थी।

(5) सौदाबाजी

(Bargaining)

बहुधा प्रशुल्क अथवा सरक्षण द्वारा अन्य राष्ट्रों से सौदेबाजी भी की जाती है। कई बार यह पाया गया है कि दो राष्ट्रो के आपसी व्यापार मे अत्यधिक प्रशुल्क लगी होती है, अत प्रमुख समस्या स्वतंत्र व्यापार की ओर अग्रसर होने की होती है। ऐसी स्थिति में दो राष्ट्र एक दूसरे को प्रशुल्क की छूट देकर सौदेबाजी कर सकते हैं।

लेकिन जैसा कि उपर्युक्त तर्क से स्पष्ट है कि सौदेबाजी के लिए पहले प्रशुल्क लगाओ तथा फिर सौदेबाजी द्वारा प्रशुल्क कम करो यह व्यावहारिक दृष्टिकोण से स्वतत्र व्यापार की नीति अपनाने का उत्तम तरीका नही कहा जा सकता फिर भी प्रशुल्क सौदो से सम्बद्ध सस्था गैट (GATT) के दायरे के समझौतो के अन्तर्गत अन्य राष्ट्रो से प्रशुल्क की छूट प्राप्त करने हेतु यह आवश्यक है कि राष्ट्र स्वय अन्य राष्ट्रो को भी प्रशुल्क को छूट दे। अत इस तथ्य को ध्यान मे रखते हुए सौदेबाजी के तर्क का कुछ महत्त्व अवश्य प्रतीत होता है। लेकिन यह तर्क भी एक तरह का सशर्त तर्क है क्योंकि यह सौदेबाजी करने वाले राजनेताओ पर निर्भर करेगा कि वे इस उद्देश्य म कितनी सफलता प्राप्त कर सकते हैं।

(6) राष्ट्रीय सुरक्षा का तर्क

एडम स्मिथ ने करीब 200 वर्ष पूर्व लिखा था कि समृद्धि से सुरक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है (Defence is more important than opulence)। वर्तमान युग मे प्रत्येक राष्ट्र सुरक्षा के मामले मे आत्मनिर्भर बनना पसन्द करता है, अत: ऐसे उद्योगो

को संरक्षण प्रदान करने के लिए तर्क प्रस्तुत किया जाता है जो राष्ट्रीय सुरक्षा की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

प्रो० एल्सवर्थ[15] (Ellsworth) ने राष्ट्रीय सुरक्षा के तर्क की गहराई से जाँच करते हुए सुरक्षा उद्योगों को संकीर्ण व विस्तृत रूप में परिभाषित किया है।

यदि 'आवश्यक उद्योगों' को संकीर्ण रूप में परिभाषित करके तकनीकी सैन्य सामान जैसे-गोला-बारूद, विस्फोटक सामान, लड़ाकू विमान व अन्य आयुध कारखानों (ordnance factories) को इनमें शामिल किया जाये तो इन उद्योगों को संरक्षण प्रदान करने के अन्य कम लागत वाले तरीके भी उपलब्ध हैं। ऐसे उद्योगों को राष्ट्रीय सुरक्षा कार्यक्रम के अंग के रूप में चलाया जाना चाहिए तथा इन्हें राष्ट्रीय बजट में से सहायता (bounties) दी जानी चाहिए। अत: आवश्यक उद्योगों को सरकारी आवश्यकता पूरी करने वाले अन्य आयुध कार्यों में सम्मिलित कर लिया जाना चाहिए। जनता की ऑप्टीकल उपकरणों (optical instruments) व इन जैसे अन्य उपकरणों की आवश्यकताओं की पूर्ति आयातों द्वारा अथवा स्वतंत्र व्यापार की स्थिति में विद्यमान घरेलू निजी उपक्रमों द्वारा की जाती रहेगी। वैकल्पिक रूप से सहायता (bounties) को उस स्तर पर बनाये रखा जा सकता है जिस पर सैन्य आवश्यकताएँ ठीक-ठीक पूरी हो सकें अथवा ऐसी सहायता को भावी जनता की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु विस्तृत किया जा सकता है। लेकिन इतना तो स्पष्ट है कि राष्ट्रीय सुरक्षा का तर्क प्रशुल्क के प्रभाव प्राप्त करने हेतु उपदान (subsidy) के लिए तर्क है न कि प्रशुल्क के लिए जिससे कि उपभोक्ताओं को भी हानि होती है। इसके अतिरिक्त न्याय के दृष्टिकोण से भी संरक्षण की तुलना में उपदान उत्कृष्ट है क्योंकि राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए आवश्यक उद्योग राष्ट्र में चलाने के लाभ राष्ट्र के सभी नागरिक भोगते हैं, अतः इन उद्योगों को सामान्य बजट में से सहायता दी जानी चाहिए। इसके विपरीत यदि सुरक्षा उद्योगों को संरक्षण द्वारा प्रोत्साहित किया जाता है तो ऐसे संरक्षण की लागत इन उद्योगों द्वारा उत्पादित माल के घरेलू उपभोक्ताओं को ही वहन करनी पड़ेगी।

अतः सुरक्षा उद्योगों को संरक्षण प्रदान करना तो उचित ही प्रतीत होता है लेकिन ऐसा संरक्षण उपदान (subsidies) द्वारा प्रदान करना एक उत्कृष्ट विकल्प है।

---

15. Ellsworth, P.T. & Leith, J. C. –The International Economy–(5th ed.) pp. 250-51.

(b) प्रश्नात्मक तर्क
(Questionable Arguments)

सरक्षण के पक्ष म दिये गय प्रश्नात्मक तर्कों म दो प्रमुख हैं, प्रथम तो रोजगार तर्क तथा द्वितीय भुगतान सतुंलन तर्क।

(1) रोजगार तर्क :—

तीसा की भयकर बेरोजगारी की अवधि मे यह तर्क काफी प्रचलित था कि बेरोजगारी की समस्या को हल करने के लिए सरक्षण एक प्रभावी उपाय हो सकता है। यह तर्क भी पूर्णतया प्रतिस्पर्धात्मक स्थिति की अनुपस्थिति पर आधारित है क्योंकि बेरोजगारी की स्थिति मे *अर्थव्यवस्था रूपान्तरण वक्र के अन्दर के किसी बिन्दु पर* उत्पादन कर रही होती है। प्रशुल्क आयात प्रतिस्पर्धात्मक (Import competing) उद्योग मे प्रत्यक्ष रूप से रोजगार में वृद्धि करेगी, इस केन्द्र बिन्दु (focus) से रोजगार *सृजक प्रभाव सर्दव प्रसाररत (ever widening) लेकिन ह्रासमान तरगों द्वारा अन्य* उद्योगों में भी रोजगार प्रभाव सृजित करेगा। आयात प्रतिस्थापन वस्तुओं को उत्पादित करने वाली क्रियाओं में भी विनियोग होना सम्भव है जिसके परिणामस्वरूप रोजगार सृजन की द्वितीय तरग भी गतिमान होगी।

प्रशुल्क का रोजगार तर्क स्वय मे मान्य तर्क है, लेकिन क्या यह रोजगार प्रदान करने का सर्वोत्तम तरीका है, यह सन्देहास्पद है।

प्रथम तो यह कि रोजगार प्रदान करने का यह तरीका शायद अत्यधिक प्रभावी साबित न हो क्योंकि यदि प्रशुल्क द्वारा आयातो मे कटौती की जाती है तो इसका अभिप्राय यह है कि उस राष्ट्र के व्यापार भागीदारो के निर्यातों मे उतनी कमी हो जायेगी, जिसके परिणामस्वरूप व्यापार भागीदार राष्ट्रो में बेरोजगारी फैलने लगती है। जैसे-जैसे व्यापार भागीदार राष्ट्रों म रोजगार व आय म कमी होगी, उनका आयातो पर व्यय भी घटेगा जो कि प्रशुल्क लगाने वाले राष्ट्र के निर्यात हैं। यद्यपि यह सभव है कि इस विदेशी आय परिवर्तन प्रभाव (repercussion) से निर्यातो मे होने वाली कमी हमारी प्रारंभिक आयातो की कमी से कम बनी रहे, लेकिन फिर भी यह प्रभाव महत्वपूर्ण हो सकता है।

द्वितीय, अन्य राष्ट्रों द्वारा प्रतिशोध के रूप में लगायी गयी प्रशुल्क द्वारा हमारे निर्यातों म प्रत्यक्ष एव महत्वपूर्ण कटौती हो सकती है, क्योंकि प्रशुल्क द्वारा रोजगार में वृद्धि करना वास्तव में उस राष्ट्र से अन्य राष्ट्रों को बेरोजगारी का निर्यात करने के

समकक्ष है। अत इस प्रकार की नीति निश्चय ही विदेशो मे रोष एव प्रतिकारात्मक उपायो को जन्म देगी।

तृतीय, प्रशुल्क द्वारा रोजगार प्रदान करने के परिणामस्वरूप उत्पादन कारको का स्थायी रूप से पुनरावटन हो जाता है जबकि बेरोजगारी की समस्या निश्चय ही एक अल्पकालीन चक्रीय समस्या है। ऐसा इसलिए होता है कि एक बार प्रशुल्क लगाने के बाद उस हटाना आसान नही होता है।

अन्त मे, इस ओर भी ध्यान दिया जाना चाहिए कि प्रशुल्क का केवल उत्पादन पर ही प्रभाव नही होता अपितु इसका उपभोक्ताओ के सतोष पर भी प्रभाव पडता है। अत स्पष्ट है कि बेरोजगारी की समस्या हल करने का प्रशुल्क एक महँगा उपाय है। कही हम अत्यधिक ऊँची कीमत पर तो बेरोजगारी की समस्या का हल नही कर रहे हैं ? क्योकि यह सभव है कि नये रोजगार प्राप्त व्यक्तियो की वास्तविक आय मे होने वाली वृद्धि की तुलना मे बेरोजगारी की अवस्था मे जाने वाले व्यक्तियो की वास्तविक आय की कमी अधिक हो। इस सबध मे रोबिन्स (Robbins) के विचार बडे ही स्पष्ट हैं उनके अनुसार "आर्थिक नीति का प्रमुख उद्देश्य बेरोजगारी का उपचार नही है अपितु सामाजिक लाभाश (Social Dividend) मे वृद्धि करना है यदि बेरोजगारी का उपचार करने से यह उद्देश्य प्राप्त होता है तो ठीक है लेकिन यदि बेरोजगारी का उपचार करने हेतु ऐसे उपाय अपनाये जाते हैं जो कि लाभाश मे वृद्धि के लिए हानिकारक (inimical) हैं तो ऐसे उपायों की वाञ्छनीयता और अधिक सन्देहास्पद है।"[16]

वैकल्पिक रूप से बेरोजगारी कम करने हेतु मौद्रिक व राजकोषीय नीतियो का उपयोग किया जा सकता है। यदि ये नीतियाँ प्रभावी साबित होती हैं तो इनके परिणामस्वरूप आय मे होने वाली वृद्धि के साथ-साथ आयातो मे भी वृद्धि होगी, आयातो की इस वृद्धि से भुगतान सतुलन मे घाटा उत्पन्न हो सकता है एव आरक्षित निधि की हानि हो सकती है। लेकिन बहुत कुछ इस पर निर्भर करेगा कि बेरोजगारी पूर्णतया स्थानीय है अथवा विश्वव्यापी, यदि बेरोजगारी स्थानीय है तथा आय व रोजगार मात्र पूर्व विद्यमान स्तर पर पहुँच रहे हैं तो इसके परिणामस्वरूप भुगतान सन्तुलन से सबधित कठिनाई उत्पन्न होना आवश्यक नहीं है। इसके विपरीत यदि बेरोजगारी विश्वव्यापी है तथा अन्य राष्ट्र भी विस्तारवाली मौद्रिक व राजकोषीय नीतियाँ

16 Robbins L —Economic notes on some Arguments for Protection—Economica, (Feb 1931) p 50

अपना रहे हैं तो सभी राष्ट्रो की आय व रोजगार मे एक साथ वृद्धि होगी तथा किसी भी राष्ट्र को आरक्षित निधि की हानि वहन करने की आवश्यकता नही है।

यदि अन्य राष्ट्र विस्तारवाली नीतियाँ नही अपनाते हैं एव विचाराधीन राष्ट्र अकेला ही विस्तारवाली नीति अपना रहा है तो भी इस समस्या का समाधान प्रशुल्क नही है क्योकि समस्या आयातो का स्तर कम करने की नही है बल्कि आयातो की वृद्धि को नियन्त्रित करने की है अत इस स्थिति मे विस्तारवाली आन्तरिक नीतियो के साथ आयातो पर प्रत्यक्ष मात्रात्मक सीमा लगानी उपयुक्त उपाय होगा। इससे विस्तारवाली नीतियो के परिणामस्वरूप आय की वृद्धि के बावजूद भी आयात स्थिर बने रहेगे। इसके विपरीत प्रशुल्क तुरन्त ही आयातो को कम करके विदेशी राष्ट्रो की आर्थिक स्थिति बिगाड देगी। इसके अतिरिक्त प्रत्यक्ष नियन्त्रण यदि भुगतान सतुलन की सुरक्षा के लिए लगाये गये हैं तो उन्हे कुछ समय पश्चात् हटाये जाने की भी सभावना बनी रहती है जबकि प्रशुल्क को एक बार लगाने के बाद हटाना काफी कठिन होता है।

(2) भुगतान सतुलन तर्क —

रोजगार तर्क से मिलता जुलता ही सरक्षण का भुगतान सतुलन तर्क है। भुगतान सतुलन तर्क के पक्षधर राष्ट्र के भुगतान सतुलन के घाटे को दुरुस्त करने हेतु सरक्षण प्रदान करने का तर्क प्रस्तुत करते हैं। यह तो सही है कि आयात प्रशुल्क व अन्य प्रतिबन्धों द्वारा आयातो मे कटौती की जा सकती है लेकिन प्रशुल्क के भुगतान सतुलन प्रभाव को केवल प्रारम्भिक प्रभाव (initial effect) ही माना जा सकता है अन्तिम प्रभाव (final effect) नही।

प्रथम तो यह कि ऐसी नीति अपनाने से विदेशी राष्ट्र प्रतिशोध के रूप मे प्रशुल्क लगाकर हमारे निर्यातो मे कटौती कर सकता है। द्वितीय, यह कि प्रशुल्क का भुगतान सतुलन पर अतिम प्रभाव आयातो व निर्यातो मे परिवतन के दोनो राष्ट्रो की आय पर प्रभावो द्वारा निर्धारित होगा।

अत राष्ट्र के भुगतान सतुलन का घाटा दुरुस्त करने हेतु उपयुक्त मौद्रिक, राजकोषीय व व्यापार नीतियाँ अपनाई जानी चाहिए न कि सरक्षण की नीति।

(c) प्रशुल्क के लिए मिथ्या तर्क

(Fallacious Arguments for protection)

सरक्षण के पक्ष मे अनेक ऐसे तर्क दिये जाते हैं जिन्हे मिथ्या तर्कों की सज्ञा दी जा सकती है, ऐसे कुछ तर्कों का विश्लेषण हम यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं :—

(1) दिवालिये श्रम का तर्क

(Pauper Labour argument)

यह तो सर्वविदित ही है कि भिन्न राष्ट्रों में मजदूरी की दरें भिन्न-भिन्न पायी जाती हैं। उदाहरणार्थ, अमेरिका के श्रमिक की औसत मजदूरी ब्रिटेन के श्रमिक से दुगुनी, इटली के श्रमिक से तिगुनी व भारतीय श्रमिक से पन्द्रह गुनी अधिक है। अतः ऊँची मजदूरी वाले राष्ट्र इस आधार पर संरक्षण प्रदान करना चाहते हैं कि वे अन्य राष्ट्रों के 'दिवालिये' श्रमिक की प्रतिस्पर्धा से स्वदेशी श्रमिकों को संरक्षण प्रदान कर सकें।

अमेरिका में प्रायः यह तर्क दिया जाता है कि यदि अमेरिका सस्ते श्रम वाले राष्ट्रों द्वारा उत्पादित वस्तुओं का आयात करता है तो अमेरिका के महँगे श्रम द्वारा उत्पादित माल प्रतिस्पर्धा में टिक नहीं पायेगा। अतः अमेरिका में मजदूरी दरों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा तथा अमेरिका के श्रमिकों का जीवन स्तर गिर जायेगा।

लेकिन यह निष्कर्ष निकालना कि ऊँची मजदूरी वाला राष्ट्र नीची मजदूरी वाले राष्ट्र द्वारा उत्पादित वस्तुओं से प्रतिस्पर्धा नहीं कर सकता भ्रुटिपूर्ण विचार ही कहा जा सकता है। इस सबंध में दो बातें ध्यान में रखनी आवश्यक हैं :—

प्रथम तो यह कि ऊँची मजदूरी होने से लागत भी ऊँची हो यह आवश्यक नहीं है क्योंकि ऊँची मजदूरी वाले राष्ट्र में यदि श्रम की उत्पादकता और भी अधिक ऊँची है तो महँगे श्रम वाले राष्ट्र में सस्ते श्रम वाले राष्ट्र की तुलना में उत्पादन लागत नीची बनी रह सकती है।

द्वितीय, यह कि यदि ऊँची मजदूरी वाले राष्ट्र में उत्पादकता कई गुना अधिक नहीं है तब भी यह संभव है नीची मजदूरी वाला राष्ट्र श्रमगहन वस्तुओं के उत्पादन में तथा ऊँची मजदूरी वाला राष्ट्र पूँजी गहन वस्तुओं के उत्पादन में विशिष्टीकरण करे एवं दोनों ही राष्ट्र तुलनात्मक लागत के आधार पर व्यापार में लाभ अर्जित करें।

अतः स्पष्ट है कि दिवालिये श्रम का तर्क पूर्णतया मिथ्या है।

(2) घरेलू बाजार के विस्तार का तर्क

(Enlargement of the home market argument)

कई बार यह तर्क दिया जाता है कि यदि राष्ट्र के निर्माण उद्योगों को संरक्षण

प्रदान किया जाता है तो इससे औद्योगिक क्षेत्र के श्रमिकों की क्रय शक्ति में वृद्धि के परिणामस्वरूप कृषि पदार्थों के बाजार का विस्तार होगा।

लेकिन आयात प्रतिस्थापन द्वारा औद्योगिक श्रमिकों की क्रय शक्ति में वृद्धि होने के साथ-साथ विदेशी क्रेताओं की क्रय शक्ति में कमी होगी क्योंकि विदेशी राष्ट्र की निर्यातों से आय घट जायेगी। अतः विदेशी क्रेताओं के स्थान पर घरेलू क्रेताओं का प्रतिस्थापन मात्र कृषि-पदार्थों के बाजार का विस्तार नहीं कहा जा सकता है। साथ ही यह भी नहीं भूलना चाहिए कि निर्मित माल को सरक्षण प्रदान करने से कृषक को निर्मित माल के उपभोक्ता के रूप में हानि वहन करनी होगी। इसके अतिरिक्त इस तर्क से ऐसा आभास होता है कि मानो प्रशुल्क द्वारा विस्तृत घरेलू बाजार विश्व बाजार से भी बड़ा हो जायेगा।

अतः स्पष्ट है कि बाजार के विस्तार का तर्क मिथ्या तर्क है क्योंकि इस उद्देश्य से लगाई गयी प्रशुल्क से न तो बाजार का विस्तार होता है और न ही कृषक को कोई लाभ। वास्तव में ऐसे प्रशुल्क से उपभोक्ताओं के रूप में कृषक को हानि ही वहन करनी पड़ती है।

(3) वैज्ञानिक प्रशुल्क

(Scientific Tariffs)

एक अन्य मिथ्या तर्क वैज्ञानिक प्रशुल्क के नाम से प्रस्तुत किया जाता है। इस तर्क के अनुसार इतनी प्रशुल्क लगायी जानी चाहिए कि आयातों की कीमत घरेलू कीमत के बराबर हो जाय ताकि घरेलू उत्पादक विदेशी निर्यातकर्त्ता की प्रतिस्पर्धा में टिक सके।

लेकिन इस प्रकार के वैज्ञानिक प्रशुल्क लगाने के परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय कीमत अन्तर समाप्त हो जायेंगे एवं ऐसे वैज्ञानिक प्रशुल्क से सरक्षण प्राप्त सभी वस्तुओं का व्यापार बन्द हो जायेगा।

अतः इस प्रकार के वैज्ञानिक प्रशुल्क अत्यन्त अवैज्ञानिक ही कहे जा सकते हैं क्योंकि इनके द्वारा अकुशल घरेलू उत्पादकों की रक्षा करने हेतु हम आयात प्रतिबन्ध लगाकर हमारे सर्वाधिक कुशल निर्यातकर्त्ताओं के लिए विदेशी बाजार बन्द कर उन्हें नुकसान पहुँचाते हैं।

(4) देश की मुद्रा को देश में रखने का तर्क

(Keeping Money at home argument)

इस तर्क को निम्न कथन के आधार पर प्रस्तुत किया जाता है जिसे मूठ-मूठ

ही अब्राहम लिंकन (Abraham Lincoln) के नाम से जोड दिया गया है, यह कथन इस प्रकार है "मैं प्रशुल्क के बारे म ज्यादा नही समभता हूं लेकिन मैं इतना जानता हूँ कि जब हम विदेशो से निर्मित माल खरीदते है तो हम तो वस्तुएँ मिलती हैं और विदेशी को मुद्रा। लेकिन जब हम निर्मित माल देश मे ही खरीदत हैं तो हम वस्तुएँ व मुद्रा दोनों ही प्राप्त होती हैं।"

इस तर्क की समीक्षा करते हुए बेवरिज (Beveridge) ने लिखा है कि इस तर्क मे कोई गुण नहीं है, इसम केवल प्रथम नौ (अग्रेजी मे 8) शब्द ही सवेद्य (sensible) शब्द हैं।"[17]

इस सम्बन्ध मे केवल इतना ही इगित कर देना पर्याप्त होगा कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे निर्यात ही आयातो का भुगतान होते हैं तथा मुद्रा धन का रूप नहीं होती है यह तो केवल विनिमय माध्यम का कार्य करती है।

उदाहरणार्थ, भारतीय रुपये की विदेशी के लिए उपयोगिता तभी है जब वह इसे भारतवर्ष मे व्यय करे अन्यथा तो रुपया उसके लिए रद्दी कागज के समान ही है। यही बात अन्य राष्ट्रो की मुद्राओं के सम्बन्ध मे सही है। अत देश की मुद्रा को देश मे रखने का तर्क बेतुका ही प्रतीत होता है।

17 Sir William Beveridge—Tariffs The Case Examined—(New York Longmans Green & Co, 1931) p 27, where the preceding quotation is also cited'

———

चुंगी संघ का सिद्धान्त

(The Theory of Customs Union)

प्रस्तावना

(Introduction)

चुंगी संघ सिद्धान्त प्रशुल्क सिद्धान्त की नई शाखा है। चुंगी संघ सिद्धान्त का जन्म सन् 1950 में हुआ माना जा सकता है। लेकिन इस सिद्धान्त में प्रो० वाइनर[1] (Viner) ने अपनी पुस्तक *'The Customs Union Issue'* में जान डाली थी। तत्पश्चात् प्रो० मीड[2] (Meade) लिप्सी[3, 4] (Lipsey) तथा वानेक[5] (Vanek) ने चुंगी संघ सिद्धान्त के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान प्रदान किया।

प्रो० जगदीश भगवती के अनुसार "प्रो० वाइनर का व्यापार सृजन व व्यापार-दिशा परिवर्तन प्रभाव उत्पन्न करने वाले चुंगी संघों में अन्तर एक पुरोगामी (pioneering) योगदान था जिसने व्यापार सिद्धान्त प्रतिपादकों को यह चेतावनी दी कि (स्वतन्त्र व्यापार की चलन की भाँति) स्वतन्त्र व्यापार की ओर चलन विश्व कल्याण के दृष्टिकोण से लाभदायक ही हो यह आवश्यक नहीं है। तत्पश्चात् के विचारों के खमीर (ferment of ideas) का देदीप्यमान सर्वेक्षण (brilliant survey) प्रो० लिप्सी (Lipsey) द्वारा किया गया जिन्होंने स्वयं भी अन्वेषण के इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान प्रदान करना था।"[6]

---

1 Viner J —The Customs Union Issue (New York Carnegie Endowment International Peace, 1953)
2. Meade J E —The Theory of Customs Unions (North Holland 1856)
3 *Lipsey R G —The Theory of Customs Unions Trade Diversion and Welfare* (Economica, Vol 24, 1957)
4 Lipsey R G —The Theory of Customs Unions : A General Survey—(Economic Journal Vol. 70 (1960) reprinted in Bhagwati J (edt)—International Trade (Penguin, 1954) chap 9, pp 218 241
5 Vanek J —General Equilibrium of International Discrimination (Harvard—University Press, 1965)
6 Bhagwati, J —International Trade p 14

स्वतंत्र व्यापार क्षेत्र, चुंगी संघ, साझा बाजार, आर्थिक समुदाय व आर्थिक एकीकरण

(Free Trade area, Customs Union, Common Market, Economic Union and Economic Integration)

चुंगी संघ के सिद्धान्त का विश्लेषण प्रारम्भ करने से पूर्व पाँच प्रकार के आर्थिक संगठनों के मध्य अन्तर स्पष्ट कर देना उपयुक्त होगा। ये संगठन हैं —स्वतंत्र व्यापार क्षेत्र, चुंगी संघ साझा बाजार, आर्थिक समुदाय एवं आर्थिक एकीकरण।

स्वतन्त्र व्यापार क्षेत्र व चुंगी संघ दोनों ही प्रकार के संगठनों में सदस्य राष्ट्रों के मध्य आपसी व्यापार पर समस्त प्रतिबन्ध समाप्त कर दिये जाते हैं एवं आपसी स्वतंत्र व्यापार की नीति अपना ली जाती है जबकि शेष विश्व से व्यापार पर संघ के सदस्य राष्ट्र व्यापार प्रतिबन्ध लागू रखते हैं।

चुंगी संघ व स्वतंत्र व्यापार क्षेत्र में प्रमुख अन्तर यह है कि चुंगी संघ के सदस्यों को गैर-सदस्य राष्ट्रों से व्यापार में समान वस्तुओं पर समान प्रशुल्क दरों के लिए सहमत होना आवश्यक होता है, जबकि स्वतंत्र व्यापार क्षेत्र के सदस्य राष्ट्रों को गैर-सदस्य राष्ट्रों से व्यापार में स्वयं की निजी प्रशुल्क दरें लगाने की स्वतंत्रता होती है लेकिन स्वतंत्र व्यापार क्षेत्र के सदस्य राष्ट्रों के मध्य भी चुंगी संघ की भाँति आपसी व्यापार पर प्रतिबन्ध पूर्णतया समाप्त कर दिये जाते हैं। सन् 1960 में बना यूरोपीय स्वतंत्र व्यापार संघ (European Free Trade Association or EFTA) स्वतंत्र व्यापार क्षेत्र का श्रेष्ठतम उदाहरण है। इसके सदस्य—यू० के०, आस्ट्रिया, डेनमार्क, नॉर्वे, पुर्तगाल, स्वीडन एवं स्विट्जरलेन्ड हैं, जबकि फिनलेन्ड इसका सहायक सदस्य (Associate member) है।

जबकि चुंगी संघ का जाना माना उदाहरण यूरोपीय आर्थिक समुदाय (European Economic Community or EEC) अथवा यूरोपीय साझा बाजार (European common Market or ECM) है जिसका निर्माण सन् 1985 में हुआ था। ई०ई० सी० के सदस्य राष्ट्र पश्चिमी जर्मनी, फ्रांस, इटली, बेल्जियम, नीदरलेन्ट्स तथा लक्समबर्ग हैं। चुंगी संघ का एक अन्य उदाहरण सन् 1834 में स्थापित बहुत से सार्वभौम जर्मन राज्यों का संगठन जाल्वराईन (Zollverein) *या जिसका अर्थ चुंगी संघ ही होता है।*

साझा बाजार में चुंगी संघ के सिद्धान्त को एक कदम और आगे बढ़ा दिया जाता

है तथा इसके अन्तर्गत सदस्य राष्ट्रो के मध्य वस्तुओ के साथ-साथ उत्पादन के साधनो, जैसे श्रम, पूँजी आदि की भी स्वतत्र गतिशीलता बनाय रखी जाती है। अत स्पष्ट है कि साझा बाजार के सदस्य राष्ट्रो का भौगोलिक दृष्टिकोण से भी एकीकृत क्षेत्रीय समूह होना आवश्यक है। सन 1970 मे ई० ई० सी० लगभग साझा बाजार बन चुका था।

चौथे प्रकार के समूह 'आर्थिक सघ' के सदस्य राष्ट्रो का आर्थिक दृष्टिकोण से एक इकाई हो जाना अन्तिम उद्देश्य होता है अर्थात आर्थिक सघ के सदस्यो मे समान बाह्य प्रशुल्क के अलावा औद्योगिक व अन्य राष्ट्रीय नीतियो के तालमेल (harmonization) का भी प्रावधान होता है। आर्थिक सघ का ज्वलत उदाहरण सन् 1960 मे बना 'बेनेलक्स' (Benelux) है जिसके सदस्य राष्ट्र बेल्जियम, नीदरलेण्डस व लक्समबग हैं। *लेकिन वतमान मे 'बेनेलक्स' ई ई सी का सदस्य है।*

आर्थिक सहयोग की उत्कृष्टतम अवस्था को 'आर्थिक एकीकरण' के नाम से जाना जाता है। आर्थिक एकीकरण मे एक कदम और आगे बढकर सदस्य राष्ट्रो द्वारा एक जैसी मौद्रिक व राजकोषीय नीतियाँ अपनाई जाती है। सयुक्त राज्य अमेरिका को आर्थिक एकीकरण का उदाहरण माना जा सकता है।

यद्यपि इस अध्याय में हम चुगी सघ के सैद्धान्तिक विश्लेषण पर ही ध्यान केन्द्रित करेंगे लेकिन यह विश्लेषण अन्य आर्थिक सगठनो पर भी काफी सीमा तक लागू किया जा सकता है।

प्रशुल्क नीति के अन्तर्गत दो प्रकार का विभेद सम्भव है :— प्रथम तो वस्तु विभेद जिसके अन्तर्गत भिन्न वस्तुओ पर भिन्न प्रशुल्क दरें लगाई जाती है तथा दूसरा राष्ट्र विभेद जिसके अन्तर्गत दी हुई वस्तु के मूल के आधार पर भिन्न प्रशुल्क की दरें लगाई जाती हैं। चुगी सघ का सम्बन्ध राष्ट्र विभेद के आधार पर प्रशुल्क से है। प्रो० लिप्सो (Lipsey) ने चुगी सघ को परिभाषित करते हुए लिखा है कि चुगी सघ सिद्धान्त "प्रशुल्क सिद्धान्त की वह शाखा है जिसमे भौगोलिक आधार पर विभेदात्मक व्यापार प्रतिबन्धो के प्रभावो का अध्ययन किया जाता है।"[7]

चुंगी संघ के स्थैतिक प्रभाव

(Static effects of a custom Union)

चुंगी सघ के निर्माण के स्थैतिक प्रभावो को आशिक साम्य व सामान्य साम्य

7. Lipsey R G —A general survey, Op. Cit P 218

दोनो मे ही दर्शाया जा सकता है। चित्र 11.1 मे आंशिक साम्य विश्लेषण की सहायता से चुंगी संघ के प्रभावो को स्पष्ट किया गया है। मान लीजिए कि A स्वदेशी राष्ट्र, B संघ सहयोगी तथा C शेष विश्व है। चित्र 11.1 मे D-D A राष्ट्र का मांग वक्र तथा S-S पूर्ति वक्र है। C राष्ट्र की पूर्ति कीमत Pf रेखा द्वारा दर्शायी गयी है। Pf वक्र क्षैतिज (horizontal) खीचने का आशय यह है कि चुंगी संघ के निर्माण के बावजूद विदेशी व्यापार की शर्तें यथास्थिर रहती हैं। चुंगी संघ के निर्माण से पूर्व Pf—Pt प्रति इकाई आयात प्रशुल्क है—
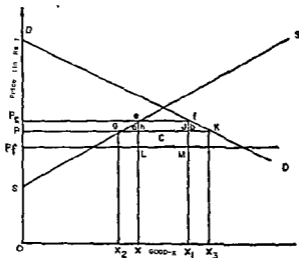
चित्र 11.1 . चुंगी संघ निर्माण के व्यापार सृजन व व्यापार दिशा-परिवर्तन प्रभाव

अतः Pt कीमत पर A राष्ट्र मे x वस्तु की कुल मांग ox_1 है, जिसमे से घरेलू पूर्ति ox तथा शेष x-x1 मात्रा का आयात किया जा रहा हैं।

चित्र मे O P चुंगी संघ के सम्भाविन सदस्य B राष्ट्र की पूर्ति कीमत है। अतः स्पष्ट है कि चुंगी संघ के निर्माण से पूर्व B राष्ट्र से आयातो पर भी C राष्ट्र से आयातो के समान Pf-Pt प्रशुल्क लगा देने से B के आयात A राष्ट्र के उपभोक्ताओं को Pt से ऊँची कीमत पर ही प्राप्त हो सकेंगे अत. चुंगी संघ के निर्माण से पूर्व B राष्ट्र से A राष्ट्र के आयात शून्य हैं।

अब मान लीजिए कि A व B राष्ट्र चुंगी संघ का निर्माण कर लेते हैं तथा आपसी व्यापार पर प्रशुल्क पूर्णतया समाप्त कर देते है एवं गैर सदस्य राष्ट्र C के आयातो पर Pf-Pt प्रशुल्क पूर्ववत ही बनी रहती है तो इस तरह के चुंगी संघ के निर्माण के व्यापार व कल्याण के स्तर पर दो विपरीत प्रभाव होंगे :—

प्रथम यह कि चुंगी संघ के निर्माण से संघ सदस्य B राष्ट्र के आयातो पर प्रशुल्क समाप्त कर देने से A राष्ट्र को x वस्तु O-P कीमत पर प्राप्त होगी जो कि राष्ट्र की प्रशुल्क सहित वाली कीमत O-Pt से कम है। अतः A राष्ट्र के आयात $x\text{-}x_1$ से बढ़कर $x_2\text{-}x_3$ हो जाते हैं तथा घरेलू उत्पादन o-x से घट कर $o\text{-}x_2$ हो जाता है। कीमत की इस कमी से A राष्ट्र का उपभोग का स्तर $o\text{-}x_1$ से बढ़कर ox_3 हो जाता है। अतः चुंगी संघ के 'व्यापार सृजन प्रभाव' (Trade creating effect) को दो भागो मे विभाजित किया जा सकता है : प्रथम, घरेलू उत्पादन मे कमी का प्रभाव तथा दूसरा, घरेलू उपभोग मे वृद्धि का प्रभाव।

व्यापार सृजन से A राष्ट्र लाभान्वित होगा क्योंकि यदि A राष्ट्र $x_2\text{-}x$ मात्रा का उत्पादन स्वयं करता तो इस राष्ट्र की $x_2\text{-}x$ मात्रा की लागत exx_2g क्षेत्र के बराबर होती जबकि चुंगी संघ के सदस्य B राष्ट्र से $x_2\text{-}x$ मात्रा के आयातो की लागत $gh\,xx_2$ है। A राष्ट्र मे $x_2\text{-}x$ की लागत तथा इस राष्ट्र की चुंगी संघ के सदस्य राष्ट्र B से $x_2\text{-}x$ के आयात की लागत का अन्तर A राष्ट्र की विशुद्ध बचत है। यह बचत त्रिभुजाकार क्षेत्र egh द्वारा दर्शायी गयी है। इस बचत को चुंगी संघ के निर्माण के व्यापार सृजन प्रभाव की उपलब्धि कहा जा सकता है।

चित्र 11.1 मे यह भी स्पष्ट है कि चुंगी संघ के निर्माण से A राष्ट्र के उपभोग मे $x_1\text{-}x_3$ की वृद्धि से भी राष्ट्र के कल्याण के स्तर मे वृद्धि होगी। उपभोग मे $x_1\text{-}x_3$ की अतिरिक्त वृद्धि मे A राष्ट्र के उपभोक्ताओं को प्राप्त अतिरिक्त उपयोगिता $f\,x_1x_3k$ क्षेत्र के बराबर है जबकि $x_1\text{-}x_3$ मात्रा के आयातो की लागत केवल KJx_1x_3 क्षेत्र के बराबर ही है, अतः JKf त्रिभुज के क्षेत्र के बराबर A राष्ट्र के कल्याण मे वृद्धि हुई है।

A राष्ट्र को चुंगी संघ निर्माण से व्यापार सृजन से प्राप्त लाभ निम्न बातो पर निर्भर करते हैं :—

1. चुंगी संघ के निर्माण से पूर्व A राष्ट्र के आयातो पर लगी प्रशुल्क Pf-Pt जितनी अधिक होगी उतना ही ऐसी प्रशुल्क समाप्त करने से A राष्ट्र अधिक लाभान्वित होगा।

2 A राष्ट्र के पूर्ति वक्र SS तथा माँग वक्र D D का ढाल जितना कम होगा अर्थात् ये वक्र जितने अधिक लोचदार होगे उतनी ही चुगी सघ के निर्माण से A राष्ट्र के कल्याण में स्तर म अधिक वृद्धि होगी।

3 A राष्ट्र व सघ भागीदार B राष्ट्र की लागतो मे जितना अधिक अन्तर होगा उतना ही चुगी सघ के निर्माण से A राष्ट्र अधिक लाभान्वित होगा।

4. सघ भागीदार राष्ट्र B व शेष विश्व C की कीमतो मे जितना कम अन्तर होगा उतना ही A राष्ट्र चुगी सघ के निर्माण से अधिक लाभान्वित होगा।

लेकिन चित्र 11 1 म चुगी सघ के निर्माण के पश्चात् x-x_1 आयातो की मात्रा न्यूनतम लागत वाले विदेशी राष्ट्र C से आयातित करने की बजाय ऊँची लागत वाले चुगी सघ के सदस्य राष्ट्र B से आयातित की जायेगी। इस व्यापार दिशा परिवर्तन (Trade diversion) से A राष्ट्र को C आयत के क्षेत्र के बराबर हानि होगी। C क्षेत्र x-x_1 आयातो की लागत मे चुगी सघ के निर्माण के कारण होने वाली वृद्धि है। अत स्पष्ट है कि चुगी सघ के निर्माण से विश्व के सर्वाधिक कुशल सदस्य राष्ट्र से आयात करने की बजाय सघ के सर्वाधिक कुशल राष्ट्र से आयात किये जाते हैं अत अधिक कुशल से कम कुशल राष्ट्र की ओर व्यापार दिशा परिवर्तित होता है।

चित्र 11 1 मे आयातो मे x_2-x तथा x_1-x की वृद्धि तो व्यापार सृजन के कारण हुई है, अत कल्याण के स्तर मे कमी ज्ञात करने हेतु हम चुगी सघ के निर्माण से पूर्व के आयातो के स्तर x–x_1 पर ही ध्यान केन्द्रित करेंगे। चुगी सघ के निर्माण से पूर्व x-x_1 आयातो की कुल लागत को दो भागो मे विभाजित किया जा सकता है — O-Pt कीमत पर C राष्ट्र के निर्यातकर्त्ताओ को किया गया कुल भुगतान $LMxx_1$ क्षेत्र के बराबर था जबकि efLM आयत के बराबर A राष्ट्र की सरकार को प्रशुल्क आगम चुकाया जाता था। अत A राष्ट्र के आयातकर्त्ताओ की कुल लागत $efxx_1$ के बराबर थी, लेकिन इसमे से efLM क्षेत्र तो A राष्ट्र के आयातकर्त्ताओ से सरकार को आय का हस्तातरण मात्र था, विदेशियो को तो केवल $LMxx_1$ के बराबर ही भुगतान किया जाता था।

चुगी सघ के निर्माण के पश्चात् A राष्ट्र पूर्व जितने ही x-x_1 आयातो के बदले B राष्ट्र को $hjxx_1$ भुगतान कर रहा है इस प्रकार व्यापार दिशा परिवर्तन के कारण x-x_1 आयातो का भुगतान hJLM अधिक हो गया है। अत चुगी सघ के निर्माण से व्यापार दिशा परिवर्तन से A राष्ट्र के कल्याण के स्तर मे होने वाली हानि आयात hJLM के क्षेत्र के बराबर है।

A राष्ट्र को चुंगी संघ के निर्माण से व्यापार दिशा परिवर्तन से होने वाली हानि निम्न बातों पर निर्भर करती है—

(1) चुंगी संघ के निर्माण से पूर्व A राष्ट्र के आयातों पर लगी प्रशुल्क Pf-Pt जितनी कम होगी उतना ही ऐसा प्रशुल्क समाप्त करने से A राष्ट्र के कल्याण के स्तर में कम वृद्धि होगी।

(2) A राष्ट्र के मांग व पूर्ति वक्र जितने अधिक बेलोचदार अर्थात् अधिक ढालू होंगे उतनी ही व्यापार दिशा परिवर्तन से होने वाली हानि अधिक होगी।

(3) A राष्ट्र व चुंगी संघ के सदस्य B राष्ट्र की लागतों में अन्तर जितना कम होगा उतनी ही व्यापार दिशा परिवर्तन से होने वाली हानि अधिक होगी।

(4) संघ भागीदार राष्ट्र B व शेष विश्व C की कीमतों में अन्तर जितना अधिक होगा उतनी ही A राष्ट्र को चुंगी संघ के निर्माण से अधिक हानि होगी।

अतः स्पष्ट है कि चुंगी संघ के निर्माण की विशुद्ध हानि (net welfere loss) व्यापार सृजन से प्राप्त लब्धियों व व्यापार दिशा परिवर्तन से होने वाली हानि के अन्तर के बराबर होती है चित्र 11-1 में चुंगी संघ के निर्माण का विशुद्ध स्थैतिक कल्याण प्रभाव a तथा b क्षेत्रों के योग में से c क्षेत्र घटाकर (अर्थात् $a + b - c$) प्राप्त किये गये क्षेत्र के बराबर है।

यदि हम उपर्युक्त विश्लेषण की अनन्त लोच वाले पूर्ति वक्रों की मान्यता व अन्य मान्यताओं को त्याग दें तो चुंगी संघ के कल्याण के स्तर पर प्रभावों को ज्ञात करना काफी जटिल कार्य बन जायेगा, लेकिन यह मूलभूत नियम, कि चुंगी संघ से विश्व को प्राप्त लाभों को तो व्यापार सृजन से जोड़ा जाना चाहिये तथा हानियों को व्यापार दिशा परिवर्तन से, यथावत् बना रहेगा।

प्रतियोगी व पूरक अर्थव्यवस्थाएँ

(Competitive and complimentary Economies)

प्रो वाइनर[8] (Viner) ने अपने विश्लेषण से यह निष्कर्ष प्राप्त किया कि यदि संघ के सदस्य राष्ट्र पूरक वस्तुएँ उत्पादित करते हैं तो चुंगी संघ के निर्माण से कुशलता पर प्रतिकूल और यदि वे प्रतिस्थापन वस्तुएँ उत्पादित करते हैं तो अनुकूल प्रभाव पड़ेगा।

---

8 Viner, J —Op cit

दूसरे शब्दो मे हम कह सकते है कि प्रो वाइनर के अनुसार यदि चुंगी संघ के सदस्य राष्टो की अर्थव्यस्थाएँ प्रतियोगी (competitive) है तो व्यापार सृजन की सम्भावना बनी रहती है इसके विपरित यदि सदस्य राष्ट्रो की अर्थव्यवस्थाएँ पूरक (ccomplimentary) है तो *व्यापार दिशा परिवर्तन की अधिक सम्भावनाएँ होती है।* प्रतियोगी व पूरक राष्ट्रो को चित्र 11 2 (a) तथा (b) मे दर्शाया गया है। चित्र A मे ऐसे दो राष्ट्रो को दर्शाया गया है जिनकी अर्थव्यवस्थाएँ पूरक हैं अत: A व B राष्ट्रो के वृतो मे प्रतिस्पर्धात्मक उत्पादन वाला रेखाम्रो द्वारा दर्शाया गया क्षेत्र कम है जबकि चित्र B मे A व B राष्ट्रो के वृतो मे एक जैसे उत्पादन वाला रेखाम्रो द्वारा दर्शाया *गया क्षेत्र काफी बडा हिस्सा है। सामान्यतया* हमे ऐसा आभास होता है कि एक कृषि प्रधान राष्ट्र को उद्योग प्रधान राष्ट्र के साथ चुंगी संघ बनाना चाहिए लेकिन ऐसा सही नही है। वास्तव मे कृषि प्रधान राष्ट्र को अन्य कृषि प्रधान राष्ट्रो के साथ तथा उद्योग प्रधान राष्ट्र को उद्योग प्रधान राष्ट्रो के साथ चुंगी संघ बनाना चाहिए। ऐसा करने से अधिक व्यापार सृजन एव अधिक कुशल साधन आवटन सम्भव हो सकेगा। इसके अतिरिक्त संघ के सदस्य राष्ट्रो की उत्पादन लागतो मे अन्तर जितने अधिक होगे उतने ही चुंगी संघ से लाभ भी अधिक होगे।

Fig (a)

Fig (b)
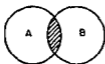
चित्र 11.2 : पूरक व प्रतियोगी उत्पादन ढाँचा

लेकिन प्रो. किन्डलबर्गर (Kindleberger) ने प्रो. वाइनर के इस विचार से असहमति प्रकट करते हुए विचार व्यक्त किया है कि ऐसा संदिग्ध (ambiguous) ही है, उनके अनुसार 'यदि संघ बनने के उपरान्त सदस्य राष्ट्र खाद्यान्नो का आयात न्यूनतम लागत वाले गैर-सदस्य राष्ट्र की बजाय सदस्य राष्ट्र से करने लग जाये तो औद्योगिक राष्ट्रो के मध्य का चुंगी संघ भी व्यापार दिशा-परिवर्तक हो सकता है तथा यदि संघ के सदस्य राष्ट्रो मे आपसी व्यापार मामूली है तो इस दृष्टिकोण से कि वे शेष विश्व से एक जैसी वस्तुओ का क्रय विक्रय करते हैं प्रतियोगी राष्ट्रो के मध्य *चुंगी संघ तुच्छ (trivial) हो सकता है। प्रश्न तो यह है कि चुंगी संघ के निर्माण से* प्रशुल्क सरक्षित क्रियाएँ प्रोत्साहित होती है अथवा हतोत्साहित। जिस सीमातक प्रशुल्क सरक्षित संघ के उद्योग प्रोत्साहित होते हैं उस सीमातक व्यापार दिशा

परिवर्तन होगा तथा जिस सीमातक उन्हे आयातो की प्रतिस्पर्धा का मुकाबला करना पडता है उस सीमा तक व्यापार सृजन होगा ।"[9]

सामान्य साम्य विश्लेषण

(The General Equilibrium Analysis)

हमारा अब तक का विश्लेषण आंशिक-साम्य विश्लेषण के रूप मे था अब हम चु गी सघ के प्रभावो को सामान्य साम्य विश्लेषण के रूप मे स्पष्ट करने का प्रयास करेंगे । इस विश्लेषण मे हम चु गी सघ के सदस्य पर तीन स्थितियो मे प्रभाव स्पष्ट करने का प्रयास करेंगे . (a) जब उपभोग स्थिर हो, (b) जब उपभोग परिवर्तित हो रहा हो, तथा (c) जब उपभोग व उत्पादन दोनो परिवर्तित हो रहे हो ।

(a) स्थिर उपभोग ढांचे की स्थिति मे चु गी सघ के व्यापार दिशा परिवर्तन प्रभाव को प्रो० लिप्सी[10] (Lipsey) ने चित्र 11.3 द्वारा स्पष्ट किया है । प्रो० लिप्सी ने अपना विश्लेषण वाइनर के विश्लेषण के तत्वो के आधार पर यह निष्कर्ष दर्शाने हेतु प्रदान किया कि व्यापार दिशा परिवर्तन से निश्चय ही कल्याण के स्तर मे कमी होगी प्रो० लिप्सी ने वाइनर का अनुसरण करते हुए स्थिर उपभोग के ढांचे की मान्यता मानी तथा पूर्ति पक्ष मे पूर्ति लोचो को अनन्त माना ताकि निर्यात वस्तु के उत्पादन मे पैमाने की स्थिर उत्पत्ति का नियम क्रियान्वित हो सके ।

यदि हम यह मान्यता मान लेते हैं कि प्रत्येक वस्तु कीमत अनुपात पर वस्तुओ का उपभोग समान अनुपात मे किया जाता है तथा उत्पादन लागत स्थिर है तो व्यापार दिशा परिवर्तन से कल्याण का स्तर निश्चय ही कम होगा ।

चित्र 12.3 मे A राष्ट्र y वस्तु के उत्पादन मे पूर्ण विशिष्टीकरण करता है । अत इस राष्ट्र का साम्य उत्पादन बिन्दु A तथा व्यापाररत A राष्ट्र का साम्य उपभोग बिन्दु e है अत A-C रेखा वाली व्यापार की शर्तों पर A राष्ट्र y वस्तु के Ag निर्यातो के विनिमय मे x वस्तु की ge मात्रा का विदेशी राष्ट्र C से आयात कर रहा है । मूल बिन्दु से खीची गई सरल रेखा OZ दोनो वस्तुओ का स्थिर अनुपात में उपभोग दर्शाती है ।

अब यदि A व B राष्ट्र चुंगी सघ का निर्माण कर लेते हैं तो A राष्ट्र को

9 Kindleberger, C P —International Economics—(5th ed), pp 177
10 Lipsey, R G —A General Survey—Op Cit. P 223.

ऊँची लागत वाले चुंगी सघ के सदस्य B राष्ट्र से x वस्तु का आयात करना होगा। अतः चुंगी सघ के निर्माण के बाद आयात वस्तु x के सापेक्ष मूल्य मे वृद्धि हो जाती है तथा नयी व्यापार की शर्तों की रेखा A-B हो जाती है। अब नया साम्य उपभोग बिन्दु e से परिवर्तित होकर f हो जाता है। चित्र 11 3 म e बिन्दु की तुलना मे f बिन्दु पर x तथा y दोनो ही वस्तुओ की कम मात्रा का उपभोग हो रहा है, अर्थात् सघ के निर्माण से A राष्ट्र का कल्याण का स्तर गिर जाता है। अतः स्पष्ट है कि स्थिर अनुपातो म उपभोग की मान्यता के अन्तर्गत व्यापार दिशा परिवर्तन से राष्ट्र का कल्याण का स्तर निम्न हो जाता है ।
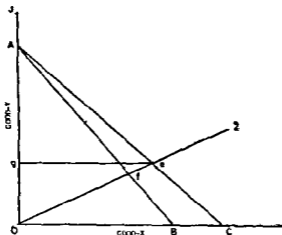
चित्र 11.3 : व्यापार दिशा परिवर्तन का कल्याण के स्तर पर प्रभाव (उपभोग का ढांचा अपरिवर्तित)

लेकिन प्रो० लिप्सी (*Lipsey*) का दावा है कि प्रो० वाइनर की स्थिर अनुपातों मे उपभोग की मान्यता एक बहुत ही विशिष्ट प्रकार की मान्यता है। चुंगी संघ के निर्माण से सापेक्ष मूल्य निश्चय ही परिवर्तित होगा, अतः सामान्यतया यह आशा की जानी चाहिए कि इसके परिणामस्वरूप वस्तु प्रतिस्थापन भी होगा और इस प्रकार पूर्व विद्यमान व्यापार मे परिवर्तन होकर सस्ती वस्तु के क्रय मे वृद्धि तथा महँगी वस्तु के क्रय मे कमी होगी। इसके परिणामस्वरूप सदस्य राष्ट्र B से A राष्ट्र के आयातों मे वृद्धि होगी तथा राष्ट्र मे उत्पादित वस्तुओ के उपभोग व गैर सदस्य राष्ट्र C से आयातो में कमी होगी।

वास्तव मे उपभोग मे प्रतिस्थापन प्रभाव के महत्त्व की खोज तीन अर्थशास्त्रियो द्वारा स्वतत्र रूप से की गयी थी। प्रो० मीड[11] (Meade) ने सन् 1956 मे, प्रो० गेहरेल्स[12] (Gehrels) ने 1956-57 मे व प्रो० लिप्सी[13] (Lipsey) ने सन् 1957 मे प्रतिस्थापन प्रभाव के महत्त्व को इगित किया था।

प्रो० लिप्सी (Lipsey) ने उपभोग में प्रतिस्थापन प्रभाव को स्पष्ट करने हेतु गेहरेल्स (Gehreis) के प्रस्तुतीकरण को प्रयुक्त करते हुए चित्र 11 4 की सहायता ली है।
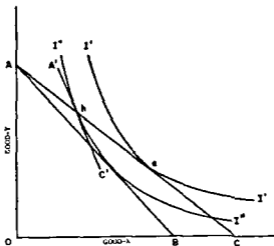
चित्र 11 4 . व्यापार दिशा-परिवर्तन का कल्याण के स्तर पर प्रभाव (वस्तु प्रतिस्थापन सम्भव)

चित्र 11 4 मे स्वतत्र व्यापार की स्थिति मे जब A राष्ट्र विदेशी राष्ट्र C से व्यापाररत है तो व्यापार की शर्तें दर्शाने वाली रेखा A-C है। इस स्थिति मे A राष्ट्र का साम्य उत्पादन बिन्दु A तथा साम्य उपयोग बिन्दु e है। अब मान लीजिए कि A राष्ट्र x वस्तु के आयातो पर प्रशुल्क लगा देता है तो A राष्ट्र के घरेलु बाजार मे x वस्तु का सापेक्ष मूल्य बढ जायेगा। मान लीजिए कि प्रशुल्क लगाने के बाद A राष्ट्र

11 Meade J E —Op Cit , (1956).

12 Gehrels, F —*Customs Unions from a Single Country View point*-Rev, of Economic Studies, Vol 24 (1956-57).

13. Lipsey, R H —Op. Cit , (1957).

की घरेलू कीमत A'-C' रेखा के ढाल द्वारा दर्शाई जाती है तो A राष्ट्र का नया साम्य उपभोग बिन्दु h होगा। h बिन्दु पर समुदाय उदासीन वक्र I"-I", A-C रेखा को उस बिन्दु पर काटेगी जहाँ उदासीन वक्र का ढाल A'-C' रेखा वाला है अतः उपभोक्ता अपने क्रय का बाजार रूपान्तरण दर (Market rate of transformation) के अनुरूप समायोजन कर लेते है तथा A राष्ट्र में x वस्तु के आयात घट जाते हैं एवं निर्मित वस्तु y के उपभोग में वृद्धि हो जाती है।

इन परिस्थितियों में A राष्ट्र व्यापार-दिशा परिवर्तक चुंगी संघ का निर्माण करके भी निश्चय ही अपने कल्याण के स्तर में वृद्धि कर सकता है।

यह बिन्दु स्पष्ट करने हेतु हम समुदाय उदासीन वक्र I"-I" के स्पर्श रखते हुए A बिन्दु से एक सीधी रेखा खींचते हैं जो कि x अक्ष को B बिन्दु पर काटेगी। यदि B राष्ट्र के साथ व्यापार-दिशा परिवर्तक चुंगी संघ के निर्माण के पश्चात् B राष्ट्र की x वस्तु के आयात A-B रेखा द्वारा प्रदर्शित व्यापार की शर्तों पर उपलब्ध हो जाते है तो A का कल्याण का स्तर अपरिवर्तित बना रहेगा। अतः चुंगी संघ के निर्माण के कारण यदि A की B राष्ट्र के साथ व्यापार की शर्तें C राष्ट्र के साथ व्यापार की शर्तों की तुलना में प्रतिकूल हैं लेकिन A-B रेखा द्वारा दर्शाई गई व्यापार की शर्तों की तुलना में अनुकूल है तो व्यापार-दिशा परिवर्तक चुंगी संघ के निर्माण से A राष्ट्र के कल्याण के स्तर में वृद्धि होगी। B राष्ट्र के साथ इस प्रकार के व्यापार-दिशा परिवर्तक चुंगी संघ के निर्माण से A राष्ट्र का कल्याण का स्तर तभी घटेगा जब B राष्ट्र की व्यापार की शर्तें A-B रेखा के ढाल द्वारा प्रदर्शित व्यापार की शर्तों की तुलना में A राष्ट्र के प्रतिकूल हों।

चित्र 11.4 में ऐसा क्षेत्र है जहाँ I"-I" से ऊँचे समुदाय उदासीन वक्र अन्तर्राष्ट्रीय कीमत अनुपात रेखा से नीचे स्थित हो सकते है अर्थात् I"-I" से ऊपर का क्षेत्र तथा A-C से नीचे का क्षेत्र ऐसा क्षेत्र है।

प्रो० लिप्सी (Lipsey) के अनुसार "........इससे हम यह निष्कर्ष प्राप्त कर सकते है कि ऐसा क्षेत्र विद्यमान होगा जिसमें साम्यावस्था से प्राप्त उदासीन वक्र से ऊँचे उदासीन वक्र अन्तर्राष्ट्रीय कीमत रेखा से नीचे स्थित होंगे। चित्र 2 (यहाँ चित्र 11.4) में यह I" से ऊपर का लेकिन A-C से नीचे का क्षेत्र है। जब तक अन्तिम साम्यावस्था इस क्षेत्र में स्थित है, प्रशुल्क की अनुपस्थिति में A-C द्वारा

इगित व्यापार की शर्तों से प्रतिकूल व्यापार की शर्तों पर व्यापार करने से कल्याण मे वृद्धि होगी।"[14]

दूसरे शब्दो मे हम कह सकते है कि चित्र 11 4 मे I"-I" से ऊँचे समुदाय उदासीन वक्र लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय कीमत अनुपात रेखा A-C से नीचे स्थित समुदाय उदासीन वक्र A राष्ट्र का उच्च कल्याण का स्तर दर्शायेंगे क्योकि चु गी सघ के निर्माण से A राष्ट्र के उपभोक्ताओ को सघ निर्माण के पूर्व C राष्ट्र से प्रशुल्क सहित वाली कीमत की तुलना म, कम कीमत पर x वस्तु उपलब्ध हो सकेगी।

वर्तमान मॉडल की दो वस्तुओ, स्थिर लागतो व पूर्ण विशिष्टीकरण की मान्यताओ के अन्तर्गत अनुकूलतम उपभोग के लिए आवश्यक शर्त यह है कि उपभोक्ताओ का घरेलू कीमत अनुपात अन्तर्राष्ट्रीय कीमत अनुपात के बराबर हो अर्थात् घरेलू व अन्तर्राष्ट्रीय कीमत अनुपातो मे अन्तर उत्पन्न करने वाली प्रशुल्क विद्यमान नही होनी चाहिए। स्पष्ट है कि वर्तमान मॉडल मे यह शर्त पूरी हो रही है।

महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि क्या दो वस्तुओ वाले इस मॉडल के निष्कर्ष दो से अधिक वस्तुओ के सन्दर्भ मे भी लागू होते हैं। गेहरेल्स (Gehrels) ने तर्क प्रस्तुत किया कि उपर्युक्त विश्लेषण से हम इस निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि चु गी सघ के निर्माण से हानि की बजाय लाभ होता है। लेकिन प्रो० लिप्सी (Lipsey) के अनुसार ऐसा सही नही है क्योकि चु गी सघ के पक्ष के तर्क का सामान्यीकरण न्यूनतम तीन वस्तुओ के आधार पर ही सम्भव है। प्रो० लिप्सी ने तीन प्रकार की वस्तुओ - घरेलू वस्तुएँ (A), चु गी सघ के सदस्य से आयात (B) एव शेष विश्व से आयात (C)- के सन्दर्भ मे चु गी सघ के तर्क को प्रस्तुत किया है तथा यह दर्शाया है कि मॉडल में यह परिवर्तन करने के पश्चात् गेहरेल्स (Gehrels) का निष्कर्ष मान्य नही रहता है। इस स्थिति में अनुकूलतम के लिए आवश्यक शर्तों को सारणी 11.1 मे प्रस्तुत किया गया है।

प्रो० लिप्सी के अनुसार यदि हम यह मानलें कि उपभोक्ता अपने घरेलू बाजारों मे प्रचलित सापेक्ष कीमतो के अनुरूप अपनी क्रय का समायोजन करते हैं "तो अनुकूलतम शर्तों-उपभोग मे प्रतिस्थापन दरो का व्यापार मे रूपान्तरण दरो के समान होना—का घरेलू बाजारो म प्रचलित सापेक्ष मूल्यो तथा अन्तर्राष्ट्रीय बाजारो म प्रचलित कीमतो की समानता के रूप मे व्यक्त किया जा सकता है।"[15]

---

14 Lipsey, R H —op cit, (1957) p p 43-44 quoted in Lipsey—A General Survey—op cit p 226

15 Lipsey R H.—A General Survey—op cit p 227 (foot note)

सारणी 11 1 मे स्वतत्र व्यापार की स्थिति मे अनुकूलतम की समस्त तीनो शर्तें पूरी हो रही है। यदि दोनो आयात वस्तुओ पर समान प्रशुल्क लगा दी जाती है तो कालम 2 में दर्शाये गये सम्बन्ध प्राप्त होगे तथा अनुकूलतम शर्त केवल एक ही स्थिति में पूरी होगी और वह A राष्ट्र मे B तथा C वस्तुओ के आयातो के सन्दर्भ म पूरी होगी क्योकि इन दोनो वस्तुओ के आयातो पर समान प्रशुल्क लगी हुई है अत इनकी कीमतो का अनुपात अपरिवर्तित है। लेकिन B से C को निर्यातित वस्तुओ की अन्तर्राष्ट्रीय बाजार की तुलना मे A राष्ट्र के घरेलू बाजार मे ऊँची कीमत होगी अत दोनो सम्बन्धित अनुपातो मे बायी ओर का हर बडा होगा।

सारणी—11 1

स्वतत्र व्यापार (1)	सभी आयातो पर मूल्यानुसार एक समान प्रशुल्क (2)	B राष्ट्र के साथ चु गी सघ (3)
$\frac{P_A d}{P_B d} = \frac{P_A I}{P_B I}$	$\frac{P_A d}{P_B d} < \frac{P_A I}{P_B I}$	$\frac{P_A d}{P_B d} = \frac{P_A I}{P_B I}$
$\frac{P_A d}{P_C d} = \frac{P_A I}{P_C I}$	$\frac{P_A d}{P_C d} < \frac{P_A I}{P_C I}$	$\frac{P_A d}{P_C d} < \frac{P_A I}{P_C I}$
$\frac{P_B d}{P_C d} = \frac{P_B I}{P_C I}$	$\frac{P_B d}{P_C d} = \frac{P_B I}{P_C I}$	$\frac{P_B d}{P_C d} < \frac{P_B I}{P_C I}$

नोट —A, B तथा C मूल के राष्ट्रो के लिए प्रयुक्त किये गये हैं A को घरेलू बाजार मे कीमत को d तथा अन्तर्राष्ट्रीय बाजारो मे कीमत को I द्वारा दर्शाया गया है।

चु गी सघ के निर्माण के पश्चात सघ के सदस्य B से आयातो की कीमत घट जाती है अतः प्रथम अनुकूलतम शर्त पूरी हो जाती है लेकिन C राष्ट्र से आयातित वस्तुओ की घरेलू कीमत प्रशुल्क के कारण ऊँची बनी रहती है अत अनुकूलतम की शर्त पूरी नही हो पाती है। स्पष्ट है कि सामान्य प्रशुल्क के विकल्प के रूप म चु गी सघ के निर्माण से A राष्ट्र एक गैर-अनुकूलतम (non optimal) स्थिति से दूसरी गैर

अनुकूलतम स्थिति को प्राप्त कर लेता है अतः राष्ट्र के कल्याण के स्तर के बारे में निश्चित रूप से कुछ भी कह पाना सम्भव नहीं है। अतः प्रो. लिप्सी का कहना है कि चुंगी संघ के पक्ष का तर्क अनिश्चायक (inconclusive) है।

प्रो वानेक[16] (Vanek) द्वारा प्रस्तुत एक अन्य मॉडल में साम्य निर्धारित करने हेतु तीन राष्ट्रों के मध्य दो वस्तुओं के व्यापार को अर्पण वक्रों की सहायता से प्रस्तुत किया गया है। यद्यपि प्रो वानेक का मॉडल काफी रोचक है परन्तु इसे अपूर्ण कहा जा सकता है। क्लेमेन्ट (Clement) फिस्टर Pfister) व रॉथवेल (Rothwell) ने अपनी पुस्तक[17] में यह इंगित किया है कि पूर्ण विश्लेषण प्रस्तुत करने हेतु अग्रलिखित चार वस्तु समूहों को विश्लेषण में सम्मिलित करना आवश्यक है :—

(1) A के C को निर्यातों (2) C द्वारा निर्यातित A के निर्यातों (3) C द्वारा आयातित B के निर्यातों, तथा (4) C द्वारा निर्यातित B के निर्यातों, ऐसा इसलिए आवश्यक है कि वास्तविक जगत में इन चारों समूहों की वस्तुओं का एक साथ व्यापार होता है।

चुंगी संघ के गत्यात्मक प्रभाव

(Dynamic effects of Customs Union)

हमारे अब तक के विश्लेषण में हमने चुंगी संघ के केवल स्थैतिक प्रभावों पर ध्यान केन्द्रित किया था लेकिन चुंगी संघ के गत्यात्मक प्रभाव (Dynamic effects) भी काफी महत्त्वपूर्ण होते हैं।

चुंगी संघ के गत्यात्मक प्रभावों में पैमाने की मितव्ययताएँ (Economies of scale) प्रतियोगिता का उद्दीपन (stimulus of competition) विनियोग का उद्दीपन (stimulus of investment) तथा तकनीकी परिवर्तनों का सम्भावित त्वरण (Acceleration) प्रमुख हैं।

चुंगी संघ निर्माण के गत्यात्मक प्रभावों में पैमाने की मितव्ययताएँ महत्त्वपूर्ण है। संघ के सदस्यों के मध्य व्यापार में वृद्धि के परिणामस्वरूप औद्योगिक विशिष्टीकरण से पैमाने की मितव्ययताएँ प्राप्त होगी अतः प्रति इकाई लागत गिरेगी। विकासशील एवं छोटे राष्ट्रों के मध्य चुंगी संघ के निर्माण से पैमाने की

16 Vanek, J.—International Trade :-Theory and Economic Policy—(Richard D Irwin, Inc 1962) chap 18.

17 Clement, M-O, Pfister, F L, and Rothwell, K J—Theoretical Issues in International Econom cs (New York, Houghton Mifflin, 1167), p 199.

मितव्ययताम्रो का प्रभाव अधिक महत्त्वपूर्ण होता है क्योंकि बडे राष्ट्रो को तो ये मितव्ययताएँ एकीकरण की अनुपस्थिति मे भी प्राप्त होती रहती हैं। अत इस प्रकार के अनुकूल विकास से सघ के गैर-सदस्य राष्ट्रो से आयातो मे भी वृद्धि हो सकती है जिससे व्यापार दिशा परिवतन का स्थैतिक प्रतिकूल प्रभाव कुछ सीमा तक दुरुस्त हो सकता है। लेकिन गैर सदस्य राष्ट्रो से चु गी सघ के सदस्यो को किये जाने वाले निर्यातो मे कुल मिलाकर कमी हो सकती है। जिसके परिणामस्वरूप गैर सदस्य राष्ट्रो के बाजारो के आकार मे कमी तथा उनके विकास पर प्रतिकूल प्रभाव पड सकता है। ये बाजार प्रारम्भ मे जितने अधिक छोटे होगे उतना ही यह घटक अधिक महत्त्वपूर्ण होगा।

अत पैमाने की मितव्ययताम्रो के प्रभाव को ज्ञात करने हेतु भी अनुकूल व प्रतिकूल प्रभावो की तुलना करनी होगी। लेकिन इस तरह की तुलना करके राष्ट्रो के आर्थिक विकास पर विशुद्ध प्रभाव ज्ञात करना अत्यन्त ही दुष्कर काय है।

गत्यात्मक प्रभावो मे दूसरा प्रभाव बाजारो के विस्तार से प्रतियोगिता मे होने वाली वृद्धि है। चु गी सघ के निर्माण से व्यापार सृजन तथा व्यापार-दिशा परिवर्तन दोनो प्रभावो के कारण बाजार का आकार विस्तृत हो जाता है। चु गी सघ के सदस्यो के मध्य व्यापार पर प्रशुल्क समाप्त कर देने से सदस्य राष्ट्रो मे एकाधिकार व कार्टेल्स पर अन्य सदस्य राष्ट्रो की फर्मस् की प्रतियोगिता का दबाव बना रहता है। इस प्रकार अकुशल फर्मस् पर भी दबाव बढ जाता है। सदस्य राष्ट्रा के उद्योगो के लिए विस्तृत बाजार के परिप्रेक्ष मे जीवित रहने हेतु पुर्नगठित होना आवश्यक हो जाता है। अत: स्पष्ट है कि चु गी सघ का प्रतिस्पर्धा उत्पन्न करने का प्रभाव वास्तविक तो है लेकिन इस प्रभाव की भी गणना करना सम्भव नही है।

चु गी सघ का एक अन्य गत्यात्मक प्रभाव सघ के अन्तर्गत विनियोग मे होने वाली वृद्धि है। सघ के अन्तगत विस्तृत बाजार अवसरो के सृजन से कीमतो मे परिवर्तन से तथा प्रतियोगिता मे वृद्धि से घरेलू तथा विदेशी विनियोग का उद्दीपन होगा और इस प्रकार विकास की दर मे वृद्धि होगी। इस प्रकार का विनियोग कुछ सीमा तक 'विनियोग-दिशा परिवर्तन' (Investment diversion) द्वारा दुरुस्त (offset) हो सकता है क्योंकि प्रशुल्क विभेद के कारण विनियोग-दिशा विश्व की सर्वाधिक उपयुक्त अवस्थिति से एकीकृत क्षेत्र की ओर परिवर्तित हो जाती है। इसके अलावा सघ सदस्य राष्ट्रो से व्यापार पर प्रशुल्क हटाने से आयात प्रतिस्थापन उद्योगो मे भी विनियोग घटने की सम्भावना है।

चुंगी संघ के निर्माण का एक अन्य गत्यात्मक लाभ नव-प्रवर्तन (innovation) व तकनीकी परिवर्तन को प्रोत्साहित करने के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। चुंगी संघ के निर्माण से बाजार के आकार में वृद्धि के साथ-साथ फर्म के अनुकूलतम आकार में भी वृद्धि होगी तथा अनुसन्धान व विकास में अतिरिक्त साधन प्रयुक्त किए जाने लगेंगे। इस सन्दर्भ में भी यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि इन सब परिवर्तनों के परिणामस्वरूप नव-प्रवर्तनों की दर में वृद्धि होगी अथवा नहीं क्योंकि ऐसे आनुभविक प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं जिनसे यह दर्शाया गया हो कि छोटी फर्मस् की तुलना में बड़ी फर्मस् में तकनीकी नव-प्रवर्तन की दर अधिक होती है। अतः अधिक से अधिक यह कहा जा सकता है कि नव-प्रवर्तन की सम्भावनाएँ बनी रहती है तथा विस्तृत बाजार व बड़ी प्रतिस्पर्धा के कारण नव-प्रवर्तन के लिए अनुकूल वातावरण बना रहता है।

ध्यान रहे कि चुंगी संघ के निर्माण से प्राप्त गत्यात्मक लाभों को स्थैतिक लाभों की तुलना में काफी अधिक व महत्त्वपूर्ण माना जाता है। वास्तव में यू०के० ने सन् 1971 में इन्हीं लाभों को ध्यान में रखते हुए यूरोपीय आर्थिक समुदाय का सदस्य बनने का निर्णय लिया था।

इस अध्याय के शेष भाग में हम प्रसिद्ध चुंगी संघ 'यूरोपीय आर्थिक समुदाय' तथा स्वतंत्र व्यापार क्षेत्र 'यूरोपीय स्वतंत्र व्यापार संघ' की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख करेंगे।

यूरोपीय आर्थिक समुदाय

(European Economic Community)

यूरोपीय आर्थिक समुदाय अथवा यूरोपीय साझा बाजार की स्थापना मार्च 1957 में छः यूरोपीय राष्ट्रों-पश्चिमी जर्मनी, फ्रांस, इटली, बेल्जियम, नीदरलैण्ड्स तथा लक्समबर्ग— द्वारा रोम संधि (Treaty of Rome) पर हस्ताक्षर करने के साथ ही हो चुकी थी। यूरोपीय साझा बाजार ने 1 जनवरी सन् 1958 से कार्य करना प्रारम्भ कर दिया था।

यूरोपीय आर्थिक समुदाय एक तरह का चुंगी संघ है अतः इसके निर्माण के तुरन्त बाद सदस्य राष्ट्रों ने आपसी प्रशुल्क समाप्त करना प्रारम्भ कर दिया था। सन् 1966 तक औद्योगिक उत्पादों पर आपसी प्रशुल्क समाप्त की जा चुकी थीं। आर्थिक समुदाय के सदस्यों ने गैर-सदस्य राष्ट्रों पर समान प्रशुल्क लागू करने के उद्देश्य से सन् 1957 की छः राष्ट्रों की प्रशुल्कों के समान्तर माध्य (Arithmetic

Average) के बराबर बाह्य प्रशुल्क लागू की जिसके परिणामस्वरूप बेनेलक्स व जर्मनी की प्रशुल्कों में वृद्धि की गयी जबकि फ्रांस व इटली की प्रशुल्कों में कमी की गयी थी।

सन् 1970 तक ई०ई०सी० के सदस्य राष्ट्रों के मध्य पूंजी व श्रम की स्वतन्त्र गतिशीलता होने लगी थी। सन् 1977 में यू०के०, डेनमार्क व आयरलैण्ड तथा सन् 1979 में यूनान द्वारा समुदाय की सदस्यता ग्रहण कर लेने के साथ ही इसकी सदस्य संख्या 10 हो चुकी थी। यूरोपीय आर्थिक समुदाय विश्व का सबसे बड़ा व्यापार ब्लाक (bloc) है। यह अनुमान लगाया गया है कि सन् 1960 तक ई ई सी के सदस्यों के मध्य व्यापार एकीकरण की अनुपस्थिति की तुलना में 50 प्रतिशत अधिक व्यापार हो रहा था।

ई ई सी के निर्माण से गैर सदस्य राष्ट्रों के साथ ई ई सी के व्यापार में भी भारी वृद्धि हुई है। व्यापार में इस वृद्धि के दो प्रमुख कारण थे।

(1) ई. ई. सी. का तीव्र विकास जिससे संघ से बाहर के राष्ट्रों से औद्योगिक उत्पादों के आयातों की ई. ई. सी. की माँग में वृद्धि हुई, तथा

(2) केनेडी व टोक्यो राउण्ड्स के परिणामस्वरूप औद्योगिक उत्पादों के आयातों पर औसत प्रशुल्क की दर को घटाकर बहुत नीचा कर दिया गया था।

दूसरी ओर ई ई सी के निर्माण से कृषि उत्पादों विशेषकर अमेरिका से आयातों में व्यापार-दिशा परिवर्तन भी हुआ है।

ई-ई सी के लिए कृषि से सम्बन्धित समान नीति के विकास का कार्य अधिक समस्याग्रस्त साबित हुआ है। इस सम्बन्ध में पहला प्रश्न तो प्रणाली से सम्बद्ध था तथा दूसरा प्रणाली के विस्तृत रूप से सम्बद्ध। इस सम्बन्ध में अपनाई गयी प्रणाली ऐसी सरकती प्रशुल्क (sliding Tariffs) प्रणाली थी जैसी कि इंगलैण्ड ने कॉर्न लाज (Corn Laws) के समय अपनाई थी। इस प्रणाली के अन्तर्गत पहले सामान्य बाजार में अलग-अलग वस्तुओं के लिए समर्थन मूल्य (support price) निर्धारित किये जाते हैं। सरकती प्रशुल्क इस समर्थन मूल्य व विश्व बाजार मूल्य के अन्तर के बराबर होती है। यदि घरेलू पूर्ति घट जाने से कीमतें समर्थन मूल्य से अधिक हो जाती हैं तो विश्व बाजार कीमत व प्रशुल्क के योग वाली कीमत घरेलू कीमत को घटाकर समर्थन मूल्य के बराबर कर देगी। दूसरी ओर यदि घरेलू उत्पादन अधिक है तो घरेलू कीमत गिर जायेगी तथा प्रशुल्क निषेधात्मक प्रशुल्क (prohibitive tariff) बन जायेगी व आयात शून्य हो जायेंगे। इस तरह की प्रशुल्क से प्राप्त आगम ई ई सी. राष्ट्रों की कृषि के आधुनिकीकरण हेतु बनाये गये एक विशेष कोष में रखा जाता है।

ई ई. सी. राष्ट्रों को समर्थन मूल्य पर सहमत होने मे काफी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था। जर्मनी का क्रिश्चन डेमोक्रेटिक दल किसानों के समर्थन पर निर्भर था अत यह दल गेहूं की ऊँची कीमत बनाये रखने के पक्ष मे था। दूसरी ओर फ्रास मे कृषि क्षेत्र की कुशलता मे तीव्र वृद्धि हो रही थी अत फ्रास ऊँचे समर्थन मूल्यों के पक्ष मे इसलिए नही था कि ऊँचे मूल्यो के परिणामस्वरूप कृषि पदार्थों का अतिरेक (surplus) फ्रास की घरेलू उपभोग आवश्यकताओ से अधिक हो जायेगा। साथ ही अमेरिका केनेडी समझौतों मे यह दबाव डाल रहा था कि गेहूं, कपास, सोयाबीन आदि के लिए ई० ई० सी० मे अमेरिका से आयातो के न्यूनतम कोटे का प्रावधान रखा जाना चाहिए जिसे कि सरकर्वा प्रशुल्क के बावजूद ई० ई० सी० आयात करता रहे। ऐसा माना जाता है कि ई० ई० सी० की कृषि से सम्बन्धित इस प्रकार की नीति ही ब्रिटेन के ई० ई० सी० मे प्रवेश के रास्ते मे प्रमुख बाधा थी क्योकि ब्रिटेन कृषि पदार्थों की कीमत नीची बनाये रखकर कृषको की आय बढाने हेतु उन्हे *कमी पूरक भुगतान (deficiency payments) करने की नीति अपना रहा था।*

सन् 1975 मे लोमे सम्मेलन (Lome' Conference) मे ई० ई० सी० ने *अफ्रीका, केरीबीयन व पेसीफिक क्षेत्र के उन 46 राष्ट्रों से आयातो पर अधिकाश* व्यापार प्रतिबन्ध समाप्त कर दिये थे जो कि पूर्व मे ई० ई० सी० राष्ट्रो की कॉलनीज (Colonies) थी। इससे पूर्व सन् 1971 मे ई० ई० सी० ने विकासशील राष्ट्रो से निर्मित व अर्द्धनिर्मित उत्पादों को सामान्यीकृत प्रशुल्क अधिमान (Generalized tariff preferences) स्वीकृत किये थे। लेकिन वस्त्र, इस्पात, जूतो व ऐसी अनेक वस्तुएँ जो कि विकासशील राष्ट्रो के निर्यातो के दृष्टिकोण से काफी महत्त्वपूर्ण हैं उन पर अधिमानो की स्वीकृति नही दी गयी। सन् 1979 मे टोक्यो राउण्ड मे ऐसे अधिमानों को उष्ण उत्पादो (tropical products) पर भी स्वीकृति प्रदान कर दी गयी थी।

जहाँ तक ई० ई० सी० से स्थैतिक लाभो का प्रश्न है ऐसा अनुमान है कि इसके निर्माण से ये लाभ सकल राष्ट्रीय उत्पाद का 1 प्रतिशत या इससे कुछ कम हैं जबकि चुगी सघ के 'गत्यात्मक लाभ' काफी महत्त्वपूर्ण बताये जाते हैं लेकिन ऐसे लाभो की सही गणना का प्रयास नही किया गया है।

ई.ई.सी. के क्रियाकलापो की कुछ अन्य प्रमुख बातें इस प्रकार हैं :—

(1) ई. ई. सी के सदस्य राष्ट्रो ने समान योगित मूल्य कर प्रणाली (value added tax system) अपना रखी है जिसके अन्तर्गत प्रत्येक क्रेता के योगित मूल्य पर ही कर लगाया जाता है।

(2) आयोग (The Commission) ई ई. सी. का एक ऐसा कार्यकारी अग है जिसे समुदाय स्तर पर प्रतियोगिता मे बाधक एकाधिकार व कार्टेल्स के निर्माण को रोकने व इन्हे समाप्त करने का अधिकार है।

(3) मत्री परिषद् (Council of ministers) ई ई सी का एक अन्य अग है जो कि आयोग को सिफारिशो के आधार पर अन्तिम निर्णय लेता है इस परिषद् का प्रत्येक मत्री स्वय के राष्ट्र का प्रतिनिधि होता है।

इसके अतिरिक्त यूरोपीय लोकसभा तथा आयोग व परिषद् के निर्णयो की वैधता का निर्धारक एक न्यायालय भी है।

यूरोपीय स्वतंत्र व्यापार संघ

[European Free Trade Association—EFTA]

नवम्बर सन् 1958 तक विस्तृत यूरोपीय स्वतत्र व्यापार क्षेत्र की स्थापना से सम्बन्धित समझौतो की असफलता निश्चित हो चुकी थी, अत यूरोपीय आर्थिक समुदाय के बाहर के सात राष्ट्रो—आस्ट्रेलिया, डनमार्क, ग्रेट ब्रिटेन, नार्वे, पुर्तगाल, स्वीडन व स्वीट्जरलैण्ड—ने मिलकर एक व्यापार समूह के निर्माण से सम्बन्धित समझौते प्रारम्भ किये। नवम्बर 1959 मे इन राष्ट्रो ने 'स्टॉक होम' संधि (Stockholm Treaty) पर हस्ताक्षर कर 'यूरोपीय स्वतत्र व्यापार सघ' का निर्माण किया। इफ्टा के सदस्य राष्ट्रो को सामान्यतया 'बाहरी सात' (outer seven) के नाम से जाना जाता है। 'बाहरी सात' राष्ट्रो ने यह निर्णय लिया कि ये राष्ट्र आपसी व्यापार मे समस्त प्रशुल्को को समाप्त कर देंगे लेकिन गैर-सदस्य राष्ट्रो के साथ व्यापार मे प्रत्येक राष्ट्र अपनी निजी प्रशुल्क दरें लागू रखेगा। अतः सदस्य राष्ट्रो के मध्य प्रशुल्को की कटौती जनवरी 1960 से प्रारम्भ की गयी तथा जनवरी 1967 तक इफ्टा राष्ट्रो के औद्योगिक वस्तुओ के आपसी व्यापार पर प्रशुल्क पूर्ण रूप से समाप्त की जा चुकी थी। लेकिन कृषि उत्पादो के व्यापार पर प्रतिबन्ध समाप्त करने के प्रावधान लगभग नही के बराबर थे।

गैर सदस्य राष्ट्रों से व्यापार मे निजी प्रशुल्क बनाये रखने के कारण 'व्यापार-दिशा परिवर्तन' की समस्या अधिक गम्भीर हो जाती है क्योंकि जिस सदस्य राष्ट्र ने गैर सदस्य राष्ट्रो के आयातो पर नीची प्रशुल्क लगा रखी है उस राष्ट्र की ओर गैर-सदस्य राष्ट्रो के निर्यातो की दिशा परिवर्तित हो जाती है ताकि अन्य सदस्य राष्ट्रो की ऊंची प्रशुल्को को टाला जा सके। इस स्थिति से निबटने हेतु समस्त

आयातों के मूल स्रोत व अंतिम गन्तव्य राष्ट्र पर रोक लगाना आवश्यक हो जाता है। इसके विपरीत चुंगी सघ के सदस्यो द्वारा समान वाह्य प्रशुल्क बनाये रखने के कारण वहाँ इस तरह की समस्या उत्पन्न नहीं होती है।

इफ्टा राष्ट्रो ने अपनी सामाजिक व आर्थिक नीतियो म तालमेल (hormony) लाने का प्रयास नही किया क्योंकि इफ्टा की स्थापना का उद्देश्य औद्योगिक उत्पादो के स्वतंत्र व्यापार तक ही सीमित रहा है।

इफ्टा ने प्रारम्भ से ही यूरोपीय आर्थिक समुदाय से सौदेबाजी bargaining) करने की नीति अपनाई है। हाल ही मे इफ्टा ने ई ई सी के साथ औद्योगिक उत्पादो के स्वतत्र व्यापार का समझौता किया है।

सन् 1977 मे इफ्टा के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सदस्य ब्रिटेन ने डेनमार्क के साथ इफ्टा की सदस्यता त्याग दी तथा आयरलैण्ड सहित इन तीन राष्ट्रो ने ई ई सी की सदस्यता ग्रहण कर ली है। इस परिवर्तन के साथ ही इफ्टा की सदस्य सख्या पाँच रह गई है जबकि फिनलेण्ड प्रारम्भ म दी इफ्टा का सहायक सदस्य (Associate member) रहा है।

12

भुगतान सन्तुलन
(Balance of Payments)

अर्थ
(Meaning)

प्रो० किण्डलबर्जर (Kindleberger) के अनुसार "एक राष्ट्र का भुगतान सन्तुलन उस राष्ट्र के नागरिकों व विदेशी नागरिकों के मध्य निश्चित समयावधि में होने वाले समस्त आर्थिक सौदों का एक विधिवत अभिलेख (Record) है।"[1]

यद्यपि यह परिभाषा काफी स्पष्ट प्रतीत होती है लेकिन इसमें अवधारणा से सम्बन्धित कुछ महत्वपूर्ण प्रश्न उभरते हैं। जैसे, राष्ट्र विशेष का नागरिक किसे माना जाये? एक आर्थिक सौदे में कौन से सौदे शामिल किये जायें? आदि।

पर्यटक, राजदूत, सैनिक, अस्थाई प्रवासी कर्मी एवं विदेशों में स्थित घरेलू कम्पनियों की शाखाओं में कार्यरत लोग उस राष्ट्र के नागरिक माने जाते हैं जिस राष्ट्र के वे मूल निवासी हैं। लेकिन ऐसा मानने का पूर्ण औचित्य साबित नहीं किया जा सकता है। कुछ राष्ट्र स्थायी व अस्थायी निवासियों को पूर्णतः भिन्न मानते हैं। लेकिन यह सम्भव है कि वर्तमान अस्थायी प्रवासी भविष्य के स्थायी प्रवासी हों। अतः इस सन्दर्भ में काफी भ्रम सन्देह रहता है। लेकिन चूँकि उस देश में इन तथ्यों के अनुरूप समायोजन कर लिया जाता है अतः इस तथ्य के निर्णयों का भुगतान सन्तुलन की स्थिति पर महत्वपूर्ण प्रभाव नहीं पड़ता है।

इसी प्रकार से आर्थिक सौदों में किस प्रकार के सौदे शामिल किये जायें इससे सम्बन्धित भी कुछ समस्या बनी रहती है। सामान्यतया एक आर्थिक सौदे के अन्तर्गत एक आर्थिक वस्तु के विनिमय में मुद्रा का भुगतान व प्राप्ति होती है। लेकिन वस्तु विनिमय की स्थिति में मौद्रिक भुगतान नहीं होता है। इसी प्रकार उपहार के रूप में हस्तान्तरित वस्तुओं

1. Kindleberger, C.P.—International Economics (5th ed.), p. 304.

के विनिमय में भी किसी प्रकार के भुगतान की आशा नहीं की जा सकती है। लेकिन भुगतान सन्तुलन के दृष्टिकोण से ये सभी सौदे महत्त्वपूर्ण हैं एवं इन सब सौदों को भुगतान सन्तुलन में शामिल किया जाता है।

भुगतान सन्तुलन पर सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण व विस्तृत विवेचन प्रो० जे० ई० मीड (J E Meade) की पुस्तक[2] में मिलता है। प्रो० मीड ने प्रारम्भ में यह स्पष्ट किया है कि भुगतान सन्तुलन एक अस्पष्ट पद (*Term*) है एवं इसे *सामान्यतया अस्पष्ट रूप* से परिभाषित किए गए ढीले ढाले अर्थ में प्रयुक्त किया जाना ही अधिकांश भ्रान्ति का कारण है।

प्रो० मीड के अनुसार "निसन्देह ही एक आशय में तो भुगतान सन्तुलन कभी भी असाम्य में नहीं हो सकता है जैसा कि किसी अन्य खाते के सम्बन्ध में भी सही है, यदि हम राष्ट्र के खाते में *समस्त प्राप्तियाँ एवं समस्त भुगतान शामिल* करते हैं तो उस राष्ट्र की कुल प्राप्तियाँ उसके कुल भुगतानों के बराबर ही होगी। उदाहरणार्थ, राष्ट्र की प्राप्तियों में *यदि हम न केवल निर्यातित माल का मूल्य ही शामिल करें,* अपितु स्वर्ण अथवा अन्य मौद्रिक आरक्षित निधियों-जिनका राष्ट्र अपने आयातों के उस भाग पर क्रयशक्ति प्राप्त करने हेतु निर्यात करता है जो कि उसके सामान्य *वाणिज्यिक निर्यातों की आड में प्राप्त नहीं (not covered by)* हो सकते हैं—को भी शामिल करें तो कुल प्राप्तियाँ कुल भुगतानों के बराबर ही होगी।'[3]

प्रो० मीड के उपर्युक्त कथन को स्पष्ट करने हेतु हमें इस ओर ध्यान देना चाहिये कि भुगतान सन्तुलन द्वि-अंकन बही खाता (Double entry book Keeping) पद्धति के सिद्धान्तों के आधार पर तैयार किया जाता है। अतः यदि हम राष्ट्र की समस्त प्राप्तियों व भुगतानों की सूची सावधानी पूर्वक तैयार करें तो भुगतान सन्तुलन में *शामिल लेनदारियाँ (credits) व देनदारियाँ (debits) सदैव सतुलित होगी अतः* भुगतान सन्तुलन इस तरह से सदैव सतुलित रहता है। द्वि-अंकन बही खाता लेखे की वह प्रणाली है जिसमें राष्ट्र के भुगतान सन्तुलन में जब कभी भी लेनदारी (credit) अथवा देनदारी (debit) के सौदे की प्रविष्टि की जाती है तो इसे दुरुस्त करने वाले *(off setting)* क्रमशः देनदारी *अथवा* लेनदारी वाले समान मात्रा के सौदे की भी भुगतान सन्तुलन के चालूखाते अथवा पूँजी खाते में प्रविष्टि की जाती है। यह तथ्य सारणी-1 की सहायता से स्पष्ट किया जा सकता है।

---

2 Meade J E—The Theory of International Economic Policy, Vol I—The Balance of Payments (New york, oxford university Press Inc 1951) Chap 1

3 Meade, J E—Op cit p 3-4

सारणी-12 1 के बायें पक्ष की प्रविष्टियाँ उन समस्त तरीको को दर्शाती हैं जिनके द्वारा राष्ट दी हुई समयावधि मे विदेशी मुद्रा प्राप्त करता है अथवा जिन तरीको से राष्ट् को विदेशी बाजारो मे वस्तुओ व सेवाओ पर क्रयशक्ति प्राप्त होती है।

विदेशी मुद्रा की य प्राप्तियाँ वस्तुओ के निर्यातो, सेवाओ के निर्यातो प्रतिफल-हीन प्राप्तियो अथवा विदेशियो से पूँजीगत प्राप्तियो द्वारा हो सकती हैं। इसी प्रकार हमारे उदाहरण के काल्पनिक, विकासशील राष्ट के भुगतान सन्तुलन के दाहिने पक्ष मे वे समस्त मदें सम्मिलित की गयी हैं जिन पर विदेशी मुद्रा व्यय की जा सकती है *अथवा जिस प्रकार से विदेशी वस्तुओ पर क्रयशक्ति का उपयोग किया जा सकता है।* इसी समयावधि मे, विदेशो से वस्तुओ क आयात द्वारा, सेवाओ के क्रय द्वारा, विदेशियो को उपहार देकर अथवा पूँजीगत भुगतानो द्वारा, विदेशो म क्रय शक्तिका उपयोग किया जा सकता है।

चूँकि खाते का भुगतान पक्ष दी हुई समयावधि म राष्ट् द्वारा प्राप्त विदेशी क्रय शक्ति के समस्त उपयोगो को शामिल करता है तथा खाते का प्राप्ति पक्ष इस राष्ट् द्वारा इसी समयावधि मे विदेशी क्रय शक्ति प्राप्त करने के समस्त स्रोतो को शामिल करता है, अत दोनो पक्ष सतुंलित हो होंगे क्योकि एक ही चीज की गणना के ये मात्र भिन्न तरीके हैं।

अब हम सारणी-1 मे सम्मिलित विभिन्न मदो की चर्चा करेंगे।

वस्तुओ के निर्यात विदेशी मुद्रा अर्जित करने का सीधा तरीका है। सारणी-12.1 मे पक्ति-1 दर्शाती है कि हमारे उदाहरण के राष्ट् ने 850 करोड रु के मूल्य के वस्तुओ के निर्यात किये हैं। इसी प्रकार इस सारणी की पक्ति-5 दर्शाती है कि राष्ट् ने 1050 करोड रु के मूल्य के वस्तुओ के आयात किये हैं। इस प्रकार पक्ति-1 व 5 राष्ट् के दृश्य व्यापार को प्रदर्शित करती हैं। पक्ति-2 एक दी हुई समयावधि मे राष्ट् द्वारा विदेशियो के लिये की गई सेवाओ के उपलक्ष मे प्राप्तियो को दर्शाती हैं। सेवाओ मे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मद जहाजी सेवाएँ हैं, इसके अतिरिक्त पर्यटकों के लिये की गई सेवाएँ, बैंकिंग सेवाएँ व बीमा सेवाएँ आदि के उपलक्ष मे प्राप्तियों को भी पक्ति-2 मे प्रविष्ट किया जाता है। देश के नागरिको को विदेशी विनियोग से प्राप्त लाभांश व ब्याज भी इस पक्ति मे सम्मिलित किये जाते हैं क्योकि इन भुगतानो को पूँजी से व्युत्पन्न चालू सेवाओ के बदले विदेशियो द्वारा किया गया *भुगतान माना जाता है। विचाराधीन राष्ट् के नागरिको की भूमि, हिस्सा पूँजी,* बोण्ड आदि की सेवाओ के बदले विदेशियो से प्राप्त भुगतान भी इसी पक्ति मे शामिल किये जाते हैं। पक्ति-2 में सम्मिलित सेवाओ के निर्यातो को अदृश्य निर्यात कहते हैं। विचाराधीन राष्ट् की सेवाओ से प्राप्तियाँ 200 करोड रु. के मूल्य की हैं जबकि

सारणी–12 1

राष्ट् की अन्तर्राष्ट्रीय लेनदारियों व भुगतानो का लेखा

(Account of a Country's International Transactions)

लेनदारियाँ (करोड रुपयो मे) (credit)			देनदारियाँ (करोड रुपयो मे) (debit)		
1	वस्तुओ के निर्यात (दृश्य निर्यात)	850	5	वस्तुओ के आयात (दृश्य आयात)	1050
2	सेवाओ के निर्यात (अदृश्य निर्यात)	200	6	सेवाओ के आयात (अदृश्य आयात)	140
3	मुफ्त प्राप्तियाँ (विदेशियो से प्राप्त उपहार, युद्धक्षति-पूर्ति के रूप म प्राप्तियाँ आदि)	150	7.	(मुफ्त भुगतान (विदेशियो को दी गई उपहार, युद्ध क्षति-पूर्ति के रूप मे भुगतान आदि)	110
4	पूँजीगत प्राप्तियाँ (विदेशियो से ली गई उधार, विदेशियो द्वारा पुनर्भुगतान, अथवा विदेशियो को परिसम्पत्तियो का विक्रय)	300	8	पूँजीगत भुगतान (विदेशियो को दी गई उधार, विदेशियो को किये गये पूँजी के पुनर्भुगतान, अथवा विदेशियो से परिसम्पत्तियो का क्रय	200
	कुल प्राप्तियाँ	1500		कुल भुगतान	1500

सेवाओ के आयातों के भुगतान *140 करोड रु. के मूल्य के हैं।* इसके अनेक कारणो मे से एक *सम्भावित कारण राष्ट्र मे अधिक पर्यटकों का* आना हो सकता है। विचाराधीन राष्ट्र के नागरिको द्वारा विदेशियों *की सेवाओ के बदले किये गये समस्त भुगतानो की* प्रविष्टि पक्ति—6 मे की जाती है। पक्ति 1, 2, 5 व 6 मे सम्मिलित मदों को प्रो मीड ने व्यापार मदो (trade items) का नाम दिया है।

पक्ति-3 मे मुफ्त प्राप्तियाँ सम्मिलित की गई हैं। ये ऐसी प्राप्तियाँ हैं जिनके बदले राष्ट्र को कोई भुगतान नहीं करना पडता है। जैसे एक राष्ट्र के विदेशो मे कार्यरत नागरिक अपने सम्बन्धियो को उपहार व मुद्रा भेज सकते हैं इसी प्रकार युद्ध मे पराजित राष्ट्र द्वारा विचाराधीन राष्ट्र को क्षति-पूर्ति के रूप मे किये गये भुगतान को भी पक्ति-3 म शामिल किया जाएगा। इसी प्रकार विचाराधीन राष्ट्र के नागरिको द्वारा विदेशियो को दिये गये उपहार, युद्धक्षतिपूर्ति के रूप मे भुगतान आदि की प्रविष्टि पक्ति-7 मे की जायेगी। हमारे उदाहरण के राष्ट्र की मुफ्त प्राप्तियाँ 150 करोड रु के मूल्य की हैं। जबकि इस राष्ट्र के मुफ्त भुगतान 110 करोड रु के मूल्य के हैं। सम्भवत विचाराधीन राष्ट्र के नागरिको का काफी सख्या मे विदेशो मे कार्यरत होना इस राष्ट्र द्वारा 40 करोड रु के मूल्य की अधिक मुफ्त प्राप्तियो का कारण रहा होगा।

पक्ति 1, 2, 3, 5, 6 व 7 मे ऐसी समस्त प्राप्तियो व भुगतानो को सम्मिलित किया गया है जिनकी प्रवाह (flow) की प्रकृति है तथा जिनका सम्बन्ध प्रति-समयावधि से है।

अब पक्ति 4 व 8 मे सम्मिलित मदें शेष बचती हैं। ये मदें भुगतान सतुलन की अन्य मदो से पूर्णतया भिन्न प्रकृति की हैं। पक्ति 4 व 8 मे सम्मिलत मदो की प्रकृति स्टॉक की है न कि प्रवाह की।

किसी भी राष्ट्र के नागरिको को पूँजीगत प्राप्तियाँ निम्न प्रकार से हो सकती हैं —

(1) सरकार अथवा कोई निगम, कम्पनी अथवा विचाराधीन राष्ट्र का नागरिक, विदेशी सरकार अथवा निगम, कम्पनी अथवा नागरिक से मुद्रा उधार ले सकते हैं। इस प्रकार की उधार अनेक रूपो मे हो सकती हैं। यह उधार विचाराधीन राष्ट्र की सरकार को विदेशी सरकार से प्राप्त ऋण के रूप मे हो सकती है अथवा ऋणदाता राष्ट्र के पूँजी बाजार मे विचाराधीन राष्ट्र की ऋण-प्राप्तकर्ता एजेन्सी नयी प्रतिभूतियों का निर्गमन कर सकती है। इस प्रकार के ऋण मध्यकालीन एव दीर्घकालीन दोनो ही प्रकार के हो सकते हैं। इन समस्त स्थितियो मे विचाराधीन राष्ट्र को प्राप्त होने वाली विदेशी मुद्रा को सारणी-12 1की पक्ति 4 मे प्रविष्ट किया जायेगा।

(2) विचाराधीन राष्ट्र की सरकार अथवा किसी निगम, कम्पनी अथवा नागरिक को ऐसे ऋणो के पुनर्भुगतान प्राप्त हो सकते हैं जो कि उन्होंने पहले विदेशियो को उधार दिये थे।

(3) विचाराधीन राष्ट्र की सरकार अथवा कोई निगम, कम्पनी अथवा नागरिक से विदेशी राष्ट्र की सरकार, निगम, कम्पनी अथवा नागरिक पूंजीगत परिसम्पत्ति प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार की परिसम्पत्तियो की प्राप्ति के अनेक रूप हो सकते हैं, ये भूमि, मशीन, विद्यमान प्रतिभूतियाँ, हिस्सा पूंजी आदि के रूप मे हो सकती हैं।

इसी प्रकार यदि विचाराधीन राष्ट्र के नागरिक भूमि अथवा विदेशी हिस्सा पूंजी के रूप मे विदेशी परिसम्पत्ति प्राप्त करते हैं अथवा विचारार्थ राष्ट्र की सरकार विदेशी सरकार को मुद्रा उधार देती है तो इन सौदो के परिणामस्वरूप विदेशी मुद्रा का अपवाह(outflow) होगा तथा इन समस्त सौदो को पक्ति 8 मे शामिल किया जायेगा। इस सन्दर्भ मे हमे "पूंजीगत आयातो" तथा "पूंजीगत निर्यातो" का अभिप्राय स्पष्ट कर देना चाहिये। उदाहरणार्थ, यदि कोई विदेशी निगम हमारे राष्ट्र मे एक विज्ञापन एजेंसी क्रय कर लेता है तो हम इसे पूंजी का आयात कहेंगे तथा इसकी प्रविष्टि पक्ति-4 मे की जाएगी।

लेकिन प्रश्न यह उठता है कि आखिरकार सम्बन्धित राष्ट्र ने अन्य निर्यातो की भांति एक विज्ञापन एजेंसी का निर्यात ही तो किया है, अत इसे 'पूंजी का निर्यात' क्यो नहीं कहा जा सकता ? लेकिन ऐसा नही होगा, इसे हम पूंजी का आयात ही कहेंगे। इस सन्दर्भ मे प्रमुख आधार सूत्र यह होता है कि ऐसे सौदे के परिणामस्वरूप विचाराधीन राष्ट्र को विदेशी मुद्रा का स्वामित्व प्राप्त हुआ है अथवा नहीं, यदि सौदे के परिणामस्वरूप राष्ट्र को विदेशी मुद्रा प्राप्त हुई है तो यह पूंजी का आयात ही कहलाएगा क्योकि यह पूंजी का अन्तर्वाह (inflow) है।

इसी प्रकार कोई भी राष्ट्र विदेशी परिसम्पत्ति का क्रय करके पूंजीगत निर्यात कर सकता है। ऐसे सौदे के परिणामस्वरूप विचारार्थ राष्ट्र विदेशी राष्ट्र को मुद्रा चुकाता है अत यह पूंजी का अपवाह (outflow) होगा तथा इसे पक्ति-8 मे शामिल किया जाएगा। सक्षेप मे हम कह सकते हैं कि कोई भी राष्ट्र दो आधारभूत तरीको से विदेशी मुद्रा प्राप्त कर सकता है वस्तुओ एव सेवाओ के निर्यातो द्वारा अथवा पूंजी के आयातो द्वारा। अत वस्तुओ व सेवाओ के निर्यात तथा पूंजी के आयात दोनो की ही भुगतान सतुलन के प्राप्ति (credit) पक्ष मे प्रविष्टि की जाती है।

इसी प्रकार कोई भी राष्ट्र दो मौलिक तरीको से विदेशो मे मुद्रा व्यय कर सकता है वस्तुओ व सेवाओ के आयातो पर अथवा पूंजी के निर्यातो द्वारा। अत वस्तुओ व सेवाओ के आयाता व पूंजी के निर्यातो को भुगतान सतुलन के देनदारी (Debit) पक्ष मे प्रविष्ट किया जाता है।

जैसा कि पहले इंगित किया जा चुका है मद 4 व 8 स्टॉक प्रकृति के हैं, न कि प्रवाह प्रकृति के। किसी भी राष्ट्र के पास भूमि मशीन, जहाजी बेड़ा आदि के रूप में पूँजी का निश्चित स्टॉक होता है एवं यदि राष्ट्र अपनी पूँजी के स्टॉक का हिस्सा बेचने से सम्बन्धित सौदा करता है तो हम इसकी भुगतान सन्तुलन के पूँजी खाते में प्रविष्टि करते हैं।

व्यापार-संतुलन, चालू खाते का संतुलन एवं भुगतान संतुलन

(The Balance-of-Trade, The Balance-of-Current Account and The Balance-of-Payments)

हमारे काल्पनिक राष्ट्र के भुगतान संतुलन को सारणी-12 2 में पुनर्व्यवस्थित किया गया है।

सारणी 12 2

विभिन्न बाह्य सन्तुलन

(Different External Balances)

		(करोड़ रु में)
1.	दृश्य व्यापार संतुलन (सारणी—12.1, पंक्ति 1 व 5)	850—1050 = —200
2.	अदृश्य व्यापार संतुलन (सारणी—12 1, पंक्ति 2 व 6)	200—140 = 60
3.	मुक्त हस्तान्तरणों का संतुलन (सारणी-12.1, पंक्ति 3 व 7)	150—100 = 40
4.	चालू खाते का संतुलन (सारणी-12 2, 1, 2, 3 पंक्तियों का योग)	1200—1300 = —100
5.	पूँजी खाते का संतुलन (सारणी—12.1, पंक्ति 4 व 8)	300—200 = 100
6	भुगतान संतुलन (सारणी-12.2, 4 व 5 पंक्तियों का योग)	1500—1500 = 0

दृश्य व्यापार सतुलन अथवा व्यापार सतुलन सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अवधारणा है लेकिन फिर भी यह राष्ट्र के भुगतान सतुलन मे असाम्य का माप नहीं है। किसी भी राष्ट्र के भुगतान सतुलन के साम्य मे होने हेतु उस राष्ट्र का व्यापार सतुलन साम्य मे होना आवश्यक नहीं है।

यदि राष्ट्र के निर्यातो का मूल्य उसके आयातो के मूल्य से अधिक है तो व्यापार सतुलन अनुकूल होगा और यदि निर्यातो का मूल्य आयातो के मूल्य से कम है तो प्रतिकूल। सारणी-12.2 की पक्ति-1 दर्शाती है कि राष्ट्र के व्यापार सतुलन में 200 करोड रु का घाटा है। लेकिन यह घाटा भुगतान सतुलन के अन्य खातों द्वारा दुरुस्त (offset) हो सकता है एव परिणामस्वरूप भुगतान सतुलन भी साम्यावस्था मे पाया जा सकता है।

हमारे उदाहरण मे सेवाओं के सतुलन मे 60 करोड रु के मूल्य का अतिरेक है। इसी प्रकार मुफ्त हस्तातरणो के सतुलन मे 40 करोड रु. के मूल्य का अतिरेक है। इन तीनो खातो का योग चालू खाता कहलाता है। चालू खाता (Current Account) व्यापार सतुलन से अधिक विस्तृत अवधारणा है, इसम व्यापार सतुलन, सेवाओं का सतुलन व मुफ्त हस्तातरणों का सतुलन सम्मिलित किये जाते हैं। किसी भी राष्ट्र का चालू खाते का सतुलन बहुत ही महत्त्वपूर्ण अवधारणा है। चालू खाते का सतुलन राष्ट्र के अन्तर्राष्ट्रीय सौदों के प्रवाह पहलू (flow aspect) को प्रदर्शित करता है। एक दी हुई समयावधि म एक राष्ट्र म उत्पादित समस्त वस्तुओ एव सेवाओ म से किये गये निर्यात चालू खाते के लेनदारी पक्ष मे प्रविष्ट किये जाते हैं तथा इसी समयावधि म राष्ट्र द्वारा आयातित एव उपभोग की गयी अथवा सग्रह की गई समस्त वस्तुओ व सेवाओ की चालू खाते के देनदारी पक्ष म प्रविष्टि की जाती है।

सक्षेप मे हम कह सकते हैं कि प्रवाह प्रकृति के समस्त मद चालू खाते के सतुलन मे तथा स्टॉक म परिवर्तन से सम्बन्धित समस्त मद पूँजी खाते के सतुलन मे प्रविष्ट किये जाते हैं।

चालू खाते के सन्तुलन व भुगतान सन्तुलन में आपसी सम्बन्ध

(The Relationship between Current Account and Balance of Payments)

किसी भी राष्ट्र के चालू खाते के सतुलन व भुगतान संतुलन मे एक तरफा सम्बन्ध होता है अर्थात् चालू खातो मे सम्मिलित समस्त मद स्वय भुगतान सतुलन पर

निर्भर करने की बजाय भुगतान सतुलन को निर्धारित करते हैं। चालू खाते मे सम्मिलित समस्त सौदे स्वचालित प्रकृति (autonomous nature) के होते हैं एवं इन सौदों के पीछे निहित कारण भुगतान सतुलन की स्थिति पर किसी भी प्रकार से निर्भर नहीं होता है। अत चालू खाते मे सम्मिलित सौदे भुगतान सतुलन की स्थिति पर निर्भर नहीं करते हैं लेकिन चालू खाते का अतिरेक अथवा घाटा भुगतान सतुलन की स्थिति को अवश्य प्रभावित करता है।

व्यापार संतुलन व पूंजी खाते का सतुलन

(The Balance of Trade and the Capital Account)

व्यापार सतुलन व पूंजी खाते के सतुलन का आपसी सम्बन्ध आकस्मिक नहीं है। यद्यपि इन खातों मे कारण-परिणाम का सम्बन्ध निर्धारित करना जटिल कार्य है लेकिन यह अवश्य कहा जा सकता है कि पूंजी निर्यातकर्त्ता राष्ट्र के व्यापार सतुलन मे, पूंजी खाते के घाटों को दुरुस्त करने हेतु, भारी अतिरेक होना चाहिये। व्यापार सतुलन के इस अतिरेक का आंशिक कारण तो पूंजी का निर्यात स्वय ही है क्योंकि विदेशी राष्ट्र अपनी परियोजनाओं मे पूंजी निर्यातक राष्ट्र की मशीनें, औजार आदि उपयोग मे लेते हैं जिससे पूंजी निर्यातक राष्ट्र मे निर्यातों म वृद्धि होती है। लेकिन प्रमुखतया पूंजी प्राप्तकर्त्ता राष्ट्र की आय मे वृद्धि के कारण भी उसके आयात बढ़ेंगे एवं पूंजी निर्यातक राष्ट्र की आय मे कमी से उसके आयात घटेंगे।

या तो हम यह कह सकते है कि व्यापार का घाटा पूंजी आयातों से पूरा होता है अथवा यह कह सकते हैं कि पूंजी के आयात व्यापार सतुलन मे घाटा उत्पन्न करते हैं। ये दोनों ही एक दूसरे के कारण व परिणाम हो सकते हैं लेकिन यह तो सत्य है कि पूंजी के निर्यात व व्यापार सतुलन मे अतिरेक व पूंजी के आयात व व्यापार सतुलन मे घाटा, साथ-साथ बने रहकर भुगतान सतुलन को सतुलित करते हैं।

कुछ कारणों से व्यापार सतुलन मे भारी अतिरेक को 'स्वस्थ' अर्थव्यवस्था का द्योतक माना जाता है लेकिन हम पूंजी के अन्तर्वाहों को भी 'स्वस्थ' अर्थव्यवस्था का लक्षण मानते हैं। जबकि वास्तविकता यह है कि व्यापार सतुलन म भारी अतिरेक व पूंजी के अन्तर्वाह आतरिक रूप मे एक दूसरे से असगत हैं। अपने आप मे व्यापार अतिरेक को स्वस्थ अथवा अस्वस्थ अर्थव्यवस्था का प्रतीक कहना उचित नहीं है। वास्तव मे किन परिस्थितियों मे यह अतिरेक उत्पन्न हुआ है इसकी जानकारी प्राप्त करके ही हम कुछ कह सकते हैं।

यह समझने हेतु कि व्यापार का अतिरेक अनिवार्यतः ही अनुकूल घटक नही है एक क्षण के लिए सोचिए कि यदि कोई राष्ट्र अधिक वस्तुओ का निर्यात कर रहा है व कम वस्तुओ का आयात तो इस तथ्य मे अनुकूलता वाली क्या बात है ?

अतिरेक को इगित करने वाला "अनुकूल सतुलन" पद (term) वणिकवादियो के दिमाग की उस समय की उपज है जबकि राष्ट्र केवल *स्वर्ण एकत्र करना ही अपना* उद्देश्य मान बैठे थे तथा ऐसे राष्ट्र जिनमे स्वर्ण के भण्डार नही थे उनके पास केवल भुगतान सतुलन मे अतिरेक बनाए रखना ही स्वर्ण की प्राप्ति का रास्ता था अतः व्यापार सतुलन के अतिरेक को अनुकूल माना जाने लगा। लेकिन यह समझना आवश्यक है कि वस्तुओ के निर्यात से राष्ट्र इन वस्तुओ के उपभोग से प्राप्त होने वाले सन्तोष से वचित रहता है जबकि राष्ट्र की सरकार के पास स्वर्ण के भण्डारो मे वृद्धि होने से नागरिको के सन्तोष मे कोई वृद्धि होती प्रतीत नही होती है। लेकिन इस सबसे *विपरीतार्थ भी नही निकालना चाहिए यानि कि व्यापार मे अतिरेक को अस्वस्थता का* प्रतीक मान लेना भी उचित नही है।

व्यापार सतुलन मे घाटे अथवा अतिरेक की उस समय तक चिन्ता नही करनी चाहिए जब तक की उतनी ही मात्रा मे पूँजी के चलनो का इस घाटे अथवा अतिरेक के समायोजन हेतु तथा इसे दुरस्त करने हेतु विपरीत दिशा मे चलन होता हो। भुगतान सतुलन के इन दोनो ही खातो मे अनेक मदे सम्मिलित होती हैं एव इन सब मदो का बिना रुकावट के प्रवाह होता रहे तो विश्व समुदाय इससे लाभान्वित ही होगा।

भुगतान संतुलन के अन्य प्रमुख खातो के सम्बन्ध मे भी इसी प्रकार का विश्लेषण अनुप्रयुक्त किया जा सकता है।

भुगतान संतुलन में साम्य तथा असाम्य

(Equilibrium and Diseqilibrium in the Bop.)

जैसा कि पहले बताया जा चुका है एक आशय मे तो भुगतान सतुलन सदैव ही सतुलित रहता है। उदाहरणार्थ, हमारे काल्पनिक राष्ट्र के भुगतान सतुलन की सारणी-12.2 से स्पष्ट है कि राष्ट्र के चालु खाते मे 100 करोड रु का घाटा है लेकिन फिर भी इसका अभिप्राय यह नहीं है कि राष्ट्र का *भुगतान सन्तुलन निश्चय* ही घाटे मे है।

लेकिन इस 100 करोड रु के चालू खाते के घाटे का समायोजन होना आवश्यक है। यदि किसी राष्ट्र के भुगतान सतुलन के चालु खाते मे घाटा है तो इसका

सरकार से उधार ले लिया है तो इसकी पूंजी खाते मे पूंजी के अन्तर्वाह के रूप मे प्रविष्टि होगी। लेकिन इसके अतिरिक्त भी पूंजी के ऐसे प्रवाह होते है जिनका भुगतान सतुलन की स्थिति से कोई सम्बन्ध नही होता है, *जैसे यह सम्भव है कि एक विदेशी अपने माल का बाजार बढाने हेतु 100 करोड रु. की लागत को विचाराधीन राष्ट्र मे एक एजेन्सी क्रय कर ले तो इसको भी भुगतान सतुलन मे पूंजी के अन्तर्वाह के रूप मे प्रविष्टि की जाएगी। लेकिन भुगतान सतुलन के दृष्टिकोण से पूंजी के इन दोनो प्रकार के प्रवाहो का बडा भिन्न महत्त्व है।

प्रथम प्रकार के पूंजी के प्रवाह समायोजक पूंजी के चलन कहलाते हैं। ये वे पूंजी के चलन होते हैं जो विशेष रूप से भुगतान संतुलन को बहीखाता आशय मे सतुलित करने के उद्देश्य से होते है। समायोजक पूंजी के प्रवाहो के अनेक रूप हो सकते हैं। जैसे निजी *विनिमय डीलर्स के सतुलनों मे स्वचालित* (Automatic) परिवर्तन, केन्द्रीय बैंकों के स्वर्ण मे कमी अथवा भुगतान सतुलन मे अतिरेक वाले राष्ट्र की सरकार द्वारा सहायता का प्रावधान आदि। इस प्रकार स्पष्ट है कि समायोजक चलन स्वचालित (Automatic) यानि कि अनियोजित व पूर्वदृष्ट (जैसे निजी डीलर्स के सतुलनो मे कमी अथवा केन्द्रीय बैंक के स्वर्ण मे कमी) हो सकते हैं अथवा स्वनिर्णयाधीन (discretionary) अर्थात् *नियोजित एवं पूर्वदृष्ट* (foreseen) (*जैसे विशेष सरकारी सहायता*) *हो सकते है। इन प्रवाहो की प्रभेदक विशेषता यह है कि ये* केवल इसलिए होते हैं कि भुगतान सतुलन के दोनो पक्षो (प्राप्ति व देनदारी) के बीच अन्य मदो ने इस मात्रा का अन्तर पूरा करने हेतु छोड दिया है।

दूसरी प्रकार के पूंजी के प्रवाहो को हम स्वायत्त प्रवाह कहते हैं। ये साधारण पूंजी के प्रवाह होते हैं एव इनकी प्रभेदक विशेषता यह है कि ये भुगतान सतुलन की स्थिति से स्वतत्र होते हैं।

स्वायत्त प्राप्तियों मे समस्त सामान्य निर्यात, प्रवासियो द्वारा उपहार के रूप मे भेजी गयी धनराशि एव वे क्षतिपूर्ति भुगतान जो कि भुगतान सतुलन को सतुलित करने के सिवाय किसी उद्देश्य से हुए हैं तथा पूंजी के ऐसे समस्त चलन जो कि निजी उपक्रमो द्वारा इसलिए *किये गये है कि राष्ट्र विशेष मे विनियोग करना अधिक लाभप्रद प्रतीत* होता है अथवा विदेशी कम्पनी द्वारा अपने व्यापार विस्तार के लिए विचाराधीन राष्ट्र मे सहायक सयत्र (Subsidiary Plant) क्रय करना, सम्मिलित किये जाते हैं।

समायोजक प्राप्तियो मे, राष्ट्र के आयातकर्त्ताओ को चालू विनिमय दर पर विदेशो से क्रय किये गये माल के भुगतान की वित्त व्यवस्था करने हेतु आवश्यक विदेशी मुद्रा

उपलब्ध करवाने के लिए अपने विदेशी मुद्रा के सग्रह मे से विक्रय अथवा राष्ट्र द्वारा सचित अपने प्रारक्षित निधि परिसम्पत्तियो का रिक्तीकरण करना अथवा विचाराधीन राष्ट्र की सरकार को विदेशी सरकार से ऋण अथवा उपहार के रूप मे भुगतान सतुलन के घाटे को पूरा करने के विशिष्ट उद्देश्य हेतु मुद्रा प्राप्त होना अथवा भुगतान सतुलन के घाटे का पूरा करने के उद्देश्य से राशि इकट्ठी करने हेतु अपने नागरिको की विदेशी परिसम्पत्तियों को अनिवार्य रूप से प्राप्त कर लेना, सम्मिलित किये जाते है।

सारणी 12 3 व 4 मे सारणी 12 1 व 2 को इस प्रकार से पुनर्व्यवस्थित किया गया है कि विचाराधीन राष्ट्र के भुगतान सतुलन मे सम्मिलित समस्त मदो को स्वायत्त व समायोजक सौदों में विभाजित किया जा सके।

सारणी-12 3 दर्शाती है कि विचाराधीन राष्ट्र ने 1050 करोड रु की वस्तुओ व सेवाओ के निर्यात किये हैं तथा इस राष्ट्र को 150 करोड रु के मूल्य की मुफ्त

स्वायत्त व समायोजक सौदे (करोड रु मे)

(Autonomous and Accomodating Transactions)

सारणी-12 3

स्वायत्त व समायोजक सौदे (करोड रु मे)					
	प्राप्तियाँ			देनदारियाँ	
1	स्वायत्त प्राप्तियाँ	1400	3	स्वायत्त भुगतान	1500
(a)	स्वायत्त निर्यात (दृश्य व अदृश्य)	1050	(a)	स्वायत्त आयात (दृश्य व अदृश्य)	1190
(b)	विदेशियों से मुफ्त स्वायत्त प्राप्तियाँ	150	(b)	विदेशियो को मुफ्त स्वायत्त भुगतान	110
(c)	विदेशियो से स्वायत्त पूंजीगत प्राप्तियाँ	200	(c)	विदेशियो को स्वायत्त पूंजीगत भुगतान	200
2.	विदेशियो से समायोजक पूंजीगत प्राप्तियाँ	100	4	विदेशियो को सामायोजक पूंजीगत भुगतान	0
		1,500			1,500

प्राप्तियाँ हुई हैं। यह भी मान लीजिए कि इस राष्ट्र मे 200 करोड रु. का पूँजी का स्वचालित अन्तर्वाह हुआ है। पूँजी का यह अन्तर्वाह, उदाहरणार्थ, विदेशी निगम द्वारा इस राष्ट्र मे सहायक सयत्र क्रय करके 200 करोड रु. के मूल्य की पूँजीगत परिसम्पत्ति प्राप्त करने के रूप म हो सकता है।

सारणी-12 4

भुगतान सतुलन

(Balance of Payments)

		करोड रु मे
1	स्वायत्त व्यापार सतुलन [सारणी –12 3 पक्ति (1a) व (3a)]	1050 — 1190 = 140
2	स्वायत्त मुफ्त हस्तातरणो का सतुलन [सारणी–12.3 पक्ति (1b) व (3b)]	150 — 110 = 40
3.	स्वायत्त पूँजी चलनो का सतुलन [सारणी-12 3, पक्ति (1c) तथा (3c)	200 — 200 = 0
4	भुगतान सतुलन	1400 — 1500 = —100
5	विदेशी समायोजन का सतुलन	100 — = 100
6	स्वायत्त व समायोजक सौदो का सतुलन	1500 — 1500 = 0

इसी प्रकार सारणी-12 3 दर्शाती है कि राष्ट्र ने 1190 करोड रु के मूल्य की वस्तुओ व सेवाओ के आयात किये है एव 110 करोड रु के मूल्य के विदेशियो को मुफ्त भुगतान किये हैं। राष्ट्र से 200 करोड रु. के मूल्य का पूँजी का स्वायत्त प्रवाह भी हुआ है।

इस प्रकार सारणी-12 3 के प्राप्ति व देनदारी पक्ष दर्शाते हैं कि विदेशियो का किय गय कुल भुगतान 1500 करोड रु के हैं जबकि अन्तर्वाह केवल 1400 करोड रु के मूल्य के हैं। 100 करोड रु का अन्तर विद्यमान है जिसका निपटारा 100 करोड रु के मूल्य के पूँजी के समायोजक अन्तर्वाह द्वारा होगा।

अब हम भुगतान सतुलन के घाटे अथवा अतिरेक को परिभाषित करन की स्थिति मे हैं तथा इसी उद्देश्य से सारणी-12 3 को सारणी-12.4 के रूप मे पुनर्व्यवस्थित किया गया है। सारणी 12 4 दर्शाती है कि हमारे विचाराधीन राष्ट्र की स्वायत्त प्राप्तियाँ 1400 करोड रु के मूल्य की हैं जबकि स्वायत्त देनदारियाँ 1500 करोड

अवमूल्यन के सिद्धान्त

(Theories of Devaluation)

अवमूल्यन से अभिप्राय

(Meaning)

अवमूल्यन से अभिप्राय किसी भी राष्ट्र की मुद्रा का विदेशी मुद्रा के रूप मे *मूल्य कम करने से है, जबकि अधिमूल्यन का अर्थ अन्य राष्ट्रो की मुद्राओ के रूप मे* राष्ट्र की मुद्रा के मूल्य मे वृद्धि से होता है।

अवमूल्यन तथा अधिमूल्यन दोनो ही पदो का उपयोग स्थिर विनिमय दर प्रणाली के सन्दर्भ मे उस स्थिति म किया जाता है जबकि सरकारी आदेश द्वारा तथा एक साथ बडे अनुपात मे बाह्य मूल्य को परिवर्तित किया जाता है। अवमूल्यन अथवा अधिमूल्यन *से सबधित विचार-विमर्श को राष्ट्र की सरकार प्राय गोपनीय रखती है ताकि सबधित* मुद्रा पर सट्टेबाजी का असह्य दबाव न बन पाये।

जब विनिमय दरें स्थिर नही होती है, अपितु बाजार माँग एव पूर्ति की प्रतिक्रिया द्वारा स्वतन्त्र रूप से लचीली बनी रहती हैं, तो विनिमय दरो के परिवर्तन को हम अवमूल्यन व अधिमूल्यन न कहकर 'मूल्य ह्रास' (Depreciation) तथा 'मूल्यवृद्धि' *(Appreciation) कहते हैं। यदि हम विश्व-बाजार मे कीमतें अपरिवर्तित मान लें* तो किसी भी राष्ट्र की मुद्रा के अवमूल्यन के परिणामस्वरूप, व्यापार मे शामिल वस्तुओ के घरेलू मूल्य मे स्थानीय मुद्रा के रूप मे वृद्धि होती है। उदाहरणार्थ— जून, 1966 मे भारतीय रुपये के अवमूल्यन के परिणामस्वरूप विनिमय दर 1 $= Rs 4 76 से परिवर्तित होकर 1$=Rs 7 50 हो गयी थी। विनिमय दर के इस परिवर्तन के परिणामस्वरूप 1$ के आयातो व निर्यातो का मूल्य रुपये के रूप मे 4.76 रु से बढकर 7 50 रु हो गया था*। ऐसे परिवर्तन के परिणामस्वरूप निर्यातकर्त्ता

* *डॉलर की रुपये के रूप मे विनिमय दर की 4 76 रु से 7.50 रु. को वृद्धि के* रूप में गणना करने पर यह 57.5% अवमूल्यन था जबकि रुपये के डॉलर मूल्य मे कमी के रूप मे गणना करने पर यह 36 5% अवमूल्यन था।

आधिक्य पूर्ति को तथा OP से नीची कीमतों पर चित्र A की आधिक्य माँग को चित्र B मे दर्शाया गया है। इस प्रकार प्राप्त किये गये चित्र B का DD आधिक्य माँग वक्र ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे आयातो की माँग दर्शाता है। यदि घरेलू पूर्ति-वक्र की लोच शून्य से अधिक है तो आधिक्य माँग वक्र की लोच घरेलू माँग-वक्र की लोच से अधिक होगी, क्योकि कीमत मे परिवर्तन होने पर आधिक्य माँग-वक्र मे घरेलू माँग के परिवर्तनो के साथ-साथ घरेलू पूर्ति के परिवर्तनो का भी समावेश होगा। यदि घरेलू पूर्ति-वक्र की लोच शून्य है अर्थात घरेलू पूर्ति-वक्र लम्बवत रेखा है तो आधिक्य माँग-वक्र की लोच घरेलू माँग-वक्र की लोच के बराबर होगी। इसी प्रकार यदि घरेलू पूर्ति-वक्र अनन्त लोचवाला है, अर्थात् OP कीमत पर क्षितिज रेखा है तो आधिक्य माँग-वक्र भी इसी कीमत पर अनन्त लोच वाली रेखा होगी।

इसी प्रकार हम निर्यातकर्त्ता राष्ट्र के आधिक्य पूर्ति-वक्र की भी व्युत्पत्ति (derivation) कर सकते हैं। चित्र 13 2A मे निर्यातकर्त्ता राष्ट्र के घरेलू माँग व पूर्ति-वक्र क्रमश DD व SS है। धनात्मक ढाल वाला पूर्ति-वक्र प्राप्त करने हेतु हमने चित्र-A मे दायी तरफ कीमत अक्ष दर्शाया है तथा क्षितिज अक्ष पर दायी से बायी तरफ निर्यात वस्तु की बढती हुयी मात्रा दर्शायी है। कीमत रेखा पर वस्तु की कीमत आयातकर्त्ता राष्ट्र की मुद्रा मे दर्शायी गयी है। आधिक्य पूर्ति तथा आधिक्य माँग-वक्रो को एक चित्र मे रखकर इनकी सहायता से वस्तु की व्यापारोपरान्त 'साम्य कीमत निर्धारित करने हेतु ऐसा करना आवश्यक है।
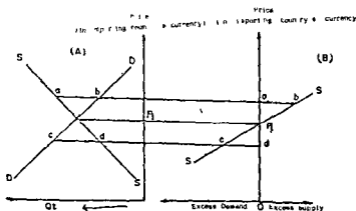
चित्र 13.2. आधिक्य पूर्ति-वक्र
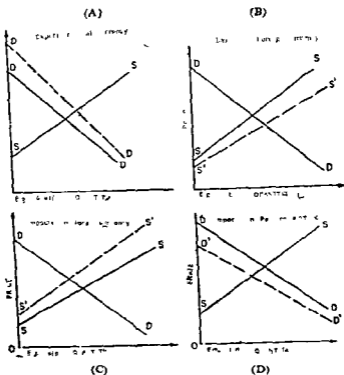
चित्र 13.4 : अवमूल्यन से पूर्व व पश्चात् आयातों व निर्यातों की घरेलू मुद्रा के रूप में आधिक्य माँग व आधिक्य पूर्ति

मूल्यन के परिणामस्वरूप पूर्ति-वक्र ऊपर की ओर विवर्त होता है जो कि विदेशी विनिमय के चित्र में अपरिवर्तित है। अत अवमूल्यन के परिणामस्वरूप घरेलू मुद्रा में आयातों का मूल्य बढ़ेगा, घटेगा अथवा अपरिवर्तित रहेगा, यह आयातों की माँग लोच पर निर्भर करेगा। यदि यह लोच इकाई है तो आयातों पर कुल व्यय अपरिवर्तित रहेगा, यदि आयातों की माँग लोच इकाई से कम है तो आयातों पर कुल व्यय बढ़ेगा और यदि लोच इकाई से अधिक है तो कुल व्यय घट जायेगा।

विदेशी विनिमय के चित्र में निर्यातों का माँग-वक्र अवमूल्यन के परिणामस्वरूप अपरिवर्तित रहता है लेकिन पूर्ति-वक्र नीचे की ओर विवर्त हो जाता है जैसा कि चित्र 13.4-b में दर्शाया गया है। इसका कारण यह है कि अवमूल्यनकर्ता राष्ट्र की पूर्ति कीमत अवमूल्यन के परिणामस्वरूप विदेशी विनिमय के रूप में घट जाती है। आयातों के विदेशी-विनिमय के चित्र में अवमूल्यन के परिणास्वरूप माँग-वक्र नीचे

परिवर्तन शून्य बना रहेगा। इस स्थिति में मार्शल-लर्नर शर्त पूरी होने हेतु यह आवश्यक है कि निर्यातों की मांग-लोच इकाई से अधिक हो और यदि निर्यातों की मांग-लोच इकाई से अधिक है तो निर्यातों के कुल मूल्य में प्रतिशत वृद्धि अवमूल्यन की प्रतिशत वृद्धि से अधिक होगी क्योंकि निर्यातों के कुल मूल्य की प्रतिशत वृद्धि कीमत के प्रतिशत परिवर्तन तथा मात्रा के प्रतिशत परिवर्तन के योग के बराबर होगी।

यदि प्रत्येक मांग लोच इकाई से कम है लेकिन दोनों मांग लोचों का योग इकाई से अधिक है तो भी घरेलू मुद्रा के रूप में व्यापार सतुलन सुधर जायेगा क्योंकि इसका अभिप्राय यह होगा कि घरेलू मुद्रा के रूप म निर्यातों के मूल्य में वृद्धि आयातों के मूल्य मे वृद्धि से अधिक बनी रहेगी।

इन सबको को आयातों व निर्यातों के मूल्य को विदेशी मुद्रा के रूप मे व्यक्त करके भी प्राप्त किया जा सकता है। विदेशी मुद्रा के चित्र 13 4–b मे अवमूल्यन क परिणामस्वरूप मांग-वक्र अपरिवर्तित रहता है लेकिन पूर्ति-वक्र नीचे विवर्त हो जाता है।

अवमूल्यन के परिणामस्वरूप निर्यातों के कुल मूल्य मे विदेशी मुद्रा के रूप मे परिवर्तन विदेशी मांग वक्र की लोच पर निर्भर करेगा। यदि विदेशी मांग वक्र की लोच इकाई से अधिक है तो निर्यातों पर कुल व्यय मे वृद्धि होगी, यह लोच इकाई से कम है तो निर्यातो पर कुल व्यय घटेगा तथा लोच इकाई के बराबर है तो निर्यातों पर कुल व्यय अपरिवर्तित रहेगा।

यदि विदेशों मे निर्यातों की मांग लोच शून्य है तो निर्यातों पर विदेशी मुद्रा के रूप मे कुल व्यय की कमी अवमूल्यन के प्रतिशत के बराबर होगी। लेकिन यदि आयातों की मांग-लोच इकाई से अधिक है, जैसा कि मार्शल-लर्नर शर्त के पूरा होने हेतु आवश्यक है, तो अवमूल्यनकर्त्ता राष्ट्र के आयातों मे प्रतिशत कमी अवमूल्यन की प्रतिशत से अधिक होगी तथा व्यापार-सतुलन सुधरेगा।

अवमूल्यन के परिणामस्वरूप विदेशी मुद्रा के रूप म आयातों पर कुल व्यय घट सकता है अथवा अपरिवर्तित रह सकता है लेकिन बढ नहीं सकता। हम चित्र 13.4-d मे देखते हैं कि आयातों का मांग वक्र अवमूल्यन के परिणामस्वरूप नीचे खिसक जाता है अत कीमत तथा मात्रा का गुणाकार अवमूल्यन के पश्चात् अवमूल्यन से पूर्व की स्थिति से अधिक होना सभव नहीं है। इस बिन्दु को हम निम्न उदाहरण की सहायता से स्पष्ट कर सकते हैं। मान लीजिए कि अवमूल्यन मे पूर्व विनिमय दर

1$ = 10 रु थी तथा आयातों की मात्रा 100 थी। अतः 2$ की कीमत पर आयातों पर कुल व्यय 2000 रु अथवा 200$ था। अब मान लीजिए कि अवमूल्यन के परिणामस्वरूप विनिमय दर 1$ = Rs 15 हो जाती है तथा आयातों की शून्य मांग लोच के परिणामस्वरूप आयातित मात्रा 100 ही बनी रहती है तो आयातों पर कुल व्यय 3000 रु. होगा। लेकिन यह 3000 रु का व्यय नई विनिमय दर (1$ = Rs. 15) पर $ 200 से अधिक नहीं हो सकता है।

अत यदि आयातों की मांग लोच शून्य है तो आयातों पर विदेशी मुद्रा के रूप में कुल व्यय अपरिवर्तित रहेगा। लेकिन मार्शल-लर्नर शर्त पूरी होने हेतु यह आवश्यक है कि राष्ट्र के निर्यातों की मांग लोच इकाई से अधिक हो। यदि निर्यातों की मांग लोच इकाई से अधिक है तो विदेशी मुद्रा के रूप में निर्यातों पर कुल व्यय बढ जायेगा। यदि आयातों पर कुल व्यय अपरिवर्तित रहता है तथा निर्यातों पर कुल व्यय में वृद्धि होती है तो व्यापार सन्तुलन सुधरेगा।

यदि पूर्ति लोचें अपेक्षाकृत ऊँची हैं तथा प्रारम्भिक अवस्था में व्यापार सन्तुलित है तो मार्शल-लर्नर शर्त मोटे रूप से सही बनी रहेगी। लेकिन यदि पूर्ति लोचें अपेक्षाकृत नीची हों जैसा कि पूर्ण रोजगार की स्थिति में सामान्यतया होता है, तो मार्शल-लर्नर शर्त व्यापार सन्तुलन में सुधार के लिए अनिवार्य न बनी रहकर पर्याप्त शर्त हो जायेगी।

नीची पूर्ति लोचों की स्थिति में विदेशी विनिमय में निर्यातों की कीमत इतनी *नहीं गिरेगी। अत अर्जित विदेशी मुद्रा म उतनी कमी नहीं होगी जितनी कि अनन्त पूर्ति-लोच की स्थिति में होती है। चित्र 13.5 में यह स्थिति स्पष्ट की गयी है।*

चित्र में a तथा b बिन्दुओं की तुलना करने से ज्ञात होता है कि a तथा b बिन्दुओं के बीच में मांग वक्र की लोच इकाई से कम है। अतः b बिन्दु की ऊँची कीमत पर a बिन्दु वाली कीमत की तुलना में निर्यातों पर कुल व्यय अधिक है। अत पूर्ति लोचें नीची होने की स्थिति में दोनों मांग लोचों का योग इकाई से कुछ कम होने पर भी अवमूल्यन के परिणामस्वरूप व्यापार सन्तुलन में सुधार हो सकता है।

मार्शल-लर्नर शर्त की दूसरी मान्यता कि प्रारम्भ में भुगतान सन्तुलन का घाटा अधिक नहीं होना चाहिए प्रतिशतों की विशेषताओं पर आधारित है। यदि मांग लोचों का योग इकाई से अधिक है तो निर्यातों की प्रतिशत वृद्धि आयातों
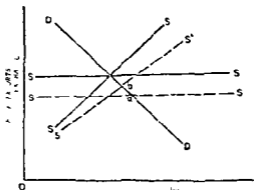
चित्र 13 5 : अनन्त व नीची पूर्ति लोचें तथा अवमूल्यन से पूर्व व पश्चात् विदेशी विनिमय बाजार

की प्रतिशत वृद्धि से सदैव अधिक होगी अथवा विदेशी विनिमय में प्रतिशत वृद्धि कम बनी रहेगी। लेकिन यदि निर्यातों की तुलना मे आयात बहुत अधिक है तो आयातो मे निरपेक्ष वृद्धि घरेलू मुद्रा के रूप मे अधिक हो सकती है अथवा विदेशी मुद्रा के रूप मे आयातो की कमी कम बनी रह सकती है। इस अंकगणितीय भुगतान सतुलन (*Px Qx—Pm Qm*) मे घाटे की वृद्धि के साथ मे बीजगणितीय (*Geometric*) सतुलन $\left(\frac{PQ\ Qx}{Pm\ Qm}\right)$ मे सुधार होगा।*

---

* उदाहरणार्थ—माना कि प्रारम्भ मे आयात 100 रु के व निर्यात 400 रु. के हैं तथा अवमूल्यन के परिणामस्वरूप आयातो मे 5% वृद्धि होती है तथा निर्यातो मे 10% तो मार्शल-लर्नर शर्त के अनुसार व्यापार सन्तुलन सुधरेगा। लेकिन अंकगणितीय सन्तुलन का प्रारंभिक घाटा 300 रु. से बढ़कर 310 रु. (110-420) हो जायेगा। लेकिन बीजगणितीय सन्तुलन $\left(\frac{100}{400}\right)$से$\left(\frac{110}{420}\right)$ होने के कारण सुधर जायेगा क्योंकि $\left(\frac{100}{400}\right) < \left(\frac{110}{420}\right)$ ।

मार्शल-लर्नर शर्त की तृतीय मान्यता यह है कि केवल तैयार वस्तुओं का ही व्यापार होना चाहिए। लेकिन यदि व्यापार में अर्द्ध-निर्मित वस्तुएँ एवं कच्चा माल भी शामिल है तो भी मार्शल-लर्नर शर्त सत्य बनी रहेगी।

हमारे विश्लेषण का सारांश इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है :—

(1) यदि आयातों की माँग लोच इकाई से अधिक है तो अवमूल्यन के परिणामस्वरूप अवमूल्यनकर्ता राष्ट्र का व्यापार सन्तुलन निश्चय ही सुधरेगा क्योंकि घरेलू मुद्रा के रूप में आयातों पर व्यय घटेगा तथा शून्य लोच के बावजूद भी घरेलू मुद्रा के रूप में निर्यातों का मूल्य पूर्ववत बना रहेगा।

(2) यदि आयातों की माँग लोच इकाई से कम है तो व्यापार सन्तुलन तभी सुधरेगा जबकि विदेशियों की निर्यातों की माँग लोच ऐसी है कि आयातों पर व्यय की वृद्धि की तुलना में वह निर्यातों पर व्यय में अधिक वृद्धि कर देती हो।

(3) *हमारे विश्लेषण से यह भी स्पष्ट है कि यदि दोनों लोच इकाई से कम* हैं लेकिन इनका योग इकाई से अधिक है तब भी अवमूल्यन से व्यापार सतुलन में सुधार होगा।*

मार्शल-लर्नर शर्त यह भी स्पष्ट करती है कि आयात निर्यात लोचें नीची होने पर न केवल अवमूल्यन प्रभावहीन सिद्ध हो सकता है अपितु अवमूल्यन के परिणामस्वरूप व्यापार सतुलन और अधिक घाटे में भी जा सकता है

अवशोषण विश्लेषण

(Absorption Approach)

अवमूल्यन के प्रभावों का एक वैकल्पिक विश्लेषण समष्टि दृष्टिकोण से प्रदान किया गया है जिसे अवशोषण विश्लेषण कहते हैं।

अवशोषण विश्लेषण सर्वप्रथम सन् 1952 में सिडनी एलेक्जेन्डर (Alexander) के प्रसिद्ध लेख[1] 'व्यापार सन्तुलन पर अवमूल्यन के प्रभाव' में प्रतिपादित किया गया था।

---

* मार्शल-लर्नर शर्त की व्युत्पत्ति के लिए इस अध्याय का परिशिष्ट देखें।

1 Alexander, S.S —'Effects of a Devaluation on a Trade Balance'—*IMF Staff Papers* (April 1952) Reprinted in caves R E & Johnson, H G, (edt.)—Readings in International Economics, (Home wood, Ill · Irwin, 1968).

अवशोषण विश्लेषणकर्त्ता घरेलू बाजार में व्यय एवं बचत के द्वारा समस्या का विश्लेषण करते हैं।

एक दी हुई विनिमय दर पर राष्ट्र में अति व्यय है तो भुगतान सन्तुलन में घाटा होगा और यदि अति बचत है तो अतिरेक। लेकिन ज्योंहि पूर्ण रोजगार बिन्दु प्राप्त किया जाता है अवशोषण विश्लेषणकर्त्ताओं को व्ययकर्त्ताओं की कीमत परिवर्तनों के प्रति प्रतिक्रियाओं एवं उनकी मौद्रिक आय के परिवर्तनों को ध्यान में रखना चाहिए। उन्हें मौद्रिक परिवर्तनों को भी ध्यान में रखना चाहिए।

अवशोषण विश्लेषण का तर्कवाक्य (Proposition) यह है कि वस्तुओं व सेवाओं के सन्तुलन में किसी भी सुधार के लिए तार्किक रूप से यह आवश्यक है कि कुल उत्पादन व कुल घरेलू व्यय के मध्य के अन्तराल में कुछ सुधार हो।

इस विश्लेषण को स्पष्ट करने हेतु हम समष्टि आय में साम्य की समीकरण से प्रारम्भ कर सकते हैं :

$$Y = C + Id + G + (X - M)$$

यहाँ y वस्तुओं एवं सेवाओं का उत्पादन है तथा C, Id, G व (X-M) इस उत्पादन की क्रमश: उपभोग, घरेलू विनियोग व सरकार के व्यय एवं विदेशी सन्तुलन के रूप में माँग के तत्त्वों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

व्यापार सन्तुलन को बायीं ओर लाकर उपर्युक्त समीकरण को हम इस प्रकार भी लिख सकते हैं—

$$(X - M) = Y - (C + Id + G)$$

अर्थात् चालू खाते का सन्तुलन कुल उत्पादित आय में से व्यय को घटा देने से प्राप्त होता है। प्रो० एलेक्जेण्डर ने व्यय मदों (C + Id + G) के लिए अवशोषण (Absorption) पद काम में लिया है। अवशोषण को A द्वारा तथा चालू खाते के सन्तुलन को B द्वारा व्यक्त करने पर हम उपर्युक्त समीकरण को इस रूप में लिख सकते हैं—

$$B = Y - A$$

अवमूल्यन चालू खाते के सन्तुलन (B) को दो प्रकार से प्रभावित कर सकता है। अवमूल्यन से घरेलू उत्पादन Y परिवर्तित हो सकता है तथा उत्पादन के परिवर्तन से

A में परिवर्तन होता है। इस प्रकार B मे परिवर्तन आय (Y) एवं अवशोषण (A) के मिश्रित परिवर्तनो का परिणाम होगा।

द्वितीय, अवमूल्यन आय के किसी दिये हुए स्तर पर होने वाले कुल अवशोषण मे भी परिवर्तन उत्पन्न कर सकता है। परिवर्तनो को △ द्वारा व्यक्त करके हम उपर्युक्त समीकरण को इस प्रकार लिख सकते हैं :

$$\triangle B = \triangle y - \triangle A \quad (1)$$

अत स्पष्ट है कि विदेशी सन्तुलन मे होने वाला कोई भी परिवर्तन घरेलू अर्थव्यवस्था मे वस्तुओ तथा सेवाओ के अवशोषण की मात्रा मे परिवर्तन तथा आय के परिवर्तन के अन्तर के बराबर होगा।

अब हम △ Y एव △ A को अलग-अलग स्पष्ट करने का प्रयास करेंगे। पहले △A को लेते हैं। अवशोषण दो प्रकार के घटको पर निर्भर करता है ऐसे घटक जो अवशोषण को आय के सापेक्ष के रूप मे परिवर्तित करते हैं तथा वे जो आय के स्तर से स्वतन्त्र होते हैं। प्रथम प्रकार के घटको मे आय व अवशोषण एक दूसरे से 'अवशोषण की प्रवृत्ति' द्वारा जुडे रहते हैं। यदि हम इस प्रवृत्ति को C द्वारा व्यक्त करें तो हमे निम्न समीकरण प्राप्त होती है :—

$$\triangle A = C \triangle Y + \triangle D \quad (2)$$

यहाँ △ D, अवशोषण के प्रत्यक्ष परिवर्तनो अथवा अवशोषण मे होने वाले ऐसे सभी परिवर्तनो को जो कि आय के परिवर्तन के अलावा अन्य कारणो से होते है, इगित करता है।

समीकरण (2) यह दर्शाती है कि अवमूल्यन के परिणामस्वरूप वास्तविक अवशोषण मे होने वाला परिवर्तन, C △ Y अर्थात् अवमूल्यन से आय मे होने वाले परिवर्तनो के परिणामस्वरूप वास्तविक अवशोषण मे होने वाले परिवर्तनो पर एव अवशोषण मे आय के परिवर्तन के अलावा किसी अन्य कारण से होने वाले परिवर्तन पर निर्भर करेगा। समीकरण (1) व (2) को सम्मिलित करने पर हमे निम्न समीकरण प्राप्त होगी

$$\triangle B = \triangle Y - C \triangle Y + \triangle D$$

अथवा $\triangle B = (1-C) \triangle Y + \triangle D \quad (3)$

समीकरण (3) प्रमुख चरो पर ध्यान केन्द्रित करती है एवं दर्शाती है कि अवमूल्यन का व्यापार सन्तुलन पर प्रभाव प्रथम तो इस तथ्य पर निर्भर करेगा कि

अवमूल्यन वास्तविक आय (Y) को कैसे प्रभावित करता है। द्वितीय, अवशोषण की प्रवृत्ति (C) पर तथा तृतीय *अवमूल्यन के प्रत्यक्ष अवशोषण (D)* पर पड़ने वाले प्रभाव पर।

स्पष्ट है कि पूर्णरोजगार की अनुपस्थिति मे यदि अवमूल्यन के परिणामस्वरूप उत्पादन मे अवशोषण से अधिक वृद्धि हो जाती है तो व्यापार सन्तुलन मे सुधार होगा। लेकिन पूर्णरोजगार की स्थिति मे अवशोषण घटने पर ही अवमूल्यन के परिणामस्वरूप *व्यापार सन्तुलन सुधर सकता है अन्यथा नहीं चाहे राष्ट्र के आयातो की मांग लोच* व निर्यातो की विदेशो मे मांग लोच का योग इकाई से अधिक भी क्यों न हो।

लेकिन पूर्णरोजगार की स्थिति मे अवमूल्यन के परिणामस्वरूप उत्पादक कारको के अधिक कुशल आवटन की सम्भावना बनी रहती है जिसके परिणामस्वरूप विद्यमान कारको से अधिक उत्पादन प्राप्त करना सम्भव होता है। अवमूल्यन के परिणामस्वरूप कारको के *अधिक कुशल आवटन की सम्भावना ऐसे अर्द्धविकसित राष्ट्रो मे अधिक बनी* रहती है जिनमे मुद्रा का अधिमूल्यन बने रहने के कारण विभिन्न प्रकार के विनिमय व आयात नियत्रण लगे हुए होते हैं एव अन्तत अवमूल्यन करने पर इन नियत्रणो को समाप्त करने के साथ साधनो का अधिक कुशल उपयोग सम्भव होता है। लेकिन औद्योगिक राष्ट्रो मे ऐसा नहीं होता है।

इस प्रकार पूर्णरोजगार की *स्थिति मे अवमूल्यन के परिणामस्वरूप भुगतान* सन्तुलन मे सुधार इस पर निर्भर करेगा कि अर्थव्यवस्था मे अवशोषण घटाने की क्षमता है अथवा नही। पूर्णरोजगार मे अवशोषण मे कटौती से ही अवमूल्यन से लाभान्वित होने हेतु निर्यात व आयात प्रतिस्थापन वस्तुओ के उत्पादन के लिए अन्यथा कार्यरत साधन उपलब्ध हो सकते हैं। अवमूल्यन के परिणामस्वरूप अवशोषण मे कुछ कटौती की आशा की जा सकती है। अवमूल्यन के अवशोषण पर पड़ने वाले प्रभावो को हम निम्न शीर्षको के अन्तर्गत विभाजित करके स्पष्ट कर सकते हैं —

(a) वास्तविक जमा (b) मुद्रा भ्रमजाल (c) ब्याज दर का प्रभाव, तथा (d) *आय पुनर्वितरण प्रभाव*

(a) वास्तविक जमा प्रभाव (Real balances effect).—वास्तविक जमा प्रभाव के अनुसार मुद्रा की कुल पूर्ति स्थिर रहने की स्थिति मे अवमूल्यन से जब कीमत स्तर मे वृद्धि होती है तो व्ययकर्त्ता अपनी नगदी जमाओ का वास्तविक मूल्य बनाये रखने हेतु बचत मे वृद्धि करते हैं, अतः उनका व्यय घट जाता है। यद्यपि एक व्यक्ति विशेष के लिए तो कीमत वृद्धि के साथ अपनी परिसम्पत्तियो का विक्रय

करके अपने नकदी कोषों को बढ़ाकर भी कुल व्यय अपरिवर्तित बनाये रखना सम्भव है, लेकिन जब तक मुद्रा की कुल पूर्ति स्थिर बनी रहती है तब तक सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के दृष्टिकोण से ऐसा करना सम्भव नहीं है।

(b) मुद्रा भ्रमजाल (Money Illusion) :—यह वास्तविक कोष प्रभाव का विपरीत है, भिन्न व्ययकर्त्ता इकाईयाँ मौद्रिक आय की वृद्धि के साथ बिना कीमत स्तर की वृद्धि को मद्देनजर रखे बचत मे वृद्धि कर देती हैं।

(c) ब्याज दर का प्रभाव (Changes in Interest rates) :—मुद्रा की दी हुई पूर्ति की स्थिति मे कीमतो व मौद्रिक आय मे वृद्धि से ब्याज दरो मे वृद्धि हो सकती है जिसके परिणामस्वरूप अवशोषण घट सकता है।

(d) आय पुनर्वितरण प्रभाव (Redistribution of Income) :—पूर्ण-रोजगार की स्थिति मे अवमूल्यन के परिणामस्वरूप कीमतो मे वृद्धि होती है। कीमतो की इस वृद्धि के परिणामस्वरूप लाभो मे विवर्ती (Shift) होगी। अतः निर्यात व आयात प्रतिस्थापन क्षेत्रो के उत्पादको के लाभो मे वृद्धि होगी। इस प्रकार ऊँची उपभोग प्रवृत्ति वाले समूह (मजदूर, सेवानिवृत्त लोग, अध्यापको व प्रशासनिक नौकरियो वाले लोगो) से नीची उपभोग प्रवृत्ति वाले समूह के पक्ष मे आय का पुनर्वितरण होने के परिणामस्वरूप अवशोषण घट सकता है।

लेकिन इस ओर ध्यान दिया जाना चाहिए कि अवशोषण मे से केवल उपभोग पर व्यय घटा है यह सम्भव है कि निर्यात व आयात प्रतिस्थापन क्षेत्र के उत्पादक अपने बढे हुए लाभो का विनियोग कर दें तो पुनः अवशोषण बढ जायेगा क्योंकि विनियोग भी अवशोषण का एक तत्त्व है। अतः ऐलेक्जेण्डर ने अवशोषण घटने के इस स्रोत को विशेष महत्त्व नहीं दिया था। इसी प्रकार एलेक्जेण्डर ने वास्तविक कोष प्रभावो व ब्याज दर प्रभावों को भी अधिक महत्त्व नहीं दिया था। लेकिन मौद्रिक अर्थशास्त्री इन प्रभावो को महत्त्वपूर्ण मानते हैं। अतः एलेक्जेण्डर के विश्लेषण मे मुद्राभ्रमजाल, वास्तविक कोष प्रभाव व आय पुनर्वितरण प्रभावो को समान व सीमित महत्त्व दिया गया है। लेकिन इनमे आय पुनर्वितरण प्रभाव महत्त्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त ऐलेक्जेण्डर ने साधनों के प्रभाव की ओर बिल्कुल ध्यान नहीं दिया जबकि मेक्लप व सोह्मेन इसे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अवशोषण विश्लेषण के द्वारा प्रथम तो हम भुगतान संतुलन को समग्र आय-व्यय के रूप मे देखते हैं तथा समष्टि सदर्भ में इसे

समझने व इससे सम्बन्धित नीति अपनाने की स्थिति मे हैं। द्वितीय, भुगतान सन्तुलन को नियंत्रित करने वाली नीतियो मे अर्थव्यवस्था मे कुल व्यय स्तर अथवा अवशोषण सर्वाधिक महत्वपूर्ण चर है। इस प्रकार भुगतान सन्तुलन की नीति को हम समस्त मांग नियत्रक विधियो-राजकोषीय, मौद्रिक तथा प्रत्यक्ष-से समष्टि स्तर पर जुड़ा हुआ पाते हैं। तृतीय, व्यय की जांच की प्रक्रिया मे हम भुगतान सतुलन के समायोजन मे मुद्रा की भूमिका को भी महत्वपूर्ण पाते है।

मौद्रिक विश्लेषण

(Monetary Approach)

अवमूल्यन का एक अन्य विश्लेषण मौद्रिक पोषो पर ध्यान केन्द्रित करता है अतः इसे मौद्रिक विश्लेषण कहते हैं।

मौद्रिक अर्थशास्त्रियो का विश्वास है कि व्यापार सन्तुलन का घाटा मुद्रा के अति निर्गमन का एव व्यापार सन्तुलन का अतिरेक मुद्रा की कमी का परिणाम है।

इस विश्लेषण के अनुसार वस्तुओ, सेवाओ एव प्रतिभूतियो की आधिक्य माँग जो कि भुगतान सतुलन मे घाटा उत्पन्न करती है—मुद्रा की अति पूर्ति का द्योतक है। अवमूल्यन मुद्रा की पूर्ति एवं अन्य वित्तीय परिसम्पत्तियो-जिनको कि घरेलू मुद्रा मे व्यक्त किया गया है—के मूल्य मे कमी के समकक्ष है यदि हम इन्हे विदेशी मुद्रा मे मापते हैं तो। अवमूल्यन के परिणामस्वरूप पूर्ति की गयी मुद्रा का वास्तविक मूल्य घट जायेगा क्योंकि प्रारम्भ मे तो व्यापार मे शामिल होने वाली उन वस्तुओ और सेवाओ की स्थानीय कीमतें बढेंगी जिनकी माँग मे वृद्धि हुई है तथा गौणरूप मे व्यापार मे शामिल न होने वाली उन वस्तुओ और सेवाओं की कीमतें बढेंगी जिनकी ओर माँग पलटी है अन लोग अपनी मुद्रा तथा अन्य वित्तीय परिसम्पत्तियो की जमा का वास्तविक मूल्य बनाये रखने हेतु अपना व्यय घटायेंगे तथा व्यय को यह कमी भुगतान सन्तुलन मे आवश्यक सुधार उत्पन्न करेगी। इस प्रकार मौद्रिक विश्लेषण अवमूल्यन को प्रमुखतया मौद्रिक प्रपच (Monetary Phenomenon) मानता है। अवमूल्यन के प्रभाव इसके परिणामस्वरूप मुद्रा शेषों के वास्तविक मूल्य मे परिवर्तन तथा इस परिवर्तन के व्यय पर पड़ने वाले प्रभावो से प्राप्त होते हैं।

अवमूल्यनकर्त्ता राष्ट्रो मे कीमतें बढती हैं तथा शेष विश्व मे घटती हैं; प्रत्येक परिवर्तन (प्रतिशत के रूप मे) मुद्रा के प्रतिशत अवमूल्यन से कम रहता है इसके परिणामस्वरूप अवमूल्यनकर्त्ता राष्ट्र मे मुद्रा शेषो का वास्तविक मूल्य घट जाता है

तथा शेष विश्व में इनका मूल्य बढता है और जब लोग अपने मौद्रिक शेषो एव अन्य वित्तीय परिसम्पत्तियों का वास्तविक मूल्य पुन: स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं तो व्यय मे कमी होती है एव इसके परिणामस्वरूप अवमूल्यनकर्त्ता राष्ट्र के भुगतान सन्तुलन में अतिरेक उत्पन्न होता है जबकि शेष विश्व म व्यय मे वृद्धि होती है एव भुगतान सतुलन मे घाटा उत्पन्न होता है। प्रारम्भ में भुगतान सतुलन मे घाटे वाले राष्ट्र के लिए उचित अवमूल्यन मुद्रा के वास्तविक मूल्य मे ठीक उचित कमी उत्पन्न करेगा एव भुगतान सतुलन म घाटा समाप्त हो जायेगा। आरक्षित निधियो की हानि की पूर्ति करने हेतु राष्ट्र को उचित से कुछ अधिक अवमूल्यन करना होगा। लेकिन लोगों द्वारा एक बार वाछित वित्तीय सग्रह पुन: प्राप्त कर लेने के बाद, व्यय मे पुन: वृद्धि होगी एव नया अतिरेक समाप्त हो जायेगा। इस दृष्टिकोण से साम्य बिन्दु से अधिक अवमूल्यन का केवल एक बार अस्थायी प्रभाव होता है।

इस विश्लेषण का प्रमुख आशय (implication) यह है कि मुद्रा के लिए उत्पन्न मांग को पूरी करने हेतु अवमूल्यन के तुरन्त बाद यदि मौद्रिक अधिकारी घरेलू साख का विस्तार करते हैं तो *अवमूल्यन का अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानो पर प्रभाव कम हो जायेगा।*

तीनों विश्लेषण एक दूसरे के पूरक

(The Three Approaches are Complementary)

अवमूल्यन के विभिन्न विश्लेषणो पर आरोप-प्रत्यारोप करने एव इनकी सत्यता में सन्देह व्यक्त करने की बजाय हम इन्हें एक दूसरे के पूरक के रूप मे समझने का प्रयास करना चाहिए। प्रो० मुण्डेल (Mundell) ने ठीक ही लिखा है कि "तीनो विश्लषणो (लोच, अवशोषण व मौद्रिक) *की सत्यता को चुनौती देना सार की बात नहीं है. ...* ...ये सभी विश्लेषण सही हैं एव एक जैसे तर्क वाक्यो (Proposition) पर जोर देते हैं।"[2]

अर्थशास्त्रियों के बीच इन तीनों विश्लेषणो को लेकर होने वाले झगडों के पीछे गहराई नहीं हैं। सभी इस बात को मानते हैं कि प्रणाली सामान्य साम्यवाली है *जिसम कीमत व्यय व मुद्रा के द्वारा व्यक्त किये गये विश्लेषण अन्तत एक हो जाने* चाहिए।

लोच विश्लेषण अर्थव्यवस्था के क्षेत्र विशेष पर ध्यान केन्द्रित करता है। लोच विश्लेषण की मान्यता है कि अवमूल्यन के परिणामस्वरूप सापेक्ष कीमतें परिवर्तित

2. Mundell, R.A.—International Economics (Newyork, The Macmillan Company, 1968), Chap. 10, pp. 150-51.

होती हैं तथा यह भी सत्य है कि सापेक्ष कीमतों में सामान्यतया कुछ श्रेणी का परिवर्तन अवमूल्यन के तुरन्त बाद होता है ।

विदेशी व्यापार क्षेत्र में नये विनियोग होने की लोच विश्लेषण की द्वितीय अवस्था प्राप्त होगी अथवा नहीं यह प्रमुखतया इस बात पर निर्भर करेगा कि असाम्य की अवधि में सम्भावित उत्पादन का ढांचा गम्भीर रूप से प्रभावित हुआ था अथवा नहीं ।

मार्शल-लर्नर शर्त में कई तार्किक असगतियाँ भी हैं। यह मान्यता कि स्वदेशी राष्ट्र के आयातो की पूर्ति एवं इसके निर्यातो की पूर्ति पूर्णतया लोचदार है, ऐसे औचित्यों पर आधारित है जिनका आशय यह है कि दोनो राष्ट्रो मे उत्पादन कारको की पूर्ति दूसरे दोनो उद्योगो मे भी पूर्णतया लोचदार है तथा इसका आशय यह है कि दोनो राष्ट्रो मे आयातो की माँग लोच भी अनन्त है।

इस प्रकार ये मान्यताएँ मार्शल-लर्नर शर्त के तार्किक रूप से ढह जाने (logical collapse) का कारण बन जाती हैं ।

लोच विश्लेषण की सबसे बड़ी सैद्धांतिक समस्या इसकी आशिक साम्य की प्रकृति है। यह विश्लेषण चलन मे परिवर्तन के मुद्रा बाजार पर प्रभावो की ओर ध्यान नही देता है और इसलिए अवशोषण को नजर अन्दाज करता है ।

इसके अतिरिक्त लोच विश्लेषण अपने सरलतम् रूप मे व्यापार मे शामिल नही होने वाली वस्तुओ के बाजार को भी ध्यान मे नही रखता है ।

अत स्पष्ट है कि लोच विश्लेषण का सर्वाधिक सन्देहास्पद पहलू आंशिक किस्म का सिद्धान्त प्रतिपादन करना है एव यह सामान्य साम्य के तथ्यो को ध्यान में नहीं रखता है ।

परम्परागत रूप से माँग व पूर्ति लोचो को परिभाषित करते समय अन्य बातों को समान मान लिया जाता है यानि कि अन्य वस्तुओ की कीमतें व आय स्थिर मानली जाती हैं जबकि अवमूल्यन के परिणामस्वरूप कीमत व आय अवश्य परिवर्तित होती हैं ।

.. अवमूल्यन का अवशोषण विश्लेषण समष्टि दृष्टिकोण से प्रतिपादित किया गया है । अवमूल्यन के तुरन्त बाद सभी घटक उपस्थित होते हैं जैसी कि लोच विश्लेषण की मान्यता है । प्रथम अवस्था में सापेक्ष कीमतें सामान्यतया परिवर्तित होती हैं, तथा इस परिवर्तन के परिणामस्वरूप उपभोग का ढांचा परिवर्तित होता है एव उचित

परिस्थितियों मे उत्पादन का ढाँचा भी परिवर्तित होता है जिसके परिणामस्वरूप विशुद्ध निर्यातों म आवश्यक वृद्धि प्रोत्साहित होती है। प्रारम्भिक आधिक्य क्षमता की स्थिति मे ये परिवर्तन अतिरिक्त आय उत्पन्न करते हैं जिसके परिणामस्वरूप व्यय मे वृद्धि होती है जो कि भुगतान सन्तुलन के सुधार मे कमी कर देता है इसके (आधिक्य क्षमता के) अभाव मे घरेलू वस्तुओं की माँग मे वृद्धि के परिणामस्वरूप उनकी कीमतों मे वृद्धि होगी। लेकिन जब तक मौद्रिक अधिकारी घरेलू साख म विस्तार नही करते हैं *अवमूल्यन द्वारा उत्पन्न कीमतों के परिवर्तन को समाप्त करन के लिए कीमतों मे पर्याप्त वृद्धि नही होगी तथा व्यापार सन्तुलन में कुछ सुधार अवश्य बना रहेगा।*

इस प्रकार हम देखते हैं कि अवशोषण विश्लेषण अवमूल्यन के बाह्य व आन्तरिक प्रभावों के बीच के सम्बन्ध पर प्रकाश डालता है एव भुगतान सन्तुलन तथा घरेलु स्थितियों के मध्य सम्बन्ध पर ध्यान केन्द्रित करता है और इस प्रकार लोच विश्लेषण पर अतिरिक्त प्रकाश डालता है।

अन्त म मौद्रिक विश्लेषण म विश्वास रखने वाले अर्थशास्त्री यह दृष्टिकोण अपनाते हैं कि व्यापार सन्तुलन मे घाटा मुद्रा की अति-पूर्ति व अतिरेक मुद्रा की कमी का परिणाम है।

लोच व अवशोषण विश्लेषण मौद्रिक विश्लेषण से मेल खाते हैं। पूर्व विद्यमान असाम्य न केवल मुद्रा की अति पूर्ति का द्योतक है अपितु व्यापार म शामिल होन वाली व नहीं होने वाली वस्तुओं के सापेक्ष मूल्य के बीच गलत सरेखण (misalignment) का भी द्योतक हैं। चूँकि विश्व बाजारों से स्थिर विनिमय दर कड़ी (link) मुद्रा के उन अतिसयों को *आयातों के लिए माँग मे वृद्धि की ओर पलटती है न कि विदेशी बाजार क्षत्र की ऊँची कीमतों की ओर। उचित अवमूल्यन मात्र इस सापेक्ष कीमतों के असाम्य वाले कुलक को सही करता है तथा साथ ही मुद्रा* सचया के वास्तविक मूल्यों को कम करता है और इस प्रकार से व्यय को भी घटात है। अत अवमूल्यन का स्थायी प्रभाव होता है।

वास्तव म अवशोषण विश्लेषण व मौद्रिक विश्लेषण एक दूसरे से अधिक भिन्न नहीं है जैसा कि प्रो० मेगी[3] न इगित किया है, 'अवशोषण विश्लेषण अल्पकालीन स्टॉक असाम्य के प्रवाह पहलू पर जोर देता है जबकि मौद्रिक विश्लेषण स्वय दीर्घकालीन स्टाक साम्य पर जोर देता है।' डार्नबुश[4] (Dornbusch) एव अन्य अर्थ-

3 Magee, S.P -Prices Incomes and Foreign Trade (in Kenen, P B (edt)-International Trade & Finance) p 23
4 Ibid p 229

शास्त्रियों ने अवशोषण व मौद्रिक विश्लेषणों को एक साथ मिलाया है। वास्तव में अवशोषण व मौद्रिक विश्लेषण सैद्धान्तिक धरातल पर एक दूसरे से स्वतंत्र नहीं हैं लेकिन प्रत्येक विश्लेषण के प्रतिपादक समस्या के भिन्न पहलुओं पर जोर देते हैं। अवशोषण विश्लेषणकर्त्ता अवमूल्यन के प्रवाह पहलू से अधिक सम्बद्ध हैं (ऐसे विभिन्न तरीकों से जिनके द्वारा व्यय में वृद्धि आय में वृद्धि से कम बनी रहती है) जबकि मौद्रिक विश्लेषणकर्ता अपने विश्लेषण को स्टॉक पहलुओं पर आधारित करते हैं, (पोर्टफोलियो सन्तुलन आदि पर)।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अवमूल्यन के तीनों विश्लेषण एक दूसरे के पूरक हैं तथा अवमूल्यन को समझने के भिन्न तरीकों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

प्रथम (लोच) विश्लेषण आंशिक साम्य विश्लेषण से प्रारम्भ होता है (सापेक्ष मूल्य प्रभाव) तथा कीमत व आय परिवर्तनों द्वारा पूरा होता है। अवशोषण विश्लेषण इस तथ्य पर जोर देता है कि उचित (यानि कि पर्याप्त ऊँची) लोचों की स्थिति में तथा आय व कीमत प्रभावों को ध्यान में रखते हुए अवमूल्यन द्वारा व्यापार सन्तुलन में सुधार लाने के लिए यह आवश्यक है कि आय के सापेक्ष के रूप में समग्र व्यय में कमी हो। मौद्रिक विश्लेषण उस प्रक्रिया को सामने लाता है जिसके द्वारा अवमूल्यन आय के सापेक्ष के रूप में व्यय में कमी को प्रेरित करता है।

अत: हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पूर्ण रूप से विस्तृत करने पर लोच, अवशोषण व मौद्रिक विश्लेषण एक दूसरे में समा जाते हैं। यद्यपि समस्या विशेष के लिए इन तीनों में से विश्लेषण विशेष अधिक उपयुक्त हो सकता है।

परिशिष्ट—E

(Appendix—E)

अवमूल्यन की मार्शल-लर्नर शर्त की व्युत्पत्ति

अवमूल्यन की मार्शल-लर्नर शर्त की व्युत्पत्ति निम्न प्रकार से की जा सकती है ;

यदि विदेशी मुद्रा के रूप में व्यापार सतुलन को व्यक्त करें तो हम व्यापार सतुलन को निम्न रूप में लिख सकते हैं :

$$Bf = \left(\frac{px}{r}\right) MB - pm^{*} MA \qquad (1)$$

यहाँ

Bf = विदेशी मुद्रा के रूप में A राष्ट्र का व्यापार सतुलन

MB = B राष्ट्र के आयात जो कि A राष्ट्र के निर्यात (XA) हैं

MA = A राष्ट्र के आयात

px = A राष्ट्र के निर्यातों की A राष्ट्र की मुद्रा में कीमत

pm^{*} = A राष्ट्र के आयातों की B राष्ट्र की मुद्रा में कीमत $\left(pm^{*} = \frac{pm}{r}\right)$

r = विनिमय दर अर्थात् B राष्ट्र की मुद्रा की एक इकाई के बदले A राष्ट्र की मुद्रा की विनिमय होने वाली इकाईयाँ

स्पष्ट है कि $\left(\frac{px}{r}\right)MB$ अथवा $\left(\frac{px}{r}\right)XA$, B राष्ट्र की मुद्रा में A राष्ट्र के निर्यातों का कुल मूल्य है तथा pm^{*} MA, A राष्ट्र के आयातों का B राष्ट्र की मुद्रा में कुल मूल्य है।

A राष्ट्र के व्यापार सतुलन पर अवमूल्यन का प्रभाव ज्ञात करने हेतु हमें $\frac{dBf}{dr}$ का मूल्य प्राप्त करना है। अर्थात् हम यह ज्ञात करना चाहते हैं कि r में वृद्धि (A

1 विस्तृत विश्लेषण हेतु देखिए—Kindleberger, C P —Op Cit Appendix —G

राष्ट्र की मुद्रा का ग्रवमूल्यन) का Bf पर क्या प्रभाव पडेगा । यदि $\frac{dBf}{dr} > 0$ तो A राष्ट्र की मुद्रा के ग्रवमूल्यन से इस राष्ट्र का व्यापार संतुलन सुधरेगा और यदि $\frac{dBf}{dr} < 0$ है तो राष्ट्र का व्यापार संतुलन घाटे मे जायेगा तथा $\frac{dBf}{dr} = 0$ है तो ग्रवमूल्यन का व्यापार सतुलन पर कोई प्रभाव नही पडेगा । हम समीकरण (1) को इस प्रकार से लिख सकते हैं

$$dBf = \frac{px}{r} MB \left(\frac{px}{r}\right) - pm^* MA (pm^* r) \qquad (2)$$

चूँकि MB, $\frac{px}{r}$ का फलन है तथा MA, pm का फलन है ग्रत हमने MB को फलनात्मक सम्बन्ध स्पष्ट करने हेतु MB $\left(\frac{px}{r}\right)$ लिखा है तथा MA को MA pm (ध्यान रहे कि $pm^* = \frac{pm}{r}$ ग्रर्थात् $pm = pm^* r$ ग्रत हमने pm के स्थान पर $pm^* r$ लिखा है । ग्रब Bf का r के सन्दर्भ म ग्रवकलन करने पर

$$\frac{dBf}{dr} = -\frac{px}{r^2} MB \left(\frac{px}{r}\right) + \frac{px}{r} \frac{dMB\left(\frac{px}{r}\right)}{d\left(\frac{px}{r}\right)} \frac{d\left(\frac{px}{r}\right)}{dr}$$

$$- \left[0 + pm^* \frac{dMA\ (pm^* r)}{d\ (pm^* r)} \frac{d\ (pm^* r)}{dr}\right] \qquad (3)^{**}$$

ग्रब हम फलनात्मक सम्बन्धो (Functional Relations) को व्यक्त करने वाली ग्रभिव्यक्तियो को हटाकर लिख सकते हैं कि

** ग्रवकलन की विधि के लिए पृष्ट 315 पर नोट देखें ।

$$\frac{dBf}{dr} = -\frac{px}{r^2}MB - \frac{px}{r^2}M'B \frac{px}{r} - pm^* M'A\, pm^*$$

(यहां हमने $\frac{dMA}{dpm}$ को M'A तथा $\frac{dMB}{d\left(\frac{px}{r}\right)}$ को M'B लिखा है)

$$= -\frac{px}{r^2} MB - \frac{px}{r} MB \frac{px}{r^2} - pm^* M'A\, pm^*$$

$$= \frac{px}{r^2} MB \left[-1 - \frac{M'B}{MB} \cdot \frac{px}{r} - \frac{pm^* M'A\, pm^*}{\frac{px}{r^2} MB} \right]$$

$$= \frac{px}{r^2} MB \left[-1 - \frac{M'B}{MB} \frac{px}{r} - \frac{MA}{MA} \frac{pm}{r} M'A \frac{pm}{r} \cdot \frac{r^2}{pxMB} \right]$$

अब px MB को Vx तथा pm MA को Vm लिखने पर

$$\frac{dBf}{dr} = \frac{Vx}{r^2} \left[-1 - eMB - \frac{Vm}{Vx} eMA \right] \qquad (4)$$

चूंकि $eMB = \frac{dBM}{d\left(\frac{px}{r}\right)} \frac{px/r}{MB} = M'B \frac{px}{rMB}$ (= B राष्ट्र के आयातों की मांग लोच)

तथा $eMA = \frac{dMA}{dpm} \frac{pm}{MA} = M'A \frac{pm}{MA}$ (= A राष्ट्र के आयातों की मांग लोच)

अवमूल्यन अर्थात् r मे वृद्धि के कारण व्यापार सतुलन मे सुधार तभी होगा जब $\frac{dBf}{dr} > 0$ हो, ऐसा तभी सम्भव है जब समीकरण (4) मे दायीं ओर के कोष्टक के

अन्दर की अभिव्यक्ति धनात्मक हो। दूसरे शब्दो मे हम कह सकते हैं कि अवमूल्यन द्वारा व्यापार सतुलन तभी सुधरेगा जब

$$-1 - eMB - \frac{Vm}{Vx} eMA > 0$$

अथवा $$- eMB - \frac{Vm}{Vx} eMA > 1 \qquad (5)$$

यदि B राष्ट्र के आयातो की माँग लोचदार है (eMB <—1 है) तो अवमूल्यन

** यहाँ हमने Bf का r के सन्दर्भ मे अवकलन (differentiation) किया है। पहले MB $\left(\frac{Px}{r}\right)$ को स्थिर रखकर pr का r के सन्दर्भ मे अवकलन इस प्रकार किया

$$\frac{d}{dx}\left(\frac{px}{r}\right) = \frac{d}{dr}(px\, r^{-1}) = -px.r^{2} = -\frac{px}{r^{2}}$$

तत्पश्चात् $\frac{px}{r}$ को स्थिर रखकर MB $\left(\frac{px}{r}\right)$ का r के सदर्भ मे अवकलन किया है। ऋणात्मक चिन्ह के दायी ओर के भाग का अवकलन करने हेतु पहले MA (pm* r) को स्थिर रखकर pm* का r के प्रति अवकलन किया है लेकिन हमारी पूर्ति लोचें अनन्त की मान्यता के कारण pm* (अर्थात् हमारे आयातो का विदेशी मुद्रा के रूप मे मूल्य) स्थिर (constant) रहेगा अत: pm* का r के प्रति अवकलन शून्य होने के कारण कोष्टाक के अन्दर का प्रथम तत्त्व शून्य हो जाता है। तत्पश्चात् हमने pm* को स्थिर रखकर MA (pm* r) का r के प्रति अवकलन किया है। (यहाँ हमने अवकलन का प्रोडेक्ट तथा फलन के फलन का नियम प्रयुक्त किया है जो इस प्रकार है :

$$\frac{d}{dx}(u.v) = V\frac{du}{dx} + u\frac{dv}{dx} \text{ तथा } \frac{d\,f(u)}{dx} = f'(u)\,u'.$$

के परिणामस्वरूप अवमूल्यनकर्त्ता राष्ट्र A का व्यापार सतुलन सदैव ही सुधरेगा जैसा कि असमानता (5) से स्पष्ट है। लेकिन यदि B राष्ट्र के आयातो की मांग बेलोचदार है तो परिणाम कुछ भी हो सकता है। इस स्थिति मे अवमूल्यन का व्यापार सतुलन पर प्रभाव प्रारम्भिक व्यापार सन्तुलन की स्थिति तथा A राष्ट्र की आयातों की मांग लोच पर निर्भर करेगा। जितना अधिक $\frac{Vm}{Vx}$ अनुपात होगा तथा जितनी A राष्ट्र के आयातो की मांग अधिक लोचदार होगी उतनी ही अधिक व्यापार सतुलन मे सुधार की सम्भावना होगी।

सामान्यतया कोई भी राष्ट्र अवमूल्यन उसी स्थिति मे करता है जब उसका व्यापार सतुलन घाटे मे हो अर्थात् $\frac{Vm}{Vx} > 1$ हो। अत अवमूल्यन की सफलता के लिए *सर्वाधिक खराब स्थिति वह हो सकती है जब* $Vm = Vx$ *हो। इस स्थिति मे* असमानता (5) निम्न प्रकार से व्यक्त की जा सकती है।

$$-eMA - eMB > 1 \qquad (6)$$

असमानता (6) को मार्शल-लर्नर शर्त के नाम से जाना जाता है। इस शर्त को हम इस प्रकार भी लिख सकते हैं :

$$|\ eMA\ | + |\ eMB\ | > 1$$

यदि हम व्यापार सतुलन मे प्रारम्भिक घाटे की मान्यता मानलें तो मार्शल-लर्नर शर्त आवश्यक न रहकर पर्याप्त शत बन जाती है क्योंकि

$$-eMB - \frac{Vm}{Vx}\, eMA \geq -eMA - eMB$$

समानता का चिन्ह उस समय प्रयुक्त होगा जबकि $eMA = 0$ हो।

अत. जब $-eMA - eMB > 1$ होगी तो $-eMB - \frac{Vm}{Vx}\, eMA > 1$ अवश्य होगा। अत मार्शल-लर्नर शर्तें पूरी न होने के बावजूद भी अवमूल्यन से व्यापार सन्तुलन मे सुधार सम्भव है अर्थात् यदि व्यापार सतुलन मे घाटा है $\frac{Vm}{Vx} > 1$ है

तो दोनों मांग लोचों का निरपेक्ष योग इकाई से कम होने पर भी अवमूल्यन से व्यापार सतुलन मे सुधार सम्भव है। मान लीजिए $\frac{Vm}{Vx} = 1.2$ है

eMB = 0 6 तथा eMA = 0.38 है तो

$$- eMB - \frac{Vm}{Vx} eMA > 1$$

अथवा

$(0 6) + (1 2 x 0 38) > 1$
$0 6 + 4 56 > 1$

अत व्यापार सतुलन मे सुधार की शर्त पूरी हो रही है यद्यपि मार्शल-लर्नर शर्त पूरी नहीं हो रही है क्योकि

$|eMA| + |eMB| < 1$ है।

उत्पाद के बराबर मान लेते हैं) के ठीक बराबर होगा। अत स्पष्ट है कि वस्तु विशेष *के उत्पादन की प्रक्रिया में उस वस्तु के उत्पादन के बराबर उत्पादक साधनों को* भुगतानों के रूप मे आय सृजित होती है तथा जो एक वस्तु के सन्दर्भ मे सही है वही समस्त वस्तुओं के उत्पादन के सन्दर्भ में भी सही है।

अत हम कह सकते हैं कि राष्ट्रीय उत्पादन उत्पादन प्रक्रिया मे राष्ट्र के *समस्त उत्पादक साधनों द्वारा अर्जित आय के ठीक बराबर होता है।*

उत्पादन प्रक्रिया मे अर्जित आय का एक भाग तो उपभोग पर व्यय (C) कर दिया जाता है तथा आय का शेष भाग जो उपभोग पर व्यय नही किया जाता है बचत (S) कहलाता है। अत परिभाषा के अनुसार

$$Y = C + S \quad \text{.......................} \quad (2)$$

अब मान लीजिए कि उत्पादन (y) मे से उपभोग माँग उपभोग वस्तुओं के उत्पादन (C) के ठीक बराबर है तो कुल उत्पादन के विक्रय हेतु यह आवश्यक है कि विनियोग वस्तुओं की माँग उत्पादन के उपभोग से आधिक्य ($Y - C = S$) अर्थात् बचत के ठीक बराबर हो अर्थात् समग्र माँग (Aggregate demand) व समग्र पूर्ति *(Aggregate supply) मे साम्य प्राप्त करने हेतु नियोजित बचत (Planned saving)* का नियोजित विनियोग (Planned Investment) के बराबर होना आवश्यक है। अत हमे राष्ट्रीय आय मे साम्य की निम्न सुप्रसिद्ध शर्त प्राप्त होती हैं .

$$S = I \quad \text{.......................} \quad (3)$$

समीकरण (1) व (2) को मिलाने पर

$$Y = C + I = C + S$$

यदि उपभोग माँग उपभोग वस्तुओं के उत्पादन के बराबर है अर्थात् $C = C$ तो साम्य हेतु $S = I$)

शर्त (3) का अभिप्राय यह है कि यदि उत्पादक ठीक उतने ही विनियोग की योजना बनाते हैं जितनी कि उपभोक्ताओं की बचत करने की योजना है तो राष्ट्रीय आय मे साम्य होगा। राष्ट्रीय आय मे साम्य से अभिप्राय मात्र यह है कि साम्य बिन्दु पर ऐसी शक्तियाँ कार्यरत नही होंगी जिससे कि राष्ट्रीय आय मे साम्य बिन्दु से चलन की प्रवृत्ति हो। समग्र नियोजित उत्पादन समग्र नियोजित माँग के बराबर होगा तथा *उत्पादक व उपभोक्ता अपने नियोजित उद्देश्यों का क्रियान्वयन कर सकेंगे।*

शर्त (3) का आशय यह है कि यद्यपि बचत व विनियोग की योजनाएँ विनियोगकर्त्ताओ व बचतकर्त्ताओ के दो भिन्न समूहो द्वारा स्वतंत्र रूप से बनाई जाती हैं लेकिन उत्पादन व आय के चक्रीय प्रवाह (circular flow) के निर्बाध रूप से चलते रहने हेतु नियोजित बचत व नियोजित विनियोग मे तालमेल होना आवश्यक है।

ध्यान रहे शर्त (3) मे नियोजित बचत व नियोजित विनियोग की समानता व्यक्त की गई है, वास्तविक बचत (realised or actual savings) तथा वास्तविक विनियोग (realised or actual investment) की नही क्योकि समग्र माँग व समग्र पूर्ति बराबर है अथवा नही वास्तविक बचत व वास्तविक विनियोग तो सदैव ही बराबर होते हैं। इस महत्त्वपूर्ण बिन्दु को चित्र 14.1 मे स्पष्ट किया गया है। चित्र 14 1 मे उत्पादन अथवा वास्तविक आय को क्षैतिज अक्ष पर मापा गया है तथा समग्र माँग व समग्र पूर्ति को लम्बवत् अक्ष पर मापा गया है। समग्र माँग व समग्र पूर्ति की समानता को मूल बिन्दु से खीचो गयी 45° की रेखा द्वारा प्रदर्शित किया गया है। चूँकि 45° की रेखा पर स्थित प्रत्येक बिन्दु पर समग्र माँग समग्र पूर्ति के बराबर है अत इस रेखा पर स्थित प्रत्येक बिन्दु राष्ट्रीय आय मे साम्य दर्शायेगा।

45° रेखा की यह विशेषता होती है कि इसके प्रत्येक बिन्दु पर क्षैतिज अक्ष व लम्बवत् अक्ष पर डाले गये लम्बो की मूल बिन्दु से दूरी बराबर होती है। उदाहरणार्थ चित्र 14 1 मे E बिन्दु पर O-ye = E-ye तथा A बिन्दु पर O-y = yA आदि। चूँकि चित्र 14 1, मे हम क्षैतिज अक्ष पर कुल उत्पादन माप रहे हैं तथा लम्बवत् अक्ष पर समग्र माँग। अत 45° रेखा के प्रत्येक बिन्दु पर कुल उत्पादन के बराबर समग्र माँग होगी और इस रेखा का प्रत्येक बिन्दु साम्य आय दर्शायेगा।

समग्र माँग के दो हिस्से हैं उपभोग माँग व विनियोग माँग। चित्र 14 1 मे C रेखा उपभोग माँग दर्शाती है। C रेखा का ढाल धनात्मक है अर्थात् आय बढने के साथ-साथ उपभोग व्यय मे भी वृद्धि होती है, इस रेखा को 'उपभोग फलन' (consumption function) के नाम से जाना जाता है। C रेखा का ढाल

$\left(\frac{\Delta C}{\Delta y}\right)$ 'सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति' (Marginal propensity to consume)

कहलाता है। सरल रेखा वाले उपभोग फलन का ढाल स्थिर होने के कारण यह

'औसत उपभोग प्रवृत्ति' (Average Propensity to Consume) $\frac{C}{y}$ का भी प्रतिनिधित्व करता है। उपभोग फलन में विनियोग की स्थिर मात्रा जोड़कर C+I रेखा प्राप्त की गयी है। C तथा C+I रेखा के बीच की लम्बवत् दूरी (Vertical distance) स्थिर है, क्योंकि हमारी मान्यताओं के अन्तर्गत आय के प्रत्येक स्तर पर विनियोग यथास्थिर रहेगा जैसाकि चित्र 14.1 के नीचे के भाग में दर्शाया गया है। समग्र पूर्ति (45° रेखा) व उपभोग फलन के मध्य की लम्बवत् दूरी को हमने चित्र 14.1 के निचले भाग में बचत फलन S(y) रेखा द्वारा दर्शाया है। उदाहरणार्थ, उपर के चित्र में राष्ट्रीय आय के ye' स्तर पर उपभोग फलन 45° रेखा को काटता है अर्थात् O-ye' आय पर कुल आय व उपभोग बराबर है तथा बचत शून्य है। अतः चित्र के निचले भाग में O-ye' आय पर बचत फलन क्षैतिज अक्ष को काटता है अर्थात् आय के इस स्तर पर बचत शून्य है। आय के O-ye' से कम होने पर चित्र 14.1 के उपरी भाग में उपभोग फलन 45° रेखा से ऊपर है अर्थात् उपभोग आय से अधिक है। अतः चित्र के निचले भाग में O-ye' से कम आय पर बचत ऋणात्मक है (अर्थात् आय से अधिक उपभोग व्यय करने हेतु उधार लेना पड़ रहा है)। इसी प्रकार O-ye' से अधिक आय पर चित्र 14.1 उपरी भाग में 45° रेखा उपभोग फलन (C) से ऊपर है अर्थात् उपभोग आय से कम है अतः चित्र के निचले भाग में O-ye' से अधिक आय के स्तर पर बचत भी धनात्मक है। बचत फलन का धनात्मक ढाल यह दर्शाता है कि आय में वृद्धि के साथ-साथ बचत भी बढ़ती है। बचत फलन का ढाल $\left(\frac{\Delta S}{\Delta y}\right)$ 'सीमान्त बचत प्रवृत्ति' (Marginal propensity to save) कहलता है। यहाँ भी सरल रेखीय बचत फलन का ढाल स्थिर होने के कारण यह 'औसत बचत प्रवृत्ति' (Average propensity to save) $\frac{S}{y}$ का भी प्रतिनिधत्व करता है।

चित्र 14.1 में हम दो विधियों से राष्ट्रीय आय के साम्य को व्यक्त कर सकते हैं या तो हम यह कह सकते हैं कि राष्ट्रीय आय में साम्य उस बिन्दु पर होगा जहाँ समग्र माँग पूर्ति के बराबर है अर्थात् चित्र 14.1 के ऊपरी हिस्से में उस बिन्दु पर साम्य निर्धारित होगा जहाँ समग्र माँग वक्र (C+I) 45° रेखा को काटे। चित्र में
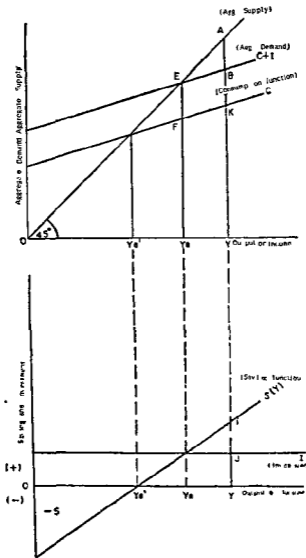
चित्र 14.1 : राष्ट्रीय आय निर्धारण

साम्य आय का स्तर O-ye है क्योंकि O-ye आय के स्तर पर समग्र मांग E-ye समग्र पूर्ति E-y e (अथवा कुल उत्पादन O-ye) के बराबर है।

वैकल्पिक रूप से हम यह कह सकते हैं कि साम्य आय बिन्दु वह होगा जहाँ बचत व विनियोग बराबर (S=I) हैं। चित्र 14 1 के नीचे के चित्र में O-ye आय के स्तर पर बचत फलन (S) विनियोग रेखा (I) को काटता है। अत O-ye साम्य आय का स्तर है। चित्र 14 1 के ऊपर के भाग से भी बचत व विनियोग की समानता स्पष्ट है यहाँ O-ye आय के स्तर पर नियोजित बचत (y·C) E-ye—F-ye है जो कि नियोजित विनियोग F-E के ठीक बराबर है। अत O-ye साम्य आय का स्तर है।

यदि आय O-ye से अधिक है तो समग्र मांग समग्र पूर्ति से कम होगी अथवा हम यह कह सकते हैं कि बचत विनियोग से अधिक होगी अत राष्ट्रीय आय को घटाने वाली शक्तियाँ कार्यरत हो जायेंगी एव आय का स्तर पुन O-ye निर्धारित हो जायेगा। उदाहरणार्थ, आय के O y स्तर पर समग्र मांग y-B, समग्र पूर्ति y-A से A-B मात्रा के बराबर कम है। इसी प्रकार O-y आय के स्तर पर नियोजित विनियोग B-K नियोजित बचत A K से A-B मात्रा के बराबर कम है। चित्र 14 1 के नीचे के भाग मे भी O-y आय के स्तर पर बचत का विनियोग से आधिक्य J-J ऊपर के चित्र की A-B दूरी के ठीक बराबर है।

लेकिन आय के O-y स्तर पर भी वास्तविक विनियोग व वास्तविक बचत तो एक दूसरे के बराबर ही हैं क्योंकि वास्तविक बचत सदैव ही वास्तविक विनियोग के बराबर होती है। चित्र 14 1 मे वास्तविक बचत A-K वास्तविक विनियोग A-Kके ठीक बराबर है जो कि दो हिस्सो मे बाँटा गया है एक हिस्सा (B-K) तो नियोजित विनियोग है तथा दूसरा हिस्सा (A-B) अनियोजित विनियोग है। अनियोजित-विनियोग A-B समग्र पूर्ति y-A के समग्र मांग y-B से आधिक्य (AB) के बराबर है जिसे वस्तु सूची (inventories) मे वृद्धि के रूप मे देखा जाना चाहिए। अत. स्पष्ट है कि वास्तविक विनियोग व वास्तविक बचत सदैव ही बराबर होते हैं।

इसी प्रकार यदि आय का स्तर O-ye मे कम है तो समग्र मांग समग्र पूर्ति से अधिक होगी अथवा हम यह कह सकते हैं कि नियोजित विनियोग नियोजित बचत से अधिक होगा अत समग्र मांग अधिक होने के कारण आय मे वृद्धि करने वाली शक्तियाँ कार्यरत हो जायेंगी तथा आय पुन बढ़कर O-ye हो जायेगी।

निर्विदेश व्यापार अर्थव्यवस्था में गुणक

(Multiplier in a closed economy)

मान लीजिए कि चित्र 14 1 मे विनियोग का स्तर बढ जाता है तो नया विनियोग का स्तर चित्र 14 2 मे दर्शायेनुसार होगा।
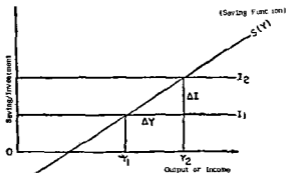
चित्र 14.2 : विनियोग मे वृद्धि का साम्य राष्ट्रीय आय पर प्रभाव

चित्र 14.2 मे विनियोग मे I_1 से I_2 की वृद्धि के परिणामस्वरूप राष्ट्रीय आय का साम्य बिन्दु $O\text{-}y_1$ से परिवर्तित होकर $O\text{-}y_2$ हो जायेगा। स्पष्ट हो है कि विनियोग मे ΔI की वृद्धि के परिणामस्वरूप आय की वृद्धि (Δy) बचत फलन के ढाल अथवा सीमात बचत प्रवृत्ति (MPS) पर निर्भर करती है। चित्र से स्पष्ट है कि बचत फलन का ढाल $\Delta I/\Delta y$ है जिसे 'सीमात बचत प्रवृत्ति' (MPS) के नाम से जाना जाता है अत:

$$\frac{\Delta I}{\Delta y} = MPS$$

$$\text{Or } \Delta y = \Delta I \frac{1}{1\text{-}MPS}$$

चूंकि MPS व MPC का योग सदैव 1 होता है अर्थात् MPS + MPC = 1 अथवा MPS = 1—MPC, इसलिए

$$\Delta y = \Delta I \frac{1}{1 - MPC}$$

चूँकि MPS भिन्न (fraction) है अत Δy अर्थात् आय म होने वाली वृद्धि ΔI विनियोग की वृद्धि से कई गुणा अधिक होगी। आय में परिवर्तन (Δy) व विनियोग में परिवर्तन (ΔI) का आपसी अनुपात $\frac{\Delta y}{\Delta I}$ ही निर्दिदेश व्यापार अर्थ-व्यवस्था का गुणक है जिसे सामान्यतया K द्वारा इंगित किया जाता है

$$K = \frac{1}{MPS} \text{ अथवा } K = \frac{1}{(1-MPC)} \quad (4)$$

इस गुणक की व्युत्पत्ति हम निम्न प्रकार से भी कर सकते हैं, चूँकि साम्यावस्था में $I = s$ अत

$$\Delta I = \Delta S$$

दोनों पक्षो का Δy म भाग देन पर

$$\frac{\Delta I}{\Delta I} = \frac{\Delta}{\Delta S} \text{ अथवा } \frac{\Delta y}{\Delta I} = \frac{1}{MPS}$$

विनियोग मे वृद्धि के परिणामस्वरूप आय म होने वाली वृद्धि विनियोग की वृद्धि को 'गुणक' से गुणा करने के बराबर होती है अर्थात्

$$\Delta y = \Delta I \cdot \frac{1}{MPS}$$

मान लीजिये कि विनियोग में 100 करोड रु की वृद्धि हुई है तथा 'सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति '(MPC) 0 8 है अर्थात् सीमान्त बचत प्रवृत्ति 0 2 है तो गुणक

$\left(K = \frac{1}{MPs} \text{ अर्थात् } \frac{1}{0.2} = 5\right)$ होगा जिसका अभिप्राय यह है कि विनियोग में 100 करोड रु की वृद्धि से राष्ट्रीय आय में

$$\Delta y = \Delta I \frac{1}{MPS}$$

$$= 100 \times \frac{1}{0.2} = 100 \times 5 = 500 \text{ करोड रु}$$

500 करोड रु. की वृद्धि होगी।

व्यापाररत अर्थव्यवस्था में साम्य आय निर्धारण

(Income Determination in an Open economy)

अब हम व्यापाररत अर्थव्यवस्था मे साम्य राष्ट्रीय आय निर्धारण की प्रक्रिया स्पष्ट करेंगे। इस प्रक्रिया को स्पष्ट करने हेतु सर्व प्रथम 'आयात फलन' (Import function) की अवधारणा को स्पष्ट करना आवश्यक है।

राष्ट्रीय आय व आयातो के आपसी सम्बन्ध को कई प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है। इनमे से 'औसत आयात प्रवृत्ति' (Average propensity to import) $\frac{M}{y}$ व 'सीमान्त आयात प्रवृत्ति' (Marginal propensity to import) $\frac{\Delta M}{\Delta y}$ सर्वाधिक प्रचलित अवधारणाएँ हैं।

राष्ट्रीय आय व आयातो के आपसी सम्बन्ध को 'आयात फलन' (import function) के नाम से जाना जाता है। चित्र 14 3 मे एक काल्पनिक आयात फलन
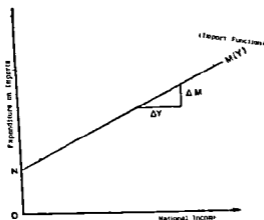
चित्र 14 3 : आयात फलन

M (y) रेखा द्वारा दर्शाया गया है। M(y) रेखा का धनात्मक ढाल यह दर्शाता है कि राष्ट्रीय आय मे वृद्धि के साथ-साथ आयातो पर व्यय मे भी वृद्धि होगी। ध्यान रहे कि जब राष्ट्रीय आय शून्य है तब आयातो पर व्यय ON है क्योंकि राष्ट्रीय आय शून्य होने पर हमे उपभोग के लिये आयातो पर ही निर्भर रहना पडेगा। आयात फलन का ढाल $\frac{\Delta M}{\Delta y}$ 'सीमान्त आयात प्रवृत्ति' है चूँकि चित्र 14.3 मे सरल रेखा वाला आयात फलन है अत यह 'औसत आयात प्रवृत्ति' $\frac{M}{y}$ का भी प्रतिनिधित्व करता है।

सीमान्त आयात प्रवृत्ति (MPM) तथा औसत आयात प्रवृत्ति (APM) के आपसी अनुपात को 'आयातो की आय लोच' Income Elasticity of Imports) के नाम से जाना जाता है आयातो की आय लोच (el) को हम निम्न सूत्र द्वारा व्यक्त कर सकते है

$$el = \frac{\text{आयातो मे सापेक्ष परिवर्तन}}{\text{आय मे सापेक्ष परिवर्तन}}$$

$$= \frac{\frac{\Delta M}{M}}{\frac{\Delta Y}{Y}} = \frac{\Delta M}{\Delta Y} \times \frac{Y}{M} = \frac{\Delta M}{\Delta Y} \Big/ \frac{M}{Y} = \frac{MPM}{APM}$$

उदाहरणार्थ, यदि आय मे 10% वृद्धि से आयातो मे 15% वृद्धि होती है तो 'आयातो की आय लोच' अपेक्षाकृत अधिक अर्थात् 1 5 है। इसके विपरीत यदि आय मे 10% वृद्धि से आयातो मे 5% की ही वृद्धि होती है तो आयातो की आय लोच 0 5 ही होगी। इसी प्रकार यदि आय मे 10% वृद्धि से आयातो मे भी 10% की वृद्धि होती है तो आयातो की आय लोच इकाई होगी।

सामान्यतया प्राकृतिक साधनो से सम्पन्न बडे राष्ट्रो की APM व MPM छोटे राष्ट्रो की APM व MPM से कम होती है। उदाहरणार्थ, अमेरिका की APM तथा MPM क्रमश. 0 8 व 0.13 है जबकि स्विटजरलैंड की APM = 8 26 तथा MPM = 0 47 है। इसी प्रकार राष्ट्र विशेष की स्थितिमे भी APM व MPM भिन्न पायी जाती है। उदाहरणार्थ, ऐसे राष्ट्र जो पिछडे हुए है तथा अपनी आवश्यकताओ की अधिकाश वस्तुएँ स्वय उत्पादित करते है उनकी APM से MpM अधिक होगी। दूसरी

और ऐसे राष्ट्र जिनका जीवन स्तर ऊँचा है लेकिन अन्य राष्ट्रो से व्यापार भी काफी है उनको APM से MPM कम होगी।

घरेलू विनियोग की भाँति निर्यात भी राष्ट्रीय आय के प्रत्येक स्तर पर स्थिर माने जा सकते है। क्योकि राष्ट्र विशेष के निर्यात व्यापार सहयोगी राष्ट्र की आय पर निर्भर करते हैं अत निर्यात फलन निम्न चित्र 14 4 मे दर्शायी गयी क्षैतिज रेखा के रूप मे हो सकता है।
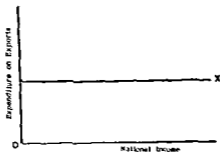
चित्र 14 4 . निर्यात फलन

चित्र 14 4 से स्पष्ट है कि निर्यात राष्ट्रीय आय के स्तर से स्वतत्र हैं। यह मान्यता तभी सही होगी जब हम यह मानलें कि राष्ट्र ऐसी वस्तुओ का निर्यात कर रहा है जिनका घरेलू उपभोग नहीं हो रहा है अथवा उन वस्तुओ की आय लोच शून्य है। व्यापाररत अर्थव्यवस्था मे साम्य आय निर्धारण हेतु हम निर्विदेश व्यापार अर्थ-व्यवस्था की साम्य आय निर्धारण की निम्न शर्त

$$I = S$$

से प्रारम्भ कर सकते हैं। लेकिन अब विनियोग (I) के दो हिस्से हैं घरेलू विनियोग (Id) व विदेशी विनियोग (If) अत

$$Id + If = S$$

लेकिन विदेशी विनियोग वस्तुओ व सेवाओ के आयातो व निर्यातो के अन्तर के बराबर होता है

अर्थात् $If = X - M$

पूर्व की समीकरण मे If का यह मूल्य रखने पर हम लिख सकते हैं कि

$$Id + X - M = S$$

अथवा $Id + X = S + M$ (5)

समीकरण (5) व्यापाररत अर्थव्यवस्था मे राष्ट्रीय आय निर्धारण की आधारभूत समीकरण है।

समीकरण (5) मे ध्यान देने योग्य बात यह है कि राष्ट्रीय आय मे साम्य का अभिप्राय यह नहीं है कि व्यापार सन्तुलन भी साम्य मे है। साम्य आय के स्तर पर व्यापार सन्तुलन में साम्य (अर्थात् $X=M$) तभी होगा जब विनियोग व बचत बराबर ($S=I$) हैं। व्यापार सन्तुलन की स्थिति का अध्ययन करने हेतु समीकरण (5) मे पक्षांतरण (transpose) करके उसे निम्न रूप में व्यक्त किया जा सकता है

$X - M = S - Id$ (6)

उपर्युक्त सम्बन्धो को चित्र 14 5 में दर्शाया गया है।

चित्र 14 5 के ऊपर के भाग मे समीकरण (5) के रूप म राष्ट्रीय आय का साम्य दर्शाया गया है, जबकि चित्र के नीचे के भाग मे समीकरण (6) के रूप म राष्ट्रीय आय का साम्य दर्शाया गया है।

चित्र 14 5 के ऊपर के भाग मे Id विनियोग दर्शाने वाली रेखा है तथा Id व $Id + X$ के अन्तर के बराबर राष्ट्र के निर्यात हैं। घरेलू विनियोग व निर्यातो को राष्ट्रीय आय से स्वतन्त्र माना गया है अत ये रेखायें क्षैतिज (horizontal) खींची गयी हैं। अत. $Id + X$ भी आय के प्रत्येक स्तर पर स्थिर रहेगा। चित्र 14 5 मे O-ye साम्य राष्ट्रीय आय है। विभिन्न आय के स्तरो पर बचत व आयातो का योग दर्शाने वाली रेखा $S(y) + M(y)$ विनियोग व निर्यातो का योग दर्शाने वाली रेखा $Id + X$ को O-ye राष्ट्रीय आय के स्तर पर काटती है। अत. O-ye बिन्दु पर निम्न साम्य शर्त पूरी होती है •

$Id + X = S + M$

अत हम कह सकते है कि साम्य राष्ट्रीय आय O-ye है। ye आय के स्तर पर F बिन्दु पर बचत व विनियोग भी एक दूसरे के बराबर हैं (अर्थात् $S = Id$) तथा आयात व निर्यात भी E बिन्दु पर एक दूसरे के बराबर (अर्थात् $X = M$) हैं। ध्यान रहे कि ye बिन्दु पर व $S(y) + M(y)$ रेखाओ के बीच की लम्बवत् दूरी E-F आयात हैं अत O-ye राष्ट्रीय आय पर ,व्यापाररत अर्थव्यवस्था के लिए आवश्यक साम्य शर्त $Id + X = S + M$ तो पूरी हो ही रही है, साथ-साथ $X = M$ व $S = Id$ की अलग-अलग समानता के परिणामस्वरूप इस आय के स्तर पर व्यापार सन्तुलन भी साम्य में

X-M वक्र O-y रेखा को काटता है अर्थात् इस बिन्दु पर व्यापार सन्तुलन साम्य मे है अथवा हम यह कह सकते हैं कि O-ye आय के स्तर पर व्यापार सन्तुलन का असाम्य शून्य है। O-ye बिन्दु से आगे आय बढने पर आयातो मे वृद्धि के परिणामस्वरूप व्यापार सतुलन घाटे मे चला जाता है अर्थात् X-M वक्र O-y रेखा से नीचे चला जाता है। इसी प्रकार S-Id वक्र धनात्मक ढाल वाले बचत फलन मे से क्षैतिज विनियोग फलन को घटाकर प्राप्त किया गया है।

आय के निम्न स्तर पर बचत से विनियोग अधिक है अर्थात् S-Id मे से ऋणात्मक पद (nagative term) अर्थात् Id अधिक है अत. S-Id वक्र O-y रेखासे नीचे के ऋणात्मक क्षेत्र से प्रारम्भ होता है। ye आय के स्तर पर बचत व विनियोग बराबर हैं अत S-Id शून्य है, तत्पश्चात् आय बढने के साथ-साथ बचत में वृद्धि से S-Id वक्र O-y रेखा से ऊपर के धनात्मक हिस्से मे चला जाता है। ध्यान रहे आयातो मे वृद्धि के कारण X-M वक्र नीचे की ओर विवर्त हो जाता है क्योकि ऋणात्मक पद मे वृद्धि हो जाती है जबकि निर्यातो मे वृद्धि के कारण X-M वक्र ऊपर की ओर विवर्त होगा क्योंकि धनात्मक पद मे वृद्धि होती है। इसी प्रकार विनियोग मे वृद्धि के कारण S-Id वक्र नीचे की ओर विवर्त हो जाता है क्योकि ऋणात्मक पद मे वृद्धि होती है जबकि बचत मे वृद्धि के कारण S-Id वक्र ऊपर की ओर विवर्त हो जाता है।

स्पष्ट है कि चित्र 14 5 के निचले भाग मे O-ye राष्ट्रीय आय के स्तर पर व्यापार सन्तुलन साम्य मे है क्योकि X-M वक्र तथा S-Id वक्र एक दूसरे को O-y रेखा के ठीक ye बिन्दु पर काटते हैं अर्थात् इस बिन्दु पर $X = M$ तथा S-Id की शर्त भी पूरी हो रही है।

लेकिन व्यापाररत अर्थव्यवस्था मे राष्ट्रीय आय मे साम्य की आवश्यक शर्त मात्र यह है कि $Id + X = S + M$

अत राष्ट्रीय आय मे साम्य हेतु $X = M$ तथा $S = Id$ की शर्त का पूरा होना आवश्यक नही है अर्थात् यदि $S > Id$ तथा $X > M$ लेकिन बचत विनियोग से ठीक उतनी अधिक है जितने निर्यात आयातो से अधिक हैं तो भी राष्ट्रीय आय मे साम्य सम्भव है क्योकि $X - M = S - Id$ की शर्त पूरी हो रही है। यह स्थिति चित्र 14 5 मे ye' राष्ट्रीय आय के स्तर पर दर्शायी गयी है।

मान लीजिये कि निर्यातो मे $Id + X$ तथा $Id + X^1$ के अन्तर के बराबर स्वचालित (Autonomous) वृद्धि हो जाती है तो राष्ट्रीय आय का नया साम्य बिन्दु O—ye' होगा। O—ye' राष्ट्रीय आय के स्तर पर $[S(y) + m(y)]$ वक्र $(Id + X')$ वक्र को E' बिन्दु पर काटता है अर्थात् E' बिन्दु पर $Id + X' = S + M$ की साम्य शर्त पूरी हो रही है। लेकिन O—ye' राष्ट्रीय आय के स्तर पर निर्यात

B—E' है जबकि आयात A—E' ही है अर्थात् आयातो से निर्यात A-B अधिक हैं। लेकिन साथ ही O—ye' आय के स्तर पर बचत भी विनियोग से ठीक A-B के बराबर अधिक है अर्थात E' बिन्दु पर व्यापाररत अर्थव्यवस्था मे साम्य की आवश्यक शर्त (Id + X = S + M) पूरी हो रही है अत O—ye' राष्ट्रीय आय का साम्य स्तर है।

चित्र 14 5 के निचले भाग मे आयातो का निर्यातो से आधिक्य स्पष्ट दिखाई दे रहा है। यहाँ S—Id वक्र X'—M वक्र को G बिन्दु पर O—y रेखा से ऊपर के क्षेत्र मे काटता है अत व्यापार सतुलन मे ye'—G के बराबर प्रतिरेक है। अत चित्र 14 5 के निचले भाग का चित्र व्यापार सतुलन की स्थिति स्पष्ट रूप से दर्शाता है।

विदेशी व्यापार गुणक

(Foreign Trade Multiplier)

महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि निर्यातो मे Id + X से Id + X' की वृद्धि से राष्ट्रीय आय में कितनी वृद्धि होगी? निर्यातो की इस स्वचालित वृद्धि के परिणामस्वरूप राष्ट्रीय आय का साम्य बिन्दु ye परिवर्तित होगा तथा आय के इस परिवर्तन से बचत व आयातो के स्तर मे उस समय तक परिवर्तन होते रहेगे जब तक कि आय के परिवर्तन के परिणामस्वरूप बचत व आयातो के परिवर्तन का योग निर्यातो के स्वचालित परिवर्तन के ठीक बराबर नही हो जाता है अर्थात् राष्ट्रीय आय का नया साम्य बिन्दु आय के उस स्तर पर निर्धारित होगा जहां पर

$$\triangle X = \triangle S + \triangle M$$

आय के परिवर्तन के परिणामस्वरूप बचत व आयातो के परिवतन निम्न होगे

$$\triangle S = (\triangle Y)\ (MPS)$$

तथा

$$\triangle M = (\triangle Y)\ (MPM)$$

$\triangle S$ व $\triangle M$ के इन मूल्यो को पूर्व की समीकरण मे रखने पर

$$\triangle X = (\triangle y)\ (MPS) + (\triangle y)\ (MPM)$$

अथवा $\triangle X = (MPS + MPM)\triangle y$

अथवा $$\triangle Y = \triangle X \frac{1}{MPS + MPM}$$

यहाँ विदेशी व्यापार गुणक K' को निम्न रूप मे व्यक्त किया जा सकता है :—

$$K' = \frac{1}{MPS + MPM}$$

अथवा $K' = \frac{1}{S(y) \text{ का ढाल} + M(y) \text{ का ढाल}}$

मान लीजिए कि निर्यात मे 100 करोड रु की स्वचालित वृद्धि हुई है तथा PS = 0 2 है व MPM = 0 25 है तो विदेशी व्यापार गुणक

$$K' = \frac{1}{0\ 2 + 0\ 25} = 2\ 22 \text{ (लगभग)}$$

अर्थात् निर्यातो मे 100 करोड रु की वृद्धि से राष्ट्रीय आय म 222 करोड रु की वृद्धि होगी। आय मे 222 करोड की वृद्धि से बचत म (222 × . 2 =) 44 44 करोड रु की वृद्धि होगी तथा आयातो मे (222 × 25 =) = 55 55 करोड रुपय की वृद्धि होगी अर्थात्

$\Delta X = \Delta S + \Delta M$

100 करोड = 44 44 करोड + 55.55 करोड

100 करोड = 100 करोड (लगभग)

चूँकि स्वचालित विनियोग अपरिवर्तित है अत नये आय के स्तर ye' पर अन्त क्षेपो (Injections) के परिवर्तन रिसाव (Leakeges) के परिवर्तन के ठीक बराबर हैं, अर्थात्

अन्त क्षेप = रिसाव

$\Delta I + \Delta X = \Delta S + \Delta M$

$O + 100 = 44.44 + 55\ 55$

चूँकि ye' आय के स्तर पर व्यापाररत अर्थ-व्यवस्था मे साम्य की आवश्यक शर्तें पूरी हो रही हैं अत ye' राष्ट्रीय आय का नया साम्य बिन्दु होगा।

चित्र 14 5 के निचले भाग में ध्यान देने योग्य बात यह है कि राष्ट के निर्यातो म वृद्धि का व्यापार सन्तुलन पर अन्तिम प्रभाव Ye'—G इस वृद्धि के प्रारम्भिक प्रभाव ye-H से कम है। अर्थात् राष्ट्र के निर्यातों मे X-M तथा X1—M वक्रों की लम्बवत् दूरी (ye—H) के बराबर वृद्धि हुई है जबकि व्यापार सन्तुलन मे सुधार इससे कम (ye'—G) के बराबर ही हुआ है। इसका कारण यह है कि निर्यातों में वृद्धि के कारण राष्ट्रीय आय में हुई ye—ye' की वृद्धि के परिणामस्वरूप आयातो मे भी वृद्धि होती है, अत व्यापार सन्तुलन का अन्तिम प्रभाव प्रारम्भिक प्रभाव से कम होगा।

राष्ट्र की आय व आयातो मे वृद्धि होगी जिससे प्रथम राष्ट्र के निर्यातो व आय मे वृद्धि होगी। इस क्रिया-प्रतिक्रिया की प्रक्रिया कहाँ समाप्त होगी यह प्रथम व द्वितीय राष्ट्रो की 'सीमान्त आयात प्रवृत्तियो' व 'सीमान्त बचत प्रवृत्तियो' पर निर्भर करेगा।

इन अन्तर क्रियाओ को चित्र 14.6 मे (a) (b) व (c) अवस्थाओ मे दर्शाया गया है। प्रथम अवस्था मे प्रथम राष्ट्र के घरेलू विनियोग मे वृद्धि को चित्र 14.6 मे Id रेखा द्वारा दर्शाया गया है। घरेलू विनियोग की इस वृद्धि से $Id+x$ वक्र विनियोग मे वृद्धि की मात्रा से ऊपर खिसक कर $I'd+x$ हो जाता है जिसके परिणामस्वरूप राष्ट्रीय आय मे ye-ye' की वृद्धि हो जाती है। प्रथम राष्ट्र की राष्ट्रीय आय की इस वृद्धि से इस राष्ट्र के आयातो मे वृद्धि होती है जो कि द्वितीय राष्ट्र के निर्यात हैं। अत द्वितीय अवस्था के चित्र (b) मे द्वितीय राष्ट्र के निर्यात $Id+x$ से बढकर $Id+x'$ हो जाते है। निर्यातो की इस वृद्धि के परिणामस्वरूप द्वितीय राष्ट्र की राष्ट्रीय आय चित्र (b) मे ye से बढकर ye' हो जाती है। लेकिन द्वितीय राष्ट्र की आय मे वृद्धि से इस राष्ट्र के आयातो मे भी वृद्धि होती है जो कि प्रथम राष्ट्र के निर्यात है, अत तृतीय अवस्था के चित्र (c) मे प्रथम राष्ट्र के निर्यात $I'd+x$ से बढकर $I'd+x'$ हो जाते हैं जिससे प्रथम राष्ट्र की राष्ट्रीय आय बढकर ye' मे ye" हो जाती है।

प्रथम राष्ट्र की आय की इस वृद्धि से प्रथम राष्ट्र के आयातो मे पुन: वृद्धि होगी जो कि द्वितीय राष्ट्र के निर्यात हैं अत स्पष्ट है कि व्यापाररत राष्ट्रो की आय के परिवर्तन एक दूसरे से जुडे रहते हैं। एक राष्ट्र की आय का परिवर्तन उस राष्ट्र के समस्त व्यापार सहयोगियो की आय को प्रभावित करता है तथा यह प्रक्रिया तब तक जारी रहती है जब तक कि आय के स्तर मे नया साम्य स्थापित नही हो जाता है। उदाहरणार्थ, प्रथम तथा द्वितीय महायुद्धो के मध्य की अवधि मे अमेरिका मे मन्दी के परिणामस्वरूप अमेरिका के आयातो मे कमी से विश्व के अधिकाश राष्ट्रो मे मन्दी की प्रक्रिया चालू हो गयी थी जिससे सन् 1932-33 तक यह मन्दी विश्व व्यापी मन्दी का रूप धारण कर चुकी थी।

यहाँ हम 'विदेशी प्रतिक्षेप' (Foreign Repercussion) का समावेश करते वाले विदेशी व्यापार गुणक के दो भिन्न सूत्र प्रस्तुत कर रहे हैं, इनमे से प्रथम सूत्र तो निर्यातो की स्वचालित वृद्धि के प्रभाव को दर्शाता है तथा द्वितीय सूत्र घरेलू विनियोग मे वृद्धि के प्रभाव को दर्शाता है।

प्रथम राष्ट्र के निर्यातो मे स्वचालित वृद्धि का प्रभाव दर्शाने वाले विदेशी व्यापार गुणक को अग्रलिखित सूत्र के रूप मे व्यक्त किया जा सकता है -

$$K^x = \frac{\Delta Y_1}{\Delta X_1} = \frac{1}{MPS_1 + MPM_1 + MPM_2 \left(\frac{MPS_1}{MPS_2}\right)}$$

स्पष्ट है कि प्रथम राष्ट्र मे विदेशी व्यापार गुणक अधिक होने की निम्न शर्तें हैं :

(1) प्रथम राष्ट्र की सीमान्त आयात प्रवृत्ति कम हो,

(2) प्रथम राष्ट्र की सीमान्त बचत प्रवृत्ति कम हो,

(3) द्वितीय राष्ट्र की सीमान्त आयात प्रवृति कम हो, तथा

(4) द्वितीय राष्ट्र की सीमान्त बचत प्रवृत्ति अधिक हो।

प्रथम राष्ट्र की सीमान्त आय प्रवृत्ति तथा सीमान्त बचत प्रवृत्ति कम होने के परिणामस्वरूप आय प्रवाह मे से रिसाव कम हो सकेगा अर्थात् मुख्यधारा मे अपेक्षाकृत अधिक आय का प्रवाह बना रहेगा अत दिए हुए निर्यात अथवा विनियोग के परिवर्तन से प्रथम राष्ट्र की आय मे अपेक्षाकृत अधिक वृद्धि होगी। द्वितीय राष्ट्र की सीमान्त आयात प्रवृत्ति कम होने का प्रभाव यह होगा कि द्वितीय राष्ट्र की आय मे कमी के परिणामस्वरूप इस राष्ट्र के आयातो (प्रथम राष्ट्र के निर्यातो) मे कटौती कम बनी रहेगी अर्थात् प्रथम राष्ट्र का गुणक अधिक होगा।

द्वितीय राष्ट्र की 'सीमान्त बचत प्रवृत्ति' अधिक होने से भी प्रथम राष्ट्र का 'गुणक' अधिक होगा क्योंकि इससे द्वितीय राष्ट्र में आय मे कमी कम होगी अत इस राष्ट्र के आयातो (प्रथम राष्ट्र के निर्यातों) की कटौती भी कम होगी।

प्रथम राष्ट्र के घरेलू विनियोग मे स्वचालित वृद्धि की स्थिति मे प्रथम राष्ट्र के गुणक का सूत्र अग्रलिखित होगा

$$K^{Id} = \frac{\Delta Y_1}{\Delta Id_1} = \frac{1 + (MPM_2/MPS_2)}{MPS_1 + MPM_1 + MPM_2 \left(\frac{MPS_1}{MPS_2}\right)}$$

स्पष्ट ही है कि K^x की तुलना मे K^{Id} बडा है क्योंकि दोनो गुणको का हर (denominator) समान है जबकि K^{Id} का अश (numerator) इकाई से अधिक है। इसका कारण यह है कि यदि प्रथम राष्ट्र के निर्यातो की वृद्धि से प्रक्रिया प्रारम्भ हुई है तो इससे द्वितीय राष्ट्र की आय घटेगी अत 'विदेशी प्रतिक्षेप' (Foreign Repercus-

sion) आय घटाने की दिशा में कार्यरत होगा। इसके विपरीत यदि प्रारम्भ में प्रथम राष्ट्र में घरेलू विनियोग में स्वचालित वृद्धि से प्रक्रिया प्रारम्भ हुई है तो इससे प्रथम राष्ट्र के आयात बढ़ने के फलस्वरूप द्वितीय राष्ट्र के निर्यात व इसकी आय में वृद्धि होगी अतः इस स्थिति में 'विदेशी प्रतिक्षेप' भी विनियोग की वृद्धि की भाँति आय बढ़ाने की दिशा में कार्यरत होगा।

राष्ट्रीय आय में समायोजन व भुगतान संतुलन

(National Income Adjustment and the BOP)

हमारे अब तक के विश्लेषण में हमने 'विदेशी प्रतिक्षेप' को शामिल करके इसके राष्ट्रीय आय में परिवर्तनों पर प्रभावों पर ध्यान केन्द्रित किया था लेकिन अब हम गुणक द्वारा व्यक्त सम्बन्धों के भुगतान संतुलन पर प्रभाव की प्रकृति व सीमा को स्पष्ट करने का प्रयास करेंगे।

मान लीजिए कि निर्यातों में 100 करोड रु की स्वचालित वृद्धि के परिणामस्वरूप प्रथम राष्ट्र के व्यापार संतुलन में अतिरेक उत्पन्न हो जाता है अत इस स्थिति में विदेशी व्यापार गुणक के प्रभावों का मूल्यांकन करने हेतु हमें प्रथम व द्वितीय राष्ट्रों की सीमान्त बचत प्रवृत्ति व सीमान्त आयात प्रवृत्ति पर ध्यान केन्द्रित करना होगा। इसके अतिरिक्त 'विदेशी प्रतिक्षेप' (Foreign Repercussion) ज्ञात करना भी आवश्यक है।

माना कि प्रथम राष्ट्र की 'सीमांत बचत प्रवृत्ति' 0 2 है तथा 'सीमान्त आयात प्रवृत्ति' 0.25 है तथा 'विदेशी प्रतिक्षेप' $\left[\text{अर्थात् } MPM_2 \left(\frac{MPS_1}{MPS_2}\right)\right]$ 0 02 है तो निर्यातों की इस वृद्धि के परिणामस्वरूप आय की वृद्धि की गणना करने हेतु गुणक की गणना निम्न प्रकार से की जा सकती है :—

$$K^x = \frac{1}{0.2+0.25+0\ 02} = 2\ 12$$

तथा राष्ट्रीय आय में वृद्धि ($\triangle y = \triangle x.k$) 212.77 करोड रुपये की होगी। आय प्रभाव में से रिसावों (leakages) को सारणी 14.1 में दर्शाया गया है।

सारणी 14.1 दर्शाती है कि प्रथम राष्ट्र के निर्यातों में 100 करोड रुपये की

प्रारम्भिक वृद्धि का दुग्ना करने हेतु भुगतान सतुलन में निम्न प्रकार स्वचालित समायोजन प्रक्रिया कार्यरत होती है।

सारणी—14 1 गुणक व भुगतान सतुलन

अन्तःक्षेप (करोड रु म)	अन्तःक्षेप की दुरस्ती	प्रथम राष्ट्र की आय के भाग के रूप म	कुल हिसाब (रु. करोडों म)
100 करोड रुपय	प्रेरित आयात	0 25	53
	विदेशी प्रतिक्षेप	0 02	4
	घरेलू बचत	0 2	43

सारणी 14 1 म प्रारम्भिक निर्यात वृद्धि की तीन प्रकार की दुरस्ती विद्यमान है

(1) जब प्रथम राष्ट्र की आय म वृद्धि होती है तो इस राष्ट्र के आयातो पर व्यय म (212 × 0 25) 53 करोड रुपये की वृद्धि हो जाती है।

(2) द्वितीय राष्ट्र म आय में कमी के परिणामस्वरूप इस राष्ट्र के आयातो म 4 करोड रुपय की कमी हो जाती है।

(3) शेष 43 करोड रुपय विदेशों म ऋण अथवा हस्तान्तरण के लिये प्रथम राष्ट्र के पास घरेलू बचत के रूप में उपलब्ध हैं।

स्पष्ट है कि प्रथम राष्ट्र के निर्यातों म वृद्धि के परिणामस्वरूप होने वाले इन परिवर्तनों द्वारा भुगतान सन्तुलन मे पुन साम्य स्थापित होने की प्रवृत्ति पायी जाती है लेकिन जैसा कि सारणी 14 1 से स्पष्ट है इस प्रकार के समायोजन के अपूर्ण बने रहने की ही सम्भावना अधिक है।

भुगतान सन्तुलन मे पूर्ण समायोजन हेतु निम्न दो म से एक शर्त पूरी होनी आवश्यक है

(1) या तो प्रथम राष्ट्र की सीमान्त बचत प्रवृत्ति (MPS_1) शून्य हो, अथवा

(2) यदि MPS_1 धनात्मक है तो प्रारम्भिक निर्यात वृद्धि के परिणामस्वरूप प्रथम राष्ट्र में बचत की पूरी राशि द्वितीय राष्ट्र म विनियोग के रूप में हस्तान्तरित हो जानी चाहिए।

लेकिन स्पष्ट ही है कि उपर्युक्त शर्तों का वास्तविक जगत में पूरा होना दुष्कर ही प्रतीत होता है। अत हम कह सकते हैं कि आय परिवर्तनों द्वारा भुगतान सन्तुलन में समायोजन की प्रक्रिया अपूर्ण ही बनी रहती है।

प्रो० मेजलर (Metzler) ने इसी बात को इन शब्दों में व्यक्त किया है, "कुछ मतभेद विद्यमान रहने के बावजूद, अधिकांश अर्थशास्त्रियों का निष्कर्ष यह प्रतीत होता है कि, सिवाय असामान्य स्थितियों की दशा के आय चलनों के माध्यम से राष्ट्र के भुगतान सन्तुलन में समायोजन अपूर्ण ही रहने की सम्भावना है।'[1]

---

1. Metzler, L.A.—The Theory of International Trade (1949) —Reprinted in Metzler's collected papers—P. 12 (Harvard University Press, Cambridge, Mass., 1973)

भुगतान-संतुलन में असाम्य दूर करने से सबधित सिद्धान्तो का विकास*

(Development of the Theories correcting Disequilibrium in the Balance of Payments)

प्रस्तावना

(Introduction)

आज से लगभग 35 वर्ष पूर्व भुगतान-सतुलन सिद्धान्त के मॉडल केवल तीन असम्बद्ध समूहों मे विभाजित थे । प्रतिष्ठित 'कीमत द्रव्यवाह-शोधन प्रक्रिया' (Price-Specie flow mechanism) विदेशी व्यापार गुणक विश्लेषण तथा सापेक्ष कीमत मॉडल (relative price models) । इन तीनों विश्लेषणो मे किसी विशिष्ट बहिर्जात (exogeneous) परिवर्तन के कारण स्वचालित समायोजन प्रक्रिया का विश्लेषण किया गया था तथा प्रत्येक विश्लेषण मे विदेशी विनिमय बाजार का प्रमुखतया आंशिक साम्य ढाँचे के अन्तर्गत ही विश्लेषण किया जाता था । जबकि वर्तमान मे भुगतान-संतुलन सिद्धान्तो का प्रमुख केन्द्र बिन्दु वैकल्पिक नीतियाँ हैं तथा विदेशी विनिमय बाजार को बहुत से अन्तर्सम्बन्धित बाजारो मे से एक मानकर विश्लेषण को सामान्य साम्य के रूप मे प्रस्तुत किया जाता है ।

असाम्य में सुधार की स्वचालित प्रक्रिया

(Automatic Processes that reverse imblance)

'कीमत-द्रव्यवाह शोधन-प्रक्रिया' दो मान्यताओ पर आधारित है (1) राष्ट्र की मुद्रा स्वर्ण के रूप मे अथवा स्वर्ण गारन्टी वाली पत्र मुद्रा के रूप मे है तथा (2) मुद्रा की पूर्ति मे कमी से राष्ट्र मे सामान्य कीमत स्तर गिरेगा जबकि मुद्रा की पूर्ति मे वृद्धि से सामान्य कीमत स्तर बढ़ेगा । इन दो मान्यताओ के अन्तर्गत यदि हम व्यापार

*This chapter builds h avily on Anne O Krueger's Balance of Payments Theory—Journal of Economic literature—March, 1969, pp 1-26

सतुलन के साम्य से प्रारम्भ करें तो राष्ट्र के व्यापार सतुलन में प्रतिरेक अथवा घाटे में घरलू कीमतो मे परिवर्तनो द्वारा स्वत ही समायोजन हो जायगा ।

उदाहरणार्थ, स्वर्णमान के अन्तर्गत किसी भी राष्ट्र के भुगतान-सन्तुलन मे घाटे के परिणामस्वरूप उस राष्ट्र से स्वर्ण का अपवाह (outflow) होगा जिससे मुद्रा की पूर्ति घटेगी। पूर्ण रोजगार की स्थिति मे मुद्रा की पूर्ति मे कमी से सामान्य कीमत स्तर भी गिरेगा। अत राष्ट्र के निर्यातो मे वृद्धि होगी तथा आयातो मे कमी। सामने वाले राष्ट्र में स्वर्ण के अन्तर्वाह (inflow) से मुद्रा की पूर्ति व सामान्य कीमत स्तर में वृद्धि होगी। अत: राष्ट्र के निर्यात घटेंगे व आयात बढ़ेंगे। यह प्रक्रिया उस समय तक जारी रहेगी जब तक कि राष्ट्र के भुगतान-सतुलन का घाटा (सामने वाले राष्ट्र के भुगतान सतुलन का प्रतिरेक) पूर्णतया समाप्त नही हो जाता है ।

इसके अतिरिक्त भुगतान-सतुलन मे घाटे वाले राष्ट्र में मुद्रा की पूर्ति घटने से ब्याज दर में वृद्धि होगी तथा भुगतान-सतुलन के प्रतिरेक वाले राष्ट्र में मुद्रा की पूर्ति मे वृद्धि से ब्याज दर गिरेगी जिसके परिणामस्वरूप भुगतान-सतुलन म प्रतिरेक वाले राष्ट्र मे पूँजी के अल्पकालीन अन्तर्वाह (inflow) भी भुगतान-सतुलन के असाम्य मे सुधार लाने मे योगदान देंगे ।

इसके अतिरिक्त मौद्रिक अधिकारियो से भी यह आशा की जाती है कि वे भुगतान सतुलन के घाटे वाले राष्ट्र मे साख सकुचन करके तथा प्रतिरेक वाले राष्ट्र मे साख विस्तार करके समायोजन प्रक्रिया मे योगदान देंगे ।

विदेशी व्यापार गुणक विश्लेषण म राष्ट्र विशेष के भुगतान-सतुलन मे विवर्तन (shift) के परिणामस्वरूप कार्यरत स्वचालित समायोजन प्रक्रिया पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है। मान लीजिए कि राष्ट्र का भुगतान-संतुलन प्रारम्भिक साम्यावस्था मे है, तथा निर्यातो की विदेशी माँग मे कमी के कारण राष्ट्र के भुगतान-सतुलन मे घाटा उत्पन्न हो जाता है तो निर्यातो की इस कमी के परिणामस्वरूप राष्ट्र की आय घटेगी जिसके परिणामस्वरूप गुणक के माध्यम से व्यय मे कटौती होगी। विशिष्टतया यदि सीमान्त आयात प्रवृत्ति व सीमान्त बचत प्रवृत्ति धनात्मक है तो व्यापार सतुलन के प्रारम्भिक घाटे के एक अनुपात के बराबर इस राष्ट्र के आयात घट जायेंगे जिससे राष्ट्र के भुगतान-सन्तुलन मे सृजित प्रारम्भिक घाटा कुछ सीमा तक दुरुस्त (off set) हो सकता है ।

कीमत व आय के स्वचालित समायोजनो की इस प्रक्रिया की आपसी अन्तर क्रियाएँ भुगतान-सतुलन के असाम्य को सुधारने मे एक राष्ट्र के प्रभाव को किस प्रकार प्रबल बनाती है यह अग्रलिखित चार्ट म स्पष्ट दर्शाया गया है :—

चार्ट १५.१ : भुगतान संतुलन के असाम्य में सुधार की स्वचालित प्रक्रिया
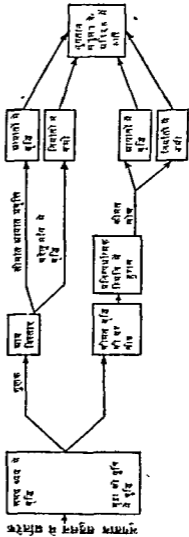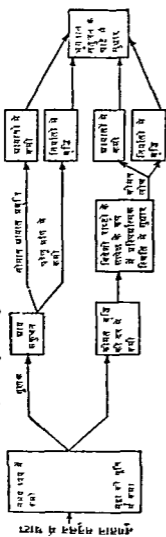
प्रथम प्रश्न के विश्लेषण मे विदेशी विनिमय बाजार के स्थायित्व (stability) पर ध्यान केन्द्रित किया गया था। इस सम्बन्ध मे प्रो० मेजलर (etzler) के विचार महत्वपूर्ण हैं :—

"यदि आयात व निर्यात दोनो की ही माँग बेलोचदार है तो मूल्य ह्रास (depreciation) से राष्ट्र की विदेशी विनिमय की प्राप्तियो व परिव्ययो (disbursements) दोनो मे ही कमी होगी। निर्यातो की भौतिक मात्रा मे नि सन्देह ही वृद्धि होगी लेकिन मात्रा की यह वृद्धि विदेशी कीमत की कमी को क्षति-पूर्ति नही करती है और इसके अनुरूप विदेशी विनिमय के रूप मे निर्यातों का कुल मूल्य घट जाता है। आयातो के सन्दर्भ मे, इनकी भौतिक मात्रा व विदेशी कीमत दोनो मे ही कुछ सीमा तक कमी हो जाती है और इस प्रकार आयातो को माँग लोच कितनी ही कम क्यो न हो, मूल्य ह्रास से विदेशी मुद्रा के रूप मे व्यय घटेगा। अत: राष्ट्र के भुगतान सतुलन पर अतिम प्रभाव निर्यातो के विदेशी मुद्रा मे मूल्य की कमी की तुलना मे आयातो के मूल्य मे कमी की परिमाण (magnitude) पर निर्भर करता है।"[2]

सफल अवमूल्यन के लिए आवश्यक लोच शर्त के अनेक रूप विकसित हुए लेकिन उनमे सरलतम् मार्शल-लर्नर शर्त (Marshall-Lerner Condition) है जिसकी प्रत्येक राष्ट्र मे पूर्ण रोजगार से कम रोजगार की स्थिति मे दो राष्ट्र व दो वस्तु मॉडल के अन्तर्गत व्युत्पत्ति की जाती है। निर्यातो की पूर्ति लोच अनन्त मान लेने की स्थिति मे अवमूल्यन से व्यापार सन्तुलन मे सुधार के लिए मार्शल-लर्नर शर्त को निम्न रूप मे व्यक्त किया जा सकता है :

$$|eMA| + |eMB| > 1$$

अर्थात् यदि किसी राष्ट्र के आयातो की माँग लोच तथा निर्यातो की विदेशो मे माँग लोच का निरपेक्ष योग इकाई से अधिक है तो अवमूल्यन के परिणामस्वरूप अवमूल्यनकर्ता राष्ट्र के व्यापार सन्तुलन मे सुधार होगा तथा अधिमूल्यन के परिणामस्वरूप व्यापार सन्तुलन मे ह्रास होगा।

मार्शल-लर्नर शर्त मे निहित मान्यताओ का अभिप्राय यह था कि व्यापार की शर्तों के परिवर्तन को अवमूल्यन का केवल प्रारम्भिक प्रभाव ही मानना चाहिए। अत: भुगतान सिद्धान्त के विश्लेषण के विकास मे सापेक्ष कीमत परिवर्तनो को ही प्रमुख चर माना जाने लगा।

2 Metzler, Lloyed A—Op. cit p. 19.

भुगतान सन्तुलन का आधुनिक सिद्धान्त

(Modern Theory of the Balance of Payments)

भुगतान सन्तुलन के आधुनिक सिद्धान्त के विकास मे उन्नीसौ पचासा के प्रारभिक वर्षों मे दो शुक्रीय (Seminal) योगदान क्रमश प्रो० जे. इ. मीड[3] (J E. Meade) व प्रो० एस. एस. एलेक्जेण्डर[4] (S. S Alexander) के योगदानो मे प्रस्तुत किये गये थे। प्रो० मीड ने अपनी पुस्तक मे केन्ज के बाद की अवधि के मौद्रिक-आय सिद्धान्त का सामान्य साम्य सिद्धान्त मे एकीकरण (Integration) करने का प्रयास किया। मीड के विश्लेषण मे केन्द्र बिन्दु यह नही था कि स्वचालित समायोजन की प्रक्रिया क्या होगी अपितु यह था कि भिन्न उपायो का नीति उद्देश्यो की प्राप्ति पर क्या प्रभाव पडेगा। भुगतान सन्तुलन के आधुनिक सिद्धान्त मे भी सर्वत्र नीति अभिमुखीकरण (Policy Orientation) तथा सामान्य साम्य विश्लेषण पर ध्यान केन्द्रित किया गया है।

आधुनिक सिद्धान्त के विकास मे प्रो० ऐलेक्जेण्डर का 'अवशोषण विश्लेषण' (Absorption Approach) दूसरा महत्वपूर्ण योगदान था। प्रो० एलेक्जेण्डर ने लेखे की सर्वसमिका (Identity) से प्रारम्भ करते हुए दर्शाया कि किसी भी राष्ट्र के भुगतान सन्तुलन का घाटा इसके व्यय (अवशोषण) व आय के अन्तर के बराबर होता है। तत्पश्चात् प्रो० एलेक्जेण्डर ने अवमूल्यन के प्रभाव जानने हेतु यह ज्ञात करने का प्रयास किया कि इसका अवशोषण व आय के सापेक्ष स्तरो पर क्या प्रभाव पडेगा। अत. स्पष्ट है कि इस तरह के विश्लेषण मे समष्टि घटको की भूमिका की उपेक्षा किया जाना सभव नही है।

एलेक्जेण्डर के अनुसार अवमूल्यन से निर्यातो मे वृद्धि होगी। अन. विदेशी व्यापार गुणक के माध्यम से वास्तविक आय भी बढेगी तथा आय मे वृद्धि के साथ व्यय मे वृद्धि होगी। अत अवमूल्यन से व्यापार सन्तुलन मे सुधार तभी होगा जब अवमूल्यन के परिणामस्वरूप प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से कुल वास्तविक व्यय मे होने वाली वृद्धि आय की वृद्धि से कम हो। इस प्रकार प्रो. एलेक्जेण्डर के विश्लेषण ने भुगतान सन्तुलन मे सुधार करने वाले उपकरण के रूप मे अवमूल्यन की क्षमता से

---

3. Meade, J E —The Theory of International Economic Policy, vol I : The Balance of Payments, London, 1951

4 Alexander, S S.—Effects of a Devaluation on a Trade Balance—I M F. Staff Papers (April, 1952).

सबधित मूलभूत प्रश्न खड़े कर दिये क्योंकि यदि भुगतान सन्तुलन मे घाटे वाले राष्ट्र की वास्तविक समस्या व्यय के आय से आधिक्य की है तो मौद्रिक व राजकोषीय नीतियो द्वारा आय के सापेक्ष के रूप मे व्यय मे कटौती की नीति ही उपयुक्त नीति प्रतीत होती है न कि अवमूल्यन।

वर्तमान सिद्धान्त : मौद्रिक घटकों की भूमिका

(Current Theory : The Role of Monetary Factors)

किसी भी राष्ट्र के भुगतान-सन्तुलन मे घाटे का अभिप्राय यह है कि लोग अपनी आय से अधिक व्यय कर रहे है। वे अपने आधिक्य भुगतान करने हेतु विदेशी विनिमय अधिकारी से विदेशी विनिमय का क्रय करेंगे (अथवा अपनी विदेशी निधि परिसम्पत्तियो मे से विदेशी विनिमय निकालेंगे)। यदि अधिकारी निष्क्रिय (passive) रहते हैं तो इससे निजी रूप से रखी गयी मुद्रा के स्टॉक मे कमी होगी। ज्योही लोग अपनी घटी हुई सामान्य निधि परिसम्पत्तियो(nominal assets) की स्थिति के सन्दर्भ मे प्रतिक्रिया करेंगे एक स्वय-सुधारक प्रक्रिया (self correcting process) प्रारम्भ हो जायेगी। यदि मौद्रिक अधिकारी निजी रूप मे रखी गई मुद्रा की कमी की क्षतिपूर्ति (उदाहरणार्थ, खुले बाजार की क्रियाओ द्वारा) कर देते हैं तो जब तक विदेशी विनिमय अधिकारियो के पास पर्याप्त विदेशी विनिमय है तब तक साख निर्माण के परिणामस्वरूप भुगतान सन्तुलन का घाटा प्रारम्भिक स्तर पर ही बना रहेगा।

लेकिन इसका अभिप्राय यह नहीं है कि भुगतान सन्तुलन मे घाटा केवल मौद्रिक घटक ही उत्पन्न करते हैं अथवा जब भुगतान सन्तुलन मे घाटा है तो इसका अभिप्राय यह है कि *निश्चय ही गलत मौद्रिक नीति अपनाई गई है। यदि पूर्ण साम्य से घाटे की* ओर विवर्ती का कारण वास्तविक (real) घटक है (उदाहरणार्थ, माँग की वृद्धि की दरो मे भिन्नता) तो भी घाटा उसी स्तर पर केवल साख निर्माण द्वारा ही जारी रह सकता है।

मौद्रिक घटको पर ध्यान केंद्रित करने के कारण कई महत्वपूर्ण योगदानो का विकास हुआ। प्रो. हेरी जॉनसन[5] (Harry Johnson) ने अपने 'भुगतान सन्तुलन के सामान्य सिद्धान्त' में स्टॉक घाटे व प्रवाह घाटे मे अन्तर किया है।

---

5 Johnson, H G —Towards a General Theory of Balance of Payments—in his International Trade and Economic Growth (George Allen and unwin, 1958), Reprinted in cooper, R N (ed)—International Finance (Penguin Modern Economics, 1969) pp 237-55

स्टॉक घाटा उस समय उत्पन्न होता है जब लोग घरेलू मुद्रा के स्थान पर विदेशी परिसम्पत्तियों के प्रतिस्थापन का प्रयत्न करते हैं जबकि प्रवाह घाटा उस समय उत्पन्न होता है जब लोग प्राय से अधिक व्यय का निर्णय लेते हैं। स्टॉक घाटे अन्तर्निहित रूप से अस्थायी (inherently temporary) होते है क्योंकि जब वांछित पोर्टफोलियो सन्तुलन प्राप्त कर लिया जाता है तो घाटे समाप्त हो जाते हैं। ये घाटे परिवर्तनशील (changing) साम्य का उदाहरण होते हैं। प्रो जानसन के अनुसार स्टॉक घाटे को सही करने मे विनिमय दर परिवर्तन उपयोगी नही होंगे तथा ऐसी परिस्थितियों में "स्टॉक सग्रहो (stock holdings) पर प्रत्यक्ष नियत्रण की वैकल्पिक विधियों, जिनका एक अप्रत्यक्ष व प्राशिक रूप मात्रात्मक आयात प्रतिबन्ध हैं, के उपयोग के लिए सबल तर्क प्राप्त होता है।"[6]

प्रो जॉनसन के अनुसार 'स्टॉक' घाटे के विपरीत 'प्रवाह' घाटे अन्तर्निहित रूप से सीमित अवधि के लिए नही होते हैं। यदि मौद्रिक अधिकारी इनकी वित्त व्यवस्था करते रहे तो ये घाटे लम्बी अवधि तक बने रहेंगे।

प्रो जॉनसन के अनुसार प्रवाह घाटो को व्यय घटाने वाली (Expenditure reducing) अथवा व्यय स्विचन (Expenditure Switching) नीतियों द्वारा सही किया जा सकता है। व्यय स्विचन नीतियो मे सापेक्ष-कीमत समायोजन शामिल किये जाते हैं। ऐसे कीमत सामायोजनो मे विनिमय दर के परिवर्तन (अवमूल्यन/अधिमूल्यन) आयात अधिभार, घरेलू वस्तुओ की कीमतो में परिवर्तन अथवा मात्रात्मक नियंत्रण शामिल किये जाते हैं। व्यय मे कमी किये बिना व्यय स्विचन नीतियाँ तभी प्रभावी हो सकती हैं जब घरेलू अर्थव्यवस्था मे उत्पादन बढाने की क्षमता हो। प्रो जॉनसन ने व्यय घटाने वाली नीतियो मे मौद्रिक नियत्रण, राष्ट्रीय बजट नीति आदि को शामिल किया है।

आन्तरिक व बाह्य सन्तुलन

(Internal & External Balance)

प्रो स्वान[7] ने सन् 1955 के अपने लेख मे एक चित्र द्वारा व्यय घटाने वाली व व्यय स्विचन नीतियो के प्रभावो को स्पष्ट किया है। प्रो स्वान द्वारा प्रदत्त चित्र

6 Johnson, H G op cit, P 244

7 Swan, T W —Longer run Problems of the Balance of Payments—Paper given to the Congress of the Australian and Newzealand Association for the advancement of Science (1955)

15.1(c) मे लम्बवत् अक्ष पर 'लागत अनुपात' (Cost ratio) अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय *कीमतें (आयातो व निर्यातो की कीमतें)/स्थानीय मजदूरियो को दर्शाया गया है।* यह अनुपात राष्ट्र की प्रतिस्पर्धात्मक शक्ति का सूचक (Index) है जबकि क्षैतिज अक्ष पर प्रो. स्वान का अनुसरण करते हुए *'वास्तविक व्यय'* (Real Expenditure) अर्थात् स्थिर कीमतो पर घरेलू विनियोग व उपभोग दर्शाया गया है।

स्पष्ट ही है कि चित्र 15.1 (c) मे लम्बवत् अक्ष पर ऊपर की ओर चलन करने पर आयातो व निर्यातो की कीमतें बढने से आयात घटेंगे व निर्यातो में वृद्धि होगी क्योकि ऊपर की ओर चलन करने से राष्ट्र की मुद्रा का अधिकाधिक अवमूल्यन हो रहा अर्थात् घरेलु कीमतो के सापेक्ष के रूप मे अन्तर्राष्ट्रीय कीमतें बढती हैं अथवा अन्तर्राष्ट्रीय कीमतो के सापेक्ष के रूप मे घरेलु कीमतें घटती हैं। *क्षैतिज अक्ष पर* बाएँ से दायीं तरफ चलन करने पर वास्तविक व्यय मे वृद्धि होती है।

चित्र 15 1 (c) मे लागत अनुपात व वास्तविक व्यय के विभिन्न सयोगो को प्रदर्शित करने वाले दो ऐसे वक्र खीचे गये है जिनमे से एक आन्तरिक सन्तुलन तथा दूसरा बाह्य सन्तुलन दर्शाता है।

चित्र 15.1(a) व 15.1(b) मे क्रमश: आन्तरिक सन्तुलन तथा बाह्य सन्तुलन वक्र दर्शाये गये हैं।
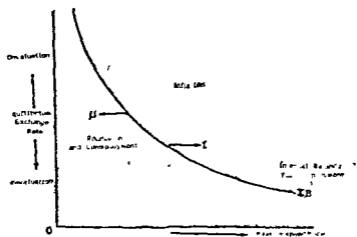
चित्र 15.1(a) आन्तरिक सतुलन वक्र
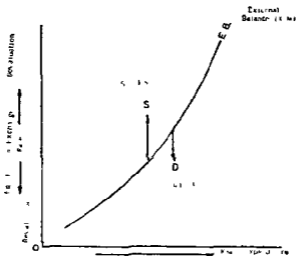
चित्र 15 1 (b) बाह्य सतुलन वक्र

चित्र 15 1(a) मे आन्तरिक सन्तुलन रेखा I B. का ढाल ऋणात्मक है क्योकि नीचे की ओर दायी ओर चलन करने पर अधिमूल्यन के परिणामस्वरूप राष्ट्र के निर्यातो व आयात प्रतिस्थापनो पर व्यय घट जाता है अतः पूर्ण रोजगार बनाये रखने हेतु वास्तविक व्यय मे वृद्धि होनी आवश्यक है। आन्तरिक सन्तुलन रेखा से ऊपर व दायी ओर स्थित सभी बिन्दु मुद्रास्फीति दर्शायेंगे क्योकि इन बिन्दुओ पर वास्तविक व्यय पूर्ण रोजगार के लिए आवश्यक व्यय से अधिक है।

उदाहरणार्थ, I बिन्दु पर दी हुई विनिमय दर पर पूर्ण रोजगार हेतु आवश्यक I.B. रेखा पर स्थित बिन्दु द्वारा दर्शाये गये व्यय की तुलना मे वास्तविक व्यय अधिक है अत IB वक्र के ऊपर व दायी ओर स्थित I व अन्य सभी बिन्दु मुद्रास्फीति की स्थिति दर्शाते हैं। इसके विपरीत IB रेखा से नीचे व बायीं ओर स्थित सभी बिन्दुओ पर बेरोजगारी विद्यमान है क्योकि इन बिन्दुओ पर वास्तविक व्यय पूर्ण रोजगार के लिए आवश्यक व्यय से कम है। उदाहरणार्थ, U बिन्दु पर दी हुई विनिमय दर पूर्ण रोजगार हेतु आवश्यक IB रेखा पर स्थित बिन्दु द्वारा दर्शाये गये व्यय की तुलना मे वास्तविक व्यय कम है, अत· IB वक्र के नीचे व बायी ओर स्थित सभी बिन्दु बेरोजगारी की स्थिति दर्शाते हैं।

चित्र 15.1 (b) मे बाह्य सन्तुलन रेखा E.B का ढाल धनात्मक है, क्योकि ज्यो-

ज्यों हम उपरकी ओर उत्तर दिशा में चलन करते हैं तो अवमूल्यन के परिणामस्वरूप व्यापार संतुलन में सुधार होता है तथा ज्यों-ज्यों हम पूर्व दिशा में चलन करते हैं तो कुल व्यय में वृद्धि से आयातों व निर्यातों पर घरेलू व्यय में वृद्धि के परिणामस्वरूप व्यापार सतुलन में ह्रास होगा। अत. उत्तर-पूर्व दिशा में चलन से व्यापार सतुलन में सुधार व ह्रास की शक्तियाँ सन्तुलित होने पर बाह्य सन्तुलन रेखा प्राप्त होती है। बाह्य सन्तुलन रेखा के प्रत्येक बिन्दु पर आयात-निर्यात समान हैं तथा दीर्घकालीन पूँजी के चलन शून्य हैं। बाह्य सतुलन रेखा से नीचे व दायीं ओर स्थित बिन्दु व्यापार सन्तुलन में घाटा दर्शाते हैं क्योंकि दिये हुए वास्तविक व्यय पर आवश्यक से नीची विनिमय दर (R) है अर्थात् मुद्रा अधिमूल्यन की स्थिति विद्यमान है। अतः चित्र 15 1 (b) में D बिन्दु व E B रेखा से नीचे स्थित समस्त बिन्दु व्यापार-सतुलन में घाटा दर्शायेंगे। इसके विपरीत बाह्य सतुलन रेखा से ऊपर व बायीं ओर स्थित बिन्दु व्यापार सन्तुलन में अतिरेक दर्शाते हैं, क्योंकि दिये हुए वास्तविक व्यय पर आवश्यक से ऊँची विनिमय दर है अर्थात् मुद्रा अवमूल्यन की स्थिति विद्यमान है। अत चित्र 15.1(b) में S बिन्दु व EB रेखा से ऊपर स्थित अन्य समस्त बिन्दु व्यापार-सन्तुलन में अतिरेक दर्शायेंगे।

चित्र 15.1(c) में चित्र 15.1(a) व 15.1(b) के क्रमश आन्तरिक सतुलन व बाह्य सन्तुलन वक्रों को एक साथ रखा गया है। चित्र 15 1(c) को चार खण्डों (Zones) में विभाजित किया जा सकता है : खण्ड I, खण्ड II, खण्ड III व IV। खण्ड I में भुगतान सतुलन में अतिरेक व मुद्रा-स्फीति, खण्ड II में भुगतान संतुलन में घाटा व मुद्रा स्फीति, खण्ड III में भुगतान -सतुलन में घाटा व बेरोजगारी तथा खण्ड IV में भुगतान-सतुलन में अतिरेक व बेरोजगारी की स्थिति विद्यमान है।

चित्र 15.1(c) में I B. व E.B रेखायें जहाँ एक दूसरे को काटती हैं वह पूर्ण साम्य बिन्दु है अर्थात् इस बिन्दु पर बिना मुद्रा स्फीति के पूर्ण रोजगार व भुगतान सतुलन में साम्य की स्थिति विद्यमान है।

नीति क्षेत्र

(Policy Sectors)

चित्र 15 1(c) के I व III खण्डों में असाम्य को सही करने हेतु विनिमय दर के परिवर्तनों की अथवा लागत अनुपात के परिवर्तनों की नीति प्रमुख नीति होगी अर्थात् I व III खण्डों में व्यय स्विचन (Expenditure Switching) नीति अर्थात् अवमूल्यन व अधिमूल्यन नीति प्रमुख नीति उपकरण होगा। इसके विपरीत खण्ड II व IV में
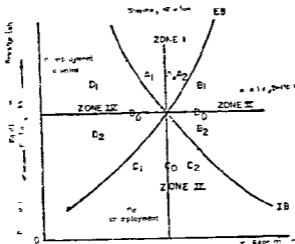
चित्र 15 1(c) विनिमय-दर नीति व वास्तविक व्यय मे परिवर्तन द्वारा आन्तरिक व बाह्य सतुलन मे समायोजन

वास्तविक व्यय में परिवर्तन अर्थात् व्यय परिवर्तन (Expenditure Changing) नीति प्रमुख नीति उपकरण होगा। लेकिन व्यय स्विचन व व्यय परिवर्तन मे से केवल एक नीति को प्रयुक्त करने हेतु असाम्य बिन्दु चित्र 15.1 (c) मे साम्य बिन्दु से गुजरने वाली लम्बवत अथवा क्षैतिज रेखा पर स्थित होना चाहिए । उदाहरणार्थ, असाम्य बिन्दु यदि Ao है तो मुख्य नीति उपकरण अधिमूल्यन और यदि असाम्य बिन्दु Co है तो मुख्य नीति उपकरण अवमूल्यन होगा। इसी प्रकार यदि असाम्य बिन्दु Do है तो वास्तविक व्यय मे वृद्धि और यदि Bo है तो वास्तविक व्यय मे कमी प्रमुख नीति उपकरण होगा।

इसके विपरीत यदि असाम्य बिन्दु 15 1 (c) में पूर्ण साम्य बिन्दु से खींचो गयी लम्बवत् व क्षैतिज रेखाओ के इर्द-गिर्द स्थित है तो ऐसे असाम्य को सही करने हेतु व्यय स्विचन तथा व्यय परिवर्तन नीतियों का सयोजन नीति उपकरण होगा । उदाहरणार्थ चित्र 15 1 (c) के खण्ड I मे यदि A_1 असाम्य बिन्दु है तो भुगतान सतुलन के अतिरेक को समाप्त करने हेतु अधिमूल्यन की नीति के साथ वास्तविक व्यय वृद्धि की नीति अपनानी चाहिए, इसी प्रकार यदि खण्ड I का A2 बिन्दु असाम्य बिन्दु है तो अधिमूल्यन की नीति के साथ वास्तविक व्यय मे कमी की नीति अपनाई जानी चाहिए। यदि असाम्य बिन्दु खण्ड III में C_1 बिन्दु है तो भुगतान सतुलन के घाटे को

सुधारन हेतु मुद्रा के अवमूल्यन के साथ वास्तविक व्यय में वृद्धि की नीति अपनाई जानी चाहिए। इसी प्रकार यदि असाम्य बिन्दु C_2 है तो अवमूल्यन की नीति के साथ वास्तविक व्यय घटाने वाली नीति अपनाई जानी चाहिए।

इसी प्रकार खण्ड II में यदि असाम्य बिन्दु B_1 है तो अधिमूल्यन व व्यय घटाने वाली नीति व असाम्य बिन्दु B_2 है तो अवमूल्यन व व्यय घटाने वाली नीति अपनानी चाहिए। चित्र के खण्ड IV में यदि असाम्य बिन्दु D_1 है तो अधिमूल्यन व वास्तविक व्यय म वृद्धि वाली नीति और यदि असाम्य बिन्दु D_2 है तो अवमूल्यन व व्यय विस्तार वाली नीति का संयोजन अपनाया जाना चाहिए। चित्र 15.1 (c) के विभिन्न असाम्य बिन्दुओं से सम्बन्धित विनिमय दर व व्यय परिवर्तनों की नीति को सारणी 15.1 में दर्शाया गया है।

सारणी 15.1 : विभिन्न खण्डो मे नीति संयोजन

खण्ड	बिन्दु	व्यय स्विचन नीति	व्यय परिवर्तन नीति
	A_1	अधिमूल्यन	व्यय विस्तार की नीति
I	A_0	अधिमूल्यन	व्यय नीति अपरिवर्तित
	A_2	अधिमूल्यन	व्यय संकुचन वाली नीति
	B_1	अधिमूल्यन	व्यय संकुचन वाली नीति
II	B_0	विनिमय दर यथास्थिर	व्यय संकुचन वाली नीति
	B_2	अवमूल्यन	व्यय संकुचन वाली नीति
	C_1	अवमूल्यन	व्यय विस्तार वाली नीति
III	C_0	अवमूल्यन	व्यय नीति अपरिवर्तित
	C_2	अवमूल्यन	व्यय संकुचन की नीति
	D_1	अधिमूल्यन	व्यय विस्तार वाली नीति
IV	D_0	विनिमय दर यथास्थिर	व्यय विस्तार वाली नीति
	D_2	अवमूल्यन	व्यय विस्तार वाली नीति

भुगतान सन्तुलन के स्टॉक व प्रवाह पहलुओं पर ध्यान केन्द्रित करने के परिणामस्वरूप अवमूल्यन के वास्तविक शेष प्रभाव (real balance effect) को केन्द्र बिन्दु

स्थिर ब्याज दर की स्थिति में अवमूल्यन से (ऊँची कीमतों के कारण) मुद्रा की माँग में वृद्धि होगी। मुद्रा-पूर्ति की इस वृद्धि से अवमूल्यन के प्रारम्भिक प्रभाव दुरुस्त हो जायेंगे इसके विपरीत स्थिर मुद्रा पूर्ति की स्थिति में अवमूल्यन के परिणामस्वरूप ब्याज दर में वृद्धि होगी जिससे (स्थिर वास्तविक आय पर) व्यय में कमी की प्रवृत्ति होगी। अतः स्पष्ट है कि 'अवशोषण-विश्लेषण' का मुख्य योगदान मौद्रिक घटकों पर जोर देना है।

आन्तरिक व बाह्य संतुलन में द्वन्द्व

(The conflict between External & Internal Balance)

वैकल्पिक विनिमय प्रक्रियाओं (Exchange Mechanism) के मूल्यांकन हेतु प्रो. मीड[11] (Meade) का आंतरिक व बाह्य सन्तुलन के मध्य द्वन्द्व प्रारम्भ बिन्दु माना जा सकता है। प्रो मीड ने स्थिर विनिमय दरों के अन्तर्गत स्थितियों के चार प्रमुख संयोगों की ओर ध्यान दिलाया है। ऐसे राष्ट्र जिनमें घरेलू मन्दी अथवा मुद्रा-स्फीति विद्यमान है उन्हें भुगतान सन्तुलन में घाटा अथवा अतिरेक की समस्या का सामना करना पड़ सकता है। मन्दी-अतिरेक वाले राष्ट्र विस्तार वाली मौद्रिक व राजकोषीय नीति अपना सकते हैं जिसमें रोजगार व आय के स्तर में वृद्धि होने की प्रवृत्ति होगी एवं अतिरेक में कमी होगी। मुद्रा स्फीति व घाटे वाले राष्ट्र संकुचन वाली नीतियाँ अपनाकर स्थिति का मुकाबला कर सकते हैं। लेकिन अन्य दो स्थितियों में अपनी नीतियों के सन्दर्भ में राष्ट्र द्वन्द्व (conflict) में पाये जायेंगे। मंदी वाले राष्ट्र में आय बढ़ाने के उद्देश्य से अपनाई गई कोई भी नीति भुगतान-संतुलन के घाटे में वृद्धि करेगी तथा घाटे में सुधार हेतु उठाया गया प्रत्येक कदम आय में कमी करके मन्दी की स्थिति को गम्भीर बना देगा। इसी प्रकार स्फीति-अतिरेक वाला राष्ट्र मुद्रा स्फीति से निपटने हेतु भुगतान सन्तुलन के अतिरेक को बढ़ा देगा तथा अतिरेक समाप्त करने हेतु मुद्रा स्फीति की स्थिति गम्भीर बना देगा।

प्रो मीड के स्थिर विनिमय दरों की स्थिति में आन्तरिक व बाह्य सन्तुलन के बीच 'द्वन्द्व' के निरूपण (demonstration) को अधिकांश अर्थशास्त्रियों ने लम्बे समय तक स्वीकार किये रखा। मीड के विश्लेषण में, बाह्य संतुलन को चालू खाते (current account) के रूप में परिभाषित किया गया था। लेकिन प्रो. मुन्डेल

11. Meade, J.E.—Op cit., pp 114-24
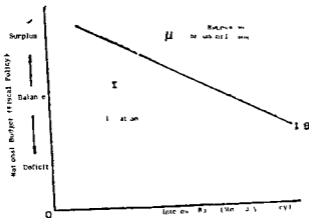
चित्र 15.2(a) आन्तरिक सतुलन रेखा
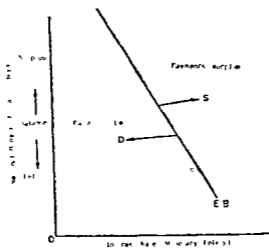
चित्र 15 2(b) बाह्य संतुलन रेखा

चित्र 15.2(a), (b) तथा (c) मे स्थिर विनिमय दर की स्थिति मे आन्तरिक व बाह्य सतुलन पर मौद्रिक व राजकोषीय नीतियो के प्रभाव को स्पष्ट किया गया है। चित्र 15.1(a) में लम्बवत् अक्ष पर राजकोषीय नीति व क्षैतिज अक्ष पर मौद्रिक नीति दर्शायी गयी है।
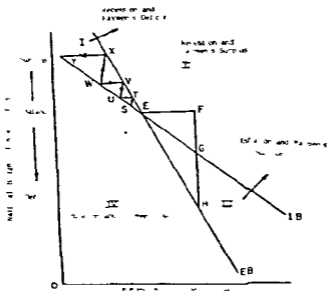
चित्र 15 2(c) मौद्रिक नीति बाह्य सतुलन को तथा राजकोषीय नीति ग्रान्तरिक सतुलन को नियत (Assigned)

राजकोषीय नीति को राष्ट्रीय बजट मे घाटा ग्रथवा ग्रतिरेक उत्पन्न करके परिवर्तित किया जा सकता है। राष्ट्रीय बजट मे घाटेवाली नीति को विस्तारवाली राजकोषीय नीति (Expansionary Fiscal Policy) तथा ग्रतिरेक वाली नीति को सकुचन वाली राजकोषीय नीति (Contractionary Fiscal Policy) कहते हैं। मौद्रिक नीति मे ब्याज दर परिवर्तनो द्वारा ग्रान्तरिक व बाह्य सतुलन को प्रभावित किया जा सकता है। मौद्रिक नीति के दो प्रभाव होंगे, प्रथम तो ब्याज दर में परिवर्तनो से विनियोग प्रभावित होता है तथा इससे गुणक प्रभाव के माध्यम से उपभोक्ता व्यय प्रभावित होता है तथा द्वितीय ब्याज दर में परिवर्तनो से ग्रल्पकालीन पूँजी के चलन प्रभावित होते हैं।

चित्र 15.(a) मे ग्रान्तरिक सन्तुलन रेखा I B. का ढाल ऋणात्मक है क्योंकि क्षैतिज ग्रक्ष पर दायी ओर चलन करके ब्याज दर में वृद्धि से विनियोग मे कमी के कारण मंदी की स्थिति उत्पन्न होगी ग्रतः पूर्णरोजगार बनाये रखने हेतु राष्ट्रीय बजट मे ग्रतिरेक कम करना ग्रथवा बजट घाटे म वृद्धि करना ग्रावश्यक होगा। वैकल्पिक रूप से हम कह सकते हैं कि क्षैतिज ग्रक्ष पर बायीं ओर चलन करके ब्याज-

दर कम कर देने से मुद्रा-स्फीति उत्पन्न होगी । अतः आतरिक सतुलन बनाये रखने हेतु राष्ट्रीय बजट के घाटे मे कमी करना अथवा अतिरेक मे वृद्धि करना आवश्यक होगा । आतरिक सतुलन रेखा IB के ऊपर व दायी ओर स्थित u जैसा कोई भी बिन्दु मदी अथवा बेरोजगारी दर्शायेगा क्योकि u बिन्दु पर दी हुई राष्ट्रीय बजट की स्थिति मे ब्याज दर पूर्णरोजगार के लिए आवश्यक दर से ऊँची है। इसी प्रकार आन्तरिक सतुलन रेखा I B से नीचे व बायी ओर स्थित I जैसा प्रत्येक बिन्दु मुद्रा-स्फीति दर्शायेगा क्योकि I बिन्दु पर दी हुई राष्ट्रीय बजट की स्थिति मे पूर्ण रोजगार हेतु आवश्यक से नीची ब्याज दर प्रचलित है। अत IB रेखा राष्ट्रीय बजट व ब्याज दर के ऐसे विभिन्न सयोग दर्शाती है जिन पर बिना मुद्रा स्फीति के पूर्ण रोजगार की स्थिति विद्यमान है ।

चित्र 15 2 (c) मे बाह्य सतुलन रेखा EB राष्ट्रीय बजट व ब्याज दर के ऐसे विभिन्न संयोग दर्शाती है जिन पर भुगतान-सतुलन साम्यावस्था मे है। ध्यान रहे कि यहाँ पर भुगतान सतुलन मे साम्य से हमारा आशय $X+M+LTc+STc=0$ से है अर्थात् निर्यात + आयात + दीर्घकालीन पूँजी के चलन + अल्पकालीन पूँजी के चलनो का योग शून्य होना चाहिए ।

EB रेखा का ढाल न केवल ऋणात्मक ही है अपितु यह I.B रेखा की तुलना मे अधिक ढालू (steeper) भी है। EB रेखा का ढाल ऋणात्मक होने का अभिप्राय यह है कि लम्बवत् अक्ष पर नीचे की ओर चलन करने पर राष्ट्रीय बजट मे अतिरेक कम होने पर अथवा बजट घाटे मे वृद्धि होने पर व्यय वृद्धि के कारण आयातों पर व्यय मे वृद्धि होगी तथा व्यापार सन्तुलन मे घाटा उत्पन्न होगा। अत बाह्य सन्तुलन बनाये रखने हेतु ब्याज दर मे वृद्धि करके पूँजी के अन्तर्वाह (inflow) को प्रेरित करना आवश्यक होगा। चित्र 15.2 (b) EB रेखा से ऊपर व दायी ओर स्थित S जैसे समस्त बिन्दु भुगतान सन्तुलन मे अतिरेक दर्शाते हैं, क्योकि S बिन्दु पर दी हुई राष्ट्रीय बजट की स्थिति मे ब्याज दर बाह्य सतुलन हेतु आवश्यक से ऊँची है। इसी प्रकार E B रेखा से नीचे व बायी ओर स्थित D जैसे समस्त बिन्दु भुगतान सतुलन में घाटा दर्शाते हैं क्योकि D बिन्दु पर दी हुई राष्ट्रीय बजट की स्थिति मे ब्याज दर बाह्य सतुलन हेतु आवश्यक दर से कम है।

ध्यान रहे EB रेखा IB रेखा की तुलना में अधिक ढालू (Steeper) है, जिसका अभिप्राय यह है कि भुगतान-सन्तुलन मे असाम्य की स्थिति से निपटने हेतु मौद्रिक नीति अथवा ब्याज दर अधिक प्रभावी है। बाह्य-सन्तुलन रेखा E.B का ढाल

ब्याज-दर के प्रति घरेलू व्यय की सवेदिता (Sensitivity) तथा बजट अतिरेक के प्रति घरेलू व्यय की सवेदिता का अनुपात है। अर्थात यदि हम कुछ समय के लिए विभिन्न ब्याज-दरो पर पूँजी चलनो को स्थिर मान लें तो भुगतान-सतुलन केवल मात्र घरेलू व्यय पर निर्भर करेगा तथा आतरिक सन्तुलन रेखा I B व बाह्य सन्तुलन रेखा E B के ढाल ठीक बराबर होगे क्योकि बाह्य-सन्तुलन रेखा का ढाल ब्याज के प्रति घरेलू व्यय की सवेदिता तथा बजट अतिरेक के प्रति घरेलू व्यय की सवेदिता का अनुपात है। अत स्पष्ट है कि यदि हम ब्याज दर म परिवर्तनो के परिणामस्वरूप पूँजी चलनो की प्रतिक्रियात्मकता मानते हैं तो E B रेखा का ढाल I B रेखा के ढाल से अधिक होगा।

ध्यान रहे कि चित्र 15 1 (a), (b) व (c) म आनरिक सन्तुलन रेखा व बाह्य सन्तुलन रेखा दी हुई विनिमय दर (given exchange rate) की मान्यता पर खीची गयी हैं। विनिमय दर मे परिवर्तन से दोनो रेखायें विस्थापित (displace) हो जायेंगी। उदाहरणार्थ, अवमूल्यन के परिणामस्वरूप बाह्य सतुलन रेखा E B नीचे व बायी ओर विवर्त (Shift) हो जायेगी क्योकि अवमूल्यन के परिणामस्वरूप दी हुई राष्ट्रीय बजट की स्थिति म पूर्व से कम ब्याज-दर पर बाह्य-सन्तुलन प्राप्त करना समव होगा। इसी प्रकार अवमूल्यन के परिणामस्वरूप आतरिक-सतुलन रेखा I.B ऊपर व दायी ओर विवर्त हो जायेगी क्योकि अवमूल्यन के परिणामस्वरूप दी हुई ब्याज दर पर बजट म पूर्व से कम घाटा अथवा अधिक अतिरेक के साथ पूर्ण रोजगार की स्थिति प्राप्त करना सभव होगा।

चित्र 15 2(c) में चित्र 15 1(a) की आतरिक सतुलन रेखा I.B व चित्र 15 2 (b) की बाह्य सतुलन रेखा E.B. को एक साथ रखा गया है। I.B व E B. रेखायें E बिन्दु पर एक दूसरे को काटती हैं। अत E बिन्दु पूर्ण साम्य का बिन्दु है। मान लीजिए कि ब्याज दर म EF की वृद्धि से साम्य बिन्दु E से विघ्न उत्पन्न होता है तो इस ऊँची ब्याज-दर मे अवस्फीति बढेगी तथा F बिन्दु पर भुगतान सतुलन मे अतिरेक की स्थिति विद्यमान होगी। अवस्फीति के दबाव को कम करने हेतु राष्ट्रीय बजट म G बिन्दु तक अतिरेक कम करना अथवा घाटा बढाना होगा। G बिन्दु पर व्यय E बिन्दु के समान ही है अर्थात् यह G व E दोनो ही बिन्दुओ पर पूर्णरोजगार बनाये रखन हेतु आवश्यक घरेलू व्यय है क्योकि दोनो ही बिन्दु IB रेखा पर स्थित है। लेकिन G बिन्दु पर भुगतान सन्तुलन म GH के बराबर अतिरेक है। इसका अभिप्राय यह है कि ऊँची ब्याज दर क कारण पूँजी के आयातो मे वृद्धि के परिणामस्वरूप यह अतिरेक उत्पन्न हुआ है अत इस ब्याज-दर पर भुगतान सन्तुलन मे अतिरेक समाप्त

करने हेतु राष्ट्रीय बजट के अतिरेक मे कमी अथवा घाटे मे वृद्धि करके आयातो म वृद्धि उत्पन्न की जा सकती है। चित्र 15.1 (c) मे पूँजी आयात ब्याज-दर परिवर्तनो के प्रति अधिक सवेदित है अत H बिन्दु G से जितना अधिक नीचे होगा उतना ही अधिक भुगतान-सन्तुलन मे साम्य प्राप्त करने हेतु अर्थव्यवस्था को मुद्रा-स्फीति मे धकेलना पड़ेगा।

प्रो. मुन्डेल (Mundell) ने अपने इस विश्लेषण को प्रदत्तकार्य समस्या (Assignment Problem) को स्पष्ट करने हेतु विकसित किया था। चित्र 15.2(c) मे चतुर्थांश II व IV मे प्रदत्तकार्य समस्या उत्पन्न नही होती है क्योकि II चतुर्थांश मे मदी व अतिरेक की समस्या से निपटने हेतु मौद्रिक तथा राजकोषीय दोनो ही नीतियाँ विस्तार वाली होगी अर्थात् II चतुर्थांश मे ब्याज दर मे कमी द्वारा भुगतान-सन्तुलन का अतिरेक समाप्त होगा व विनियोग बढ़ेगा तथा राष्ट्रीय बजट मे अतिरेक कम करने अथवा घाटा बढाने से मदी समाप्त होगी व भुगतान सन्तुलन के अतिरेक के समाप्त होने मे मदद मिलेगी। इसी प्रकार चतुर्थांश IV मे राजकोषीय व मौद्रिक दोनो ही नीतियाँ सकुचन वाली (contractionary) होगी क्योकि मुद्रा स्फीति से निपटने हेतु बजट मे अतिरेक बढाने अथवा घाटा कम करने से मुद्रास्फीति समाप्त होगी तथा व्यय घटने के साथ-साथ आयात भी घटेंगे। इसी प्रकार ब्याज दर बढ़ाने से पूँजी का अन्तर्वाह बढ़ेगा जिससे भुगतान-सन्तुलन का घाटा समाप्त होगा व विनियोग व्यय भी घटेगा।

लेकिन चतुर्थांश I तथा III मे प्रदत्त कार्य समस्या उत्पन्न होगी। उदाहरणार्थ, चतुर्थांश I मे भुगतान सन्तुलन के घाटे को सुधारने का कार्य तो मौद्रिक नीति को 'प्रदत्त' किया जाना चाहिए तथा ब्याज दर मे वृद्धि कर सकुचन वाली मौद्रिक नीति अपनानी चाहिए और मदी व बेरोजगारी की स्थिति से निपटने का कार्य राजकोषीय नीति को 'प्रदत्त' किया जाना चाहिए एव विस्तार वाली राजकोषीय नीति अपनानी चाहिए। चित्र 15 2 (c) मे मान लीजिए कि असाम्य बिन्दु W है तो आतरिक सन्तुलन तो है लेकिन भुगतान सन्तुलन मे घाटा विद्यमान है अत. भुगतान सन्तुलन के घाटे को समाप्त करने का कार्य मौद्रिक नीति को 'प्रदत्त' किया जाना चाहिए और ब्याज दर मे WV की वृद्धि करनी चाहिए। लेकिन V बिन्दु पर अर्थव्यवस्था मे मदी की स्थिति है अत बजट के अतिरेक मे कमी अथवा बजट घाटे म वृद्धि VU के बराबर की जानी चाहिए। लेकिन U बिन्दु पर भी भुगतान सन्तुलन मे कुछ घाटा विद्यमान है अत पुन ब्याज दर म UT की वृद्धि की जानी चाहिए तत्पश्चात् T बिन्दु पर मदी की स्थिति को समाप्त करने हेतु बजट अतिरेक में कमी अथवा बजट घाटे मे वृद्धि Ts के

बराबर कर दी जानी चाहिए। अतः स्पष्ट है कि 'स्थायी साम्य' (stable equilibrium) की स्थिति विद्यमान होने के कारण अन्तत E बिन्दु प्राप्त कर लिया जावेगा।

इसके विपरीत यदि राजकोषीय नीति बाह्य सन्तुलन को 'प्रदत्त' की जाती है तथा मौद्रिक नीति आंतरिक सन्तुलन को तो अस्थायी साम्य (unstable Equilibrium) की स्थिति उत्पन्न हो जावेगी एवं मूल साम्य बिन्दु को E से दूर और अधिक दूर चलन करने की प्रवृत्ति होगी। उदाहरणार्थ, यदि हम W बिन्दु से प्रारम्भ करें और भुगतान सन्तुलन के घाटे को सही करने हेतु राजकोषीय नीति 'प्रदत्त' करें तो बजट म Wx के बराबर अतिरेक की वृद्धि कर बाह्य सन्तुलन रेखा के X बिन्दु पर चलन किया जा सकता है लेकिन X बिन्दु पर मंदी व बेरोजगारी विद्यमान है अत इन अवस्था से निपटने हेतु मौद्रिक नीति 'प्रदत्त' की जावे तो हमें Xy के बराबर ब्याज-दर घटानी होगी जिससे अर्थव्यवस्था में पुन आंतरिक सन्तुलन स्थापित हो जायगा. लेकिन y बिन्दु पर भुगतान सन्तुलन के घाटे म और अधिक वृद्धि हो गयी है अत इस घाटे को समाप्त करने हेतु राष्ट्रीय बजट के अतिरेक म भारी वृद्धि की आवश्यकता होगी। लेकिन बजट में भारी अतिरेक उत्पन्न करने से बेरोजगारी व मंदी की स्थिति और गम्भीर हो जावेगी। यह प्रक्रिया जारी रखने पर अर्थव्यवस्था मूल साम्य बिन्दु E से अधिकाधिक दूर चलन करती जावेगी। अतः स्पष्ट है कि राजकोषीय नीति को बाह्य सन्तुलन हेतु 'प्रदत्त' करने तथा मौद्रिक नीति को आंतरिक सन्तुलन हेतु 'प्रदत्त' करने की अस्थायी नीति की प्रणाली होगी।

इसके विपरीत यदि I चतुर्थांश में हम मौद्रिक व राजकोषीय दोनों ही नीतियाँ विस्तारवाली अपनाते हैं तो हम उत्तर-पूर्व दिशा में चलन करेंगे और साम्य बिन्दु E प्राप्त नहीं हो सकेगा।

इसी प्रकार दोनों नीतियाँ संकुचन वाली अपनाने पर हम दक्षिण-पश्चिम दिशा में चलन करेंगे और साम्य बिन्दु E प्राप्त नहीं हो सकेगा। इसी प्रकार विस्तार वाली मौद्रिक नीति व संकुचन वाली राजकोषीय नीति अपनाने पर साम्य बिन्दु E से दूर उत्तर-पश्चिम दिशा में चलन होगा।

यदि चित्र 15 2(c) में असाम्य बिन्दु चतुर्थांश III में है तब भी 'प्रदत्त' कार्य समस्या उत्पन्न होगी और भुगतान सन्तुलन के अतिरेक को समाप्त करने हेतु विस्तार वाली मौद्रिक नीति अपनाकर ब्याज दर घटानी चाहिए तथा संकुचन वाली राजकोषीय नीति अपनाकर मुद्रा-स्फीति की स्थिति से निपटना चाहिए।

ध्यान रहे कि चतुर्थांश I व III मे मौद्रिक तथा राजकोषीय नीतियाँ, विपरीत दिशाओं मे कार्यरत रहने के कारण ये कुछ सीमा तक एक दूसरे के प्रभावो को प्रभावहीन कर देती हैं।

चित्र 15.2 (c) के विभिन्न चतुर्थांशो मे अपनाये जाने वाली नीतियों को सारणी 15 2 मे दर्शाया गया है—

सारणी 15 2—आन्तरिक व बाह्य असन्तुलन सही करने हेतु आवश्यक नीतियाँ

चतुर्थांश	आतरिक सतुलन की स्थिति	आतरिक सतुलन प्राप्त करने हेतु राजकोषीय नीति	भुगतान सतुलन की स्थिति	भुगतान सतुलन को सही करने हेतु मौद्रिक नीति	स्थिति की प्रकृति
I	मदी	विस्तार वाली	घाटा	सकुचन वाली	असगत
II	मदी	विस्तार वाली	अतिरेक	विस्तार वाली	सगत
III	मुद्रास्फीति	सकुचन वाली	अतिरेक	विस्तार वाली	असगत
IV	मुद्रास्फीति	सकुचन वाली	घाटा	सकुचन वाली	सगत

लेकिन प्रो० मुण्डेल के इस विश्लेषण को अर्थशास्त्रियो ने इसे अर्द्ध समायोजन विश्लेषण कहकर आलोचना की है क्योंकि ब्याज-दर में परिवर्तन की प्रतिक्रिया के रूप मे पूँजी के चलन स्वेच्छ (arbitrary) होते हैं एव ये चलन पूँजी दुर्लभ राष्ट्रो से पूँजी सम्पन्न राष्ट्रो को और भी हो सकते हैं जिससे आदर्शमूलक (normative) समस्या भी उत्पन्न हो जायेगी।

भुगतान सन्तुलन में अर्द्धसमायोजन की रीतियाँ

(Quasi-Adjustment Methods for Correcting Disequilibrium in the Balance of Payments)

प्रो० विलियमसन (Williamson) ने भुगतान सन्तुलन मे समायोजन वाली आधारभूत समायोजक नीतियो (Basic adjustment policies) तथा अर्द्ध-समायोजक नीतियो (quasi-adjustment policies) मे अन्तर किया है।

आधारभूत समायोजक नीतियाँ भुगतान सन्तुलन के असाम्य को नहीं करती हैं जबकि अर्द्ध-समायोजक नीतियाँ असाम्य को दबाती (supress) हैं।

हमारे अब तक के विश्लेषण म हमने आधारभूत समायोजन नीतियो पर ध्यान केन्द्रित किया था लेकिन अनेक परिस्थितियो मे अर्द्ध-समायोजक नीतियाँ अपनाना आवश्यक हो जाता है, उदाहरणार्थ, यदि आधारभूत समायोजक नीतिया का प्रभाव शनै-शनै हो तो अन्तरिम अवधि म अर्द्ध-समायोजन नीतियाँ अपनाई जा सकती हैं। इसी प्रकार यदि प्रथम सर्वश्रेष्ठ की आधारभूत नीति अपनाना सभव नही है तो अर्द्ध-समायोजन नीतियो को द्वितीय सर्वश्रेष्ठ नीति (Policy of the second best) के रूप मे अपनाना आवश्यक हो सकता है, इसी प्रकार यदि असाम्य के कारणो का सही निदान (diagnosis) नही हो पाया हो तो अर्द्ध-समायोजन नीतियां अपनाई जा सकती है।

अर्द्ध-समायोजन नीतियो मे अनेक उपकरण आते हैं उदाहरणार्थ, आयात अधिभार लगाकर आयातो को कम करना, विदेशी यात्रा पर प्रतिबन्ध लगाना, एव विनिमय नियन्त्रण के विभिन्न तरीके अपनाना।

अतः अब हम विनिमय नियत्रण की अर्द्धसमायोजन वाली नीतियो का विस्तृत अध्ययन करेंगे।

विनिमय नियन्त्रण का अर्थ

(Meaning of Exchange Control)

विनिमय नियत्रण के अन्तर्गत विदेशी विनिमय बाजार मे हस्तक्षेप द्वारा विनिमय दर को प्रभावित करने हेतु अपनाये गये समस्त उपाय आते हैं।

प्रो० हेबरलर (Haberler) के अनुसार विनिमय नियत्रण वह सरकारी नियमन है जिससे विदेशी विनिमय बाजार मे आर्थिक शक्तियो का स्वतत्र कार्यकलाप वर्जित हो जाता है।"[16]

पॉल एजिग (Paul Einzig) के अनुसार विनिमय नियत्रण की ओर चलन "विभिन्न राष्ट्रो मे समाजवादियो व फासिस्टो का अपनी राजनीतिक व आर्थिक याजनाओ के हित मे कोषो के अन्तर्राष्ट्रीय चलनो पर पूर्ण नियत्रण प्राप्त करने का स्वप्न था।"[17]

प्रो० हाम (Halm) के अनुसार, 'स्वतत्र विदेशी विनिमय बाजार को विभेदात्मक नियमनो द्वारा प्रतिस्थापित करने वाले उपायो'[18] को विनिमय नियत्रण कहते हैं।

---

16 Haberler, G V —The Theory of International Trade— p 83

17 Einzig, Paul—Exchange Control — p 8

18 Halm, George N —Economics of Money and Banking—p 400

अत स्पष्ट है कि विनिमय नियंत्रण के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी के प्रवाहो पर लगाये गये प्रतिबन्ध, अग्रिम बाजारो मे सरकारी हस्तक्षेप, बहु-विनिमय दर प्रणाली तथा राष्ट्र विशेष द्वारा लागू किये गये अन्य वित्तीय व मौद्रिक प्रतिबन्धों को सम्मिलित किया जा सकता है।

विनिमय नियत्रण को चित्र 15.3 की सहायता से स्पष्ट किया जा सकता है।

चित्र 15.3 मे प्रारम्भिक माँग व पूर्ति वक्र क्रमश DD व SS हैं अत P साम्य विनिमय दर निर्धारित होती है। अब मान लीजिये कि विदेशी विनिमय की माँग मे वृद्धि से माँग वक्र विवर्त होकर D'D' हो जाता है तथा पूर्ति मे कमी के परिणाम-स्वरूप पूर्ति वक्र S S' हो जाता है तो नयी साम्य विनिमय दर P' निर्धारित होनी चाहिए। लेकिन सरकार C C से ऊँची विनिमय दर को वांछित नही समझती है अत *प्राधिकारिक दर C C ही बनी रहती है। C C विनिमय दर पर विदेशी* विनिमय की माँग OB है जबकि पूर्ति केवल OA ही है अत AB अन्तराल (gap) *के कारण विनिमय नियंत्रण अपनाना आवश्यक हो जाता है। ध्यान रहे C C* विनिमय दर विचारार्थ राष्ट्र की घरेलू मुद्रा के कृत्रिम अधिमूल्यन की द्योतक है।
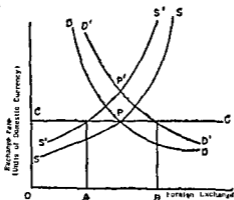
चित्र 15 3 · विदेशी विनिमय बाजार में सरकारी हस्तक्षेप (विनिमय नियत्रण)

विनिमय नियंत्रण के उद्देश्य

(Objectives of Exchange Control)

विनिमय नियत्रण अपनाने के अग्रलिखित प्रमुख उद्देश्य हो सकते है :—

रखने का उद्देश्य आर्थिक विकास के लिए आवश्यक माल का नीची कीमतो पर आयात करना तथा विदेशी ऋण को सुविधापूर्वक चुकाना हो सकता है।

उपर्युक्त उद्देश्यो के अलावा *आवश्यक वस्तुओ के आयात सुनिश्चित करना*, मुद्रा का अवमूल्यन बनाय रखना, शत्रु राष्ट्रो द्वारा क्रयशक्ति के प्रयोग पर रोक लगाना व विदेशियो के पास सचित राष्ट्रीय प्रतिभूतियो की कीमतें गिराना आदि विनिमय नियत्रण के अन्य उद्देश्य भी हो सकते है।

विनिमय नियंत्रण की रीतियाँ

(Methods of Exchange Control)

विनिमय नियत्रण हेतु अनेक रीतियाँ अपनाई जाती है अत यहाँ हम केवल *प्रमुख रीतियो का ही विवेचन प्रस्तुत करेंगे। विनिमय नियत्रण की रीतियो को दो* भागो म बांटा जा सकता है —

1 एक पक्षीय रीतियाँ (Unilateral Methods) —इनमे वे रीतियाँ सम्मिलित की जाती हैं जिन्हे कोई भी देश *एकतरफा रूप से अपनाता है अर्थात् अन्य* व्यापार सहयोगी राष्ट्रो पर एसी नीति के पडने वाले प्रभावो की अवहेलना करते हुए अथवा अन्य राष्ट्रो से बिना कोई समझौता किय यदि कोई राष्ट विनिमय नियत्रण अपनाता है तो इसे विनिमय नियत्रण की एक पक्षीय रीतियो मे सम्मिलित किया जाता है। विनिमय नियत्रण की एक पक्षीय रीतियो मे विनिमय दर को 'ऊँचा *अटकाना' (Pegging up) तथा नीची अटकाना' (Pegging down)*, विदेशी व्यापार का नियमन, अवरुद्ध खात, विदेशी विनिमय का राशनिंग आदि रीतियाँ सम्मिलित की जाती है।

2. द्विपक्षीय *तथा बहुपक्षीय रीतियाँ (Bilateral and Multilateral* Methods)—द्विपक्षीय रीतियाँ दो राष्ट्रो म आपसी समझौतो द्वारा अपनाई जाती हैं। इनमे निजी क्षति पूर्ति, विनिमय समाशोधन, भुगतान समझौते, विराम्व-कालीन हस्तातरण, एक साथ क्रय के समझौते आदि सम्मिलित किये जाते हैं। बहुपक्षीय रीतियो म बहुविनिमय दरें प्रमुख है।

[1] विनिमय नियत्रण की रीतियो का एक अन्य वर्गीकरण भी किया जाता है—(1) विनिमय नियत्रण की प्रत्यक्ष रीतियाँ, तथा (2) विनिमय नियत्रण की अप्रत्यक्ष रीतियाँ। इस वर्गीकरण के अनुसार विनिमय नियत्रण की विभिन्न रीतियो को चार्ट 15 2 की सहायता से प्रस्तुत किया जा सकता है —

चार्ट १५.२
विनिमय नियन्त्रण की रीतियाँ
प्रत्यक्ष रीतियाँ
अप्रत्यक्ष रीतियाँ
हस्तक्षेप
विनिमय प्रतिबन्ध
निजी क्षतिपूर्ति
भुगतान समझौते
विलम्बकालीन हस्तांतरण
थोक क्रय समझौते
विनिमय दर को ऊँची घटवाना (Pegging up)
विनिमय दर को नीची घटवाना (Pegging down)
अवरुद्ध खाते
विदेशी विनिमय की राशनिंग
बहु विनिमय दरें
आयात नियन्त्रण
निर्यात अधिदान
ब्याज दर में परिवर्तन
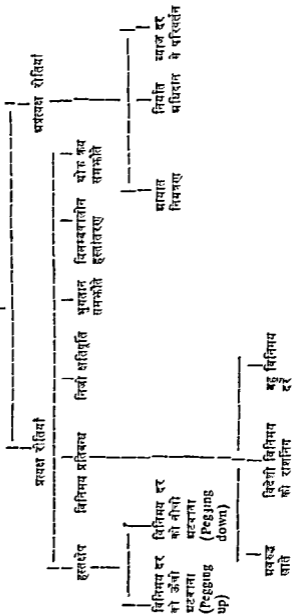
आन्तरिक साधन भी एक सीमा तक ही जुटाये जा सकते हैं। अतः लम्बी अवधि तक विनिमय दर नीची अथवा ऊंची रखने की नीति भी काफी महंगी व असफल साबित हो सकती है।

निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते हैं कि 'हस्तक्षेप' की नीति केवल अस्थायी तौर पर ही अपनायी जा सकती है। अतः विनिमय दर में मामूली उच्चावचनों को नियंत्रित करने हेतु यह नीति अपनाई जा सकती है।

ध्यान रहे कि 'हस्तक्षेप' स्थिर विनिमय दर का ही दूसरा नाम नहीं है, उदाहरणार्थ, कोई भी सरकार अपनी मुद्रा की स्थिर विनिमय दर के स्तर की परवाह किये बिना अपनी मुद्रा के मूल्य को समर्थन प्रदान करने हेतु अथवा इसे नीचा बनाये रखने हेतु विदेशी विनिमय बाजार में हस्तक्षेप की नीति अपना सकती है।

2. विनिमय प्रतिबन्ध :—(Exchange Restrictions) द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ के वर्षों में अधिकांश राष्ट्रों के लिए "हस्तक्षेप" विनिमय नियंत्रण का दुर्बल उपकरण साबित हुआ अतः इन राष्ट्रों ने विनिमय नियंत्रण के अधिक प्रबल उपकरण अपनाये जिन्हें विनिमय प्रतिबन्ध (Exchange Restrictions) के नाम से जाना जाता है।

प्रो० क्राउथर[19] (Crowther) ने विनिमय प्रतिबन्ध की तीन प्रमुख विशेषताएँ इंगित की हैं : (1) विदेशी विनिमय के समस्त सौदे सरकार अथवा इसके मान्य एजेंटों (immediate Agents) के हाथों में केन्द्रित हो जाते हैं, (2) राष्ट्र की मुद्रा को किसी भी अन्य मुद्रा के विनिमय में परिवर्तित करने से पूर्व सरकारी अनुमति आवश्यक होती है, तथा (3) किसी भी व्यक्ति द्वारा बिना अनुमति एवं सरकारी एजेंसी के माध्यम से किया गया विनिमय सौदा कानूनी अपराध घोषित कर दिया जाता है।

उपर्युक्त बोध में विनिमय प्रतिबन्ध सर्वप्रथम सन् 1931 के वित्तीय संकट में जर्मनी व आस्ट्रिया में प्रयुक्त किये गये थे। तत्पश्चात् विनिमय प्रतिबन्ध में अनेक परिष्कार किये गये तथा अब तक विश्व के लगभग सभी राष्ट्र विनिमय प्रतिबन्ध की नीति अपना चुके हैं।

हस्तक्षेप व विनिमय प्रतिबन्ध की रीतियों में मुख्य अन्तर यह है कि हस्तक्षेप की रीति अपनाने वाली सरकार को विदेशी विनिमय बाजार के सौदों की मात्रा में

19 Crowther, G —An outline of Money—p. 251.

वृद्धि करनी होती है जबकि विनिमय प्रतिबन्ध की नीति के अन्तर्गत विदेशी विनिमय बाजार में घरेलू मुद्रा की पूर्ति को अनिवार्य रूप से घटा दिया जाता है अतः विदेशी विनिमय बाजार के सौदों में अनिवार्य कटौती कर दी जाती है।

विनिमय प्रतिबन्ध की नीति द्वारा विदेशी विनिमय बाजार में घरेलू मुद्रा की पूर्ति कम करने के अनेक तरीके हो सकते हैं, जैसे अवरुद्ध खाते, विदेशी विनिमय की राशनिंग, बहु-विनिमय दरें आदि।

(a) अवरुद्ध खाते (Blocked Accounts) :—इस पद्धति के अन्तर्गत सरकार द्वारा यह प्रतिबन्ध लगा दिया जाता है कि विदेशी अपनी पूँजी देश से बाहर नहीं ले जा सकेंगे। ऋणदाता राष्ट्रों को ऋणी राष्ट्र में ही सरकारी आदेशानुसार विदेशी विनिमय का उपयोग करना पड़ता है। ऋणदाता राष्ट्रों के विदेशी विनिमय में भुगतानों पर रोक लगा दी जाती है तथा विदेशी भुगतानों की इस प्रकार रोकी गई राशि को केन्द्रीय बैंक के पास 'अवरुद्ध खाते' में जमा करा दिया जाता है। अवरुद्ध खातों के द्वारा विदेशी विनिमय के भुगतान बन्द करने के परिणामस्वरूप राष्ट्र के दुर्बल विदेशी विनिमय के भण्डार शीघ्र खाली होने से रुक जाते हैं। सन् 1931 के वित्तीय संकट में जर्मनी ने यहूदियों को देश निकाला देकर उनकी पूर्ण सम्पत्ति 'अवरुद्ध खाते' में डाल दी थी जिसके परिणामस्वरूप यहूदियों को पूँजी के मालिक होते हुए भी कठिनाइयाँ झेलनी पड़ी।

(b) विदेशी विनिमय की राशनिंग (Rationing of Foreign Exchaege) :—विदेशी विनिमय की राशनिंग की नीति द्वारा निर्यातकर्ताओं को प्राप्त होने वाली विदेशी मुद्रा सरकार को सौंप दी जाती है तथा सरकार द्वारा आयात के महत्त्व को ध्यान में रखते हुए प्राथमिकता निर्धारित कर विभिन्न श्रेणी के आयातों के लिए उपलब्ध विदेशी विनिमय की मात्रा तय कर दी जाती है।

(c) बहु विनिमय दरें (Multiple Exchange Rates) :—बहु-विनिमय दर प्रणाली के अन्तर्गत भिन्न वस्तुओं के लिए भिन्न विनिमय दरें, भिन्न मूल व गन्तव्य स्थानों के लिए भिन्न विनिमय दरें तथा भिन्न व्यक्तियों के लिए भिन्न विनिमय दरें लागू की जा सकती हैं।

बहु-विनिमय दरें सर्वप्रथम तीसा की मंदी में वर्षों में लेटिन अमेरिका के देशों द्वारा अपनाई गई थी। इस नीति के अन्तर्गत निर्यातों से प्राप्त विदेशी विनिमय का एक हिस्सा अपेक्षाकृत नीची विनिमय दर पर विनिमय नियंत्रण अधिकारियों को सौंप

चार्ट १५.३ : समाशोधन समझौते

झूलन (Swing)
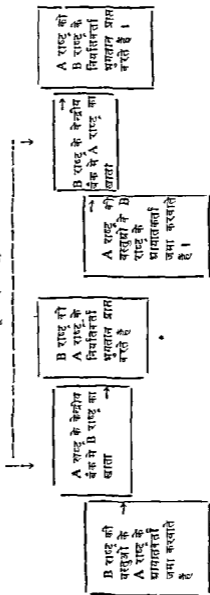
अथवा निर्यातकर्ताओं की लापरवाही (rashness) के कारण विनिमय नियंत्रण वाले राष्ट्रों में भारी मात्रा में ऋण एकत्रित हो जाते हैं तो इन राष्ट्रों की परिसम्पत्ति अवरुद्ध हो जाती है। भुगतान समझौतों के अन्तर्गत यह निर्धारित कर दिया जाता है कि ऋणदाता राष्ट्र के समाशोधन खाते में आयातों के भुगतान में से एक निश्चित प्रतिशत के बराबर एकत्रित ऋणों को तरलता प्रदान करने हेतु ऋणों की तरलता के उपाय के रूप में उपयोग में लिया जायेगा।"[20]

भुगतान समझौतों के परिणामस्वरूप ऋणदाता राष्ट्रों को ऋणी राष्ट्रों के आयातों पर प्रतिबन्ध लगाने की आवश्यकता नहीं रहती है क्योंकि इन राष्ट्रों के ऋणों के भुगतान प्राप्त करने हेतु यह आवश्यक हो जाता है कि इनके (ऋणदाता राष्ट्रों के) आयात निर्यातों से अधिक हों। दूसरी ओर ऋणी राष्ट्रों को ऋणदाता राष्ट्रों में आयातों का स्तर पर्याप्त निम्न बनाये रखना होता है ताकि इनके (ऋणी राष्ट्रों के) निर्यातों के मूल्य का समझौते के निर्धारित प्रतिशत वास्तव में ऋणों का भुगतान बन सकें।

द्वितीय विश्वयुद्ध काल से यूरोप में अधिकांश द्विपक्षीय समझौते इसी प्रकार के विस्तृत श्रेणी के समझौते थे जिनके अन्तर्गत न केवल ऋण भुगतानों के प्रावधान थे अपितु जहाजी खर्चों, ऋण सेवा, एवं सेवाओं की समस्त विस्तार सीमा (range) के भुगतान शामिल थे। स्वतंत्र व्यापार में वृद्धि के साथ-साथ पूर्णरूप से द्विपक्षीय समझौते का स्थान यूरोपीय भुगतान संघ (European Payments Union) के बहुपक्षीय समाशोधन समझौतों जैसे समझौतों ने ले लिया है।

विशेषकर समाजवादी व विकासशील राष्ट्रों के मध्य आज भी द्वि-पक्षीय समझौते प्रचलन में है। सन् 1970-80 के दशक के प्रारम्भिक वर्षों में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के 50 से 60 तक सदस्यों ने इस प्रकार के द्विपक्षीय व्यापार व भुगतान समझौते किये थे।

(6) विलम्बकालीन हस्तांतरण (Transfer Moratoria): विलम्बकालीन हस्तांतरण की नीति के अन्तर्गत आयातों व विदेशी पूँजी के ब्याज एवं लाभांश के भुगतान कुछ काल के लिए स्थगित कर दिये जाते हैं। आयातकर्ता एवं ऋणी राष्ट्र स्वयं की मुद्रा में ही भुगतान करते हैं एवं यह भुगतान की राशि राष्ट्र के

20 Ellsworth, P T and Leith J C—International Economy—(5th ed), p 383

केन्द्रीय बैंक के पास जमा रहती है तथा इन जमाओ का विदेशी निर्यातकर्ताओ व ऋणदाताओ को एक निश्चित अवधि के बाद ही विदेशी मुद्राओ मे भुगतान किया जाता है। अत स्पष्ट है कि विलम्बकालीन हस्तातरण की नीति अपनाकर सरकार कुछ अवधि के लिए विदेशी विनिमय सम्बन्धी आवश्यक समायोजन कर सकती है। तीसा की मन्दी के वर्षों मे कई यूरोपीय राष्ट्रो ने विलम्बकालीन भुगतानो की नीति अपनाई थी।

(7) थोक क्रय समझौते (Bulk Purchase Contracts) थोक क्रय समझौते प्रमुखतया ब्रिटेन द्वारा अपनाये गये थे। इन समझौतो के अन्तर्गत यह निश्चित कर दिया जाता था कि ब्रिटेन अन्य सम्बद्ध राष्ट्र के उत्पादन की निश्चित मात्रा अथवा वस्तु विशेष का उस राष्ट्र का पूरा निर्यात योग्य अतिरेक अथवा अतिरेक का एक निश्चित अनुपात क्रय करेगा। इसके विनिमय मे ब्रिटेन विभिन्न निर्मित वस्तुओ के निर्यात करने का समझौता कर लेता था। ब्रिटेन के स्टर्लिंग क्षेत्र के राष्ट्रो के साथ ऐसे समझौते 3 से 15 वर्षों की लम्बी अवधि के लिए हुए थे, जबकि अन्य राष्ट्रो के साथ ये समझौते एक वर्ष की अवधि के लिए ही किये गये थे। एक वर्ष से अधिक अवधि के समझौते होने की स्थिति मे इन समझौतो मे या तो वार्षिक कीमत मूल्याकन के प्रावधान होते थे अथवा निर्धारित सीमाओ के मध्य कीमत मे परिवर्तनो के प्रावधान रखे जाते थे।

विनिमय नियंत्रण की अप्रत्यक्ष रीतियाँ

(Indirect Methods of Exchange Control)

प्रत्यक्ष रीतियो के अलावा विनिमय नियत्रण की कुछ अप्रत्यक्ष रीतियाँ भी अपनाई जाती हैं। इन अप्रत्यक्ष रीतियो मे निम्न प्रमुख हैं —

(1) आयात नियत्रण (Import Controls) —आयात प्रशुल्क व आयात नियताश द्वारा आयातो की मात्रा कम करने का प्राथमिक उद्देश्य घरेलू उद्योगो को सरक्षण प्रदान करना हो सकता है लेकिन इन उपकरणो को प्रयुक्त करने से भुगतान सतुलन मे भी सुधार होता है तथा विदेशी विनिमय की मांग घटती है। अत: प्रशुल्क व आयात नियताश को हम विनिमय नियत्रण की अप्रत्यक्ष रीतियो मे शामिल करते है।

(2) निर्यात अधिदान (Export Bounties) :—विदेशी विनिमय से सम्बन्धित

स्थिति सुधारने हेतु निर्यातों को प्रोत्साहन देना भी उतना ही आवश्यक होता है जितना आयातों पर नियंत्रण लगाना। निर्यातों को प्रोत्साहित करने हेतु निर्यात अधिदान प्रदान किया जाता है। अन्त विदेशी प्रतियोगिता में टिके रहने हेतु तथा निर्यातों को प्रोत्साहित करने हेतु प्रदान किये गये निर्यात अधिदान विनिमय नियन्त्रण का एक अप्रत्यक्ष तरीका है क्योंकि इससे राष्ट्र की विदेशी विनिमय से सम्बन्धित स्थिति में सुधार होता है।

(3) ब्याज दर में परिवर्तन (Changes in interest rate) :—ब्याज दर अथवा बैंक दर में परिवर्तन का उद्देश्य मुद्रास्फीति को नियन्त्रित करना अथवा विनियोग को बढ़ावा देना हो सकता है। लेकिन ब्याज दर के परिवर्तन अप्रत्यक्ष रूप से विदेशी विनिमय के प्रवाह को भी प्रभावित करते हैं। उदाहरणार्थ, ब्याज दर में वृद्धि से अधिक ब्याज अर्जित करने के उद्देश्य से विदेशी पूँजी का अन्तर्वाह (inflow) होता है तथा ब्याज दर में कमी से विदेशी पूँजी का अपवाह (outflow) होता है। अत ब्याज दर के परिवर्तनों को विनिमय नियन्त्रण का अप्रत्यक्ष उपकरण माना जाता है।

विनिमय नियंत्रण का मूल्यांकन

(Evaluation of Exchange control)

विनिमय नियन्त्रण की विभिन्न रीतियों का भुगतान सन्तुलन के असाम्य को सही करने वाले उपकरण के रूप में मूल्यांकन करने से ज्ञात होता है कि इनका सम्बद्ध अर्थव्यवस्थाओं पर गम्भीर प्रभाव पड़ता है।' यदि द्वितीय विश्वयुद्ध के पूर्व व पश्चात की भांति विनिमय नियन्त्रण की प्रणाली विस्तृत रूप से अपनाई जाय तो सम्पूर्ण विश्व अर्थव्यवस्था अस्त-व्यस्त हो सकती है।

विनिमय नियन्त्रण अपनाने से राष्ट्र की अर्थव्यवस्था शेष विश्व से अलग-थलग हो जाती है अत इन रीतियों को अपनाने वाले राष्ट्रों में मुद्रास्फीतिकारक नीतियाँ अपनाने की प्रवृत्ति पायी जाती है जिसके परिणामस्वरूप इन राष्ट्रों की मुद्रा का अधिमूल्यन (overvaluation) बना रहता है अत इन राष्ट्रों को अधिमूल्यन के दुष्परिणाम वहन करने पड़ते हैं। अधिमूल्यन समर्थक नीतियाँ ज्यों-ज्यों कम प्रभावी होती जाती हैं त्यों-त्यों विदेशी सौदों पर लगे मात्रात्मक नियन्त्रणों को अतिरिक्त भार वहन करना पड़ता है। सामान्यतया नियंत्रण लागू करने वाले प्रशासनिक तंत्र को क्षमता से अधिक भार वहन करना आवश्यक हो जाता है। घरेलू मुद्रास्फीति व

जनित नियत्रण क प्रयाग के परिणामस्वरूप प्राय आर्थिक क्रियाकलाप शिथिल पड जात हैं। निर्याता म कमी नाचा घरलू बचन की दरें विदशी विनियोग हतोत्साहित हाना तथा जो भी विनियोग हो रहा है उसका निम्न उत्पादकता आदि स आर्थिक विकास म गम्भीर बाधायें उपस्थित हो जाती है।

अत हम कह सकत है कि भुगतान सतुलन क असाम्य को सही करन हतु विनिमय नियत्रण की नीति का अस्थायी तौर पर कवल उस समय तक अपनाया जा सकता है जब तक कि मूलभूत साम्य स्थापित करन वाली नीतियाँ कायरत नहीं हो। विनिमय नियत्रण भुगतान सतुलन क असाम्य का सही करन का स्थायी उपकरण नही है।

भुगतान सतुलन का प्रचलित सिद्धान्त घरेलू वस्तुओ की भूमिका

(Current Theory of Balance of Payments the Role of Home goods)

प्रचलित सिद्धात म उत्तम मौद्रिक माडल्स क विकास क अलावा एक अन्य महत्त्वपूर्ण विकास घरलू वस्तुओ के सम्भावित महत्त्व एव अवमूल्यन क परिणामस्वरूप इन वस्तुओ के मूल्य म व्यापार वस्तुओ (traded goods) के मूल्यो क सापेक्ष के रूप म परिवतन का समावश करन वाल माडल्स का विकास है।

इस सन्दभ म सर्वाधिक रोचक एव विचारो स भरपूर मॉडल प्रो पीयर्स[21] (Pearce) द्वारा विकसित किया गया है। प्रो पाग्रस न अपन माडल म यह मान्यता मानली कि मौद्रिक नीति का निर्यात वस्तु की घरलू कीमत स्थिर रखन हतु प्रयुक्त किया जाता है। इस उद्देश्य हतु ब्याज दर को स्थिर बनाये रखन वाली अथवा मुद्रा पूर्ति स्थिर बनाय रखने वाली मे भिन्न मौद्रिक नीति आवश्यक होगी। पाग्रर्स का मानना है कि निषधात्मक परिवहन लागतो अथवा निषधात्मक प्रशुल्क के कारण कुछ घरलू वस्तुएँ अथवा व्यापार म शामिल नही होने वाली वस्तुएँ होती हैं। पाग्रस क माडल म घरलू वस्तुओ की कीमतें व्यापार म शामिल होन वाली वस्तुओ की कीमतो के सापेक्ष के रूप म अत्यधिक ऊँचा होने के कारण पूर्ण रोजगार की स्थिति म भी व्यापार सतुलन म घाटा विद्यमान रह सकता है। अवमूल्यन के परिणामस्वरूप घरलू वस्तुओ का सापेक्ष मूल्य घटेगा जिससे व्यापार म शामिल होने वाली वस्तुओ के उत्पादन म तथा घरलू वस्तुओ के उपभोग म वृद्धि होगी। एसा होन हतु वास्तविक व्यय म कटौती होना आवश्यक है। निष्कर्ष क रूप म प्रो पाग्रस लिखत हैं कि —

21 Pearce I F—The problem of the Balance of Payments Internat onal Econom c Rev ew (Jan 1961) pp 1 28

"—— —भुगतान सतुलन में सुधार हेतु महत्त्व के क्रम में निम्न आवश्यक हैं —

(1) निम्न तीनों (a, b व c) के योग के बराबर मौद्रिक व्यय मे कटौती .—

(a) व्यापार सन्तुलन में सुधार के बराबर,

(b) व्यापार की शर्तों मे परिवर्तन से वास्तविक लब्धि अथवा हानि के बराबर

(c) व्यापार की शर्तों मे परिवर्तन के परिणामस्वरूप प्रशुल्क आगम मे होने वाले परिवर्तन के बराबर

(2) व्यापार मे शामिल वस्तुओं के सापेक्ष के रूप मे व्यापार मे शामिल न होने वाली वस्तुओं की कीमत मे कमी।

(3) वास्तविक व्यापार की शर्तों मे कुछ परिवर्तन जो धनात्मक अथवा ऋणात्मक हो सकता है। यह परिवर्तन (2) मे बताये गये परिवर्तन से कम होगा।[22]

लेकिन प्रो० पीयर्स के मॉडल मे यह स्पष्ट नही है कि अवमूल्यन से मौद्रिक व्यय मे कमी किस प्रकार आयेगी।

दो अन्तराल मॉडल

(*Two Gap Model*)

एक अन्य सन्दर्भ मे चेनरी (Chenery) व स्ट्राउट[23] (Strout) ने विकास समस्या को बचत, भुगतान सन्तुलन व निपुणता सुलभता (skill availability) जैसी कई सीमाओं (constraints) के अन्तर्गत राष्ट्र की विकास दर को अधिकतम करने के रूप मे प्रस्तुत किया है। विनियोग हेतु घरेलू बचत अथवा वैकल्पिक रूप से विदेशी सहायता की आवश्यकता होती है। उत्पादन व विनियोग के दिये हुए स्तर तथा ढाँचे के लिए आयातो की आवश्यकता होती है। विशेष रूप से दी हुई विनियोग की दर के लिए आयातों की आवश्यकता ऐसी हो सकती है कि यदि घरेलू बचत इस दर को जारी रखने के लिए पर्याप्त है तब भी विदेशी विनिमय की कमी के कारण यह विनियोग दर प्राप्त नही की जा सके। इस स्थिति मे दो अन्तराल मॉडल को यह दर्शाने हेतु प्रयुक्त किया जाता है कि यदि विदेशी विनिमय सीमा के कारण विकास में रुकावट आ रही है तो विदेशी सहायता दुगनी प्रभावी होगी क्योंकि घरेलू बचत तो राष्ट्र

22 Pearce, I F —Op cit p 26

23 Chenery, H B and Strout, A M —Foreign Assistance and Economic Development—A E. Rev (Sept 1966), pp 679-733.

मे पूर्व विद्यमान है ही। विकास की बाद की अवस्था मे जब बचत सीमा महत्वपूर्ण हो जाती है तो विदेशी सहायता केवल राष्ट्र की विशुद्ध बचत मे योग के रूप मे बनी रहती है और इस प्रकार विनियोग मे सहायक होती है अत: विदेशी सहायता की सीमात उत्पादकता काफी घट जाती है।

दो-अन्तराल मॉडल को एक ऐसे विकासशील राष्ट्र का लक्षणवर्णन (characterization) करता हुआ माना जा सकता है जिसमे अधिमूल्यन वाली विनिमय दर तथा विनिमय नियत्रण के कारण विदेशी विनिमय की स्पष्ट कमी पड जाती है। दो-अन्तराल मॉडल को प्रतिबिम्ब मूल्यो* (Shadow Prices) पर आधारित इस प्रकार के निर्णय लेने के प्रारम्भिक बिन्दु के रूप मे लिया जा सकता है जिससे कि अन्तराल समाप्त हो जाये। वैकल्पिक रूप से दो-अन्तराल मॉडल को विनिमय नियत्रण की अन्य लागत के रूप मे निर्वचित किया जा सकता है अर्थात् अधिमूल्यन वाली विनिमय दर द्वारा जनित तथा विनिमय नियत्रणो द्वारा निरन्तर बने रहने वाली विदेशी विनिमय की बाधाओ के कारण सम्भावित बचत व दक्षताओ का उपयोग नही हो पाता है।

* प्रतिबिम्ब मूल्य वे मूल्य होते है जो कि बाजार कीमतो मे विकृति उत्पन्न हो जाने की स्थिति मे वस्तुओ व कारको की अवसर लागत प्रतिबिम्बित (reflect) करते है।

विनिमय दर निर्धारण के सिद्धांत एवं स्थिर व लचीली विनिमय दर प्रणाली

(Theories of Exchange rate determination and Fixed versus Flexible Exchange rates)

विनिमय दर से अभिप्राय

(What is an Exchange rate?)

विदेशी विनिमय दर से अभिप्राय उस अनुपात से है जिस अनुपात में एक राष्ट्र की मुद्रा का दूसरे राष्ट्र की मुद्रा के बदले विनिमय होता है। उदाहरणार्थ यदि विनिमय दर 1$=12 रु है तो इस अनुपात को हम दो प्रकार से व्यक्त कर सकते हैं :—

1$ = Rs 12 (भारत के लिए प्रत्यक्ष क्वोटेशन अथवा घरेलू मुद्रा क्वोटेशन)

अथवा Rs 1 = 0 0833 $ (भारत के लिए अप्रत्यक्ष क्वोटेशन अथवा विदेशी मुद्रा क्वोटेशन)

स्पष्ट है कि विनिमय दर एक राष्ट्र की मुद्रा का दूसरे राष्ट्र की मुद्रा के रूप में मूल्य है अतः जिस प्रकार अन्य वस्तुओं के मूल्य का निर्धारण उनकी माँग व पूर्ति की शक्तियों द्वारा होता है उसी प्रकार स्वतन्त्र विनिमय बाजार में किसी भी मुद्रा की विनिमय दर का निर्धारण भी विदेशी विनिमय की माँग व पूर्ति द्वारा होता है। प्रो० हेबरलर (Haberler) ने ठीक ही लिखा है कि 'दो राष्ट्रों के मध्य भुगतान साधनों (means of payments) के मध्य विनिमय दर अन्य समस्त कीमतों की भाँति माँग व पूर्ति द्वारा निर्धारित होती है।[1]

चूँकि एक मुद्रा की पूर्ति दूसरी मुद्रा की माँग होती है अतः घरेलू तथा विदेशी

1 Haberler G V —The Theory of International Trade p 19

की माँगी गयी मात्रा उसकी पूर्ति के ठीक बराबर है। अतः यदि विनिमय दर E निर्धारित हो जाती है तो बाजार में साम्य होगा।

अब मान लीजिए कि भुगतान सतुलन में प्रतिकूल परिवर्तन के परिणामस्वरूप माँग में परिवर्तन हो जाता है तथा माँग वक्र DD से विवर्त होकर D'D' हो जाता है तो माँग व पूर्ति वक्र E' बिन्दु पर एक दूसरे को काटेंगे अतः विनिमय दर E से बढ़कर E' हो जाती है तथा विदेशी विनिमय की पूर्ति में वृद्धि हो जाती है। निर्यातों में कमी के परिणामस्वरूप विदेशी विनिमय की पूर्ति घटने से भी विनिमय दर बढ़ जाती है। चित्र 16.1 में पूर्ति वक्र SS से विवर्त होकर यदि S'S' हो जाता है तो विनिमय दर E' से E" हो जायेगी तथा विदेशी विनिमय की पूर्ति घट जायेगी।

इस सन्दर्भ में महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि विनिमय दर में उतार-चढ़ाव किस सीमा तक हो सकते हैं? इस प्रश्न का उत्तर भिन्न परिस्थितियों में भिन्न होगा। अतः अब हम भिन्न मौद्रिक व्यवस्थाओं के अन्तर्गत विनिमय-दर निर्धारण का अध्ययन करेंगे। सामान्यतया विनिमय दर निर्धारण की समस्या का अध्ययन दो परिस्थितियों में ही किया जाता है : प्रथम, जब दो राष्ट्रों ने स्वर्णमान अपना रखा हो तथा द्वितीय, जब दोनों राष्ट्रों में अपरिवर्तनीय पत्र मुद्रामान प्रचलित हो।

स्वर्णमान के अन्तर्गत विनिमय-दर निर्धारण

(Exchange Rate determination under Gold Standard)

टकसाली समता सिद्धान्त (*Mint Par Theory*)

जब कोई राष्ट्र स्वर्णमान अपनाता है तो उसकी मुद्रा का स्वर्ण से एक निश्चित अनुपात बना रहता है। ऐसे राष्ट्र में प्रचलित मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन स्वर्ण कोषों में परिवर्तन करके ही किया जा सकता है एवं मुद्रा स्वर्ण में परिवर्तनीय बनी रहती है। अतः स्वर्णमान के अन्तर्गत विनिमय दर के निर्धारण का आधार दोनों राष्ट्रों की मुद्राओं में निहित स्वर्ण की मात्रा होती है। उदाहरणार्थ, सन् 1914 से पूर्व एक पौण्ड में 113.0016 ग्रेन विशुद्ध स्वर्ण की मात्रा थी जबकि डालर में विशुद्ध स्वर्ण की मात्रा 23.22 ग्रेन थी। इस प्रकार दोनों राष्ट्रों की मुद्राओं में स्वर्ण की मात्रा (gold contents) के आधार पर विनिमय दर 1 पौण्ड = 4.866 डालर थी क्योंकि पौण्ड का स्वर्ण मूल्य डालर से ठीक 4.866 गुणा था।

दो राष्ट्रों की मुद्राओं में निहित स्वर्ण-मात्राओं के आधार पर इस प्रकार निर्धारित आधारभूत विनिमय दर को 'टक समता' (Mint Par) के नाम से जाना जाता है।

ध्यान रहे कि स्वर्णमान वाले राष्ट्रों में स्वर्ण चलनमान हो अथवा स्वर्ण विनिमय मान (अर्थात् ऐसी पत्र मुद्रा चलन में हो जिसका स्वर्ण में मूल्य निर्धारित कर दिया गया हो) विनिमय दर निर्धारण की विधि यथावत् ही रहती है। अत स्वर्णमान के अन्तर्गत दोनो राष्ट्रों की मुद्राओं की स्वर्ण तुल्यता का अनुपात ही उनकी 'टक समता' होती है तथा यही विनिमय दर निर्धारण का आधार होता है।

स्वर्णमान के अन्तर्गत विदेशी विनिमय बाजार के परिचालन को स्पष्ट करने हेतु हम मान लेते है कि अमेरिका व अन्य देशो के मध्य समस्त भुगतान लन्दन के माध्यम से होते थे। आयातकर्ताओं व अन्य विदेशी विनिमय भुगतानकर्ताओं को विनिमय के स्टर्लिंग बिल अथवा ड्राफ्ट लन्दन में भुगतान हेतु न्यूयार्क बैंक से क्रय करने पडते थे। इसी प्रकार वस्तुओं व सेवाओं अथवा प्रतिभूतियों के निर्यातकर्ता लन्दन पर बने स्टर्लिंग विनिमय बिल बट्टे हेतु इन बैंको के पास लाते थे। यदि चालू सौदो के परिणामस्वरूप बिलों की पूर्ति उनकी माँग के ठीक बराबर हो तो विनिमय दर 'टक समता' वाली (1 पौण्ड = 4 866 डालर) बनी रहती थी तथा भुगतान सन्तुलन साम्य मे रहता था।

स्वर्णमान के अन्तर्गत भी विनिमय दर मे उच्चावचन होते रहते हैं लेकिन ये उच्चावचन 'अति सकीर्ण' सीमाओं के अन्तर्गत ही हो सकते थे तथा ये सीमायें अमेरिका से इग्लैण्ड स्वर्ण हस्तातरित करने की लागत द्वारा निर्धारित 'स्वर्ण बिन्दुओं' पर निर्भर करती थी।

मान लीजिए कि अमेरिका के आयात अधिक होने के कारण 1 पौण्ड = 4.866 डालर की दर पर स्टर्लिंग बिल्स की माँग इनकी पूर्ति से अधिक हो जाती है तथा अमेरिका के समस्त बैंक लन्दन में एक निश्चित शेष बनाये रखने की नीति का अनुसरण करते हैं एव इस शेष से अधिक सचय की अनुमति प्रदान नही करते हैं तो अमेरिका के आयातकर्ता अपना आधिक्य भुगतान स्वर्ण हस्तातरित करके ही कर सकते हैं। लेकिन इस स्वर्ण का लन्दन हस्तातरण करने हेतु पैकिंग, बीमा, जहाजरानी तथा परिवहन की समयावधि मे स्वर्ण के मूल्य पर हुई ब्याज की हानि आदि की लागतें वहन करनी पडेंगी। प्रथम महायुद्ध से पूर्व एक पौण्ड का स्वर्ण लन्दन

भेजने की ये समस्त लागतें 2 4 सेंट हुआ करती थी। जबकि लन्दन से न्यूयार्क एक पौण्ड का स्वर्ण भेजने की लागत 3.9 सेंट आती थी। अत विनिमय दर अधिक से अधिक (4.886 + 0 024 $ =) 4.890$ प्रति पौण्ड हो सकती थी। 1 पौण्ड = 4.890 डालर की इस दर को अमेरिका का 'स्वर्ण निर्यात बिन्दु' (Gold Export Point) कहते थे क्योंकि 'स्वर्ण निर्यात बिन्दु' पर विनिमय दर पहुँचने से इग्लैण्ड को स्वर्ण का निर्यात होता था।

इसी प्रकार यदि विदेशियो से प्राप्तियाँ (बाजार मे उपलब्ध स्टर्लिंग बिल्स की पूर्ति के रूप मे) चालू भुगतानो से अधिक हैं तथा न्यूयार्क के बैंक स्टर्लिंग शेषो का एक *निश्चित सीमा से अधिक सचय रखने को तत्पर नहीं हैं तो केवल स्वर्ण का आयात करके* ही लन्दन से भुगतान प्राप्त किये जा सकते हैं। लन्दन से प्राप्त स्वर्ण की आधिक्य पूर्ति मे से स्वर्ण आयातो को हस्तातरण लागत (transfer cost) घटा देने से प्रति पौण्ड 3.9 सेंट कम स्वर्ण प्राप्त होगा। विक्रेताओ मे प्रतिस्पर्धा के कारण बैंक इससे अधिक चुकाना अनावश्यक पायेंगे अतः विनिमय दर गिरकर अमेरिका के स्वर्ण बिन्दु वाली (4 886$ —0 039$ =) 4 827$ हो जायेगी एव चालू प्राप्तियो से चालू भुगतानो के आधिक्य के बराबर अमेरिका मे स्वर्ण आयात होगा।

स्वर्ण निर्यातकर्ता राष्ट्र के भुगतान सन्तुलन मे स्वर्ण निर्यातो की प्रविष्टि देनदारी पक्ष (credit side) मे की जायेगी जिससे राष्ट्र का भुगतान सन्तुलन सन्तुलित हो जायेगा। दूसरी ओर स्वर्ण आयातकर्ता राष्ट्र के भुगतान सन्तुलन मे स्वर्ण आयातो की देनदारी पक्ष (debit side) मे प्रविष्टि की जायेगी अत राष्ट्र का भुगतान सन्तुलन सन्तुलित हो जायेगा।

अब यदि यह मानलें कि विदेशी विनिमय के व्यापारी (dealers) अपने विदेशी विनिमय के सचय में परिवर्तन की अनुमति दे देते हैं तो विदेशी विनिमय की माँग व पूर्ति मे लोच तत्त्व समाविष्ट हो जायेगा जिससे विनिमय दर में वृद्धि पर रोक लगेगी व स्वर्ण प्रवाह की मात्रा मे कमी आयेगी। *यदि हम पुन मानलें कि दी हुई* समयावधि मे अमेरिका के विदेशी भुगतान व प्राप्तियाँ 'टक समता' पर सन्तुलन मे है तथा दिवस विशेष पर अमेरिका के आयातो म भारी वृद्धि हो जाती है तो इस वृद्धि के परिणामस्वरूप *4 866$* की विनिमय दर पर स्टर्लिंग की माँग इसकी पूर्ति से अधिक हो जायेगी अत विनिमय दर मे वृद्धि *होगी। लेकिन विनिमय दर स्वर्ण निर्यात* बिन्दु पर पहुँचेगी अथवा नही यह इस बात पर निर्भर करेगा कि माँग मे किस सीमा

तक वृद्धि होती है तथा पूर्ति लोच कितनी है। इसका कारण यह है कि ऊँची विनिमय दर पर पूर्तिकर्ताओं को स्टर्लिंग की पूर्ति बढ़ाने के लिए निश्चय ही प्रेरणा मिलेगी तथा विनिमय दर स्वर्ण निर्यात बिन्दु के जितनी अधिक नजदीक पहुँचती जायेगी इसमें और अधिक वृद्धि की सम्भावना उतनी ही कम होती जायगी एवं यह सम्भावना अधिक बनी रहेगी कि माँग वक्र का दबाव कुछ कम हो जाने तो कुछ नीची विनिमय दर पर स्टर्लिंग सन्तुलनों की पर्याप्त पूर्ति हो सके। यह स्थिति चित्र 16.2 में स्पष्ट दर्शायी गई है।
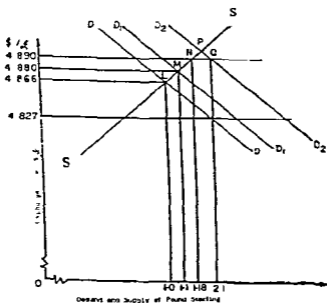
चित्र 16 2 : स्वर्ण निर्यात व स्वर्ण आयात बिन्दु

चित्र 16.2 में प्रारम्भिक साम्य बिन्दु L है। L बिन्दु पर स्टर्लिंग की माँग व पूर्ति 1 मि० पौण्ड है तथा साम्य विनिमय दर 4.866$ है। अब मान लीजिए कि माँग में वृद्धि होने से माँग-वक्र $D_1 D_1$ हो जाता है तो विनिमय दर में वृद्धि होगी लेकिन यह ठीक 'स्वर्ण निर्यात बिन्दु' तक नहीं पहुँचेगी। ज्यों ही डालर/स्टर्लिंग दर में वृद्धि होगी बैंक अपने लन्दन सन्तुलनों का एक हिस्सा स्टर्लिंग ड्राफ्टस के क्रेताओं को प्रस्तुत करेंगे। चित्र 16 2 में स्टर्लिंग की यह अतिरिक्त पूर्ति S S वक्र के ढाल में प्रतिबिम्बित होती है। नये साम्य बिन्दु M पर सामान्य स्रोतों की पूर्ति में 1 लाख

पौण्ड लन्दन सन्तुलनो की अतिरिक्त पूर्ति जुड जाती है अत स्वर्ण प्रवाहा की आवश्यकता नही रहती है।

अब मान लीजिए कि माँग वक्र की प्रारम्भिक विवर्ति अपेक्षाकृत अधिक होने के कारण नया माँग-वक्र $D_2 D_2$ हो जाता है तो विनिमय दर स्वर्ण निर्यात बिन्दु तक पहुँच जाती है लेकिन यह इससे ऊपर नही जा सकती क्योकि 4 890 $ की विनिमय दर पर धातुमान के व्यापारी स्वर्ण निर्यात करने को तत्पर रहगे। 4 890$ की विनिमय दर पर स्टर्लिंग की अतिरिक्त माँग मे से लगभग 1 लाख 80 हजार पौण्ड की पूर्ति तो न्यूयार्क बैंक अपने लन्दन सन्तुलनो मे से करेंगे जो कि पूर्ति वक्र के LN हिस्से द्वारा दर्शाया गया है तथा शेष पूर्ति स्वर्ण निर्यातो द्वारा की जायेगी। चित्र 16 2 मे स्वर्ण निर्यात रेखा पर दर्शाये गये NQ अन्तराल के बराबर स्वर्ण के निर्यात होगे। अत स्पष्ट है कि विनिमय दर स्वर्ण निर्यात बिन्दु से ऊपर नही जा सकता।

इसी प्रकार अमेरिका के निर्यातो मे अप्रत्याशित वृद्धि के परिणामस्वरूप विनिमय दर गिरकर 'स्वर्ण आयात' बिन्दु की ओर चलन करेगी लेकिन यह 'स्वर्ण आयात' बिन्दु से नीचे नही जा सकती है।

उपर्युक्त विश्लेषण मे हमने स्वर्णमान के अन्तर्गत विनिमय दर निर्धारण की प्रक्रिया को स्पष्ट किया है लेकिन यदि सम्बद्ध राष्ट्रो मे अपरिवर्तनीय पत्र मुद्रा चलन मे हो तो उनकी मुद्राओ के मध्य विनिमय दर दोनो राष्ट्रो की मुद्राओ की क्रय-शक्ति द्वारा निर्धारित होती है। इस प्रक्रिया का अध्ययन हम 'क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त' शीर्षक के अन्तर्गत करेंगे।

क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त

(Purchasing-Power-Parity Theory)

क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त का उद्गम

(Origins of the Purchasing-Power-Parity Theory)

क्रय शक्ति-समता शब्दावली का उद्गम कैसल (Cassel) के सन् 1918 के लेख[2] में हुआ था। लेकिन कैसल ने इससे पूर्व सन् 1916 मे क्रय-शक्ति-समता सिद्धान्त को

2 Cassel, Gustav—Abnormal Deviations in International Exchange—Economic Journal (Dec 1918) Pp 413 15

लागत समता

(Cost Parity)

PPP सिद्धान्त के आलोचकों व मूल्याकनकर्ताओं द्वारा कीमत समता की तुलना मे लागत समता की उत्कृष्टता के पक्ष म प्रस्तुत तर्क इस प्रकार हैं :-

(1) विनिमय दरों मे परिवर्तनो के परिणामस्वरूप व्यापार मे शामिल वस्तुओं की कीमतो की तुलना म उत्पादन लागतो मे समायोजन की सम्भावना कम होती है।

(2) लागतो मे उच्चावचनकारी (Volatile) लाभ-तत्त्व शामिल नही होता है अत. ये कीमतो की तुलना मे निरपेक्ष समता के लिए दीर्घकालीन कीमतो का अधिक उपयुक्त प्रतिनिधित्व कर सकती हैं तथा मुद्रा स्फीति व अवस्फीति के कारण सापेक्ष समता के लिए अस्थायी की बजाय स्थायी कीमत परिवर्तनों को प्रतिबिम्बित करती है।

सर्वप्रथम सन् 1933 मे स्वेन ब्रिसमेन[6] (Sven Brisman) ने लागत समता का प्रतिपादन किया था। ब्रिसमेन न 'कीमत समताओं' को इस आधार पर अस्वीकार किया कि ये विश्व बाजार मे राष्ट्र की प्रतिस्पर्धात्मकता (अर्थात प्रतिस्पर्धा मे टिकने की योग्यता) को नही मापती है। ब्रिसमेन ने इसके स्थान पर राष्ट्र तथा विदेशो की 'प्रभावी' उत्पादन लागत' (effective Cost of Production) की सहायता स निरपेक्ष लागत समता' को प्रस्तावित किया। ब्रिसमेन के दिमाग मे 'इकाई कारक लागत' (Unit Factor Cost) की अवधारणा थी क्योकि उन्होने प्रभावी लागत के तत्वो के रूप मे मजदूरी, ब्याज, लगान (जिसे अति न्यून होन के कारण नजर अन्दाज किया जा सकता है) तथा उत्पादन के परिवर्तनो को शामिल किया है। ब्रिसमेन ने ध्यान दिलाया कि उनकी समता की अवधारणा को सामान्यतया परिमाणात्मक बोध मे प्रयुक्त नही किया जा सकता है क्योकि आंकडो के अभाव मे इकाई कारक लागत' (Unit Factor Cost) की सांख्यिकी गणना नही की जा सकती है।

प्रो हेन्सन[7] (Hansen) ने भी सन् 1944 मे निरपेक्ष लागत समता को प्रस्तावित किया लेकिन उनकी अवधारणा ब्रिसमेन की तुलना मे कुछ अस्पष्ट सी ही थी।

---

6 Berisman, S—Op cit

7, Hansen A H—*A Brief Note on "Fundamental Disequilibrium"*—Rev of Econ Stat (Nov 1944) pp 182-84

प्रो हन्सन ने इसे "लागत सरचना समता" (Cost structure Parity) का नाम दिया तथा इसके लागत तत्वों के माप का विवेचन नहीं किया। इसके अतिरिक्त ब्रिसमेन की भांति हन्सन ने 'कीमत-समता' अवधारणा को पूर्णरूप से अस्वीकार नहीं किया अपितु उन्होंने मात्र यह इंगित किया कि PPP सिद्धान्त के कथन की 'लागत सरचना समता' अधिमानयुक्त (Preferred) विधि है। प्रो हेन्सन के अनुसार 'लागत सरचना समता' एक ऐसी सही विनिमय दर प्रदान करती है जो कि उत्पादन कारकों को केवल उन निर्यात उद्योगों को प्रदत्त (assign) करेगी जिनमें राष्ट्र को तुलनात्मक लाभ है।

प्रो हाउथाक्कर (Houthakkar) ने ऐसे लागत-समता सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जो कि कीमत समता का रूप ले लेता है। प्रो हाउथाक्कर UFC पर आधारित निरपेक्ष समता सिद्धान्त से प्रारम्भ करते है जो उनके अनुसार इकाई श्रम लागत (Unit labour Cost) के समान होगी क्योंकि श्रम ही उत्पादन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कारक है। हाउथाक्कर ने भी अपने सिद्धान्त का औचित्य प्रतिस्पर्द्धात्मकता (Competitiveness) के रूप मे प्रदान किया। प्रो हाउथाक्कर ने इंगित किया कि दीर्घकालीन पूंजी के चलनों एव एकपक्षीय हस्तांतरणों के कारण दीर्घकालीन साम्य विनिमय दर इकाई कारक लागत (UFC) से भिन्न हो सकती है। पूंजी के विशुद्ध अपवाहों (net outflows) के कारण राष्ट्र के निर्यातों की अधिक प्रतिस्पर्द्धात्मकता आवश्यक होगी अर्थात् राष्ट्र की मुद्रा का विनिमय मूल्य समता की तुलना मे नीचा बना रहेगा। हाउथाक्कर ने इंगित किया कि इस सुधार की उस सीमा तक आवश्यकता नहीं होगी जिस सीमा तक पूंजी के प्रवाह स्वय प्रचलित विनिमय दर के UFC समता से विचलन के कारण हुए हैं।

प्रो आफिसर[9] (Officer) ने हाउथाक्कर के सिद्धान्त का निम्न प्रकार से निर्वचन किया है। श्रम के अलावा अन्य उत्पादन कारकों एव मजदूरी के अलावा अन्य श्रम लागतों का पृथक्करण (Abstracting) कर देने पर, इकाई कारक लागत समता (A राष्ट्र की मुद्रा की एक इकाई के बदले B राष्ट्र की मुद्रा की विनिमय होने वाली इकाईयों की सख्या) को अग्रलिखित रूप मे व्यक्त किया जा सकता है —

8 Houthakker, H S —Exchange Rate Adjustment—in Factors Affecting the U S Balance of Payments—(Washington 1962) pp 287 304

9. Officer, L H —Purchasing Power—Parity and Factor—Price—Equalization—Kyklos (Vol 27, Fasc 1974 pp 868 78

$$\frac{W^B}{W^A} \quad \frac{PR^A}{PR^B}$$

यहाँ W^i = ^{i} राष्ट्र में मजदूरी की दर, तथा PR^i = ^{i} राष्ट्र में उत्पादकता, है।

क्रय-शक्ति-समता की आलोचनाएँ

(Criticisms of the Purchasing-Power-Parity)

कीमत समता (Price Parity)

सूचकांकों से सम्बन्धित समस्यायें (Index Number Problems) :— PPP की गणना में कुछ समस्यायें सांख्यिकी प्रकृति की हैं जिनका सम्बन्ध प्रमुखतया समता की गणना करने की विधि से है। पीगू[10] (Pigou) ने इस ओर ध्यान दिलाया है कि वास्तविक कीमत सूचक की गणना अर्थव्यवस्था में उपलब्ध समस्त वस्तुओं के निदर्शन (Sample) की कीमतों के आधार पर की जाती है। अत. कोई भी सगणित (Computed) कीमत समता वास्तविक सैद्धान्तिक समता का केवल मात्र अपूर्ण प्रतिनिधित्व कर सकती है।

एक अन्य दुविधा यह है कि यदि सूचकांकों के निर्माण हेतु समस्त वस्तुओं की कीमतें भी लेली जायें तो भी समता का मूल्य इस बात पर निर्भर करेगा कि किस प्रकार का कीमत स्तर (अथवा कीमत सूचकांक) उपयोग में लिया गया है। जैसा कि प्रो. वानेक[11] (Vanek) ने ध्यान दिलाया है इस दुविधा का अपवाद तभी सम्भव है जब (1) दी हुई वस्तु की एक राष्ट्र में कीमत से इसकी दूसरे राष्ट्र में कीमत का अनुपात सभी वस्तुओं के लिए एक समान हो, तथा (2) प्रत्येक राष्ट्र की कीमत माप की गणना करने हेतु एक जैसी (Identical) भार सरचना का उपयोग किया जाये। यदि कीमत माप में केवल व्यापार में शामिल वस्तुओं की कीमतें शामिल की जाये तथा इन वस्तुओं का लागत विहीन अन्तर्राष्ट्रीय अन्तरपणन (arbitrage) होता हो (व्यापार प्रतिबन्ध व परिवहन लागतें शून्य हो तथा अन्तरपणन प्रक्रिया में अपूर्णताएँ न हो) तो राष्ट्रों के कीमत स्तरों (अथवा कीमत सूचकांकों) की भिन्न भारित प्रणालियाँ

10 Pigou, A C —The Foreign Exchanges—Quarterly Journal of Economics, Nov 1922, pp 52 74

11 Vanek, J —International Trade : Theory and Economic Policy (Homewood Illinois, 1962), p 84

सामान्यतया भिन्न समताएँ प्रदान करेंगी जिनमे से कोई भी समता उस 'वास्तविक समता' (अर्थात् चालु विनिमय दर) के बराबर नही होगी जो समस्त वस्तुओ की कीमतो को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर समान कर देती है। अर्थात् ऊपर दी गयी शर्तों मे से शर्त (1) तो पूरी हो जाती है लेकिन शर्त (2) पूरी नही होती है।

केन्ज[12] (Keynes) ने सर्व प्रथम इगित किया कि केवल व्यापार मे शामिल वस्तुओ की कीमतो से सगणित क्रय-शक्ति-समता स्वय सिद्ध सत्य (truism) है अत: थोक मूल्य सूचकाक PPP की सगणना का कमजोर आधार है। केन्ज ने इसका कारण यह बतलाया कि इस प्रकार के सूचकाक व्यापार मे शामिल वस्तुओ के भार से अत्यधिक भारित होते है अत. इन सूचकाको से सगणित सापेक्ष कीमत समताएँ वास्तविक विनिमय दर के करीब होगी। इसलिए सिद्धान्त का मिथ्या सत्यापन (Spurious Verfication) हो जाता है।

निरपेक्ष समता

(Absolute Parity)

निरपेक्ष क्रय-शक्ति-समता की आलोचनाओ को दो श्रेणियो मे विभाजित किया जा सकता है —

(1) वे आलोचनाएँ जो यह सुझाती है कि अल्पकालीन साम्य विनिमय पर की PPP के समीप पहुँचने की यथार्थता (accuracy) कम है।

(2) वे आलोचन जो PPP सिद्धान्त के आधारभूत आधारवाक्य (basic premise) को नकारते है अर्थात् इस तथ्य को अस्वीकार करते हैं कि एक स्वतन्त्र लचीली विनिमय दर की PPP की ओर चलन करने की प्रवृत्ति होती है।

प्रशुल्क एव परिवहन लागतो के अस्तित्व से अल्पकालीन साम्य विनिमय दर व PPP के मध्य विचलन उत्पन्न हो सकता है तथा इस विचलन की मात्रा का इन अपूर्णताओ की कठोरता (Severity) से सीधा सम्बन्ध होता है।

दूसरी आलोचना यह है कि PPP सिद्धान्त विनिमय दर निर्धारण मे केवल कीमतो की भूमिका पर जोर देता है जबकि आय के परिवर्तन भी सम्बद्ध है। इस सन्दर्भ मे प्रो० *यीगर*[13] *(Yeager)* ने *इगित किया है कि आय शक्तियो के कारण*

12 Keynes, J M.—A Treatise on Money, Vol I (London, 1930) pp 72-74

13 Yeager, L B —"A Rehabilitation of PPP" —(J P E, Dec 1958), pp 516-30

PPP से विचलन कीमत-निर्धारित व्यापार प्रवाहों को जनित करेंगे जिससे ये विचलन घटेंगे। इससे आगे यीगर ने ध्यान दिलाया कि व्यापार चक्र की अवधि के कीमतों के चलनों में आय के चलनों के अनुरूप होने की प्रवृत्ति होती है। प्रो० आफीसर[14] (Officer) ने इस सन्दर्भ मे इंगित किया है कि PPP दीर्घकालीन साम्य विनिमय दर का प्रतिनिधित्व करती है अत इसमे चक्रीय परिवर्तनो के कारण प्रतिक्रिया नही होनी चाहिए। अत हम कह सकते हैं कि आय घटको की उपेक्षा को इस सिद्धान्त की आधारभूत कमी नही माना जा सकता।

PPP सिद्धान्त की एक आधारभूत कमी यह है कि इसमे भुगतान सतुलन के गैर-चालू (non current) मदो को ओर ध्यान नहीं दिया गया है। लेकिन जैसा कि पूर्व मे कैसल क सिद्धान्त की सीमाओ मे इंगित किया जा चुका है कैसल ने स्वय ने अल्पकालीन साम्य विनिमय दर के निर्धारक तत्त्वो मे अल्पकालीन सट्टे व दीर्घकालीन पूँजी के चलनो की भूमिका को स्वीकार किया है। वास्तविकता तो यह है कि दीर्घकालीन पूँजी प्रवाहो का PPP पर प्रभाव इस बात पर निर्भर करेगा कि सम्बद्ध प्रवाह अधिक मात्रा मे है अथवा कम मे एव ये प्रवाह निरन्तर बने रहने वाले है अथवा नहीं।

एक भिन्न प्रकार की आलोचना यह है कि PPP सिद्धान्त मे कीमत स्तरो को तो कारणात्मक चर (Causal Variable) तथा विनिमय दर को निर्धारित चर माना गया है जबकि विनिमय दरो के परिवर्तन भी कीमत स्तरो मे परिवर्तन उत्पन्न करते हैं। इस सम्बन्ध मे प्रो० यीगर[15,16] (Yeager) का विचार है कि विनिमय दरो व कीमतो की पारस्परिक कारणता (mutual Causation) PPP सिद्धान्त से मेल खाती है क्योकि सामान्य परिस्थितियो (ये परिस्थितियाँ जिम्मेदाराना मौद्रिक नीति के कारण विद्यमान रहती हैं) मे कारणता की श्रृंखला (line of Causation) कीमत स्तरो से विनिमय दर की ओर ही अधिक बलवती होती है। प्रो० आफिसर[17] (Officer) ने

---

14 Officer, L.H —The PPP Theory of Exchange Rates · A Review Article—(IMF Staff Papers, Mar 1976), pp 16-17.

15 Yeager, L.B —Op cit pp 520-22.

16 Yeager, L.B —International Monetary Ralations · Theory, History and Policy (New York, 1966) pp 181-84

17. Officer, L H —op cit (1976), p. 17.

सापेक्ष समता की अन्य आलोचनाएँ इस तथ्य के इर्द-गिर्द केन्द्रित हैं कि आधार-वर्ष के बाद के वर्ष में आर्थिक परिस्थितियाँ परिवर्तित हो सकती हैं। उदाहरणार्थ, परिवहन लागतो का स्तर व व्यापार प्रतिबन्धो की कठोरता म परिवर्तन होना स्वाभाविक ही है। इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी के प्रवाहो, एक पक्षीय हस्तातरणों व विनियोग आय आदि की निर्धारक परिस्थितियाँ आधार वर्ष से भिन्न हो सकती है।

अर्थव्यवस्था मे सरचनात्मक परिवर्तन एक एसी समता उत्पन्न कर सकते हैं जो कि चालू वर्ष की निरपेक्ष समता से भिन्न हो एव इस प्रकार दीर्घकालीन साम्य विनिमय दर से भिन्न हो।

उपर्युक्त विवेचन का सापेक्ष क्रय-शक्ति-समता के लिए आशय यह है कि आधार वर्ष चालू वर्ष से जितना हो सके उतना करीब होना चाहिए ताकि सरचनात्मक परिवर्तनों की सम्भावना न्यूनतम हो सके।

लागत समता

(Cost Parity)

लागत समता की आलोचनाओ को दो समूहो मे बाँटा जा सकता है :—(1) वे आलोचनाएँ जो कीमत समता के सापेक्ष के रूप म लागत समता की कमियाँ इगित करती हैं, तथा (2) वे जो इकाई कारक लागत (UFC) समता पर ध्यान केन्द्रित करती हैं। प्रो॰ हेबरलर[19,20] (Haberler) लागत समता के प्रथम आलोचक हैं। प्रो॰ हेबरलर के अनुसार लागत समता म कीमत समता वाली समस्त समस्यायें उपस्थित हैं तथा इसके अतिरिक्त इसमे अस्पष्टता व सदिग्धता के अवगुण भी हैं क्योंकि 'लागत स्तर' अथवा 'उत्पादन लागतो का स्तर' कीमतो के एक कुलक (set) का कीमत स्तर है जिसे स्पष्ट रूप से परिभाषित नहीं किया गया है। प्रो॰ हेबरलर आगे तर्क प्रस्तुत करते हैं कि 'लागत समता' को 'मजदूरी समता' द्वारा प्रतिस्थापित कर देना हल इसलिए नहीं है कि ऐसा करने के उपरान्त भी उत्पादन क अन्य कारकों की भूमिका को शामिल करना आवश्यक होगा।

19 Haberler G V —Some Comments on Prof Hansen s Note—Rev of Econ Stat (Nov 1944), p 192

20 Haberler G V —The choice of Exchange Rates After the War—A E Rev (June, 1945) p 312, foot note 4

इसके अतिरिक्त हम यह सकते है कि अर्थ-व्यवस्था के लागत स्तर अथवा सूचकाक का प्रतिनिधित्व करने हेतु फर्म्स (Firms) का चुनाव करना पडेगा। केवल भिन्न उद्योगो की फर्म्स की लागतें ही भिन्न नही होती है अपितु एक ही उद्योग मे विभिन्न फर्म्स की लागतो मे भी अन्तर पाये जाते है। इसके अलावा फर्म की उत्पादन लागत उत्पादन के स्तर के साथ परिवर्तित होती है अत एक ऐसा उत्पादन स्तर भी निर्धारित करना पडेगा जिस पर हमे लागतो की गणना करनी है।

अन्त मे, हमे आकडो की प्राप्यता (availability) से सम्बन्धित समस्या की गम्भीरता भी ध्यान मे रखनी चाहिए क्योंकि उत्पादन कीमतो के उपलब्ध आकडो की तुलना मे कारक कीमतो व उत्पादकता से सम्बद्ध सूचना बहुत कम उपलब्ध है।

क्रय-शक्ति-समता सिद्धान्त की अवशिष्ट अनुप्रयुक्तता

(Residual Applicability of Purchasing–Power–Parity)

PPP सिद्धान्त के अधिकाश आलोचक इस सिद्धान्त की आलोचनाओ के आधार पर इसे *पूर्णतया अस्वीकार नही करते है वे PPP सिद्धान्त की 'अवशिष्ट अनुप्रयुक्तता'* को स्वीकार करते हुए इन आलोचनाओ के बावजूद इस सिद्धान्त की अनुप्रयुक्ति की विस्तार सीमा इगित करते हैं।

प्रो० हेबरलर[21] (Haberler) ने तीन ऐसी स्थितियाँ इगित की है जिनम PPP सिद्धान्त की अनुप्रयुक्ति सम्भव है —

(1) सामान्य परिस्थितियाँ (Nnormal Circumstances) —सामान्य परिस्थितियो मे PPP सिद्धान्त *सन्निकट रूप (Approximate Fashion) मे* इस दृष्टिकोण से लागू होता है कि हमे शायद ही ऐसी स्थिति देखने को मिले जिसमे वास्तविक विनिमय दर क्रय-शक्ति-समता से 15-20 प्रतिशत से अधिक भिन्न हो।

(2) कीमतो मे भारी परिवर्तनो की स्थिति मे (When gereral Price movements dominate changes in relative Prices) —जब सामान्य

21 Haberler, G V —A Survey of *Internation Trade Theory—Special Papers in* International Economics No. 1, (International Finance Section Princeton University, Rev ed 1951), pp 50-51

कीमत चलन सापेक्ष कीमतो के परिवर्तनो मे महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं तो सापेक्ष PPP उपयोगी अवधारणा है। प्रो० हेबरलर के अनुसार "यदि अन्य प्रमाणो के साथ सतर्कता पूर्वक उपयोग किया जाय तो PPP गणनाओ का महत्त्वपूर्ण नैदानिक मूल्य (diagnostic Value) है विशेषकर भारी मुद्रा स्फीति की अवधि मे।"[22]

(3) व्यापार सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाने की स्थिति मे (When trade relations between countries have been interrupted) —उस स्थिति मे जब राष्ट्रो के मध्य व्यापार सम्बन्ध विच्छिन्न हो चुके हो (उदाहरणार्थ, युद्ध के कारण) अथवा राष्ट्रो के मध्य व्यापार वस्तु-विनिमय अथवा सरकार से सरकार के आधार पर होने लगा हो तो PPP एक ऐसी साम्य विनिमय दर इगित करेगी जो कि सामान्य व्यापार सम्बन्ध होने पर लागू की जानी चाहिए।

प्रो० मेजलर (Metzler) लिखते है कि "मेरे विचार मे समता सिद्धान्त की आलोचनाएँ अत्यधिक आगे बढ चुकी थी तथा इस सिद्धान्त को उन परिस्थितियो के लिए भी अस्वीकार कर दिया गया जिनमे यह मान्य था।"[23]

ऐल्सवर्थ (Ellsworth) के अनुसार इस सिद्धान्त की आलोचनाओ के बावजूद, क्रय-शक्ति-समता को विस्तृत स्तर पर साम्य विनिमय दर की गणना के आधार के रूप मे प्रयोग लिया जा रहा है————क्योकि केवल क्रय-शक्ति-समता के लिए ही आँकडे उपलब्ध है जिनसे कि ठोस विनिमय दर की गणना की जा सकती है———अत इसकी कमियो के बावजूद, क्रय-शक्ति-समता मे अप्रतिरोध्य (irresistible) आकर्षण है।[24] एल्सवर्थ मेजलर से सहमती व्यक्त करते हुए स्वीकार करते हैं कि भारी कीमत परिवर्तनो मे PPP सिद्धान्त लागू होता है।

निष्कर्ष

(Conclusion)

निष्कर्ष के रूप मे हम कह सकते हैं कि कैसल का सिद्धान्त एक सिद्धान्त की

22 Haberler, G V —op cit, (1861), p 50.

23 Metzler, L A —The Theory of International Trade—(in Metzler's collected Papers, op cit p 16 foot note 31,

24 Ellsworth P T —The International Economy (New Yorks 1950), p. 600,

प्रणाली के अन्तर्गत प्रत्येक सदस्य राष्ट्र को स्वर्ण अथवा डालर के रूप मे अपनी मुद्रा की समता स्थापित करनी पडती थी तथा इस समता के दोनो ओर 1 प्रतिशत की सीमाओ के अन्तर्गत विनिमय दर बनाये रखनी आवश्यक थी। इसके अतिरिक्त राष्ट्रो को एक दूसरे का मुकाबला करने हेतु नही अपितु औचित्य साबित करने पर ही अवमूल्यन की अनुमति दी जाती थी।

'पेगड' विनिमय दर प्रणाली के अन्तर्गत यदि आयात आधिक्य के कारण राष्ट्र विशेष के भुगतान सतुलन मे घाटा उत्पन्न हो जाता था तो राष्ट्र अपनी आरक्षित निधि मे से कोष निकालकर, विदेशो से उधार लेकर, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से उधार लेकर अथवा इन तीनो स्रोतो का उपयोग करके घाटे की वित्त व्यवस्था करता था। आयातो की इस प्रारम्भिक वृद्धि से व्यापार सतुलन मे घाटे वाले राष्ट्र की आय मे, विदेशी व्यापार गुणक के माध्यम से, वृद्धि होती थी अतः प्रारम्भिक आयात आधिक्य का एक अश दुरस्त हो जाता था। यदि इस प्रकार के प्रारम्भिक घाटे से राष्ट्र को स्वर्ण की हानि वहन करनी पडती थी एव मौद्रिक अधिकारी स्वर्ण के अपवाह द्वारा मुद्रा की पूर्ति घटा देते थे तो इससे ब्याज दर मे होने वाली वृद्धि विनियोग व आय मे और अधिक कमी कर देती थी। लेकिन आय व कीमत परिवर्तन पुन सतुलन स्थापित करने हेतु सामान्यतया अपर्याप्त ही थे। भुगतान सतुलन का प्रारम्भिक घाटा अस्थायी होने की स्थिति मे राष्ट्र विदेशो से उधार लेकर अथवा आरक्षित निधि मे से, घाटे की वित्त-व्यवस्था कर लेता था, जबकि भुगतान सतुलन मे निरतर घाटा बने रहने की स्थिति मे राष्ट्र को अन्तत सकुचन वाली मौद्रिक व राजकोषीय नीतियाँ अपनानी पडती थी, इसके विपरीत यदि राष्ट्र 'आधारभूत असाम्य' (Fundamental Disequilibrium) की स्थिति का सामना कर रहा होता तो ऐसे राष्ट्र को अपनी मुद्रा के अवमूल्यन की अनुमति प्रदान कर दी जाती थी।

19 वी शताब्दी की परिस्थितियो मे तो 'पेगड' अथवा स्थिर विनिमय दर प्रणाली सुचारु रूप से कार्यरत रही लेकिन हाल ही के दशकों मे यह प्रणाली ठीक से कार्यरत रहने मे असफल रही है। अत यह कहना उचित ही प्रतीत होता है कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष की 'पेगड' विनिमय दर प्रणाली पूर्णतया सफल नही रही है।

'पेगड' विनिमय दर प्रणाली की कमियाँ

(Shortcomings of the Pegged Exchange Rate System)

'पेगड' विनिमय दर प्रणाली की विभिन्न कमियों का अध्ययन अग्रलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है —

1 सम्भावित नीति द्वन्द्व (Possible Policy Conflicts) :—'पेग्ड' विनिमय दर प्रणाली की प्रमुख समस्या नीति द्वन्द्व थी। उदाहरणार्थ, यदि भुगतान सतुलन में घाटे वाला राष्ट्र बेरोजगारी की समस्या कम करने का प्रयत्न कर रहा हो तथा भुगतान सतुलन मे अतिरेक वाला राष्ट्र मुद्रा स्फीति का सामना कर रहा हो तो घरेलू उद्देश्यो की पूर्ति हेतु अपनाई गई स्वाभाविक नीति भुगतान सतुलन के असाम्य मे वृद्धि करेगी।

2. विनिमय दर को प्रबन्धित करने मे कठिनाइयाँ (Difficulties in managing the exchange rate) —'पेग्ड' विनिमय दर प्रणाली के अन्तर्गत विनिमय दर मे समय-समय पर परिवर्तन किये जाते रहते है अत इस प्रणाली को प्रबन्धित लचक (managed flexibility) वाली प्रणाली भी कहते हैं। लेकिन राष्ट्र के मूल्य को प्रबन्धित करने मे कई कठिनाइयाँ सामने आती है। एक समस्या तो यह तय करने की है कि मुद्रा के मूल्य मे परिवर्तन कब किया जाए ?

जब भुगतान सतुलन मे प्रारम्भिक घाटा उत्पन्न होता है तो अधिकारीगण यह निश्चित नही कर पाते कि यह घाटा स्थायी प्रकृति का है अथवा अस्थायी प्रकृति का। चूंकि अधिकारीगण सामान्यतया अवमूल्यन करने से कतराते है अत जहाँ तक सम्भव हो वे अवमूल्यन के कदम को आगे खिसकाते रहने का प्रयत्न करते रहते हैं। अत स्पष्ट है कि 'पेग्ड' विनिमय दर प्रणाली के अन्तर्गत विनिमय दर मे विरले ही व लम्बी अवधि के पश्चात् परिवर्तन करने की प्रवृत्ति पायी जाती है जिससे भुगतान सतुलन मे घाटे की समस्या गम्भीर बनती जाती है।

यदि हम मानलें कि सरकार ठीक समय पर अवमूल्यन का कदम उठाने मे आनाकानी नही करेगी तो भी अवमूल्यन का कदम उठाने से सम्बन्धित स्पष्ट मापदण्ड के अभाव मे अवमूल्यन के निर्णय मे विलम्ब असाम्य की स्थिति और गम्भीर बना देगा।

मान लीजिए कि राष्ट्र विशेष ने अवमूल्यन करने का निर्णय ले लिया है तो दूसरी समस्या अवमूल्यन की श्रेणी (degree) से सम्बन्धित है अर्थात् यह तय करने की समस्या बनी रहती है कि भुगतान सतुलन मे पुन साम्य स्थापित करने हेतु कितना अवमूल्यन किया जाए ? पेग्ड विनिमय दर प्रणाली के अन्तर्गत राष्ट्र के लिए बार-बार अवमूल्यन करने की अनुमति लेना काफी दुष्कर कार्य था अत सम्बद्ध राष्ट्र के लिए

आवश्यक से अधिक अवमूल्यन करने की प्रेरणा बनी रहती थी। इसके अतिरिक्त भुगतान सतुलन में घाटे वाले राष्ट्र म बेरोजगारी की समस्या विद्यमान होने की स्थिति में राष्ट्र भुगतान सतुलन के घाट को समाप्त करन हेतु आवश्यक से अधिक अवमूल्यन करके आय व रोजगार के स्तर को उद्दीप्त करने का प्रयास करता था। अत स्पष्ट है कि 'पेग्ड' विनिमय दर प्रणाली के अन्तर्गत राष्ट्र के लिए आवश्यक से अधिक अवमूल्यन करने के लिए अनेक प्रेरणायें बनी रहती थीं।

इसके अतिरिक्त राष्ट्र विशेष मे विनिमय दर मे परिवर्तन जितने कम किये जाते थे तथा राष्ट्रीय मौद्रिक नीतियाँ जितनी कम एकीकृत होती थी, अन्य बातें समान रहने पर, राष्ट्र को उतनी ही अधिक आरक्षित निधि की आवश्यकता होती थी।

3 अस्थायित्वकारक सम्भावित सट्टा (Possible destablizing Speculation) —'पेग्ड' विनिमय दर प्रणाली के आलोचकों का तर्क है कि इस प्रणाली को अपनाने से बड़े पैमाने पर अस्थायित्वकारक सट्टे की प्रवृत्ति पायी जायेगी। चूँकि 'पेग्ड' विनिमय दर प्रणाली के अन्तर्गत विनिमय दर लम्बी अवधि के बाद ही परिवर्तित की जा सकती है अत अन्तरिम अवधि में विनिमय दर पर भारी दबाव बना रहता है। इस अवधि म कई बार सटोरिये अपने कोष मजबूत मुद्राओं की ओर हस्तातरित कर देत हैं क्योकि उन्ह यह स्पष्ट दिखाई देने लगता है कि कमजोर मुद्रा का अवमूल्यन अवश्यम्भावी है। ऐसी स्थिति म सटोरियो को विनिमय दर मे परिवर्तन की दिशा से सम्बन्धित कोई सन्देह नही रह जाता है अत सटोरियो के लिए खराब से खराब स्थिति वह हो सकती है जब राष्ट्र के *अधिकारीगण अपनी आर्थिक कठिनाइयो से निपटने म सफल हो* जायें तथा विनिमय दर वर्तमान स्तर पर ही बनी रहे। ऐसी स्थिति म सटोरियो को अपन कोष हस्तातरित करन की मामूली लागत और मजबूत मुद्रा वाले राष्ट्र की ब्याज दर नीची होने की स्थिति म कुछ ब्याज की हानि वहन करनी पड़ सकती है। लेकिन यदि कमजोर मुद्रा का अवमूल्यन हो जाता है तो सटोरियो को कमजोर मुद्रा वाले राष्ट्र के मौद्रिक अधिकारियो की लागत पर लाभ अर्जित होगा।

अत स्पष्ट है कि सट्टे की प्रवृत्ति के कारण अन्यथा टाला जा सकने वाला अवमूल्यन आवश्यक हो जायेगा, अधिक उग्र (drastic) अवमूल्यन करना पड़ेगा अथवा राष्ट्र को बाध्य होकर विनिमय नियन्त्रणों का सहारा लेना पड़ेगा।

इसके अतिरिक्त यह तर्क भी प्रस्तुत किया जाता है कि चूंकि पेगड' दरें स्थायी रूप से स्थिर दरें नही होती है अत इस प्रणाली को अपनाने से स्थिर विनिमय दर प्रणाली अपनाने से सम्भव दीर्घकालीन विनियोग के रास्ते मे भी बाधायें उपस्थित होगी। इसके अलावा 'पेगड' दरो मे समय-समय पर किये जाने वाले विशाल समायोजन अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की मात्रा पर प्रतिकूल प्रभाव उत्पन्न करेंगे विशेषकर इसलिये कि सम्बद्ध राष्ट्र अवमूल्यन को टालने के प्रयासो की प्रक्रिया मे विनिमय नियन्त्रणो का सहारा लेंगे।

अत: स्पष्ट है कि अन्तराष्ट्रीय मुद्राकोष की 'पेगड' विनिमय दर प्रणाली मे अनेक कमियाँ थी। प्रो० मिल्टन फ्रिडमेन (Milton Friedman) ने इस प्रणाली की आलोचना करते हुए इसे स्थिर तथा लचीली विनिमय दर प्रणालियो के दोषो का प्रतिनिधित्व करने वाली प्रणाली की सज्ञा दी है, उनके अनुसार, 'यह न तो निर्बाध विश्व व्यापार की वास्तव मे स्थिर व स्थायी विनिमय दर द्वारा प्रदत्त प्रत्याशाओ का स्थायित्व (Stability of Expectations) तथा बाह्य परिस्थितियो के अनुरूप आन्तरिक कीमत सरचना को समायोजित करने की तत्परता व योग्यता प्रदान करती है और न ही लचीली विनिमय दर की निरतर संवेदिता (Continuous Sensitivity) प्रदान करती है।"[25]

लचीली विनिमय दर प्रणाली

(The System of Flexible Exchange Rates)

लचीली विनिमय दर प्रणाली के अधिकाश प्रारम्भिक समर्थन का आधार 'पेगड' विनिमय दर प्रणाली की कमियाँ थी। सन् 1953 मे प्रकाशित प्रो० मिल्टन फ्रिडमेन के प्रसिद्ध लेख[26] मे लचीली विनिमय दर प्रणाली अपनाने के बहुत अधिक लाभ नही दर्शाये गये थे। प्रमुखतया लचीली विनिमय दर प्रणाली अपनाकर राष्ट्र को विदेशी मौद्रिक अव्यवस्थाओ के प्रभावो से अलग-थलग रख सकने के लाभ एव भिन्न मौद्रिक दरो वाले राष्ट्रो के मध्य पुन मेल (reconciliation) का लाभ इगित किया गया था। यह भी आशा की गयी थी कि लचीली विनिमय दरो को अपनाने से बाह्य समायोजन प्रक्रिया की प्रणाली बिना विनिमय सकटो के अथवा व्यापार व पूँजी के प्रवाहो पर

25 Friedman, M.—The Case for Flexible Exchange Rates—In his Essays in Positive Economics (University of chicago Press, 1953), p 164.
26. Friedman, M—op cit (1953), Ibid

नियत्रणो की आवश्यकता के सपाट रूप मे (Smoothly) क्रियान्वित होती रहेगी। लेकिन लचीली विनिमय दरो के पक्षधरो ने साठ के दशक मे इस प्रणाली से काफी आशायें लगाली थी। इनका विश्वास था कि रोजगार व मुद्रा स्फीति मे दीर्घकालीन विनिमय (trade off) होता है अतः लचीली विनिमय दर प्रणाली अपनाने से राष्ट्र अपनी स्वय की आर्थिक परिस्थितियो के अनुरूप कीमत-रोजगार उद्देश्य अपना सकेगा। यह भी आशा कि गयी कि लचीली दरें अपनाने से स्थायी विकास सम्भव हो सकेगा क्योकि इनको अपनाने से राष्ट्र बाह्य मौद्रिक व वास्तविक थपेडो (Shocks) से अलग-थलग हो पायेगा।

लचीली विनिमय दर प्रणाली अपनाने से लाभ

(Advantages Claimed for Flexible Exchange Rates)

लचीली विनिमय दर प्रणाली के लाभो का अध्ययन निम्न शीर्षको के अन्तर्गत किया जा सकता है :—

(1) *सरलता* (Simplicity) :—लचीली विनिमय दर प्रणाली के समर्थक इस प्रणाली का एक लाभ यह बतलाते है कि यह प्रणाली सरल है। चूँकि स्वतत्र बाजार मे विनिमय दर के परिवर्तन माँग व पूर्ति को समान कर देते हैं अतएव बाजार मे कमी व आधिक्य की स्थिति उत्पन्न नहीं होगी। अत लचीली विनिमय दर प्रणाली अपनाने से सम्बद्ध राष्ट्रो को भुगतान सतुलन मे साम्य पुनः स्थापित करने हेतु कीमतो व आय मे परिवर्तन करने की आवश्यकता नही होगी। स्पष्ट ही है कि मुद्रा विशेष की माँग व पूर्ति को प्रभावित करने वाले चरो म से विनिमय दर को परिवर्तित करना सर्वाधिक आसान है तथा यह बाजार शक्तियो के प्रति शीघ्र प्रतिक्रिया करती है।

लेकिन लचीली विनिमय दर प्रणाली के आलोचको का मत है कि यह प्रणाली सरल तभी है जब यह कार्यरत हो पाये। लचीली विनिमय दर प्रणाली सुचारु रूप से कार्यरत नहीं रह पायी है अत इस प्रणाली को सरल नहीं कहा जा सकता है।

(2) *निरन्तर समायोजन* (Continuous Adjustment) :—चूँकि स्वतत्र विनिमय दर प्रणाली सवेदिन (Sensitive) होती है अत विनिमय दर मे निरतर समायोजन होते रहने से दीर्घकाल तक बन रहने वाले असाम्य के प्रतिकूल प्रभावों को टाला जा सकता है।

यदि भुगतान सतुलन मे असाम्य लम्बी अवधि तक बना रहता है तो साधनो का अनुचित उपयोग होता है तथा अन्तत सुधारक उपाय अपनाने पर झटका लगता है। असाम्य सही करने म यदि और अधिक समय लगता है तो सुधारक उपाय अधिक उग्र अपनाने पडते हैं एव उन्हे लागू करना और अधिक मुश्किल हो जाता है। इसके विपरीत शनै-शनै लागू किये गय उपायो से अचानक झटको व उग्र समायोजना को टाला जा सकता है। यद्यपि लचीली विनिमय दरें समायोजनो की आवश्यकता समाप्त नही कर पाती है लेकिन इस प्रणाली को अपनाकर विनिमय दर मे आवश्यक परिवर्तन शनै-शनै किये जा सकते है।

(3) लचीली दरें व स्थायी विकास (Flexible rates and Stable Growth) — लचीली दरो के पक्ष मे एक प्रमुख तर्क यह है कि इनको अपनाने से अधिक स्थायी विकास सम्भव हो सकेगा। यह तक तीन तकवाक्यो (propositions) पर आधारित है —(1) लचीली दरें राष्ट्र की आर्थिक क्रियाओ के स्तर को विदेशी विस्तार व सकुचन के प्रभावों से अलग-थलग कर देती हैं (2) लचीली दरें अधिकारीगणों (authorities) की मुद्रा पूर्ति पर नियत्रण की श्रेणी म वृद्धि करती है एव बिना बाह्य सतुलन की सीमाओ (constraints) के उन्हे मौद्रिक व राजकोषीय नीतियो के उपयोग द्वारा आर्थिक क्रियाओ के स्तर को प्रभावित करने का अवसर प्रदान करती हैं। (3) लचीली दरो को अपनाने से मौद्रिक नीति की सक्षमता (efficacy) मे काफी वृद्धि होती है अर्थात लचीली दर प्रणाली के अन्तर्गत मुद्रा की पूर्ति मे निश्चित परिवर्तन का आर्थिक क्रियाओ के स्तर पर अधिक प्रभाव पडता है।

लचीली विनिमय दर प्रणाली के अन्तर्गत विदेशी आर्थिक क्रियाओ मे परिवर्तनो से राष्ट्र के अलग-थलग रहने का निष्कर्ष दो मान्यताओ पर आधारित है —

(1) वास्तविक बाह्य बाधा से विनिमय दर परिवर्तित होगी, तथा (2) विनिमय दर मे परिवर्तन बाह्य बाधा को घरेलू अर्थव्यवस्था को प्रभावित करने से रोकेगा। उदाहरणार्थ, विदेशी माँग मे कमी के परिणामस्वरूप व्यापार सतुलन म घाटा जनित करने के बजाय विनिमय दर का मूल्य ह्रास (depreciation) जनित करेगा जिसका घरेलू अर्थव्यवस्था पर अवस्फीतिकारक (deflationary) प्रभाव होगा।

लेकिन ये दोनो मान्यतायें सीमित सीमा तक ही मान्य प्रतीत होती हैं।

हाल ही तक यह माना जाता रहा है कि लचीली विनिमय दर प्रणाली के अन्तर्गत अधिकारीगण मुद्रा पूर्ति (अथवा अधिक परिशुद्ध रूप म) मौद्रिक आधार को नियंत्रित कर सकेंगे तथा मौद्रिक नीति का निर्माण करते समय मौद्रिक अधिकारी यदि विनिमय दर की स्थिति की परवाह न करें तो यह मानना सही भी है। लेकिन हाल ही के वर्षों म यह स्पष्ट हो चुका है कि इस तरह की अनुग्रहपूर्ण लापरवाही (benign neglect) की नीति अपनाने से विनिमय दर मे अस्थायित्व (instability) उत्पन्न हो सकता है।

प्रो सोहमेन[27](Sohmen) के अनुसार लचीली दरो का शायद सबसे बडा लाभ यह है कि इन्हे अपनाने से मौद्रिक नीति की सक्षमता (efficacy) मे काफी वृद्धि हो जाती है। उदाहरणार्थ यदि एक राष्ट्र मुद्रा स्फीति को नियंत्रित करने का प्रयास कर रहा है तो वह सामान्यतया ब्याज दर म वृद्धि करेगा। ब्याज दर की वृद्धि से व्यय घटगा लेकिन इसस ऊँचा ब्याज कमाने के उद्देश्य से अल्पकालीन पूँजी का अन्तर्वाह (inflow) बढगा पूँजी के अन्तर्वाह से विनिमय दर गिरेगी जिसस आयातो म वृद्धि होगी तथा निर्यात घटेंगे। आयातों की इस वृद्धि से कीमतें अथवा आय अथवा इन दोनो मे कमी होगी। इस प्रकार व्यापार सतुलन का परिवर्तन ऊँची ब्याजदर के विशुद्ध घरेलु प्रभाव को प्रबल बनायेगा तथा मुद्रा स्फीति के नियत्रण मे योगदान देगा।

इसके विपरीत 'पगड' विनिमय दर प्रणाली के अन्तर्गत घरेलु ब्याज दर की वृद्धि प्रत्यक्ष रूप से आयात अतिरेक सृजित करके घरेलु कीमत व आय मे कमी नहीं करगी। इस प्रणाली के अन्तर्गत ऊँची ब्याजदर का व्यापार सतुलन पर इतना ही प्रभाव पडेगा जितनी इसस कीमतें अथवा आय अथवा इन दोनो मे कमी होगी।

दूसरी ओर यदि कोई राष्ट्र घरेलु रोजगार के स्तर मे वृद्धि करना चाहता है तो वह ब्याज दर घटायेगा। लचीली विनिमय दर प्रणाली के अन्तर्गत ब्याज दर मे कमी से पूँजी का अपवाह (outflow) होगा जिससे विनिमय दर बढेगी तथा आयातो के सापेक्ष के रूप म निर्यातो मे वृद्धि होगी। व्यापार सतुलन का यह अनुकूल परिवर्तन नीची ब्याजदर के घरेलु व्यय पर विस्तारक (expansionary) प्रभावों को प्रबल करेगा।

अत स्पष्ट है कि लचीली दरें मौद्रिक नीति के विशुद्ध घरलु प्रभावो का और

27 Sohmen E—Flexible Exchange Rates Theory and Controversy (Chicago University of Chicago Press, 1961) pp 83-93

अधिक प्रबल बनाने हेतु विदेशी खाते को प्रत्यक्ष रूप से कार्यरत होने के लिए प्रोत्साहित करती हैं एवं इस प्रकार मौद्रिक नीति को अधिक प्रभावी बना देती है।

(4) आरक्षित निधि की आवश्यकता में कमी (Reduces the need for reserves) —लचीली विनिमय दर प्रणाली अपनाने का एक अन्य लाभ यह है कि इस प्रणाली के अन्तर्गत यदि सम्बद्ध राष्ट्रों की सरकारें विनिमय दरों को प्रभावित करने हेतु स्थिरीकरण कोषों (Stabilization Funds) का उपयोग नहीं करती है तो आधिकारिक (official) विदेशी विनिमय आरक्षित निधि की आवश्यकता समाप्त हो जाती है। प्रो॰ सोहमेन[28] (Sohmen) ने इंगित किया है कि अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की कमी विनिमय दरों को 'पेग' (Peg) करने का तथा मौद्रिक अधिकारियों द्वारा एक सीमा से अधिक उतार-चढ़ावों को रोकने हेतु हस्तक्षेप करने का परिणाम है।

(5) मुद्रा स्फीति विभेद (Inflation Differential) —लचीली विनिमय दरों के पक्ष का तर्क मूलरूप से इस मान्यता पर आधारित था कि भिन्न सरकारों की विभिन्न श्रेणियों तक अपनी मुद्राओं का कुप्रबन्ध करने की अवाञ्छनीय लेकिन अपरिहार्य (Unavoidable) प्रवृत्ति के कारण भिन्न राष्ट्र समान मुद्रा स्फीति की दर नहीं बनाये रख सकते हैं। अतः मुद्रा स्फीति की भिन्न दरों के समायोजन हेतु विनिमय दरों में समय-समय पर समायोजन आवश्यक है तथा यह समायोजन लचीली विनिमय दर प्रणाली के अन्तर्गत आसानी से किया जा सकता है। यद्यपि इस समस्या का लचीली दरें प्रथम सर्वश्रेष्ठ हल नहीं मानी गयी थी लेकिन राजनैतिक वास्तविकताओं के कारण स्थिर विनिमय दर प्रणाली के अकार्यकारी (Unworkable) हो जाने से इसे द्वितीय सर्वश्रेष्ठ (Second best) प्रणाली के रूप में उपयुक्त माना था।

लचीली विनिमय दर प्रणाली के विपक्ष में तर्क

(The Case Against Flexible Exchange Rates)

लचीली विनिमय दर प्रणाली के विपक्ष में मूलरूप से दो तर्क हैं: (1) विनिमय

28 Sohmen E—International Monetary Reforms and The Foreign Exchange—Princeton Univ Int Finance Section, Special Papers in Int Economics, No 4 (April, 1963), pp 71 72

दर परिवर्तनो द्वारा भुगतान सतुलन म समायोजन हेतु आवश्यक से नीची लोचें होना, तथा (2) लचीली दरो मे अस्थायी (Unstable) होने की प्रवृत्ति। अत : इस प्रणाली से जनित अनिश्चितता से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार व विनियोग का स्तर अनुकूलतम स नीचा गिर जायेगा।

(1) नीची लोचें (Low elasticities) —यदि लोचें बहुत नीची हैं तो विनिमय बाजार अस्थायी (Unstable) होगा तथा कमजोर मुद्रा का मूल्य ह्रास भुगतान सतुलन मे और अधिक घाटा उत्पन्न कर देगा। मूल्य ह्रास के परिणामस्वरूप राष्ट्र के व्यापार सतुलन मे सुधार के लिये आवश्यक शर्त यह है कि राष्ट्र के आयातो की माँग लोच तथा इसके निर्यातो की विदेशी माँग लोच का निरपेक्ष योग इकाई से अधिक होना चाहिए। लचीली दरो के आलोचको का तर्क है कि ये लोचें अत्यधिक नीची होती हैं अत मूल्य ह्रास से व्यापार सतुलन के घाटे मे वृद्धि होगी।

लोच निराशावादियो (elasticity pessimists) के अनुसार विनिमय बाजार अस्थिर (unstable) होता है अन स्वतत्र लचीली विनिमय दर प्रणाली अपनाने से विनिमय दर मे प्रारम्भिक बाधा (disturbance) उग्र उच्चावचन (drastic fluctuations) जनित करेगी।

(2) विनिमय दर अस्थायित्व (Exchange Rate Instability) लचीली दरों के विपक्ष में प्रदत्त द्वितीय तर्क के कई पहलू हैं अत इसका मूल्याकन करना अधिक कठिन प्रतीत होता है। लेकिन इस तर्क का केन्द्र बिन्दु यह है कि लचीली दरें अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार व पूँजी प्रवाहों के लिये हानिकारक अनिश्चितता उत्पन्न करती हैं। अनिश्चितता उत्पन्न होने का प्रमुख कारण शायद लचीली दरों का अस्थायी (unstable) दरों म परिवर्तित हो जाना है।

इस तर्क का एक पहलू यह है कि लचीली विनिमय दर प्रणाली के अन्तर्गत विनिमय दर मे परिवर्तनों के कारण विदेशी विनियोग मे कटौती इसलिए होगी कि या तो ऋणदाता अथवा ऋणी दीर्घकालीन सौदे करने से इन्कार कर देंगे। ऋणदाता अपनी आय सुरक्षित करने हेतु स्वय की मुद्रा मे पुनर्भुगतान का तकाजा कर सकता है लेकिन यह तो विनिमय दर के परिवर्तनो से उत्पन्न अप्रत्याशित जोखिमो को ऋणी पर डालना मात्र है। अत 'पेग्ड' से लचीली विनिमय दर प्रणाली की ओर विवर्तन (shift) से जोखिम बढ जाने के कारण दीर्घकालीन विदेशी विनियोग मे कमी होगी।

लेकिन इस संदर्भ में प्रो० फ्रिडमन (Friedman) का कहना है कि, "——— लचीली विनिमय दरों की वकालत अस्थिर (unstable) विनिमय दरों की वकालत के समान (equivalent) नहीं है। अन्तिम उद्देश्य ऐसा विश्व है जिसमें विनिमय दरें परिवर्तनों के लिये स्वतन्त्र होते हुए भी वास्तव में बहुत ही स्थायी (highly stable) होंगी।"[29]

लचीली दरों के पक्षधर सुझाते हैं कि विनिमय दरें निहित आर्थिक शर्तों को प्रतिबिम्बित करेंगी जब तक ये शर्तें स्थायी रहेगा, विनिमय दरें भी स्थायी रहेंगी।

लेकिन आरटस (Artus) एवं यंग[30] (Young) का विचार है कि लचीली दरों के कुछ वर्षों के अनुभव से यह साबित करने के लिये पर्याप्त तथ्य एकत्रित हो चुके हैं कि दिन प्रतिदिन, महीने प्रति महीने व वर्ष प्रति वर्ष की अवधि में ऊपर-नीचे चलन करने की सामान्य वृत्ति के बोध में लचीली दरों के अस्थायी (unstable) होने की प्रवृत्ति होती है।

(2) अस्थायित्वकारक सट्टा (Speculation will be destabilizing) —स्थिर विनिमय दर प्रणाली के पक्षधरों का तर्क है कि लचीली विनिमय दर प्रणाली के अन्तर्गत सट्टा अपेक्षाकृत अधिक अस्थायित्वकारक होता है। अस्थायित्वकारक सट्टे के कारण विनिमय दर जब ऊँची जाने लगती है तो सटोरिये इस आशा में मुद्रा क्रय करते हैं कि विनिमय दर और अधिक ऊँची जायेगी तथा जब विनिमय दर गिरने लगती है तो वे इस आशा से मुद्रा का विक्रय करने लगते हैं कि विनिमय दर और अधिक गिरेगी इस प्रक्रिया से विनिमय दर के उच्चावचन व्यापार चक्रों से जनित उच्चावचनों से अधिक होने लगते हैं तथा अन्तर्राष्ट्रीय सौदों में निहित अनिश्चितता व जोखिम बहुत अधिक बढ़ जाती है। इसके विपरीत यदि सट्टा स्थायित्वकारक हो तो सटोरियों की क्रियाएं ऊपर वर्णित से ठीक विपरीत होंगी।

चित्र 16 3 में X रेखा सट्टे की अनुपस्थिति में व्यापार चक्रों द्वारा जनित उच्चावचन दर्शाती है तथा Y रेखा सट्टा स्थायित्वकारक होने की स्थिति में, जबकि Z रेखा अस्थायित्वकारक सट्टे की स्थिति में अधिक उच्चावचनों का प्रतिनिधित्व करती है।

29 Friedman M —op cit p 158;
30 Artus, J R and Young J H —Fixed and Flexible Exchange Rates A Renewal of the Debate—I M F. Staff Papers (Dec 1979) p 672.

चित्र 16.3 से स्पष्ट है कि अस्थायित्वकारक सट्टे की उपस्थिति से विनिमय दर के अधिक उच्चावचन अन्तर्राष्ट्रीय सौदों की जोखिम बढा देंगे तथा व्यापार व विनियोग के अन्तर्राष्ट्रीय प्रवाह को घटा देंगे। स्थिर विनिमय दर प्रणाली के पक्षधरों का तर्क है कि स्थिर विनिमय दरों की तुलना मे लचीली विनिमय दरों की स्थिति में अस्थायित्वकारक सट्टे की सम्भावनाएँ अधिक बनी रहती हैं।

लेकिन लचीली विनिमय दर प्रणाली के पक्षधरों का तर्क है कि लचीली विनिमय दर प्रणाली के अन्तर्गत अस्थायित्वकारक सट्टे की प्रवृत्ति की सम्भावना कम बनी रहती है क्योंकि विनिमय दर मे सतत परिवर्तन होते रहते हैं। सामान्यतया सट्टा अस्थायित्वकारक तभी होगा जब विनिमय दर मे एक साथ बडा परिवर्तन होने की सम्भावना हो।
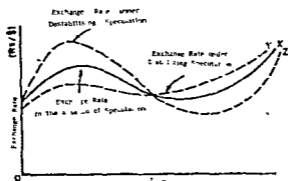
चित्र 16 3 ; सट्टे की अनुपस्थिति मे एवं स्थायित्वकारक व अस्थायित्वकारक सट्टे की उपस्थिति मे विनिमय दर मे उच्चावचन

प्रो० फ्रिडमेन (Friedman) ने तर्क प्रस्तुत किया है कि कुल मिलाकर सट्टा स्थायित्वकारक होता है क्योंकि यदि सट्टा अस्थायित्वकारक होगा तो सटोरियों को निरंतर हानि वहन करनी पड़ेगी। उन्ही के शब्दों में, "जो लोग यह तर्क देते हैं कि सट्टा सामान्यतया अस्थायित्वकारक होता है उन्हें यह महसूस नहीं होता कि यह इस बात को कहने के समान है कि सटोरिये घाटा वहन करते हैं क्योंकि सट्टा सामान्यतया अस्थायित्वकारक तभी हो सकता है जब सटोरिये मुद्रा को औसतन उस समय बेचे

जब यह सस्ती हो तथा उस समय खरीदें जब यह महँगी हो।"[31] लेकिन अन्य अर्थशास्त्रियों ने फ्रिडमेन के निष्कर्ष को चुनौती दी है तथा प्रो० बामोल (Baumol)[32] ने यह दर्शाया है कि यदि व्यापार चक्र बहुत छोटा (too short) नहीं है तो सट्टा लाभदायक होते हुए भी अस्थायित्वकारक हो सकता है। इतना ही नहीं तीसा की महान मंदी के प्रारम्भ में सन् 1929 में स्टॉक मार्केट के ध्वस (crash) हो जाने की अवधि में यह तथ्य कि अस्थायित्वकारक सट्टे से सटोरियों का दिवाला पिट जाता है, सटोरियों को अस्थायित्वकारक व्यवहार करने से रोक नहीं पाया था।

(4) **लचीली विनिमय दरों के स्फीतिकारक प्रभाव (Inflationary effects of Flexible Exchange rates)** —वर्तमान समाज की शायद ही ऐसी कोई विशेषता शेष रही है जिसे मुद्रा स्फीति का कारण नहीं बताया गया हो, लचीली दरें भी इसका अपवाद नहीं रह पायी हैं। लेकिन वर्तमान मुद्रा स्फीति का मूल अधिकांश 'पेग्ड' विनिमय दर प्रणाली की अवधि रहा है अतः लचीली विनिमय दर प्रणाली को मुद्रा स्फीति के लिए सीमित रूप में ही जिम्मेदार ठहराया जा सकता है।

लचीली दरों के स्फीतिकारक होने का तर्क निम्न प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है —

माना कि राष्ट्र के भुगतान सन्तुलन में घाटे के कारण मूल्य ह्रास (depreciation) हो जाता है तो मूल्य ह्रास से आयात महँगे हो जायेंगे तथा जीवन निर्वाह लागत में वृद्धि होगी एवं श्रमिक संघ मजदूरी दरों में वृद्धि करवाने का प्रयत्न करेंगे। ऐसा तभी होगा जब राष्ट्र अपने खाद्यान्नों व कच्ची सामग्री का बड़ा अंश आयात कर रहा हो ताकि आयात वस्तुओं का जीवन निर्वाह सूचकांक में पर्याप्त भार हो। ऊँची मजदूरी से कीमतें और बढ़ेंगी जिससे निर्यात घटेंगे व मूल्य ह्रास और अधिक होगा। मूल्य ह्रास, लागत जनित स्फीति, व्यापार सन्तुलन में घाटा व और अधिक मूल्य ह्रास का इस प्रकार का सर्पिल (spiral) प्रमुख भय है। इस तर्क के अनुसार यदि राष्ट्र में पूर्ण रोजगार है तो सचयी घरेलू मुद्रा स्फीति की आशा से सटोरिये कोषों को इस मुद्रा से हटाकर अन्य मजबूत मुद्राओं में लगा

31. Friedman, M.—op cit, p 175
32. Baumol, W.J —Speculation, Profitability and Stabity—Rev. of Econ & Stat (Aug., 1957)

देंगे। इस क्रिया से मुद्रा और कमजोर पड़ेगी, और तीव्र मुद्रा ह्रास व मुद्रा स्फीति होगी एवं इस तरह सट्टे का औचित्य ठहराया जा सकेगा।

प्रो० लुट्ज[33] (Lutz) का तर्क है कि अधिकांश प्रमुख व्यापारकर्ता राष्ट्रों के जीवन निर्वाह सूचकांकों में घरेलू वस्तुएँ व सेवाएँ प्रमुख होती हैं तथा इनमें आयातों का बड़ा अंश नहीं होता अतः मजदूरी विन में आयातित वस्तुओं की ऊँची लागत को दुरुस्त करने हेतु मजदूरी में पर्याप्त वृद्धि मूल्य ह्रास को कभी भी पूर्ण रूप से निरस्त (nullify) नहीं कर पायेगी।

इसके अतिरिक्त यह तर्क भी प्रस्तुत किया जाता है कि कुछ (certain) घरेलू व बाह्य असंतुलनों को सही करने हेतु विनिमय दर पर अनुचित निर्भरता राष्ट्र को मूल्य ह्रास व मुद्रा स्फीति के दुश्चक्र में धकेल सकती है। यदि वास्तविक मजदूरी दरें नीचे की ओर अलचीली हैं तथा माँग प्रबन्ध नीतियाँ समायोजक हैं तो कीमत सूचकांक में आयातित वस्तुओं की उपस्थिति के कारण मुद्रा मूल्य ह्रास से कीमतों में वृद्धि हो सकती है तथा इसके परिणामस्वरूप मजदूरियों में और अधिक वृद्धि हो सकती है जिससे कीमतें बढ़ेंगी मूल्य ह्रास और अधिक होगा एवं पुनः कीमतें व मजदूरी बढ़ने से मूल्य ह्रास होगा।

लेकिन मूल्य ह्रास-मुद्रास्फीति दुश्चक्र से सम्बन्धित विवाद अभी भी जारी है, अतः इस सम्बन्ध में अभी अन्तिम निर्णय स्वीकार करना उचित प्रतीत नहीं होता है। अन्त में हम कह सकते हैं कि अन्तराष्ट्रीय मुद्रा कोष में विनिमय दरों से सम्बद्ध हाल ही के परिवर्तनों ने स्थिर व लचीली विनिमय दरों से सम्बन्धित विवाद में पुनः जान डाल दी है तथा वर्तमान में यह विवाद जोर-शोर से जारी है।

---

33 Lutz, F —The Case for Flexible Exchange Rates—Banca Nazionale del Lavoro Quarterly Rev (Dec. 1954), p 182

राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय सम्पन्नता को हानि पहुँचाने वाले कदम उठाए बिना अपनी भुगतान सतुलन की अस्थायी प्रतिकूलता को दूर करने का अवसर प्रदान करना।

6. उपर्युक्त उद्देश्यो के अनुरूप सदस्य राष्ट्रो के भुगतान सतुलन की प्रतिकूलता की अवधि तथा श्रेणी को कम करना।

सक्षेप मे हम कह सकते हैं कि कोष की स्थापना अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग मे वृद्धि करने के लिए, व्यापार के विस्तार द्वारा आय व रोजगार के स्तर म वृद्धि करने के लिए, विनिमय दर मे स्थायित्व बनाए रखने के लिए, बहुपक्षीय भुगतान प्रणाली की स्थापना मे सहायता करने के लिए तथा विनिमय प्रतिबन्धो का परित्याग करने के लिए की गयी थी।

कोष के अभ्यंश

(Quotas of the Fund)

कोष के पास एकत्रित भिन्न राष्ट्रो की मुद्राएँ अभ्यश प्रणाली के अनुसार अभिदत्त (Subscribe) की गयी थी।

सदस्य राष्ट्र के अभ्यश के कई महत्वपूर्ण पहलू हैं · प्रथम, इससे यह निर्धारित होता है कि सदस्य राष्ट्र कोष मे कितना अभिदान देगा। द्वितीय, अभ्यश राष्ट्र के आहरण अधिकार (drawing rights) को परिभाषित करता है। तृतीय, यह राष्ट्र की मतदान शक्ति को निर्धारित करता है। चतुर्थ, यह विशेष आहरण अधिकारो (SDRs) के आवंटन मे से राष्ट्र का हिस्सा निर्धारित करता है तथा पंचम, कोष के प्रबन्ध मे सदस्य राष्ट्र के भाग लेने (Participation) मे अभ्यश प्रमुख निर्धारक घटक है।

सदस्य राष्ट्रो के अभ्यश निर्धारित करने का निश्चित आधार इस प्रकार था — "सदस्य राष्ट्र की सन् 1940 मे राष्ट्रीय आय का 2 प्रतिशत, 1 जुलाई 1943 को उसके कुल स्वर्ण एव डालर कोष का 5 प्रतिशत, सन् 1934-38 के वार्षिक निर्यात मे अधिक उतार-चढ़ाव का 10 प्रतिशत, तथा सन् 1934-38 की अवधि के औसत आयात के 10 प्रतिशत के योग के बराबर। इस योग मे उसी अनुपात मे वृद्धि की गई जो सन् 1934-38 के औसत निर्यात का राष्ट्रीय आय मे था।"

2 Horsfield, J K —Fund Quotas What does it Really Mean—F & D. No 3, 1970, p 7

1962 में यह निर्णय लिया गया कि 1959 से विद्यमान परिवर्तनशील मुद्राओं की स्थिति को ध्यान में रखते हुए कोष को अपने अभ्यंशों में अनुपूरकता की आवश्यकता है। इसके परिणामस्वरूप 'उधार के सामान्य प्रबन्ध' (General Arrangements to Borrow) का निर्णय लिया गया। इस योजना के तहत दस प्रमुख राष्ट्र कोष के उपयोग के लिए अपनी मुद्राओं की कुल 6 बिलियन डालर तक की राशि उधार देने के लिए तत्पर रहने को तैयार हुए थे।

द्वितीय योजना का उद्घाटन 1967 में एक कार्यान्वियन कुछ वर्ष बाद हुआ। इस योजना को 'विशेष आहरण अधिकार' (SDRs) योजना के नाम से जाना जाता है।

कोष के साधनों का उपयोग

(Uses of the IMF Resources)

कोई भी सदस्य राष्ट्र एक वर्ष की अवधि में अपने अभ्यंश के 25 प्रतिशत के बराबर ऋण ले सकता है। जब कोई देश कोष से ऋण लेता है तो उसे बदले में अपनी मुद्रा प्रदान करता है। कोष ने यह प्रतिबन्ध लगा रखा है कि किसी भी समय कोष के पास सदस्य देश की मुद्रा का उस देश के अभ्यंश के दुगने से अधिक संग्रह नहीं होना चाहिये। चूंकि कोष के पास सदस्य देश के अभ्यंश के 75 प्रतिशत के बराबर उस देश की मुद्रा तो अभ्यंश अभिदत्त करते ही संग्रहीत हो जाती है अतः सदस्य देश कोष से अधिक से अधिक अपने अभ्यंश का 125 प्रतिशत ऋण ले सकता है। इस प्रकार यदि कोष ने सदस्य देश की मुद्रा का कुछ हिस्सा अन्य सदस्यों को नहीं बेचा है तो सदस्य के कोष से उधार लेने के अधिकार पाँच वर्ष की अवधि में समाप्त हो जाते हैं।

लेकिन कोष से विदेशी मुद्रा प्राप्त करने के ये अधिकार स्वचालित नहीं हैं बल्कि सदस्य राष्ट्र इनका उपयोग निम्न शर्तों[4] पर कर सकता है —

1. कोष के साधनों का उपयोग पूंजी के विशाल अथवा निरन्तर अपवाह के लिए नहीं किया जाये।
2. अपनी मुद्रा के समता मूल्य में अनाधिकृत परिवर्तन करने वाले देश को कोष अपने साधनों के उपयोग के लिए मना कर सकता है।

4 Scammell W M—International Monetary Policy Bretton Woods and After—The Macmillon Press Ltd, 1975, p 111 12.

3 जिस मुद्रा की सदस्य देश को आवश्यकता है वह मुद्रा कोष द्वारा 'दुर्लभ' मुद्रा घोषित नहीं की गयी हो।

4 कोष इस बात से सन्तुष्ट होना चाहिये कि सदस्य देश द्वारा जिस मुद्रा के लिए प्रार्थना की गयी है वह वर्तमान में ऐसे भुगतानों के लिए आवश्यक है जो कि कोष के समझौतों (Fund Agreements) के अनुरूप हैं।

5. बिना कोष की अनुमति के किसी भी सदस्य को वायदा (Forward) विनिमय सौदों के लिए कोष से मुद्रा प्राप्त करने का अधिकार नहीं होगा।

6 कोष किसी भी देश से विनिमय सौदा का भार छिनवा सकता है। यदि सदस्य देश की परिस्थितियाँ ऐसी हैं कि कोष के विचार से उस देश द्वारा साधनों का उपयोग कोष के समझौते के विपरीत किया जाएगा अथवा सदस्यों या कोष के लिए भेदभाव पूर्ण होगा तो कोष ऐसा कर सकता है।

उपर्युक्त शर्तें बड़ी ही विस्तृत शर्तें हैं तथा समायोजन की प्रत्येक प्रार्थना पर कोष को अन्तिम निर्णायक की स्थिति प्रदान करती है।

सदस्य देशों को अभ्यंश की मात्रा से अधिक अपनी मुद्रा की कोष के पास जमाओं को परिवर्तनशील मुद्राओं के पुनः क्रय करने का प्रावधान भी है।

कोष से क्रय किये गये विदेशी विनिमय पर सदस्य देश को 1/2 प्रतिशत का सेवाभार वहन करना पड़ता है। यदि सदस्य देश द्वारा विदेशी विनिमय के क्रय के परिणामस्वरूप कोष के पास उस देश की मुद्रा का अभ्यंश से अधिक संग्रह हो जाता है तो अभ्यंश से अधिक राशि पर कोष द्वारा अतिरिक्त भार (additional charges) लगाया जाता है। ये भार आरोही होते हैं तथा जब तक सदस्य देश के पास उसकी मौद्रिक आरक्षित निधि (monetary reserves) उसके अभ्यंश से आधी न रह जाये तब तक समस्त भारों का भुगतान स्वर्ण में करना पड़ता है। इन भारों की आरोही (progressive) प्रकृति किसी भी सदस्य देश को कोष के साधनों का लम्बे समय तक व बड़ी मात्रा में उपयोग करने से निरुत्साहित करती है।

यदि विदेशी मुद्रा के क्रय पर किसी भी अवधि के लिए कोष को दी जाने वाली भार की दर 4 प्रतिशत हो जाती है तो सदस्य देश को कोष के पास अपनी मुद्रा की मात्रा के संग्रह को कम करने के लिए कोष से सलाह लेनी पड़ती है।

जहाँ तक अतिरिक्त तरलता की पूर्ति का सम्बन्ध है नीति निर्धारकों द्वारा कोष की सम्पूर्ण कार्यविधि अस्थायी समायोजन की पूर्ति के उद्देश्य से ही बनाई गयी है।

इसका कारण यह है कि कोष भुगतान सतुलन की समस्या को अस्थायी समस्या ही मानता है, यद्यपि यह मान्यता निश्चय ही सही नही है।

यदि कोष यह अनुभव करता है कि राष्ट्र विशेष की मुद्रा की अत्यधिक माँग है तो कोष सदस्यो को स्थिति की सूचना दे सकता है एव दुर्लभ मुद्रा वाले राष्ट्रो की सलाह से मुद्रा की दुर्लभता को दूर करने का प्रयत्न कर सकता है। कोष दुर्लभ मुद्रा वाले राष्ट्रो से ऋण की प्रार्थना कर सकता है। कोष सम्बन्धित राष्ट्र की सरकार की स्वीकृति से ऋण प्राप्त कर सकता है लेकिन सदस्य राष्ट्र को ऋण देने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता है।

दुर्लभ मुद्रा से सम्बन्धित धारा मे असाम्य के लिए आतिरेक व घाटे वाले राष्ट्रो की सयुक्त जिम्मेदारी का सिद्धान्त निहित है। ज्यो ही कोष को यह स्पष्ट दिखाई देता है कि सदस्य देश की मुद्रा की माँग इतनी है कि कोष द्वारा इसकी आवश्यक पूर्ति न कर सकने का भय है तो कोष उस मुद्रा को औपचारिक रूप से दुर्लभ मुद्रा घोषित कर देगा एवं उस मुद्रा की शेष पूर्ति का राशनिंग कर देगा।

किसी भी राष्ट्र की मुद्रा की दुर्लभता की स्थिति से निपटने हेतु कोष दुर्लभ मुद्रा वाले राष्ट्र से स्वर्ण के बदले मुद्रा बेचने को कह सकता है तथा सभी सदस्य देशो का यह दायित्व है कि वे अपनी मुद्रा के बदले कोष से स्वर्ण का क्रय करें।

यदि कोष द्वारा राष्ट्र विशेष की मुद्रा को औपचारिक रूप से दुर्लभ घोषित कर दिया जाता है तो यह प्रत्येक राष्ट्र के लिए प्राधिकृत (Authorization) करने के समकक्ष होगा कि कोष से सलाह करने के बाद वह राष्ट्र अस्थायी रूप से दुर्लभ मुद्रा मे सम्पन्न होने वाली विनिमय क्रियाओ की स्वतत्रता पर सीमायें लगाये।

लेकिन दुर्लभ मुद्रा की स्थिति का कोष को आज तक कभी भी सामना नहीं करना पडा है।

कोष एवं समता मूल्य

(Fund and the Par values)

व्यावहारिक आशय से कोष की विनिमय दर नीति के दो पहलू हैं जो कोष की धाराओ मे व्यक्त किये गये हैं - प्रारम्भिक समतायें निश्चित करना तथा अन्तर्राष्ट्रीय साम्य बनाये रखने हेतु समय-समय पर समताओ मे परिवर्तन करना।

कोष की धारा XX के भाग 4 मे सदस्य राष्ट्रों द्वारा अपनी मुद्राओं के प्रारम्भिक समता मूल्यों को कोष को पेश करने तथा कोष द्वारा समता मूल्य प्रणाली स्थापित करने का प्रावधान था। धारा IV के भाग 5, 6, 7 व 8 म उस विधि को परिभाषित किया गया था जिसके द्वारा सदस्य राष्ट्र अपनी मुद्राओं के समता मूल्यों म परिवर्तन कर सकते थे।

युद्धोत्तरकालीन विश्व मे प्रारम्भिक समताओं के ढाँचे को स्थापित करना कोष के समक्ष इसकी स्थापना के प्रारम्भिक वर्षों में एक दुष्कर कार्य था। उस समय प्रथम बार अनेक सदस्यो ने किसी अन्तर्राष्ट्रीय सगठन को विचार करने हेतु एव सम्भवत सुधार करने हेतु अपनी विनिमय दरें पेश की थीं। 12 सितम्बर 194> को कोष के कार्यकारी निदेशको (Executive Directors) ने प्रत्येक सदस्य से प्रार्थना की कि "अक्टूबर 28, 1945 (समझौते के लागू होने के पहले के 60 वें दिवस की तिथि) को विद्यमान विनिमय दरो के आधार पर वे अपनी मुद्रा का समता मूल्य 30 दिनो के अन्दर सूचित करें।" 18 दिसम्बर 1946 को कोष ने उस समय के अपने 39 सदस्यों में से 32 सदस्यो के समता मूल्यों का प्रमाणन(Certification) घोषित कर दिया तथा शेष सात सदस्य देशो ने अपनी मुद्राओं के समता मूल्यो को भविष्य मे पेश करने हेतु आगे खिसका दिया। सभी राष्ट्रों के प्रारम्भिक समता मूल्य विद्यमान विनिमय दरो पर आधारित एव सदस्यों द्वारा प्रस्तावित समता मूल्य ही थे। प्रत्येक सदस्य राष्ट्र को अपनी मुद्रा का समता मूल्य स्वर्ण अथवा डालर मे घोषित करना था।

सदस्य राष्ट्रो के लिए यह आवश्यक था कि वे अपनी मुद्रा के समता मूल्य के दोनों ओर 1 प्रतिशत की सीमा में विनिमय दर बनाये रखें। सदस्य देश को प्रतिकूल भुगतान सतुलन सही करने के उद्देश्य से अपने समता मूल्य मे 10 प्रतिशत परिवर्तन करने की स्वतत्रता थी एव कोष को इस परिवर्तन की सूचना भर देना पर्याप्त था। विनिमय दर मे इससे अधिक परिवर्तन करने के लिए कोष से पूर्वानुमति लेनी आवश्यक थी। समता मूल्यो मे 20 प्रतिशत से अधिक परिवर्तन करने के लिए दो तिहाई बहुमत की आवश्यकता होती थी।

कोष सदस्य राष्ट्र को उसके भुगतान सतुलन म "आधारभूत असाम्य" (Fundamental Disequilibrium) को दूर करने के उद्देश्य से विनिमय समता मे परिवर्तन करने को मना नहीं करता है।

प्रो० एल्सवर्थ (Ellsworth) के अनुसार अग्रलिखित म से किसी भी स्थिति को आधारभूत असाम्य की स्थिति माना जाना उचित होगा :—

1. सदस्य राष्ट्र को लम्बे समय से अन्तर्राष्ट्रीय आरक्षित निधियो (Reserves) की हानि उठानी पड रही हो।
2. आरक्षित निधियो की इस हानि को राष्ट्र विनिमय नियत्रणो के द्वारा टाल रहा हो।
3. राष्ट्र दीर्घकाल से अत्यधिक बेरोजगारी की समस्या से ग्रस्त हो।

वर्तमान मे घरेलु उत्पादन की ऊँची लागत आदि को भी आधारभूत साम्य ज्ञात करते समय ध्यान मे रखा जाता है।

दिसम्बर 18, 1971 को स्मिथसोनियन समझौते के तहत (यह समझौता वाशिंगटन की स्मिथसोनियन सस्थान म हुआ था) सदस्य राष्ट्रो को अपनी मुद्रा के समता मूल्य के दोनो ओर 2 प्रतिशत की सीमा(कुल 4½ प्रतिशत की विस्तार सीमा) के अन्दर विनिमय दर बनाये रखने का प्रावधान पारित कर दिया गया था जो कि• वर्तमान मे लागू है।

इसके अतिरिक्त वतमान विनिमय दर प्रणाली सकर (hybrid) है जिसके अन्तर्गत सदस्य राष्ट्रो को अपनी इच्छा की विनिमय दर प्रणाली अपनाने की छूट है। वर्तमान मे प्रमुख औद्योगिक राष्ट्रो ने स्वतत्र विनिमय दर प्रणाली अपना रखी है एव सात यूरोप के राष्ट्रो की मुद्राएँ सयुक्त रूप से तैर रही है। अन्य राष्ट्रो ने अपनी मुद्रा विकसित राष्ट्रो की मुद्रा अथवा SDR से अटका रखी है।

बहुपक्षीय व्यापार की पुनः स्थापना व विनिमय प्रतिबन्धो की समाप्ति

(Re establishing Multilateral trade and ending restrictions)

सदस्य राष्ट्रो के मध्य चालू सौदो के लिए बहुपक्षीय भुगतान प्रणाली की स्थापना व सदस्य राष्ट्रो द्वारा विभेदात्मक आयात नियताश व प्रशुल्क एव बहु-विनिमय दर प्रणाली जैस प्रत्यक्ष नियत्रणो को समाप्त करना कोष के प्रमुख काय थ।

बहुपक्षीय व्यापार की स्थापना हेतु कोष डालर व पौण्ड के परिवर्तनशील मुद्राओ के रूप मे विद्यमान हाल पर निर्भर रहा एव सन् 1950 म बैंक आफ इग्लैण्ड व प्रशासनिक कदम द्वारा स्टर्लिंग के बहुपक्षीय उपयोग का विस्तार इस दिशा मे एक

हुई एव इसी के साथ द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद प्रथम बार बहुपक्षीय व्यापार का रास्ता खुला।

सन् 1960 तक की अवधि मे भुगतानों पर प्रतिबन्ध हटाने की दिशा मे धीमी प्रगति मे चार घटको का योगदान प्रतीत होता है.—प्रथम, भुगतान प्रतिबन्ध प्राय कोष की अवज्ञा (defiance) से एव भुगतान संतुलन को बजाय अन्य कारणो से लगाये गये अथवा बनाये रखे गये। द्वितीय, कोष ने भुगतान प्रतिबन्धो मे प्रतिपक्षी छूटो की व्यवस्था करने का प्रयत्न नही किया। इस प्रकार वे राष्ट्र जिन्होने अपने बाह्य खातो के सरक्षण के लिए प्रतिबन्ध लगाये थे वे इन्हे हटाने से उस समय तक भयभीत रहे जब तक कि उनके प्रतिस्पर्धियो द्वारा भी इसी प्रकार के कदम नही उठाये जाते हैं। तृतीय, कोष व गैट (GATT) के मध्य विद्यमान कार्य विभाजन का अभिप्राय यह था कि भुगतानो के क्षेत्र मे प्रतिबन्धो की छूटो के बदले व्यापार पर लागू प्रतिबन्धों की छूटो के समझौते करना सम्भव नही था तथा चतुर्थ युद्धोत्तर काल मे बहुपक्षीय व्यापार की पुन स्थापना के लाभो को पूर्णरूप से नहीं समझा गया तथा बहुत से राष्ट्र ऊपरी तौर पर नियत्रण हटाने की दिशा मे प्रयत्नो की प्रशसा करते रहे परन्तु वास्तव मे उन्होने नियत्रणो का बनाये रखना ही पसन्द किया।

युद्धोत्तर काल के वर्षों के अनुभव से एक शिक्षा यह मिलती है कि नियत्रण अन्य नियत्रणो को प्रोत्साहित करते हैं क्योकि जब तक आयातों पर प्रत्यक्ष प्रतिबन्ध लगे हो तथा राष्ट्र भुगतान सतुलन के कारणो से आयातो को टाल रहा हो तब तक अन्तर्राष्ट्रीय कीमत प्रणाली कार्यरत नही रह सकती। भुगतान सतुलन मे घाटे वाले राष्ट्र की मुद्रा के अवमूल्यन से भुगतान सतुलन सुधरे इसके लिए यह आवश्यक है कि उस राष्ट्र के निर्यातो की ऊँची माँग लोच हो लेकिन ऐसा तभी सम्भव है जब नियत्रण विद्यमान न हो ताकि कीमत परिवर्तन के परिणामस्वरूप माँग मे पर्याप्त प्रतिक्रिया हो सके। इस प्रकार नियत्रण इसलिए विद्यमान रहते हैं कि असाम्य को दूर करने का अन्य रास्ता नजर नही आता है एव असाम्य दूर करने का एक मात्र तरीका नियत्रणो के कारण अप्रभावी हो जाता है। यदि अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था मे बहुपक्षीय व्यापार एव स्वतत्र मुद्राओ का उपयोग करना है तो इस दुषित गतिरोधक (Vicious Spiral) को तोडने का उपाय खोजना आवश्यक है।

यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि 1958 के अन्तिम दिनो मे स्टर्लिंग व अन्य दस मुद्राओ वाले राष्ट्रो द्वारा चालू भुगतानो पर से प्रतिबन्ध हटाये जाने से, गैर-आवासीय परिवर्तनशीलता स्थापित हुई थी। कुछ वर्षों के बाद सन् 1961 मे इन्ही

राष्ट्रों ने घोषणा की कि वे कोष के समझौते की धारा VIII के भाग 2, 3 व 4 के कोष सदस्यों के मध्य परिवर्तनशीलता के प्रावधान के पूर्ण दायित्व को स्वीकार करने को तैयार हैं। ये नियम सम्बन्धित राष्ट्रों पर निम्न प्रतिबन्ध लगाते हैं (अ) चालू भुगतानों पर प्रतिबन्ध टालना (ब) विभेदात्मक क्रियाएँ टालना एवं (स) विदेशों में संग्रहीत अपनी मुद्रा की परिवर्तनशीलता बनाये रखना। ज्ञात रहे कि धारा VIII के प्रावधानों को स्वीकार करते ही राष्ट्र स्वत ही धारा XIV के अन्तर्गत सक्रान्तिक अवधि में विनिमय नियन्त्रणों के उपयोग के विशेषाधिकार से वंचित हो गये।

सन् 1961 के मध्य तक 20 राष्ट्रों को धारा VIII की हैसियत की सूची में सम्मिलित किया जा चुका था। 1965 तक 27 व 1972 तक 42 राष्ट्र इस श्रेणी में सम्मिलित हो चुके थे। शेष राष्ट्रों में अधिकांश प्रतिबन्ध भुगतान सन्तुलन के कारणों से नहीं बनाए रखे गये थे एवं जहाँ कहीं भी थे वहाँ उन राष्ट्रों के भुगतान सन्तुलन ऐसे थे कि प्रतिबन्धों को शीघ्र ही समाप्त किये जाने की दूर सम्भावना थी।

साठ के दशक में व्यापार में हुई अप्रत्याशित वृद्धि इस बात का प्रमाण है कि व्यापार पर प्रतिबन्ध काफी कम हो चुके थे। तत्पश्चात् कोष ने अपने विनिमय नियन्त्रण के कार्य की नई अवस्था में प्रवेश कर दो कार्य हाथ में लेने आवश्यक पाये :—विभेदों की पूर्ण समाप्ति के लिए (विशेषकर बड़े राष्ट्रों द्वारा) कार्य चालू करना तथा कोष के अन्य सदस्यों को धारा VIII के दायित्वों के दायरे में लाना।

आगे के वर्षों में दृश्य व अदृश्य दोनों ही प्रकार के व्यवहारों पर प्रतिबन्धों में लगातार कमी होती रही तथा सन् 1963 तक युद्धोत्तर काल की अवधि में व्यापार व भुगतानों पर प्रतिबन्ध न्यूनतम हो चुके थे। कुछ राष्ट्रों ने तो पूँजी चलनों को स्वतन्त्र कर कोष के नियमों के तहत आवश्यक से भी अधिक नियन्त्रणों में छूट दे दी थी लेकिन कुछ विकासशील राष्ट्रों में अब भी प्रतिबन्ध बने हुए थे।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि पचास के दशक के अन्त में व साठ के दशक के प्रारम्भ में कोष को स्वतन्त्र बहुपक्षीय भुगतान प्रणाली स्थापित करने में निश्चय ही सफलता मिली थी। विशेषकर सलाह देने की प्रक्रिया ने कोष की क्रियाओं में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया था। लेकिन सन् 1965 से सामान्य मौद्रिक स्थिति बिगड़ने के कारण कोष की सफलता को भय उत्पन्न हुआ। ज्यों-ज्यों ब्रेटन वुड्स प्रणाली धूमिल होती गई त्यों-त्यों बड़े व महत्वपूर्ण राष्ट्रों ने वणिकवादियों की

नीतियों की ओर अग्रसर होना प्रारम्भ कर दिया। ऐसी प्रवृत्ति के प्रमुख उदाहरण नवम्बर 1964 से नवम्बर 1966 का ब्रिटेन द्वारा लगाया गया आयात अधिभार (surcharge), तत्पश्चात् की आयात-जमा योजना, तथा अगस्त 1971 में अमेरिका द्वारा लगाया गया 10 प्रतिशत उपकर एवं 60 के दशक के अन्तिम वर्षों में अमेरिका व अन्य राष्ट्रों द्वारा पूँजी चलनों पर प्रतिबन्धों में वृद्धि आदि हैं।

कोष एवं स्वर्ण

(Fund and the Gold)

कोष म स्वर्ण के तीन मूलभूत कार्य थे : प्रथम, चूँकि स्वर्ण अन्तर्राष्ट्रीय निपटारों में काम आता था अत कोष ने कुछ सौदे स्वर्ण मे करने का भार सम्भाला था। इनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सदस्यों का कोष से स्वर्ण के बदले मुद्रायें क्रय करने का अधिकार तथा कोष के पास सदस्य राष्ट्रों की मुद्राओं के अतिरेक सग्रह को स्वर्ण अथवा कोष द्वारा निश्चित मुद्रा के बदले पुन क्रय करने का दायित्व था। द्वितीय कोष ने ऐसी सेवाएँ देने का भार सम्भाला था जो कि स्वर्ण चलनों की लागत की बचत करें। उदाहरणार्थ, यह एक केन्द्र के स्वर्ण का दूसरे केन्द्र के स्वर्ण के बदले विनिमय का प्रबन्ध करके जहाज सेवा लागतो की बचत कर सकता था। तथा तृतीय, कोष ने सदस्य राष्ट्रों के स्वर्ण विक्रय पर यह निगरानी रखी कि स्वर्ण के समस्त विक्रय सबधित राष्ट्रों की मुद्रा के समता मूल्य के अनुरूप ही हो।

कोष ने सदस्य राष्ट्रों के अभ्यशो के रूप मे 1334 मिलियन डालर के मूल्य का प्रारम्भिक स्वर्ण स्टॉक प्राप्त किया जिसे कोष ने भिन्न केन्द्रो के निक्षेपागारो (depositories) के पास रखा था। 19 सदस्यों ने अपने अभ्यश का स्वर्ण हिस्सा अभ्यश के 25 प्रतिशत के आधार पर दिया तथा 11 सदस्यों ने 12 सितम्बर 1946 को स्वर्ण व अमेरिकी डालरों के अपने आधिकारिक सग्रह के 10 प्रतिशत के आधार पर। वित्तीय सौदा के प्रारम्भ से लेकर 31 अगस्त 1960 तक कोष ने 6 3 मिलियन डालर स्वर्ण मूल्य के बदले मुद्राओं की पूर्ति की तथा कोष के स्वर्ण स्टॉक मे 450 मि. डालर के मूल्य की वृद्धि कोष के सदस्यों द्वारा अपनी मुद्रा स्वर्ण के बदले क्रय करने के कारण हुई। 31 जनवरी 1961 को कोष के पास 3 132 5 मिलियन डालर मूल्य का स्वर्ण था।

स्वर्ण के बदले मुद्राओं के सौदों के प्रावधान मूल समझौते मे दिये गये हैं। धारा V के भाग 7(a) के तहत सदस्य कोष से मुद्राओं के बदले स्वर्ण क्रय कर सकते हैं तथा

धारा VII के भाग 2(ii) के तहत सदस्य राष्ट्र के लिए यह आवश्यक है कि वह स्वर्ण के बदल अपनी मुद्रा का कोष को विक्रय करे। अगस्त 1961 मे ब्रिटन द्वारा 1500 मि डालर के आहरण के साथ हा कोष न ब्रिटेन द्वारा आहरण की गयी अपनी भी मुद्राओ के सग्रह को प्रत्येक वे ¼ के आहरण के बराबर प्रतिपूर्ति करने के अपने अधिकार का उपयोग किया तथा इस उद्देश्य हेतु 500 मि डालर के मूल्य के स्वर्ण का उपयोग किया गया। 60 के दशक म कोष के सौदो म मुद्राओ के बदले स्वर्ण विक्रय करना प्रमुख विशेषता रही है।

कोष द्वारा संचालित विकासशील राष्ट्रो के लिए उपयोगी कुछ अन्य विशिष्ट साख सुविधाएँ

(Certain other specific credit facilities set up by the IMF which are specially beneficial to the UDCs)

कोष के सामान्य खाते व SDR खाते के अलावा कोष कई अन्य विशिष्ट साख सुविधाओ के माध्यम से भी सदस्य राष्ट्रो को साख उपलब्ध करवाता है। इन सुविधाओ मे से प्रमुख निम्न हैं :—

(1) क्षतिपूर्ति वित्त सुविधा (Compensatory Financing Facility) प्राथमिक वस्तुओं के निर्यातक राष्ट्रो के भुगतान सतुलन पर निर्यात अस्थायित्व (export instability) के प्रतिकूल प्रभाव को कम करने हेतु कोष ने सन् 1963 मे क्षतिपूर्ति वित्त सुविधा (CFF) के रूप में एक विशिष्ट सुविधा प्रारम्भ की थी।

सी.एफ एफ के मापदण्ड के अनुसार उधार की सामान्य आवश्यक्ता के अलावा इस सुविधा का लाभ उठाने हेतु सदस्य राष्ट्र को यह दर्शाना होता है कि उसकी निर्यात आय म कमी हुई है तथा यह कमी अस्थायी है एव सदस्य राष्ट्र के नियत्रण से बाहर है तथा राष्ट्र भुगतान सतुलन की कठिनाइयो से निपटने में कोष का सहयोग करने को तत्पर है।

इस सुविधा के तहत प्राप्त साख की मात्रा निर्यात आय की अस्थायी गिरावट का मात्रा तथा कोष से पूर्व मे प्राप्त साख की बकाया राशि द्वारा निर्धारित की जाती है।

इस सुविधा मे *निर्यात आय की गिरावट की गणना करते समय शामिल किये* जाने वाले भुगतान सतुलन के मदो से सम्बद्ध, निर्यात आय की गिरावट की गणना की विधि से सम्बद्ध तथा अभ्यश के सन्दर्भ मे अधिकतम साख प्रदान करने से सम्बद्ध महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं।

सन् 1963 मे प्रभावित राष्ट्र को उसके अभ्यश का 25 प्रतिशत तक इस सुविधा के तहत उधार दिया जाता था जिसे 19 5 मे बढाकर 50 प्रतिशत कर दिया गया था, लेकिन एक वर्ष की अवधि मे अभ्यश का 25 प्रतिशत से अधिक उधार नही दिया जाता था। सन 1969 मे प्रतिरोधक भण्डारण वित्त सुविधा (Buffer stock financing) *चालू करने के साथ ही इन दोनो मे से प्रत्येक सुविधा के तहत बकाया उधार* पर अभ्यश के 50 प्रतिशत की तथा दोनो सुविधाओ मे मिलाकर 75 प्रतिशत की सीमा लगा दी गई थी। सन् 1981 में मोटे अनाजो के आयातो (Cereal imports) को शमिल करने के पश्चात् मोटे अनाजो की आयात लागत के लिए 100 प्रतिशत की सीमा रखी गई तथा वर्ष भर की अवधि मे उधार की सीमा समाप्त करदी गई व *सयुक्त सीमा अभ्यश का 125 प्रतिशत* निर्धारित की गई थी।

सन् 1984 मे अभ्यशो मे सामान्य वृद्धि के साथ अधिकतम सीमा को निर्यातो मे कमी के लिए अभ्यश के 100 से घटाकर 83 प्रतिशत, मोटे अनाजो के आधिक्य आयात पर भी 100 से घटाकर 83 प्रतिशत व सयुक्त सीमा अभ्यश के 105 प्रतिशत तक निर्धारित कर दी गई थी।

इस सुविधा का प्रारम्भिक वर्षों मे साधारण सा (modest) उपयोग ही हुआ था लेकिन दिसम्बर 1975 मे इस सुविधा मे सुधार के बाद इसके उपयोग मे तीव्र वृद्धि हुई। सन् 1976 से 85की अवधि मे इस सुविधा के तहत प्रदत्त वार्षिक उधार का औसत 1.31 बि० SDR था।[5] सन् 1987-88 के वर्ष मे इस सुविधा के तहत सदस्य राष्ट्रो ने कुल 1.54 बि SDR निर्यातो मे कमी के कारण उधार के रूप मे प्राप्त किया था इस सुविधा (निर्यातो म गिरावट व मोटे अनाजो के आधिक्य आयात के तहत प्रदत्त ऋणो की बकाया राशि 30 अप्रेल 1988 को 4 34 बि० SDR थी जब कि 30 अप्रेल 1987 को यह बकाया राशि 4 78 बि० SDR थी।

(2) प्रतिरोधक भण्डारण वित्त सुविधा (Buffer stock financing Facility) प्रतिरोधक भण्डारण सुविधा सन् 1979 म ऐसे राष्ट्रो के *अनुमोदित अन्तर्राष्ट्रीय*

5 For details see Kaibni, N,—Evolution of the CFF—F and D, June 1986, pp 24-27

वस्तु समझौतों के अन्तर्गत प्रतिरोधक भण्डारण के अशदान की वित्त व्यवस्था मे सहायता हेतु प्रारम्भ की गई थी जिन राष्ट्रों को भुगतान सतुलन की स्थिति के कारण ऐसा अशदान प्रदान करने की आवश्यकता थी। इस सुविधा के तहत जरूरतमन्द राष्ट्रों को उनके अभ्यश का 50प्रतिशत तक उधार दिया जाता है। सन् 1979 का अन्तर्राष्ट्रीय प्राकृतिक रबड समझौता कोष से समर्थन प्राप्त करने योग्य अन्तिम समझौता था। इस समझौते की अवधि अक्टूबर 1887 मे समाप्त हो चुकी थी। इस सुविधा के अन्तर्गत पिछले दो वित्त वर्षों मे उधार प्राप्त नही की गई थी। 30 अप्रेल 1988 को थाइलैंड व कोटे डी आइवाइर ('Cote d' IVoire) इन दो राष्ट्रों मे कुल 3 मि० SDR इस सुविधा के तहत बकाया था जब कि अप्रेल 1987 के अन्त म यह बकाया राशि 34 मि० SDR थी।

(3) साथ निभाने की व्यवस्था (Stand–by Arrangements) साठ के दशक के प्रारम्भिक वर्षों मे प्रारम्भ की गई इस सुविधा के तहत सदस्य राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से भविष्य मे उधार लेने हेतु अग्रिम अनुमति प्राप्त कर सकता है। इस ऋण की राशि आवश्यकतानुसार समझौते की अवधि मे कभी भी प्राप्त की जा सकती है। एक बार साथ निभाने की व्यवस्था का समझौता हो जाने पर सदस्य राष्ट्र को समझौते की राशि पर केवल $\frac{1}{4}$ प्रतिशत की दर से वचनबद्धता शुल्क (Commitment Charge) अदा करना पडता है तथा बदले मे वह निर्धारित ऋण की राशि को मात्रा आवश्यकता पडने पर तुरन्त उधार ले सकता है। इस सुविधा के तहत वास्तव मे प्राप्त उधार की राशि पर राष्ट्र को $5\frac{1}{2}$प्रतिशत वार्षिक शुल्क अदा करना पडता है। इस सुविधा का उपयोग सदस्य राष्ट्र गर्म मुद्रा (hot money) के प्रत्याशित अस्थायित्वकारक प्रवाहो के विरुद्ध प्रथम सुरक्षा पंक्ति के रूप मे करते हैं।

सन् 1987-98 की अवधि मे 14 नयी साथ निभाने की व्यवस्थाएँ की गईं थी जिनकी कुल राशि 1.70 बि० SDR थी। जबकि सन् 1986–87 के वर्ष मे ऐसी 22 व्यवस्थाएँ 4 12 बि० SDR की कुल राशि के लिए की गई थी। 1987–88 के नये समझौतो मे से अधिकाश अफ्रीकी व लेटिन अमेरिकी राष्ट्रों के साथ किये गये थे। सर्वाधिक वचन वद्धता की राशि की व्यवस्था अर्जेंटीना (0.95 बि० SDR) तथा मिश्र (0.25 बि० SDR) के साथ किए गये समझौतो की थी।

(4) तेल सुविधा (Oil Faility) —यह सुविधा सन् 1975 मे प्रारम्भ की गई थी। इस सुविधा हेतु कोष ने BOP मे अतिरेक वाले राष्ट्रों से BOP मे घाटे वाले

राष्ट्रों को उधार देने हेतु ऋण लिये थे। लेकिन मई 1976 तक इस उधार राशि का पूरा उपयोग हो चुका था।

तेल सुविधा उन राष्ट्रों के लिए प्रारम्भ की गई थी जिनके भुगतान सतुलन मे तल की ऊँची कीमतो के कारण भारी घाटे उत्पन्न हो गये थे। इस सुविधा हेतु कोष ने 16 विकसित राष्ट्रों व स्विटजरलैन्ड से 1974-75 मे कुल 6 9 SDR उधार लेने के समझौते किये थे। 11 मई सन् 1983 तक कोष इस सुविधा हेतु प्राप्त पूरे ऋण का पुन भुगतान कर चुका था।

5 विस्तारित कोष सुविधा (Extended Fund Facility) — विस्तारित कोष सुविधा सन् 1974 मे प्रारम्भ की गई थी। इस सुविधा के तहत सदस्य राष्ट्रों को अधिक लम्बी अवधि के लिए तथा अधिक मात्रा मे मध्यावधि (medium term) सहायता उपलब्ध करवाई जाती है। इस सुविधा के तहत BOP म गम्भीर सरचनात्मक असतुलन वाले राष्ट्र तीन वर्ष की अवधि म अपने अभ्यश का 140 प्रतिशत तक उधार ले सकते है।

भारतवर्ष को सन् 1981-82 म इसी सुविधा के तहत 5 बि॰ SDR का ऋण स्वीकार किया गया था।

6 पूरक वित्त सुविधा (Supplementary Financing Facility) — पूरक वित्त सुविधा के तहत साथ निभाने की व्यवस्था व विस्तारित व्यवस्था के अन्तर्गत कोष पूरक वित्त व्यवस्था प्रदान करता है।

इस सुविधा की वित्तव्यवस्था 14 ऋणदाता राष्ट्रों द्वारा सन् 1979 मे कोष को कुल 7 8 बि॰ SDR उपलब्ध करवाने की सहमती द्वारा सम्भव हुई थी।

22 फरवरी 1982 के पश्चात् राष्ट्रों ने इस सुविधा की वित्त व्यवस्था हेतु और अधिक कोष उपलब्ध करवाने का वचन नही दिया तथा 22 फरवरी, 1984 के बाद कोष ने इस सुविधा हेतु और उधार नही लिया है।

इस सुविधा के तहत 30 अप्रेल 1983 तक कुल 6 1 बि॰ SDR की राशि वितरित की जा चुकी थी।

7 सरचनात्मक समायोजन सुविधा (structural Adjustment Facility) —सरचनात्मक समायोजन सुविधा (SAF) मार्च 1986 म कोष को सन् 1985 से 1991 की अवधि मे ट्रस्ट फण्ड ऋणो के पुन भुगतानो से प्राप्त ससाधनों स स्थापित की गई थी। य ससाधन 2 7 बि॰ SDR थे। इस सुविधा की स्थापना

कोष के सामान्य विभाग मे विशिष्ट वितरण खाता (Special Disbursment Account) चालू करके की गई थी।

इस सुविधा का उद्देश्य ऐसे निम्न आय वाले विकासशील राष्ट्रो को रियायती दरो पर भुगतान सतुलन सहायता प्रदत्त करना है जो लम्बी अवधि से भुगतान सतुलन की समस्या से ग्रस्त हैं।

सरचनात्मक समायोजन सुविधा के तहत उपलब्ध कराये जाने वाले ऋणो पर वार्षिक ब्याज की दर ½ से 1 प्रतिशत ही है तथा इन ऋणो का पुन: भुगतान 5½ से 10 वर्षों की अवधि मे छ माही किस्तो मे करना पडता है।

इस सुविधा की निम्न आय की अर्हताएँ (qualifications) पूरे करने वाले कुल 62 सदस्य राष्ट्र पाये गये थे, दो विशाल अभ्यशो वाले राष्ट्रो (भारत व चीन) ने यह सकेत दिया है कि वे इस सुविधा का लाभ नही उठायेंगे।

इस सुविधा के अन्तर्गत राष्ट्र अपने अभ्यश का 63 5 प्रतिशत तक तीन टुकडो (tranches) मे तीन क्रमिक (successive) वर्षों के प्रारम्भ मे प्राप्त कर सकता है। प्रथम तथा द्वितीय वर्ष मे क्रमश राष्ट्र के अभ्यश का 20 व 30 प्रतिशत ऋण उपलब्ध कराया जाता है।

सरचनात्मक समायोजन सुविधा के तहत उन्ही राष्ट्रो को ऋण उपलब्ध करवाया जाता है जो ऐसा विस्तृत नीति ढाँचा अपनायें जिसमे उस राष्ट्र के भुगतान सतुलन म सुधार हेतु अपनाई जाने वाली समष्टि नीति व सरचनात्मक नीति स्पष्ट रूप से निर्दिष्ट की गई हो। इस तरह के नीति ढाँचे के दस्तावेज तैयार करने मे सदस्य राष्ट्र की सहायता मे विश्व बैंक व मुद्रा कोष का घनिष्ठ आपसी सहयोग बना रहता है। दस्तावेजो का कोष के एग्जिक्युटिव बोर्ड तथा विश्व बैंक के एग्जिक्युटिव बोर्ड की समिति द्वारा मुआयना भी किया जाता है।

30 अप्रैल 1988 तक 25 सदस्य राष्ट्रो ने इस सुविधा के अन्तर्गत कुल 1 36 बि० SDR के त्रि-वर्षीय समझौते कर रखे थे जिनमे से 0.58 बि० डालर ऋण वितरित किय जा चुके थे जबकि 30 अप्रैल 1987 तक ऐसे 10 समझौते कुल 0 44 बि० SDR की वचनबद्धता हेतु हुए थे जिसम स 0 14 बि० SDR का उपयोग किया जा चुका था। 1987-88 के वर्ष मे 15 नये समझौतो मे से 13 समझौते अफ्रीकी राष्ट्रों के साथ हुए थे।

सरचनात्मक समायोजन सुविधा के संचालन का कोष 31 मार्च 1989 तक मुद्रायमा करेगा।

इस सुविधा की तीन नव- प्रवर्तकीय (Innovative) विशेषताएँ है :—

(1) इस सुविधा से लाभान्वित होने हेतु एक ऐसा त्रि-वर्षीय विस्तृत नीति ढांचा तैयार करने की आवश्यक्ता होती है जिसमे अधिकाश पूर्व मे चालू सुविधाओं की तुलना मे सदस्य राष्ट्र के सुधार कार्यक्रम के सरचनात्मक नीति तत्वों का अधिक स्पष्ट समावेश होता है।

(2) नीति ढाँचे का मसौदा तैयार करने मे कोष तथा विश्व बैंक द्वारा संयुक्त रूप से सदस्य राष्ट्रो की सहायता करने की प्रक्रिया से इन दोनो सस्थाओ के मध्य औपचारिक सहयोग की शुरुआत हो चुकी है। ऋण की अन्तिम व्यवस्था हेतु सयुक्त समझौता तथा विश्व बैंक के एक्जिक्युटिव बोर्ड द्वारा मुद्रायने की क्रिया भी विश्व बैंक व मुद्राकोष के आपसी सहयोग का सूचक है।

(3) तृतीय, यह आशा की गई थी कि नीति ढाँचे के मसौदे तथा संरचनात्मक *समायोजन सुविधा की प्रक्रिया अतिरिक्त वित्तीय समाधन जुटाने मे उत्प्रेरक* (Catalystic) सिद्ध होगी। इन अतिरिक्त संसाधनो मे विश्व बैंक के संसाधन तथा अन्य द्वि-पक्षीय व बहु-पक्षीय स्रोतो से इस सुविधा के अभाव मे उपलब्ध ससाधनों से *अतिरिक्त ससाधन प्राप्त होने की आशा की गई थी।*

अतः इस सुविधा को विकासशील राष्ट्रो के तीव्र विकास मे योगदान प्रदान करने वाली प्रमुख योजनाओ मे से माना जाना चाहिए क्योंकि इस सुविधा के तहत अनुमोदित कार्यक्रमों मे घरेलू विनियोग वृद्धि तथा सार्वजनिक क्षेत्र के वित्त व निजी क्षेत्र की बचत मे वृद्धि पर विशेष बल दिया जाता है।

(8) *बढी हुई सरचनात्मक समायोजन सुविधा (Enhanced* Structural adjustment Facility) .—बढ़ी हुई सरचनात्मक समायोजन सुविधा (ESAF) 18 दिसम्बर 1988 मे प्रारम्भ की गई थी। इस सुविधा के उद्देश्य, *प्रक्रिया (Procedures) तथा वित्तीय शर्तें SAF सुविधा के समान्तर (Parallel)* ही है। SAF के ससाधनों के अतिरिक्त ESAF का संसाधन आधार लगभग 6,बि० SDR होगा। ESAF के तहत कोष का उद्देश्य आधा प्रतिशत की रिआयती दर *पर संसाधन उपलब्ध करवाना है।*

यह सुविधा भी निम्न आय वाले राष्ट्रों के आर्थिक विकास की दर में अभिवृद्धि करने हेतु तथा उनकी भुगतान सन्तुलन की स्थिति मजबूत बनाने हेतु प्रारम्भ की गई है। 1988 से 1990 की अवधि में SAF तथा ESAF के तहत 8.2 बि. डालर (लगभग 11.4 बि. डालर) समायन गरीब राष्ट्रों को उपलब्ध करवाए जायेंगे। ESAF के माध्यम से अतिरिक्त ससाधन ऋणों के जाल में फंसे ऐसे निम्न आय वाले राष्ट्रों को उपलब्ध कराये जायेंगे जिनके निर्यात एक या दो ऐसी वस्तुओं पर ही केन्द्रित हैं जिनकी निम्न कीमत बनी रही है तथा जिन्हें समायोजन प्रक्रिया में सहायता की आवश्यकता है।

लेकिन SAF तथा ESAF के लिए समाधनों के स्रोत भिन्न हैं। SAF के समाधन ट्रस्ट फन्ड से प्राप्त हुए थे जबकि ESAF के समाधन सदस्य राष्ट्रों से विशिष्ट ऋणों व अशदानों से प्राप्त हुए हैं। वर्तमान में 62 सदस्य राष्ट्र ESAF की अर्हतायें पूरी करते हैं। ESAF के तहत अधिकतम सहायता राष्ट्र के अभ्यश के 250 प्रतिशत तक प्रदान की जा सकती है। विशेष परिस्थितियों में इससे अधिक सहायता का भी प्रावधान है। इसके विपरीत SAF में राष्ट्र के लाभांश के 63 5 प्रतिशत तक सहायता दी जाती है।

SAF की भांति ESAF के कार्यक्रम भी नीति ढाँचे के उस मसौदे पर निर्भर करेंगे जिसमें अधिकारियों के मध्यावधि आर्थिक उद्देश्यों व प्राथमिकताओं की रूप रेखा हो तथा जो विश्व बैंक व अ. मुद्रा कोष की संयुक्त सहायता से तैयार किया गया हो।

इन समस्त सुविधाओं से कुल मिलाकर एक राष्ट्र को उसके अभ्यश का 500 से 600 प्रतिशत तक उधार मिल सकता है।

(9) तकनीकी सहायता व प्रशिक्षण (Technical assistance and Training) —मुद्रा कोष द्वारा सदस्य राष्ट्रों को प्रदत्त तकनीकी सहायता प्रारम्भ से ही कोष द्वारा प्रदत्त सेवाओं में से प्रमुख रही है।

कोष किसी भी सदस्य देश के अनुरोध पर अपने अधिकारियों को एक सप्ताह से एक वर्ष से भी अधिक अवधि के लिए उस राष्ट्र में नियुक्त करता है। इसके अतिरिक्त सदस्य राष्ट्रों को कोष के विशेषज्ञों के अतिरिक्त अन्य विशेषज्ञों की सेवाएं भी उपलब्ध कराई जाती हैं। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष संस्थान (IMF Institute) सदस्य राष्ट्रों के पदाधिकारियों के लिए आर्थिक विश्लेषण व नीति पर विशिष्ट उद्देश्यों के लिए रूपान्तरित (Specialised) प्रशिक्षण हेतु पाठ्यक्रम व गोष्ठियां वाशिंगटन व अन्य स्थानों पर आयोजित करती है।

कोष के स्टाफ-शिष्टमण्डलो तथा राजकोषीय विशेषज्ञो के पेनल के सदस्य द्वारा क्षेत्र-कार्यभार (field assignments) के माध्यम से तकनीकी सहायता दी जाती रही है। सन् 1987-88 मे 50 सदस्य राष्ट्रो को इस तरह की सहायता प्रदान की गई थी। इनमे 19 लम्बी अवधि के तथा 55 अल्प अवधि के कार्यक्रम थे। इस कार्य मे 44 पेनल-सदस्यो व 23 स्टाफ सदस्यो ने भाग लिया था।

केन्द्रीय बैकिंग व वित्तीय क्षेत्र से सम्बद्ध विषयो पर तकनीकी सहायता का कार्य कोष के केन्द्रीय बैंकिंग विभाग (Central Banking Department) द्वारा सम्पन्न किया जाता है। 1987-88 के वित्त वर्ष मे 48 सदस्य राष्ट्रो व 4 क्षेत्रीय सगठनो के मौद्रिक अधिकारियो को 101 केन्द्रीय बैंक विशेषज्ञो ने कार्यकारी व सलाहकार स्तर की सेवायें प्रदान कर 69 मानव वर्षों की सहायता उपलब्ध कराई थी। इसी तरह से साख्यिकी ब्यूरो (Bureau of statistics) भी सदस्य राष्ट्रो को साख्यिकी के क्षेत्र मे तकनीकी सहायता प्रदान करता है। 1987-88 वर्ष मे साख्यिकी ब्यूरो ने 50 राष्ट्रों व 2 क्षेत्रीय सगठनो के 63 तकनीकी सहायता शिष्टमण्डलो मे भाग लिया था।

जहाँ तक प्रशिक्षण कार्यक्रम का प्रश्न है सन् 1964 मे कोष सस्थान की स्थापना से 38 अप्रैल 1988 तक 151 सदस्य राष्ट्रो के लगभग 6 हजार पदाधिकारियो ने वाशिंगटन मे सस्थान के पाठ्यक्रमों व गोष्ठियो मे भाग लिया था। सन् 1987-88 मे कोष सस्थान ने वाशिंगटन मे 14 पाठ्यक्रम व 1 गोष्ठी का आयोजन किया था।

कोष के प्रकाशनो मे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार व भुगतान से सम्बद्ध साख्यिकी का निरन्तर प्रवाह होता रहता है। कोष के प्रमुख प्रकाशन निम्न है —

Monthly Bulletin of International Financial Statistics Direction of International Trade (Jointly with IBRD), The Balance of-Payments Yearbook, Staff Papers, IMF Survey, Finance and Development आदि इसके अतिरिक्त कोष कई तदर्थ प्रकाशन भी निकालता रहता है।

अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक व्यवस्था में हाल ही के परिवर्तन

(Recent Changes in the International Monetary System)

अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक व्यवस्था के पुनर्निर्माण हेतु सन् 1972 को कोष की वार्षिक बैठक मे एक बीस सदस्यीय समिति बनाई गई थी। इस समिति को 'बीस की समिति' (Committee of Twenty) के नाम से जाना जाता है।

अप्रेल 1976 मे कोष ने लम्बे विचार विमर्श के पश्चात् अपनी धाराओ मे *नई परिस्थितियो के अनुरूप सशोधन स्वीकार कर लिए। नई मौद्रिक व्यवस्था कोष* की कुल सदस्य सख्या के ⅗ सदस्यो, जिनकी मतदान शक्ति कुल मतो का ⅘ हो, द्वारा अनुमोदित हो जाने पर लागू की जानी थी।

समझौते की धाराओ के सशोधन एग्जिक्यूटिव बोर्ड द्वारा 31 मार्च 1976 को बोर्ड ऑफ गवर्नर्स को पेश किये गये तथा अप्रेल 1976 के अन्त मे बहुमत से पारित कर दिये गये थे। लेकिन विश्लेषण को आगे बढाने से पूर्व ब्रेटनवुड्स व्यवस्था के ढह जाने के कारणो पर प्रकाश डालना अपेक्षित है।

ब्रेटनवुड्स व्यवस्था के ढह जाने के कारण (Causes for the Breakdown of the Bretton Woods System) —ब्रेटन वुड्स व्यवस्था के ढह जाने का तात्कालिक कारण तो 1970 के दशक के अन्तिम वर्षों तथा 1971 के दशक के प्रारम्भिक वर्षों मे अमेरिका के भुगतान सन्तुलन मे भारी घाटो की स्थिति मे अमेरिका द्वारा डालर के शीघ्र ही अवमूल्यन की प्रत्याशा (expectation) थी। *इस प्रत्याशा के परिणामस्वरूप अमेरिका से तरल पूँजी की भारी उडान के कारण* उस समय अमरिकी राष्ट्रपति निक्सन (Nixon) को 15 अगस्त सन् 1971 को अमेरिकी डालर की स्वर्ण मे परिवर्तनीयता (convertibility) समाप्त करनी पडी तथा 10 प्रतिशत अस्थायी आयात अधिभार लगाना पडा।

साथ ही दिसम्बर 1971 मे 'स्मिथसोनियन समझौत' द्वारा स्वर्ण का मूल्य 35 डालर प्रति औंस से बढाकर 38 डालर प्रति औस करना डालर के 9 प्रतिशत अवमूल्यन के समकक्ष था। लेकिन अमेरिकी राष्ट्रपति निक्सन ने वादा किया था कि डालर का भविष्य मे दुबारा अवमूल्यन नही किया जायेगा साथ ही 10 प्रतिशत आयात अधिभार भी समाप्त कर दिया था।

अब विश्व मौद्रिक व्यवस्था 'स्वर्णमान' के स्थान पर 'डालर मान' पर आधारित थी। साथ ही 'स्मिथसोनियन समझौत' मे विनिमय दरो मे 'समता मूल्य' के दोनो ओर 2¼ प्रतिशत की सीमा मे विनिमय दर बनाये रखने की अनुमति दे दी गई थी।

लेकिन अमेरिका के Bop मे पुन भारी घाटे की स्थिति उत्पन्न हो गई अत. स्मिथसोनियन समझौते की असफलता के परिणामस्वरूप फरवरी 1973 मे पुन डालर का अवमूल्यन किया गया। इस बार डालर का 10 प्रतिशत अवमूल्यन करके

स्वर्ण का मूल्य 42.22 डालर प्रति औंस कर दिया गया था। लेकिन डालर स्वर्ण में अपरिवर्तनीय ही बना रहा।

मार्च 1972 में यूरोपीय साझा बाजार के छः मूल सदस्य राष्ट्रों ने अपनी मुद्राओं को डालर के प्रति संयुक्त रूप से तैराना (joint float) चालू कर दिया। इस तरह से संयुक्त रूप से तैरती हुई मुद्राओं को 'यूरोपीय सर्प' (European Snake) का नाम दिया गया क्योंकि इन मुद्राओं की विनिमय दरों में संयुक्त रूप से 'सर्प' की भाँति चलन हुआ था।

तत्पश्चात् मार्च 1973 में डालर के विरुद्ध पुनः सट्टे की प्रवृत्ति बढ़ने के कारण प्रमुख औद्योगिक राष्ट्रों ने अपनी मुद्राओं को स्वतन्त्र रूप से तैरती हुई छोड़ दिया तथा छः अन्य केन्द्रीय व उत्तरी यूरोप के राष्ट्रों ने अपनी मुद्राओं को सर्वाधिक सबल व निर्बल मुद्रा के मध्य डालर से अधिकतम 2.25 प्रतिशत विस्तार से संयुक्त रूप से तैरते हुए छोड़ दिया। अतः वर्तमान 'प्रबन्धित तैरती हुई' (Managed Floating) विनिमय दर प्रणाली का जन्म हुआ।

यद्यपि ब्रेटनवुड्स प्रणाली के ढहने का तात्कालिक कारण तो सन् 1970 व 72 में अमेरिका के Bop में भारी घाटा ही था लेकिन इसका मूलभूत कारण तो तरलता, *समायोजन व भरोसे की परस्पर सम्बन्धित समस्याएँ थी।*

बिना व्यापार प्रतिबन्धों का सहारा लिये राष्ट्रों के Bop के अस्थायी घाटों की वित्त व्यवस्था हेतु अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की आवश्यकता होती है क्योंकि अन्ततः तो समायोजक प्रक्रिया इन घाटों को दुरुस्त कर देती है। तरलता की अपर्याप्तता से विश्व व्यापार का विस्तार अवरुद्ध हो जाता है जबकि अत्यधिक तरलता विश्वव्यापी मुद्रा स्फीति को जन्म देती है। लेकिन ट्रिफिन (Triffin) के अनुसार ब्रेटनवुड्स व्यवस्था में *अन्तर्राष्ट्रीय तरलता से सम्बन्धित भारी दुविधा उत्पन्न हो गई थी क्योंकि इस* व्यवस्था में अधिकांश तरलता की पूर्ति अमेरिका के Bop में घाटा उत्पन्न होने से ही हो सकती थी लेकिन *ऐसे घाटों के निरन्तर बने रहने से डालर पर भरोसा उठता* जा रहा था। इस दुविधा के परिणामस्वरूप ही अ० मु० कोष ने 1967 में 9 5 बि. SDR सृजित करने का निर्णय लिया था। लेकिन अमेरिका अपने Bop में निरन्तर बने रहने वाले घाटों के कारण डालर के अवमूल्यन को रोक पाने में असमर्थ रहा। ब्रेटनवुड्स व्यवस्था में राष्ट्रों के लिए नीति के रूप में उपयोग हेतु पर्याप्त समायोजन प्रक्रिया का अभाव था अत. अमेरिका के Bop में घाटे जारी रहे तथा डालर पर भरोसा

उठता गया एवं ब्रेटनवुड्स व्यवस्था ढह गई तथा नई अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक व्यवस्था का जन्म हुआ जिसका विस्तृत विवेचन अग्रलिखित है।

बीस की समिति द्वारा प्रस्तावित सुधार (Changes Recommended by the C--20).—बीस की समिति द्वारा प्रस्तावित सुधार काफी विस्तृत थे तथा उन्हें प्रतिवेदन में 20 शीर्षकों में प्रस्तुत किया गया था। परन्तु प्रमुख विषय-वस्तु को अग्रलिखित छ शीर्षकों में प्रस्तुत किया जा सकता है[6]—

1. **विनिमय व्यवस्था** :—प्रत्येक सदस्य राष्ट्र की स्वेच्छा की विनिमय व्यवस्था, विशेष सामान्य व्यवस्थाओं का सम्भावित अपनाया जाना, किसी भी तरह की विनिमय दर प्रणाली अपनाने की स्वतन्त्रता लेकिन कोष द्वारा नयी विनिमय दर प्रणाली पर कड़ी निगरानी एवं व्यवहार के नये मापदण्ड स्थापित करना।
2. **स्वर्ण की भूमिका** :—नयी व्यवस्था में स्वर्ण की भूमिका कम कर दी गयी थी तथा इसके अन्तर्गत कोष द्वारा अपने स्वर्ण कोषों का विक्रय भी सम्मिलित था।
3. **विशेष आहरण अधिकार (SDRs)** :—विशेष आहरण अधिकारों की विशेषताओं में परिवर्तन तथा इनके सम्भावित उपयोगों को इस प्रकार विस्तृत किया जाना जिससे इन्हें अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली की प्रमुख रिजर्व परि-सम्पत्ति बनने में मदद मिल सके।
4. **वित्तीय क्रियाएँ** —कोष के सामान्य विभाग के माध्यम से की जाने वाली वित्तीय क्रियाओं एवं सौदों की किस्मों का सरलीकरण तथा विस्तार।
5. **परिषद्** :—कोष के नये अंग के रूप में परिषद् की सम्भावित स्थापना।
6. कोष के संगठनात्मक पहलू में कुछ सुधार।

उपर्युक्त सुधारों में से अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक व्यवस्था में स्वर्ण की भूमिका से सम्बन्धित सुधार, विशेष आहरण अधिकारों की भूमिका सुदृढ़ करने से सम्बन्धित सुधार तथा लचीली विनिमय दर प्रणाली वाले राष्ट्रों की स्थिति वैध करने से सम्बन्धित सुधार अधिक महत्वपूर्ण हैं।

---

6 For details see F and D—June 1976, pp 12-13.

स्वर्ण की भूमिका समाप्त

(Abolition of the Role of Gold)

कोष की धाराओं में सुधार करके स्वर्ण की केन्द्रीय भूमिका को समाप्त कर दिया गया है। ऐसा करने हेतु स्वर्ण के प्राधिकारिक मूल्य (official price) को समाप्त कर दिया गया; स्वर्ण व एस. डी. आर. की आपसी कड़ी (link) को समाप्त कर दिया गया है तथा किसी भी सदस्य राष्ट्र द्वारा अपनी मुद्रा का मूल्य स्वर्ण में घोषित करने पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया है। कोष स्वर्ण में कोई भी सौदा करते समय ऐसी क्रियाओं को टालेगा जिनसे स्वर्ण की बाजार कीमत प्रभावित हो अथवा स्थिर कीमत स्थापित हो। इसके अतिरिक्त न तो कोष स्वयं अपने किसी दायित्व का भुगतान स्वर्ण में करेगा तथा न ही सदस्यों को स्वर्ण में भुगतान करना होगा।

कोष के नियमित खाते से सम्बन्धित 'स्वर्ण ट्रांश' (Gold Tranche) अभिव्यक्ति के स्थान पर 'रिजर्व ट्रांश' अभिव्यक्ति प्रतिस्थापित कर दी जाएगी। पूर्व में सदस्य राष्ट्र अपने अभ्यंश का 25 प्रतिशत स्वर्ण में चुकाते थे वह अब स्वतन्त्र रूप से स्वीकार्य मुद्रा में जमा कराया जायेगा।

अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक व्यवस्था में सुधार एवं इसमें भविष्य में स्वर्ण की भूमिका से सम्बन्धित विचार विमर्श के समय कोष का स्वर्ण भण्डार 150 मिलियन औंस अथवा 4,710 टन से अधिक था।[7] वास्तव में अमेरिका को छोड़कर कोष ही विश्व का सबसे बड़ा स्वर्ण का प्राधिकारिक संचयकर्त्ता (holder) था। मौद्रिक व्यवस्था में सुधार से सम्बन्धित सहमति के अंश के रूप में तथा स्वर्ण की भूमिका कम करने में योगदान देने हेतु सन् 1975 में निर्णय लिया गया कि कोष अपने स्वर्ण संचय का एक तिहाई अर्थात् 50 मिलियन औंस विक्रय करेगा। इसमें से आधा अर्थात् 25 मिलियन औंस तो बाजार भाव पर विकासशील राष्ट्रों के लाभार्थ तथा शेष 25 मिलियन औंस सम्पन्न सदस्य राष्ट्रों को 35 SDR प्रति औंस के भाव से विक्रय करने का निर्णय लिया गया था। इस 35 SDR प्रति औंस विक्रय किए जाने को 'रेस्टीट्यूशन' (Restitution) नाम दिया गया था।

जून 1976 से मई 1980 के मध्य की चार वर्ष की अवधि में कोष द्वारा स्वर्ण का विक्रय किया गया था। लगभग इस पूरी अवधि में स्वर्ण के मूल्य में वृद्धि

7 Wittich, G —Gold in the Fund Today—F & D—Sept 1982

चालू रहो। कोष द्वारा स्वर्ण विक्रय सार्वजनिक नीलामी द्वारा किया गया ताकि निजी बाजारों मे स्वर्ण की कीमत प्रभावित होने का प्रक्टीकरण अथवा यहाँ तक कि स्वर्ण की भविष्य की कीमत से सम्बन्धित दृष्टिकोण अपनाया जाना टाला जा सके।

कोष ने कुल मिलाकर 45 नीलामियाँ लन्दन बाजार कीमत के करीब की कीमतो पर की। इन स्वर्ण विक्रयो से 5 7 बि अमेरिकी डालर का आगम हुआ जिसमे से 1 1 बि. डालर तो 35 SDR प्रति औंस के भाव से पूँजी मूल्य (Capital value) था जिसे कोष के सामान्य साधनों म सम्मिलित किया गया तथा शेष 4 6 बि डालर लाभ थे जिन्हे जरूरतमद राष्ट्रो को भुगतान सन्तुलन हेतु सहायता उपलब्ध कराने के उद्देश्य से सन् 1976 म ट्रस्ट कोष (Trust Fund) की स्थापना की गयी।

कोष का स्वर्ण विक्रय कार्यक्रम मई 1980 म पूर्ण हो चुका था। कोष के पास वतमान मे 103 मिलियन ग्राम स्वर्ण का सचय है। स्वण के इस सचय से कोष की वित्तीय शक्ति तथा सदस्य राष्ट्रो की आवश्यकताओ हेतु अतिरिक्त साधन उधार लेने की सामर्थ्य म योगदान मिलता रहेगा।

अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक व्यवस्था म स्वण की भूमिका कम करने तथा SDR की भूमिका मजबूत बनाने से सम्बन्धित निर्णय के पीछे दो प्रमुख घटनाएँ महत्त्वपूर्ण रही है प्रथम तो सन् 1968 मे आधिकारिक स्वर्ण सचिति (gold pool) का ढह जाना तथा द्वितीय, अगस्त 1971 मे अमेरिका द्वारा डालर को स्वण मे परिवर्तित करने के प्रावधान को निलम्बित कर देना।

विशेष आहरण अधिकार (SDRs) —

विशेष आहरण अधिकार आरक्षित निधि परिसम्पत्तियाँ हैं जो कोष द्वारा अपने सदस्य राष्ट्रो को आवटित की जाती हैं।

सन् 1967 मे ब्राजील मे रियोदजेनीरो (Rio de Janiero) की बैठक मे SDR योजना की रूपरेखा को सर्वप्रथम सार्वजनिक रूप से प्रस्तुत किया गया था। बोर्ड ऑफ गवर्नर्स के समक्ष अप्रैल 1968 म एक विस्तृत योजना प्रस्तुत की गयी थी जिसे मई में स्वीकृति दे दी गयी। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष मे विशेष आहरण खाता 28 जुलाई सन् 1969 को स्थापित किया गया था। तत्पश्चात् विशेष आहरण खाते मे भाग लेने वाले राष्ट्रो को कोष अन्तर्राष्ट्रीय आरक्षित निधि परिसम्पत्ति SDRs का आवटन कर सकता है।

आरक्षित निधियों की वृद्धि के लिए पूर्व में अपनाये गये स्रोतों से SDR आवटन योजना पूर्णतया भिन्न थी। वास्तव में अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के निर्णय द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय तरलता सृजित करने की दिशा में यह प्रथम प्रयास था।

सन् 1970 में SDRs सुविधा का सृजन उस समय विद्यमान आरक्षित निधि परिसम्पत्तियों के पूरक के रूप में किया गया था क्योंकि यह आशा की गयी थी कि ऐसी सुविधा के अभाव में अन्तर्राष्ट्रीय आरक्षित निधियों की वृद्धि दर इसकी बढ़ती हुई माँग की पूर्ति के लिए अपर्याप्त होगी। SDRs सदस्य राष्ट्रों द्वारा अपनी आरक्षित निधि के अंश के रूप में रखे जाते हैं तथा इन राष्ट्रों के समक्ष भुगतान सन्तुलन की समस्या प्रस्तुत होने पर SDRs को अन्य मुद्राओं में परिणित करा लिया जाता है।

प्रणाली की कार्यविधि

(Working of the System)

SDRs प्रणाली की कार्यविधि (working) को समझने हेतु मान लीजिए फ्रांस व जापान दोनों राष्ट्रों में से प्रत्येक को आधार वर्ष में 200 SDRs आवंटित किये जाते हैं तो इस आवटन को कार्यरूप में परिणित करने हेतु अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष इन राष्ट्रों के विशेष आहरण खाते में इस मूल्य के बराबर जमा की प्रविष्टि कर देगा। इस प्रविष्टि के उपलक्ष में सदस्य राष्ट्र को कोष में किसी प्रकार का अंशदान देने की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार SDRs का आरक्षित निधि परिसम्पत्ति के रूप में आकर्षण इस तथ्य में निहित है कि इस योजना में भाग लेने वाले प्रत्येक राष्ट्र का इन्हें स्वीकार करने का दायित्व है।

उपर्युक्त उदाहरण में भुगतान सन्तुलन में घाटे वाले राष्ट्र फ्रांस को यदि परिवर्तनशील विदेशी मुद्राओं की आवश्यकता है तो वह SDRs के बदले जापानी येन अथवा कोई अन्य विदेशी मुद्रा प्राप्त कर सकता है। यदि कोष जापान को ऋण-दाता के रूप में नामित (designate) करता है तो SDRs के विनिमय में विदेशी मुद्रा का क्रय सीधा जापान से किया जाता है तथा सम्बन्धित मुद्राओं के कोष के संचय को यह सौदा किसी भी तरह से प्रभावित नहीं करता है। SDRs के सौदे कोष के नियमित सौदों से भिन्न हैं तथा कोष की इन सौदों में केवल मध्यस्थ व गारन्टर (Guarantor) की भूमिका रहती है। इस सौदे के परिणामस्वरूप फ्रांस के SDRs संग्रह का रिक्तीकरण हो जायेगा तथा जापान के संग्रह में वृद्धि हो

जायेगी। कोष के सामान्य अभ्यश से उधार की भांति SDRs के सौदों मे फ्रांस को निश्चित समयावधि म इनका पुनर्भुगतान अथवा 'पुन क्रय' नही करना होगा। यदि किसी अन्य सदस्य राष्ट्र को भविष्य म फ्रांस के फ्रेंक की SDRs के विनिमय म आवश्यक्ता है तो उस मात्रा के बराबर फ्रांस के SDRs के सग्रह म वृद्धि हो जायेगी। इसके ठीक विपरीत यदि जापान कोई अन्य मुद्रा SDRs के विनिमय मे प्राप्त करता है तो जापान के SDRs सग्रह म उस मात्रा के बराबर कमी हो जाएगी। इस प्रकार स्पष्ट है कि राष्ट्र के मूल आवटन के सदर्भ मे SDRs की सचित स्थिति मात्र ही महत्वपूर्ण है। जब कभी भी राष्ट्र विशेष किसी अन्य राष्ट्र की मुद्रा का SDRs के बदले क्रय करता है तो उस राष्ट्र की SDRs की सचित मात्रा मे कमी हो जाती है तथा जब उस राष्ट्र की मुद्रा का अन्य राष्ट्र SDRs के विनिमय मे क्रय करता है तो उसकी SDRs की सचित मात्रा म वृद्धि हो जाती है।

भुगतान सतुलन मे घाटे वाले राष्ट्र अपने SDRs के आधार अवधि के सम्पूर्ण आवंटन का उपयोग कर सकते हैं लेकिन सामान्यतया उन्हे प्रोत्साहित किया जाता है कि वे इस राशि के 70 प्रतिशत स अधिक का उपयोग न करें। उत्तरोत्तर पांच वर्ष की अवधि मे प्रत्येक सहभागी राष्ट्र का अपना विशुद्ध सचित आवंटन का न्यूनतम 30 प्रतिशत बनाये रखने का प्रावधान SDR योजना के प्रारम्भ से ही विद्यमान था। इस प्रावधान को SDRs के दीर्घकालीन वित्तव्यवस्था के उपयोग को रोकने हेतु तथा SDRs से अधिक अधिमान के परिणामस्वरूप अन्य आरक्षित निधि परिसम्पत्तियों के असतुलित सग्रह को रोकने हेतु रखा गया था।

लेकिन इस प्रावधान के कारण SDR की आरक्षित निधि परिसम्पत्ति के रूप मे हैसियत नीची बनी रही क्योंकि अन्य रिजर्व परिसम्पत्तियों के सन्दर्भ म न्यूनतम सग्रह की कोई शर्त नहीं थी। SDR पर ब्याज की दर म वृद्धि के साथ एव इसके गुणो व उपयोगो में अन्य सुधारो के साथ 1970 के दशक के अन्त तक कोष को यह स्पष्ट हो गया कि SDR काफी शक्तिशाली रिजर्व परिसम्पत्ति बन चुका है एव इसके न्यूनतम अनिवार्य सग्रह की शर्त आवश्यक नहीं है। अत 1 जनवरी 1979 को न्यूनतम औसत सग्रह को 30 प्रतिशत से घटाकर 15 प्रतिशत कर दिया गया तथा 30 अप्रेल 1981 स न्यूनतम सग्रह की शर्त को पूर्णतया समाप्त कर दिया गया। फिर भी SDR योजना में भाग लेने वाले राष्ट्रो से यह आशा की जाती है कि निश्चित

समयावधि के पश्चात् वे अपनी SDRs की सचित राशि व अन्य आरक्षित निधि परिसम्पत्तियों के मध्य संतुलन बनाये रखेंगे।

दूसरी ओर भुगतान सतुलन मे अतिरेक वाले राष्ट्र (हमारे उदाहरण में जापान) की मुद्रा की भारी माँग होना सम्भव है। SDRs योजना के भागीदार प्रत्येक सदस्य राष्ट्र का यह दायित्व है कि जब तक उस राष्ट्र की SDRs की कुल सचित राशि उसके मूल आवटन की तिगुनी नहीं हो जाती है तब तक वह राष्ट्र SDRs के विनिमय मे अपनी मुद्रा प्रदान करता रहेगा। हमारे उदाहरण मे यदि जापान अपने 200 SDRs के मूल आवटन का बिल्कुल भी उपयोग नहीं करता है तो उसका SDRs स्वीकार करने का दायित्व 400 SDRs रह जाता है और यदि वह अपने पूरे मूल आवटन का उपयोग कर लेता है तो उसका SDRs स्वीकार करने का दायित्व 600 SDRs हो जाता है।

SDRs योजना में राष्ट्रों द्वारा इस सीमा से अधिक SDRs स्वीकार करने के लिए विभिन्न प्रकार के स्वर्ण की गारटी के रूप मे व ऊँची ब्याज दर के रूप मे प्रेरणा के प्रावधान रखे गये हैं।

SDRs के उपयोग

(Uses of SDRs)

जब SDRs का सृजन किया गया था तब उसके तीन उपयोग[8] दृष्टव्य थे।

(1) निर्देशित सौदे (Transactions with designation) :– इसके अन्तर्गत कोष इस योजना मे भागलेने वाले मजबूत भुगतान सतुलन एव सबल रिजर्व स्थिति वाले सदस्यो को अपने SDRs परिवर्तित करवाने के इच्छुक राष्ट्रो को SDRs के बदले विदेशी मुद्रा परिवर्तित करने के निर्देश देना है SDRs योजना के भागीदार सदस्यो का यह दायित्व है कि जब तक उनका SDRs का सग्रह उनके कुल SDR सचय का तिगुना न हो जाय तब तक वे ऐसे निर्देश स्वीकार करें।

(2) कोष के साथ सौदो मे SDRs का उपयोग (Use of SDRs in Transactions with the Fund) :—इसके अन्तगत सदस्य राष्ट्र SDRs के बदले

8. Byrne, W J —Evolution of the SDR . 1974 81—F & D Sept 1982, pp 31-35

कोष के सामान्य खाते से स्वयं की मुद्रा का पुन क्रय (repurchase) कर सकता है तथा SDRs द्वारा चार्जेज का भुगतान किया जा सकता है।

(3) सहमति द्वारा सौदे (Transactions by agreement) —इसके अन्तर्गत दो सदस्य राष्ट्रो की आपसी सहमति द्वारा एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र से SDRs के विनिमय मे स्वय की मुद्रा का क्रय कर सकता है। यद्यपि इस प्रकार के सौदो की अनुमति तभी दी जाती थी जब राष्ट्र भुगतान सतुलन की आवश्यकता हेतु SDRs का विक्रय कर रहा हो।

सन् 1976 से 1978 के बीच सहमति द्वारा सौदा पर लगायी गयी सीमाएँ समाप्त कर दी गयी तथा इन्हे भुगतान सतुलन की आवश्यकता से मुक्त कर दिया। इस मुक्ति के कारण सहमति द्वारा सौदो की सख्या एव मूल्य मे तीव्र वृद्धि हुई है। 1977 मे 39 सहमति वाले सौदो के अन्तर्गत 699 मि SDRs का हस्तातरण हुआ था जबकि 1975 म 6 सौदो मे40 मि SDR ही हस्तान्तरित हुए थ।

द्वितीय सशोधन द्वारा SDRs के उपयोगो की विस्तार सीमा (range) को विस्तृत करने हेतु कोष को SDRs के ऐसे उपयोग निर्धारित करने का अधिकार दे दिया गया है जिनका अन्यथा स्पष्ट रूप स अधिकार नही था। दिसम्बर 1978 से मार्च 1980 के मध्य कोष ने कई निर्णयो द्वारा SDRs के निम्न अतिरिक्त उपयोगो की अनुमति दी है —(1) स्वेप (swap) प्रबन्धो मे (2) अग्रिम क्रियाओ (Forward operations) म (3) ऋणो मे (4) वित्तीय दायित्वो को निपटाने मे (5) वित्तीय दायित्वो को पूरा करने की सुरक्षा के रूप मे तथा (6) प्रतिदान (Donations) म। ऋणो व वित्तीय दायित्वो को निपटाने हेतु सर्वप्रथम सन 1981 म SDRs का उपयोग किया गया था।

SDRs योजना के प्रारम्भ से ही कोष को विशिष्ट सस्थाओ को SDRs के अन्य धारक निर्धारित करने का अधिकार था अत सन 1973 मे अन्तर्राष्ट्रीय निपटारा बैंक (BIS को SDRs का धारक निर्धारित किया गया। द्वितीय संशोधन द्वारा कोष के इस अधिकार को विस्तृत करके इसे सरकारी एन्टीटीज (official entities) की श्रेणियो तक बढा दिया गया। सन् 1978 से अप्रेल 1982 तक 11 अन्य सगठनो को SDRs क धारक निर्धारित कर दिया गया था। वर्तमान मे कोष के सभी 151 सदस्य SDR योजना म भाग ले रहे हैं अत उन्हे SDRs का आवटन किया जाता है। जब कभी भी विद्यमान तरलता की पूरकता की आवश्यकता होती है तो कोष इस

योजना के भागीदारों को उनके अभ्यशो के अनुपात मे SDRs आवटित करता है। सन् 1970-72 की तीन वर्ष को अवधि मे कोष ने 9.5 बिलियन SDRs सृजित कर उन्हे 112 सदस्य राष्ट्रो को आवंटित किया था। सन् 1978 मे एक प्रस्ताव मे बोर्ड आव गवर्नरस ने प्रबन्ध निदेशक के एक प्रस्ताव जिसमे इस तरफ ध्यान दिलाया गया था कि सदस्य राष्ट्रो के अन्तर्राष्ट्रीय सौदो के स्तर मे वृद्धि हुई है तथा इस वृद्धि के जारी रहने की आशा है पर सहमति व्यक्त की। परिणामस्वरूप सन् 1979, 1980 तथा 1981 मे तीन वर्ष की अवधि मे प्रतिवर्ष 4 बिलियन SDRs का आवटन किया गया जिससे कुल विद्यमान SDRs 21 बिलियन हो गये। दिसम्बर 1981 के अन्त मे इसमे से 16 बिलियन SDRs योजना के भागीदारो के पास तथा 5 बिलियन कोष के सामान्य खाते मे सचित थे। आवटन की प्रक्रिया पुन. जारी होने से कुल रिजर्व सग्रह से SDRs के सग्रह के गिरते हुए अनुपात मे पलटी होनी प्रारम्भ हो गयी है। कुल रिजर्वस से SDRs का अनुपात सन् 1972 के अन्त के 5.9 प्रतिशत से घटकर सन् 1978 के अन्त में 2.9 प्रतिशत रह गया था, जबकि सन् 1981 के अन्त मे यह अनुपात पुन: बढ़कर 4.4 प्रतिशत हो गया है।

SDRs का मूल्यांकन

(The valuation of SDRs)

SDRs मूल्याकन प्रणाली मे परिवर्तन की आवश्यकता सर्व प्रथम अगस्त सन् 1971 में अमेरिका द्वारा डालर की स्वर्ण परिवर्तनीयता को निलम्बित करने के साथ ही उत्पन्न हुई। इसके अतिरिक्त सन् 1971 के अन्त मे विस्तृत सीमाओं (wider margins) से सम्बन्धित स्मिथसोनियन समझौते से SDR में भिन्न मुद्राओं के सापेक्ष के रूप मे उच्चावचन, उसका मूल्य डालर के रूप में स्थिर रहते हुए भी, सम्भव थे तथा अगस्त 1971 के पश्चात् की पूरी अवधि मे अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सृजित परिसम्पत्ति के मूल्य को एक केरेंसी से जोडे रखने का विरोध भी काफी बढ गया था।

अत: 1 जुलाई 1974 को SDR के मूल्याकन में डालर की केन्द्रीय भूमिका को समाप्त कर इसे 16 केरेंसीज के औसत भारित मूल्य से जोड दिया गया।[9]

---

9. इन 16 केरेन्सीज से SDRs के मूल्य निर्धारण की विधि से सम्बन्धित विस्तृत व्यौरे हेतु देखिए :—
Swami, K D. —The New Int. Monetary order—Rajasthan Economic Journal—Jan. 1979, pp. 31-42.

सारणी . 17 1

SDR Valuation Basket, April 30, 1981[10]

Currency	Initial percentage weight	Currency Amount	Exchange rate[1]	U S. Dollar Equivalent
(1)	(2)	(3)	(4)	(5)
U. S. dollar	42 0	0 54	1 0000	0 540000
Deutche Mark	19 0	0 46	2 2145	0 207722
French Franc	13 0	0 74	5 2540	0 140844
Japanese Yen	13 0	34.0	215 13	0 158044
Pound Sterling	13 0	0.071	2 1404	0.151968 1.198579

SDR value of US $ 1 = 0 834321

U.S dollar value of SDR = 1 19858

1 बैंक ऑफ लन्दन द्वारा निर्धारित लन्दन विनिमय बाजार मे दोपहर की क्रय व विक्रय दरो (buying and selling rates) की मध्य दर प्रति अमेरिकी डालर के रूप मे व्यक्त की गयी है, सिवाय पाऊण्ड स्टलिंग की विनिमय दर के जिसे प्रति पाऊण्ड अमेरिकी डालर के रूप मे व्यक्त किया गया है ।

2 सिवाय पाऊण्ड स्टलिंग के जिसमे 3 व 4 कालम की मात्राओ का गुणा किया गया है कॉलम 3 को कॉलम 4 से विभाजित कर कॉलम पांच प्राप्त किया गया है ।

*ये 16 करेंसीज निम्न थी —अमरीकी डालर, ड्यूस मार्क, पाऊण्ड स्टर्लिंग, फ्रेंच फ्रेंक, जापानी येन, केनेडियन डालर, इटेलियन लीरा, नीदरलैण्ड गिल्डर, बेल्जियन फ्रेंक, स्वीडिश क्रोना, आस्ट्रेलियन डालर, स्पेनिश पेसेटा, नोर्वेयिन क्रोन, डनिश क्रोन, आस्ट्रीयन शिलिंग तथा साऊथ अफरीकी रैण्ड ।

10 Source IMF Annual Report, p 95.

SDR तुला में उन राष्ट्रों की करेंसीज को सम्मिलित किया गया जिन राष्ट्रों का सन् 1968-72 की अवधि में विश्व निर्यातों में एक प्रतिशत से अधिक हिस्सा था।* SDR तुला में प्रत्येक करेंसी को राष्ट्रों के निर्यातों के प्रतिशत के अनुपात में भार प्रदान किया गया था। इस तुला में अमेरिकी डालर को 33 प्रतिशत भार प्रदान किया गया था। 1 जुलाई 1978 से SDR तुला (Basket) को परिशोधित करके इसमें सन् 1972-76 की अवधि में निर्यातों के आँकड़ों के आधार पर 16 राष्ट्रों की करेंसीज को शामिल किया गया। इस परिवर्तन के परिणामस्वरूप SDR तुला में ईरान व साउदी अरब की करेंसीज सम्मिलित कर ली गयीं तथा पुराने तुला में सम्मिलित डेनमार्क व दक्षिणी अफ्रीका की करेंसीज को निकाल दिया गया।

लेकिन औसत भारित मूल्य की यह प्रणाली काफी जटिल थी अतः 1 जनवरी 1984 से भारयोल तुले को सरलीकृत करके केवल पाँच राष्ट्रों की करेंसी के समूह को ही इसमें रखा गया। सारणी 17.1 में 30 अप्रेल 1981 के उदाहरण द्वारा SDR को वर्तमान मूल्यांकन पद्धति स्पष्ट की गयी है।

सारणी 17.1 से स्पष्ट है कि SDR तुला में प्रत्येक करेंसी मूल्य का परिवर्तन SDR/Dollar दर को उस करेंसी के भार के अनुसार प्रभावित करता है।

एक बार अमेरिकी डालर/SDR विनिमय दर की गणना कर लेने के पश्चात् कोष SDR व अन्य मुद्राओं की आपसी विनिमय दरों की गणना उनकी डालर विनिमय दरों की सहायता से करता है।

SDR की विनिमय दर निर्धारण की पुरानी व नई प्रणाली में प्रमुख अन्तर यह है कि वर्तमान तुला प्रणाली के अन्तर्गत डालर/ दर प्रतिदिन परिवर्तित होती रहती है जबकि पुरानी पद्धति में (जुलाई 1974 से पूर्व) यह दर स्थिर रहती थी।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि हाल ही के वर्षों में SDRs से सम्बन्धित अग्र-लिखित प्रमुख परिवर्तन हुए हैं :—

1. SDRs का तृतीय व अन्तिम 4,053 मिलियन SDR (आधार अवधि 1 जनवरी 1978 से 31 दिसम्बर 1981) का 1 जनवरी 1981 को सभी 141 सदस्य राष्ट्रों को आवंटन करने के साथ ही SDR का कुल संचित आवंटन 21.4 बिलियन SDR हो गया है।

2. SDR के मूल्याकन तुला को 16 मुद्राओं से घटाकर 5 मुद्राओं वाला बना दिया गया है तथा इसे 1 जनवरी 1981 से SDR ब्याज–दर तुले से एकीकृत कर दिया गया है।
3. 1 मई 1981 से SDR की ब्याज दर को बढा दिया गया है एव SDRs के अन्य सचयकर्त्ता निर्धारित किये गये है।
4. SDR के विशुद्ध सचित आवटन के 15 प्रतिशत के न्यूनतम स्तर को बनाये रखने के प्रावधान को समाप्त कर दिया गया है।
5. SDR तुला की केरेंसीज के भार निर्धारित करने के आधार को विस्तृत किया गया है जिससे कि केरेंसी विशेष के अन्तर्राष्ट्रीय सौदो मे महत्त्व को ध्यान मे रखा जा सके। वस्तुओ व सेवाओ के निर्यातो के साथ-साथ करेंसी विशेष के अन्य सदस्यो के पास सचित रिजर्वस को भी भार निर्धारण मे महत्त्व दिया जाता है। इस परिवर्तन के परिणामस्वरूप ही अमेरिकी डालर को SDR तुला मे 42 प्रतिशत प्रारम्भिक भार प्रदान किया जा सका है जबकि अमेरिका के निर्यात तुला मे सम्मिलित पाँचो राष्ट्रो के निर्यातो का केवल 32 प्रतिशत ही हैं।

1 जनवरी 1976 के बाद SDR तुला मे शामिल केरेंसीज व उन्हे भार प्रदान करने की विधि का प्रत्येक पाँचवे वर्ष परिशोधन किया जायेगा।

वर्तमान विनिमय दर प्रणाली

(The Present Exchange Rate system)

विनिमय दरो से सम्बन्धित "वैधानिक" प्रावधानो की अग्रलिखित तीन प्रमुख विशेषताओ को ध्यान मे रखना आवश्यक है —

प्रथम, नवीन प्रावधान प्रत्येक राष्ट्र को इस बात की स्वतन्त्रता प्रदान करते हैं कि वह किसी प्रकार की विनिमय दर प्रणाली अपना सकता है। यह इस तथ्य के अनुरूप है कि वर्तमान विनिमय दर प्रणाली सकर (hybrid) है।

द्वितीय, कोष के नये अनुच्छेद IV की यह मान्यता है कि विनिमय दर स्थायित्व अपने आप मे एक उद्देश्य नही है यह तो अन्तःस्थ (underlying) आर्थिक तथा वित्तीय स्थायित्व का परिणाम है।

लेकिन तृतीय, यह कि विनिमय दर प्रणाली पूर्णतया अव्यवस्थित नहीं है। अनुच्छेद IV के अनुसार कोष सदस्य राष्ट्रों की विनिमय दर नीतियों पर कड़ी निगरानी रखेगा तथा उन नीतियों के सम्बन्ध में समस्त सदस्य राष्ट्रों के मार्ग दर्शन हेतु विशिष्ट सिद्धान्त अपनायेगा।

वर्तमान विनिमय दर प्रणाली को निम्न चार्ट द्वारा दर्शाया जा सकता है :

चार्ट 17.1 : विनिमय दर प्रणाली का चुनाव

- Float
  - स्वतंत्र फ्लोट
  - समूह फ्लोट
  - क्राल (Crawl)
- Peg
  - एकल मुद्रा पेग
    - अमरीकी डालर
    - पाउण्ड स्टर्लिंग
    - फ्रेंच फ्रैंक
  - तुरा पेग
    - SDR
    - अन्य तुरा (other basket)
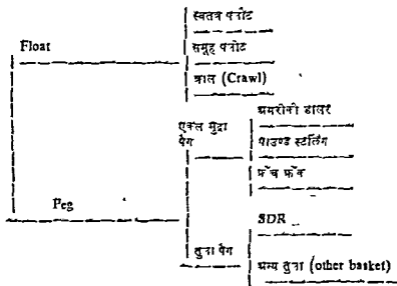
स्पष्ट ही है कि विनिमय पर प्रणाली के चुनाव से सम्बन्धित निर्णय लेते समय सम्बन्धित राष्ट्र को आधारभूत निर्णय यह लेना पड़ता है कि उसकी करेंसी तैरती रहे (floating) अथवा जुड़ी रहे (Pegged)। करेंसी को तैरती रखने का निर्णय लेने वाले राष्ट्र को यह भी तय करना होता है कि उसकी करेंसी समूह में तैरे अथवा स्वतन्त्र रूप से तैरे अथवा निश्चित संकेतों के आधार पर क्राल (crawl) करे। अपनी करेंसी को जोड़ने (Peg) का निर्णय लेने वाले राष्ट्र को सर्वप्रथम यह तय करना होता है कि वह उसे एक करेंसी से जोड़े अथवा विदेशी करेंसीज के 'तुरा' से। एक करेंसी से अपनी करेंसी जोड़ने का निर्णय लेने वाले राष्ट्र को सर्वाधिक

वाञ्छित करेंसीज का भी निर्णय लेना होता है जैसे अमेरिकी डालर, पाऊण्ड स्टर्लिंग अथवा फ्रेंच फ्रेंक। इसी प्रकार 'तुला' से करेंसी जोड़ने का निर्णय लेने वाले राष्ट्र को यह तय करना पड़ता है कि पूर्व उपलब्ध SDR जैसे तुले* से करेंसी जोड़े अथवा अपने व्यापार में सर्वाधिक महत्वपूर्ण राष्ट्रों की करेंसीज से नवनिर्मित तुले से, *उदाहरणार्थ, वर्तमान में भारतीय रुपये के मूल्य निर्धारण के लिए नवनिर्मित तुले* का उपयोग किया जा रहा है।

यह ध्यान रखा जाना चाहिए कि राष्ट्र विशेष की विनिमय दर प्रणाली को सही-सही *परिभाषित करना अत्यधिक कठिन कार्य है क्योंकि दृढ़ता से जोड़ने (rigid-peg)* से लेकर पूर्णतया स्वतंत्र विनिमय दर प्रणाली (clean float) की दो सीमाओं के *मध्य विनिमय दर प्रणाली का विस्तृत वर्णक्रम (broad spectrum) विद्यमान* रहता है। उदाहरणार्थ, कुछ पेगड विनिमय दर प्रणाली अपनाने वाले राष्ट्र अपेक्षाकृत विस्तृत उच्चावचनों से लाभान्वित हो रहे है अथवा वे विनिमय दर को समय-समय पर इस प्रकार परिवर्तित करते रहते है कि उनकी विनिमय दर प्रणाली तैरती विनिमय दर प्रणाली से मिलती जुलती बन जाती है। इसी प्रकार ऐसे राष्ट्र *की विनिमय दर प्रणाली जिसने 'स्वतन्त्र लचीली' विनिमय दर वाली करेंसी से अपनी* करेंसी को जोड रखा है तथा 'समूह फ्लोटिंग' वाले राष्ट्र की विनिमय दर प्रणाली के मध्य अन्तर करना भी कठिन हो सकता है। चार्ट 17.1 मे तो कोष के सदस्य राष्ट्रों द्वारा अनुसरण की जाने वाली विनिमय दर प्रणाली का मोटे रूप मे वर्गीकरण करने का प्रयास किया गया है।

कोई भी राष्ट्र इनमे से कौनसी विनिमय दर प्रणाली को चुने यह *अर्थव्यवस्था* के आकार व व्यापार के लिए खुले होने की श्रेणी, वस्तु संकेन्द्रण (Commodity Concentration), अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय एकीकरण (Integration), मुद्रा स्फीति की श्रेणी आदि घटकों पर निर्भर करता है।[11]

इसी के साथ हम अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली का विवेचन सम्पन्न करते हैं तथा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की सीमाओं पर ध्यान केन्द्रित करते हुए इस अध्याय के समापन की ओर अग्रसर होते है।

---

* SDRs तुले के विस्तृत विवेचन हेतु इसी अध्याय के 'SDRs' शीर्षक के अन्तर्गत दी गई विषय सामग्री का अध्ययन करें।

11. For detailed analysis of these factors see, Heller, R H.—Chosing an Exchange Rate System—Fand D, June 1977, pp 23-26.

मुद्रा कोष की सीमाएँ

(Limitations of the Fund)

(1) ब्रेटनवुड्स व्यवस्था की सबसे बडी कमी यह थी कि इसमे किसी भी तरह की समायोजन प्रणाली का प्रावधान नही था अत भुगतान सतुलन मे घाटे वाले राष्ट्रो को अधिकाश ऐसी तदर्थ व व्यक्तिगत राष्ट्रीय नीतियो पर निर्भर रहना पडा जो किसी भी सुनियोजित अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के लिए हानिकारक थी।

अत विनिमय दरो मे समायोजन के प्रावधान के अभाव मे BOPमे घाटे वाले राष्ट्रो को प्रत्यक्ष मौद्रिक व व्यापार नियत्रण अपनाने पडे तथा अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की माँग मे अभिवृद्धि हुई।

(2) ब्रेटनवुड्स व्यवस्था मे अन्तर्राष्ट्रीय तरलता के रूप की कोई स्पष्ट अवधारणा विद्यमान नही थी। अत समानता के दृष्टिकोण से सभी सदस्य राष्ट्रों की मुद्राएँ कोष के पास जमा की गई जबकि वास्तव मे प्रमुख मुद्राएँ (विशेषकर डालर व पाउण्ड) ही अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की भूमिका अदा कर पाई। परिणामस्वरूप इन प्रमुख मुद्राओ का सचय तो अपर्याप्त होता गया तथा कोष अनावश्यक मुद्राओं के जमा का भण्डार बनता गया।

(3) मुद्रा कोष ने प्रारम्भ से ही अत्यधिक रूढिवादी भूमिका अदा की है। कोष को यह भय था कि उसके ससाधन राष्ट्रो के पुनर्निमाण हेतु प्रयुक्त किय जायेंगे न कि BOP की समस्याओ से निपटने के लिए। अत कोष द्वारा प्रदत्त ऋणो पर कडी शर्तें लगाई गई जिसके परिणामस्वरूप 1950 के दशक में कोष की भूमिका सक्रिय नही रह पाई।

(4) कोष ने BOP मे सन्तुलन बनाये रखने हेतु अवमूल्यन के स्थान पर व्यय मे कमी जैसे आन्तरिक उपायो पर जोर दिया। लेकिन यह तर्क वास्तविक कसौटी पर कभी भी नही कसा गया क्योकि अन्तर्राष्ट्रीय तरलता मे भारी वृद्धि होती रही जबकि वास्तविकता यह थी कि तरलता की इस तरह से तीव्र वृद्धि मे कोष का योगदान नही था अपितु इसमे अमेरिका के भुगतान सन्तुलन मे निरन्तर बने रहने वाले घाटों की प्रमुख भूमिका थी।

(5) अन्तर्राष्ट्रीय तरलता पर अन्तर्राष्ट्रीय नियत्रण का अभाव ब्रेटनवुड्स व्यवस्था की सबसे बडी कमी थी। इस प्रणाली मे तरलता की वृद्धि के प्रावधान

का अभाव ही 1971 के बाद के वर्षों मे इसके ध्वस्त होने का प्रमुख कारण माना जा सकता है।

(6) ब्रेटनवुड्स व्यवस्था मे सदस्य राष्ट्रो के आकार मे असमानता तथा विशेषकर अमेरिका का प्रभुत्व सर्वाधिक गम्भीर विषमता थी। यह प्रभुत्व अमेरिकी डालर को हस्तक्षेप वाली मुद्रा (intervention currency) बनाकर, डालर के उद्देश्यपूर्ण अवमूल्यन (अथवा अधिमूल्यन) पर इसके प्रमुख मुद्रा (key currency) होने के कारण अनौपचारिक सीमा के कारण तथा इसके रिजर्व केरेंसी होने के कारण बना हुआ था। अतः डालर के कमजोर पड़ते ही पूरी ब्रेटनवुड्स व्यवस्था का ढह जाना सुनिश्चित सा ही था।

(7) अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक व्यवस्था मे हाल ही के सुधारो के सन्दर्भ मे कोष की एग्जिक्युटिव डिरेक्टर टाम द विरे (Tom de Vires) ने अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है :—

"निष्कर्ष यह है कि जमैका (Jamaica) समझौता मुख्यतः उसी स्थिति को वैधता प्रदान करता है जिसका व्यवहार मे उद्गम हुआ है। यह विनिमय दरो एवं स्वर्ण दोनो के ही सन्दर्भ मे सत्य है क्योंकि केन्द्रीय बैंकों ने स्वर्ण को ऋणो के लिए समपार्श्व (collateral) के रूप मे बाजार कीमतो के नजदीकी कीमतो पर प्रयोग मे लेना प्रारम्भ कर दिया था। अतः नये सुधारो के क्रियान्वयन से अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली मे कोई आधारभूत परिवर्तन नहीं आ पायेगा लेकिन वे भविष्य की निर्माणकारी क्रियाओ के लिए आधार अवश्य प्रदान करेंगे।"

विश्व बैंक व इससे सम्बद्ध संस्थाएँ*

(World Bank and Its Affiliates)

विश्व बैंक समूह में तीन निकट संस्थाएँ आती हैं : अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण तथा विकास बैंक - (विश्व बैंक), अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम तथा अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ।

ये संस्थाएँ राष्ट्रों के वे चुने हुए उपकरण हैं जो विश्व के निम्न आय वाले राष्ट्रों के विकास की वित्त व्यवस्था में योगदान देने हेतु विश्व स्तर पर कार्यरत हैं। बहुपक्षीय ऐजेन्सीज द्वारा दी जाने वाली आर्थिक सहायता में विश्व बैंक, विकास संघ तथा वित्त निगम द्वारा प्रदत्त सहायता काफी महत्वपूर्ण रही है।

अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण तथा विकास बैंक अथवा विश्व बैंक

(The International Bank for Reconstruction and Development or World Bank)

अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण तथा विकास बैंक (IBRD) को प्राय विश्व बैंक (World Bank) के नाम से जाना जाता है। विश्व बैंक व अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (IMF) की स्थापना सन् 1944 में ब्रेटनवुड्स सम्मेलन में की गई थी तथा बैंक ने अपना कार्य 25 जून 1946 से प्रारम्भ किया था।

विश्व बैंक के उद्देश्य

(Objectives of the World Bank)

विश्व बैंक के समझौते की धारा 1 के अनुसार इसके अग्रलिखित प्रमुख उद्देश्य हैं :—

* यह अध्याय लगभग पूर्णतया विश्व बैंक के 1986 तक के वार्षिक प्रतिवेदनों (Annual Reports) पर आधारित है।

1. युद्ध द्वारा ध्वस्त अर्थव्यवस्थाओं की पुन स्थापना तथा अर्द्ध विकसित राष्ट्रों के विकास के लिए उत्पादक कार्यों हेतु ऋण व सहायता प्रदान करना,
2. गारन्टी अथवा सहभागिता द्वारा वैयक्तिक विदेशी विनियोग म सवर्द्धन करना और अपने पूँजीगत स्रोतो तथा एकत्रित कोषों एव अन्य साधनो द्वारा वित्त व्यवस्था करके ऐसे विनियोग की अनुपूरकता करना,
3 दीर्घकालीन आर्थिक विनियोग को प्रोत्साहित कर सन्तुलित विश्व व्यापार को प्रोत्साहित करना एव भुगतान सतुलन म साम्य बनाये रखना,
4 अपने कार्यों का इस प्रकार सम्पादन करना कि युद्धग्रस्त अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के स्थान पर शान्तिकालीन अर्थव्यवस्था की स्थापना मे योगदान मिल सके।

सदस्यता

(Membership)

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के सभी सदस्य विश्व बैंक के सदस्य बन सकते हैं अत सन् 1944 मे जो राष्ट्र मुद्रा कोष के सदस्य थे वे बैंक के भी मूल सदस्य बन गये थे। लेकिन बाद मे प्रावधानो द्वारा अन्य राष्ट्रों को भी बैंक का सदस्य बनाया जाने लगा। यदि कोई राष्ट्र बैंक की सदस्यता त्यागना चाहता है तो वह बैंक को इस उद्देश्य का लिखित आवेदन कर सकता है। लेकिन यदि कोई राष्ट्र बैंक के दायित्वो को नही निभाता है तो बैंक उसकी सदस्यता समाप्त कर सकती है।

सितम्बर 1986 के अन्त तक बैंक के सदस्य देशो की कुल सख्या 150 हो चुकी थी।

बैंक की पूँजी

(Capital Reserves of the Bank)

प्रारम्भ मे विश्व बैंक की अधिकृत पूँजी 10 अरब अमेरिकी डालर थी जो एक लाख डालर के 1 लाख अंशो मे विभाजित थी। इस अधिकृत पूँजी म से बैंक को 9 4 अरब डालर की पूँजी 44 सदस्य राष्ट्रों से प्राप्त हुई थी अत' अशपत्र केवल मूल सदस्यो को ही प्राप्त हुए थे।

4 जनवरी 1980 को विश्व बैंक के बोर्ड आव गवर्नर्स न एक प्रस्ताव पारित कर विश्व बैंक की अधिकृत पूँजी के स्टॉक म 3,31,500 शेयरो की वृद्धि कर दी

थी। इसमे प्रदत्त अंश पूर्व मे विद्यमान पूँजी के स्टॉक का 7 5 प्रतिशत रखा गया था। अशदाता राष्ट्रो को इसका 0 75 प्रतिशत तो स्वर्ण अथवा अमेरिकी डालर मे तथा शेष 6 75 प्रतिशत अपनी घरेलू मुद्राओ के रूप मे प्रदान करना था। गवर्नर्स ने एक अन्य प्रस्ताव द्वारा अधिकृत पूँजी के स्टॉक मे 33,500 अतिरिक्त शेयरो की वृद्धि की। यह वृद्धि लगभग 4,000 मि डालर की थी। इस अतिरिक्त पूँजी मे से प्रत्येक सदस्य राष्ट्र को 250 शेयरो का अशदान करने का अधिकार दिया गया था। इन प्रस्तावो के फलस्वरूप 30 जून 1986 तक अशदानो म 29,414 मि. एस. डी. आर. की वृद्धि हुई थी।

अगस्त सन् 1984 मे बैक की पूँजी मे 8 400 मिलियन डालर के 70 हजार शेयरो की चयनात्मक पूँजी वृद्धि (Selective Capital Increase) की गई थी।

इस प्रकार 30 जून सन् 1986 को विश्व बैक की अधिकृत पूँजी का स्टॉक 78,650 मिलियन SDR था जिसमे स अभिदत्त पूँजी (Subscribed Capital) 65,836 मिलियन SDR के बराबर थी।[1] डालर के रूप मे 30 जून 1986 को विश्व बैक की अधिकृत पूँजी 77,526 मि अमेरिकी डालर थी।

बैक को प्रदत्त प्रत्येक राष्ट्र के अशदान को दो भागो म विभाजित किया जाता है —

(1) सदस्य राष्ट्र को अपन अशदान का 2 प्रतिशत तो स्वर्ण अथवा अमेरिकी डालर मे चुकाना होता है व 18 प्रतिशत अपनी घरेलू मुद्रा के रूप मे तथा

(2) शेष 80 प्रतिशत अशदान उस समय देना पडता है जब बैक को अपन दायित्वो को पूरा करने हेतु इसकी आवश्यकता हो।

विश्व बैंक का संगठन

(Organisation of the World Bank)

बैक के गवर्नर्स ने अपने अधिकार बैक के सामान्य सचालन हेतु कार्यकारी सचालन मण्डल (Board of Executive Directors) को सौप रखे है। इस बोर्ड क सचालक बैक के मुख्यालय पर पूर्णकालीन रूप से कार्यरत है। बैक के कुल कार्यकारी सचालको की सख्या 21 है। प्रत्येक कार्यकारी सचालक एक स्थानापन्न

1 The World Bank Annual Report 1986, p 78

सचालक (Alternate) का चयन करता है जो उसकी अनुपस्थिति मे मत दन के लिए अधिकृत होता है। इनमे से 5 सचालक सबसे अधिक पूँजी अशदान वाले पाँच राष्ट्रों द्वारा नियुक्त किये जाते हैं तथा शेष सचालक अन्य सदस्य राष्ट्रों के प्रतिनिधि गवर्नर्स द्वारा चुने जाते हैं। इस सचालक मण्डल का सभापति (President) विश्व बैंक का अध्यक्ष (Chairman) स्वय होता है। अत वर्तमान मे विश्व बैंक के अध्यक्ष बारबर बी० कोनाबल (Barber B Conable) कार्यकारी सचालक मण्डल के सभापति हैं।

कार्यकारी सचालकों का दोहरा दायित्व है, प्रथम तो यह कि वे अपने राष्ट्र अथवा राष्ट्रों के समूह के हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं तथा दूसरा यह कि वे बैंक की नीतियों का निरीक्षण करने हेतु गवर्नर्स द्वारा उन्हें सौंपे गये अधिकारों का उपयोग करते हैं। चूँकि बैंक का सचालन अधिकाशत सामान्य सहमति द्वारा होता है (औपचारिक मतदान विरले ही होता है) अत इस दोहरी भूमिका द्वारा सचालक, सम्बद्ध सरकारों से प्राय सचार व परामर्श करते रहते हैं ताकि बोर्ड के विचार विमर्शों म इन सरकारों के दृष्टिकोण का सही प्रतिबिम्ब प्रस्तुत किया जा सके।

कार्यकारी सचालक बैंक की धाराओं के ढाँचे के अन्तर्गत नीति निर्धारण का कार्य करते हैं। कार्यकारी सचालक अध्यक्ष द्वारा प्रस्तावित ऋण व साख प्रस्तावों पर विचार विमर्श कर निर्णय लेते हैं। गवर्नर मण्डल की वार्षिक बैठक मे आन्तरिक लेखा प्रशासनिक बजट, विश्व बैंक के सचालन व नीतियों पर वार्षिक प्रतिवेदन व अन्य विचारार्थ मुद्दों को प्रस्तुत करने का दायित्व कार्यकारी सचालकों का ही होता है। सचालक मण्डल के कोरम (Quorum) की पूर्ति हेतु 50 प्रतिशत से अधिक शक्ति वाले प्रतिनिधियों की उपस्थिति आवश्यक होती है। इसके अतिरिक्त बैंक के पास बहुत बड़ी कर्मचारीगणों की सख्या है, उदाहरणार्थ, 1986 के वर्ष म बैंक के उच्चस्तरीय कर्मचारियों की सख्या 3,617 थी।

विश्व बैंक के कार्यक्रम व उनकी प्रगति

(Bank Activities)

बैंक के विभिन्न कार्यक्रमों व उनकी प्रगति का विस्तृत विवेचन अग्रलिखित है —

बैंक की ऋण क्रियाएँ

(Bank's Lending operations)

विश्व बैंक सदस्य राष्ट्रों का पुनर्निर्माण व विकास हेतु ऋण प्रदान करता है।

बैंक ने कृषि व ग्रामीण विकास, विकास-वित्त, ऊर्जा, उद्योग आदि क्षेत्रों में विकास हेतु बड़ी मात्रा में ऋण प्रदान किये हैं।

1986 के वित्त वर्ष (जुलाई 1 से जून 20) में विश्व बैंक ने 41 राष्ट्रों को 131 ऋण प्रदान किये। इस वित्त वर्ष में बैंक ने कुल 13,179 मि डालर के ऋण पारित किये जो 1985 के वित्त वर्ष में पारित ऋण से 1,822 मि. डालर अर्थात् 16 प्रतिशत अधिक थे। इनमें से 8,263 मि. डालर ऋण वितरित किये गये जो 1985 के वर्ष से 382 मि. डालर कम थे। बैंक की स्थापना से लेकर जून 30, 1986 तक विश्व बैंक ने कुल 76,693 मि डालर के ऋण वितरित किये हैं।

1986 के वित्त वर्ष में भारत, ब्राजील व इण्डोनेशिया को विश्व बैंक से सर्वाधिक ऋण प्राप्त हुआ था। इस वर्ष में भारत को छः परियोजनाओं के लिए 1,743 मि. डालर, ब्राजील को 11 परियोजनाओं के लिए 1,620 मि. डालर तथा इन्डोनेशिया को भी 11 परियोजनाओं के लिए 1,132 मि. डालर के ऋण विश्व बैंक से प्राप्त हुए थे।

सन् 1982 से 1986 की अवधि में विश्व बैंक द्वारा प्रदत्त ऋणों का उद्देश्यानुसार बटवारा सारणी 18.1 में दर्शाया गया है।

सारणी 18 1 से स्पष्ट है कि विश्व बैंक ने सर्वाधिक ऋण सदस्य राष्ट्रों की अर्थव्यवस्था के मूल ढाँचे (Basic Infrastructure) को सुदृढ़ बनाने वाली परियोजनाओं के लिए प्रदान किये हैं। ऊर्जा (अर्थात् तेल, गैस, कोयला, शक्ति आदि), परिवहन व दूर सचार पर व्यय को राष्ट्र विशेष के मूलभूत ढाँचे को सुदृढ़ बनाने में सम्मिलित किया जा सकता है। अतः 1982-85 के वर्षों में इन मदों पर व्यय हेतु विश्व बैंक के ऋणों का 35 से 46 प्रतिशत तक प्रदान किया गया था। 1986 के वित्त वर्ष में ऊर्जा संकट की गम्भीरता कम होने के साथ इन मदों पर व्यय हेतु प्रदान विश्व बैंक ऋणों का प्रतिशत भी घटकर 29.7 रह गया था। हाल ही के वर्षों में विश्व बैंक के ऋणों में कृषि व ग्रामीण विकास हेतु प्रदत्त प्रतिशत में वृद्धि हुई है। इस मद हेतु विश्व बैंक द्वारा प्रदत्त ऋणों का लगभग 21 प्रतिशत से कुछ अधिक रहा था, लेकिन 1986 के वित्त वर्ष में यह प्रतिशत बढ़कर 28 5 हो गया था। अतः स्पष्ट है कि विश्व बैंक द्वारा प्रदत्त ऋणों में कृषि व ग्रामीण विकास को विशेष महत्त्व दिया जाने लगा है। अन्य ढाँचे (other infrastructure), (जिसमें शहरी विकास, जलपूर्ति मल व्यवस्था (Sewerage) आदि

शामिल हैं), के विकास हेतु प्रदत्त बैंक के ऋणों में वृद्धि होने के परिणामस्वरूप इनका प्रतिशत 1986 के वर्ष में कुल ऋणों के 11 तक पहुँच चुका था। गैर परियोजना ऋणों का प्रतिशत 1985 के वर्ष में घटकर 4.2 रह गया था लेकिन यह 1986 के वर्ष में पुनः बढ़कर 7.3 प्रतिशत हो गया था। ध्यान रहे गैर परियोजना व्यय में तकनीकी सहायता पर किया गया व्यय भी सम्मिलित है। हाल ही के वर्षों में विश्व बैंक ने मानव समाधन विकास हेतु भी ऋण प्रदान किये हैं। 1985 व 86 के वित्त वर्षों में मानव समाधन विकास हेतु प्रदत्त ऋणों का प्रतिशत 6 से कुछ कम रहा है।

सारणी 18.1 से यह भी स्पष्ट है कि विश्व बैंक द्वारा प्रदत्त ऋणों में निरन्तर वृद्धि हो रही है। 1986 के वित्त वर्ष में विश्व बैंक ने कुल 13,178.8 मि. डालर के ऋण प्रदान किये थे।

जहाँ तक बैंक ऋणों पर ब्याज दर का प्रश्न है, 1986 के वित्त वर्ष में बैंक के बकाया ऋणों पर औसत ब्याज की दर 8.5 प्रतिशत रही थी जिससे बैंक को 4,417 मि. डालर की आय हुई थी।

आर्थिक विकास संस्थान

(Economic Development Institute)

1986 का वित्त वर्ष विकास संस्थान की नई पंचवर्षीय योजना का द्वितीय वर्ष था। इस वर्ष में संस्थान ने विकासशील सदस्य राष्ट्रों के उच्चस्तरीय स्टाफ के लिए नीति अभिमुख (Policy-oriented) प्रशिक्षण कार्यक्रमों को आयोजित करने पर विशेष बल दिया था। बैंक ने नीति अभिमुख प्रशिक्षण सामग्री तैयार की, विकासशील राष्ट्रों में प्रशिक्षण संस्थाओं को प्रदत्त सहायता का विस्तार किया तथा प्रशिक्षण हेतु वित्तीय सहायता के स्रोतों से सहयोग किया।

विकास संस्थान ने 1986 के वित्त वर्ष में 105 पाठ्यक्रम व अध्ययन गोष्ठियों को प्रवर्तित किया जिनमें से 15 नीति निर्धारण हेतु वरिष्ठ नीति गोष्ठियाँ तथा 21 विकासशील राष्ट्रों की प्रशिक्षण संस्थाओं के वरिष्ठ स्टाफ के लिए गोष्ठियाँ थीं। ये प्रशिक्षण क्रियाएँ संस्थान की पंचवर्षीय योजना में प्रक्षिप्त (pojected) 83 क्रियाओं से तथा सन् 1985 की 83 प्रशिक्षण क्रियाओं से काफी अधिक थीं।

पूरे वर्ष में आयोजित 69 प्रत्यक्ष प्रशिक्षण गतिविधियों में से लगभग आधी समस्त अर्थव्यवस्था के प्रबन्ध अथवा विशिष्ट क्षेत्रों में सम्बद्ध थीं। शेष गतिविधियों

म में अधिकांश परियोजना विश्लेषण (Project analysis) तथा प्रबन्ध से सम्बद्ध थी। आर्थिक विकास संस्थान की पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत सर्वाधिक गरीब अथवा छोटे राष्ट्रों (जिनमें से बहुत से सब-सहारा अफ्रीका में हैं) पर विशेष ध्यान दिया गया था। विकास संस्थान के पाठ्यक्रमों व अध्ययन गोष्ठियों में उपस्थित कुल 3,300 भागीदारों में से लगभग 1600 सब-सहारा अफ्रीकी राष्ट्रों से थे।

1986 के वित्त वर्ष में संस्थान के प्रशिक्षण कार्यक्रमों में से 85 प्रतिशत से अधिक वाशिंगटन से बाहर आयोजित किये गये जो कि EDI का पूरे विश्व की विस्तृत विस्तार सीमा वाली संस्थानों से सम्पर्क का द्योतक है। विकासशील राष्ट्रों की करीब 80 प्रशिक्षण संस्थाओं से EDI का गहरा सम्पर्क है। क्षेत्रीय व राष्ट्रीय प्रशिक्षण संस्थाओं व सहयोग से सम्पन्न पाठ्यक्रमों व अध्ययन गोष्ठियों के अतिरिक्त EDI ने लगभग 42 संस्थानों को उनके पाठ्यक्रमों के आयोजन व इनके संपादन (delivery) हेतु सहयोग (support) दिया अथवा उनके प्रशिक्षण कार्यक्रमों को विकसित करने में, पाठ्यक्रम तैयार करने में वित्तीय नियोजन व प्रबन्ध अथवा स्थानीय अनुभव पर आधारित प्रशिक्षण सामग्री की तैयारी में सलाह प्रदान की।

वरिष्ठ नीति अध्ययन गोष्ठियों का कार्यक्रम EDI की पंचवर्षीय योजना में विचारी गई रूपरेखा के अनुरूप क्रियान्वित किया जा रहा है। 1986 के वित्त वर्ष में सम्पन्न 15 अध्ययन गोष्ठियों में से 10 सब-सहारा अफ्रीकन राष्ट्रों, 3 लेटिन अमेरिकी राष्ट्रों व एक एशिया व एक मध्यपूर्व तथा उत्तरी अफ्रीका के राष्ट्रों के लिए थी। अधिकांश अध्ययन गोष्ठियाँ में कृषि पदार्थों की कीमतें, शिक्षा की वित्त व्यवस्था, जनसंख्या नीति व परिवहन सुविधाओं के कुशल उपयोग जैसे क्षेत्रीय मुद्दों (Sectoral Issues) पर अध्ययन केन्द्रित किये गये थे। उन अध्ययन गोष्ठियों में सामान्य तथा राष्ट्रीय आर्थिक मंत्रालयों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया तथा समष्टि अर्थशास्त्र से सम्बद्ध विषयों में तो इन मंत्रालयों का भारी प्रतिनिधित्व रहा है। इनमें अधिकांश प्रतिनिधि मन्त्रालय, स्थाई सचिव अथवा उप-स्थायी सचिव के स्तर के थे।

1986 के वित्त वर्ष में EDI के प्रशिक्षार्थियों के लिए अध्ययन गोष्ठियों का भौगोलिक क्षेत्र काफी विस्तृत कर दिया गया था। EDI की पंचवर्षीय योजना की एक विशेषता यह रही है कि इसने प्रशिक्षण सामग्री काफी विस्तृत स्तर पर तैयार की है। EDI की 'परियोजनाओं से सम्बद्ध' सामग्री पूरे विश्व में प्रसिद्ध हुई है तथा

इनका विस्तृत रूप मे उपयोग भी किया जाता रहा है। लेकिन नीति सम्बन्धी प्रशिक्षण को विशेष महत्त्व देने के अनुरूप EDI द्वारा तैयार विषय सामग्री पर कुल व्यय का लगभग आधा नीति अभिमुख सामग्री तैयार करने पर व्यय किया जाता है। पिछले दो वर्षों में EDI के कुल व्यय का 14 प्रतिशत प्रशिक्षण सामग्री तैयार करने पर व्यय किया गया था। 1985 के वित्त वर्ष मे पूर्ण रूप से तैयार सामग्री लक्ष्य से कहीं अधिक थी तथा 1986 म भी उतना ही विषय सामग्री तैयार की गई। 1985 मे तैयार सामग्री मे समष्टि अर्थशास्त्र व क्षेत्रीय प्रबन्ध मुद्दों पर अधिक बल दिया गया था।

1983 के मध्य मे EDI ने एक मूल्यांकन समिति (Evaluation Committee) सृजित की जिसे EDI के कार्यक्रमों का मूल्यांकन करने, नीतियाँ व प्रक्रिया निर्धारित करने एव उन्ह कार्यान्वित करने का कार्य सौंपा गया था। समिति ने EDI क मूल्यांकन तकनीकों की समीक्षा की है तथा इनकी अनुप्रयुक्ति को विस्तृत व मजबूत बनाया है।

आर्थिक अनुसंधान व अध्ययन

(Economic Research & Studies)

परियोजनाओं व कार्यक्रमों को प्रोत्साहित करने हेतु बैंक का कार्य फलीभूत होना रहा है तथा इस कार्यक्रम को स्वय को आर्थिक व सामाजिक अनुसधान क विशाल कार्यक्रम से बढावा मिला है।

1986 के वित्त वर्ष मे बैंक ने आर्थिक व सामाजिक अनुसधान पर लगभग 24 मि डालर व्यय किया जिसमे से 4 4 मि डालर परामर्शदाताओं, यात्राओं, आँकड़ों के ससाधन (Data Processing) एव अनुसधान सहायता पर व्यय किया गया था तथा शेष व्यय स्टाफ के भुगतान पर किया गया।

बैंक का अनुसधान कार्यक्रम तीन श्रेणियों मे विभाजित किया जा सकता है (a) व विशिष्ट तुलनात्मक अध्ययन जो अनुसधान नीति परिषद (Research Policy Council) के तत्त्वावधान मे आते है (b) व अनुसधान परियोजनाएँ जो प्रमुखतया अनुसधान परियोजना अनुमोदन समिति (Research Project Approval Committee or REPAC) द्वारा अनुमोदित किय जाते हैं, तथा (c) वे परियोजनायें जो बैंक विभागों की अगुआई मे उनके स्वय के साधनों द्वारा प्रारम्भ की जाती हैं। अपनी ऋण प्रदान करने से सम्बद्ध क्रियाओं को प्रोत्साहित करने हेतु बैंक द्वारा तैयार

विश्लेषणात्मक कार्यों का ½ भाग अनुसंधान पर व्यय होता है। दो अन्य प्रमुख विश्लेषणात्मक कार्यों में नीति विश्लेषण व 'राष्ट्र व आर्थिक व क्षत्रीय कार्य' (Country economic and Sector Work) आते हैं।

बैंक के अनुसंधान कार्यक्रम का मार्गदर्शन चार मूलभूत उद्देश्यों द्वारा होता है (1) बैंक की क्रियाओं के समस्त पहलुओं को प्रोत्साहन देना, (2) विकास प्रक्रिया के ज्ञान का विस्तार करना, (3) सदस्य राष्ट्रों को सलाह प्रदान करने की बैंक की क्षमता में सुधार करना, तथा (4) सदस्य राष्ट्रों में देशी अनुसंधान क्षमता विकसित करने में सहयोग करना।

यह अनुसंधान अनुसंधान नीति परिषद् (Research Policy Council) की 1984 की सिफारिशों के अनुरूप भी विकसित हुई है जिसमें नीति-अभिमुख अनुसंधान पर विशेष बल दिया गया था। इन सिफारिशों के अनुरूप बैंक का अनुसंधान कार्यक्रम प्राथमिकता वाले पांच मुख्य क्षेत्रों की ओर विवर्त हुआ है। ये क्षेत्र हैं सरकारी हस्तक्षेप की लागत व लाभ संस्थाओं व प्रेरणाओं (incentives) के मध्य पारस्परिक प्रभाव (interplay), अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक वातावरण अन्तर्कालीन नीतियों का दीर्घकालीन विकास से सम्बन्ध एवं आर्थिक नियोजन में संस्थागत विकास की भूमिका।

कृषि अनुसंधान में सहयोग

(Cooperation in Agricultural Research)

अन्तर्राष्ट्रीय कृषि अनुसंधान सलाहकार दल (Consultative Group on International Agricultural Research or CGIAR) एक सार्वजनिक व निजी क्षेत्र के दाताओं (donors) का संगठन है जो विश्वभर में 13 अन्तर्राष्ट्रीय कृषि अनुसंधान केन्द्रों की वित्त-व्यवस्था करते हैं। विश्व बैंक, खाद्यान्न व कृषि संगठन (FAO) व संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम (UNDP) द्वारा संयुक्त रूप से प्रवर्तित 'कगिआर' (CGIAR) की स्थापना सन् 1971 में विकासशील राष्ट्रों में खाद्यान्न उत्पादन में वृद्धि के उद्देश्य से उपयोगी अनुसंधान का समन्वय करने एवं इसे आगे बढ़ाने हेतु की गई थी। 'कगिआर' ने एक छोटी सी शुरूआत से बड़े उपक्रम का रूप धारण कर लिया है। पन्द्रह वर्ष पूर्व 'कगिआर' की स्थापना से अब तक इसके दाता राष्ट्रों की संख्या 25 हो चुकी है। इसके अलावा एक दर्जन से भी अधिक संस्थाएँ व

दर ऋण व्यवस्था (Pool based Variable rate lending System) के अनुरूप ऋण पर ब्याज दर का वर्ष म दो बार समायोजन करके विश्व बैंक की ऋण लागत स 0 5 प्रतिशत अधिक दर निर्धारित करन की विधि स इस सन्दर्भ मे विशष शिकायत नही रह गई है।

(2) दूसरी आलोचना यह की जाती है कि विश्व बैंक द्वारा प्रदत्त ऋण विकासशील राष्ट्रो के लिय पूर्णतया अपर्याप्त है। लकिन इस सन्दर्भ म यह उल्लखनीय है कि बैंक की नीतियो म एसा कोई तत्व नही है जिसे हम अपर्याप्त ऋण प्रदान करने के लिय उत्तरदायी ठहरा सकें।

(3) बैंक की ऋण प्रदान करन की प्रक्रिया भी काफी विभेदात्मक व जटिल है। बैंक ऋण स्वीकृत करन स पूव ही राष्ट्र का पुनर्भुगतान क्षमता पर बल देता है, अत विकासशील राष्ट कई बार ऋण प्राप्त करने से वचित रह जाते है।

(4) इसके अतिरिक्त विश्व बैंक के ऋण विशिष्ट परियोजनाओ के लिए हा प्रदान किये जान के कारण ऋण प्राप्तकर्ता राष्ट्र स्वनिणय से ऋण का उपयाग नही कर पात हैं। इसक अलावा ऋण प्रदान करन मे अनेक औपचारिकताओ क कारण कई बार ऋणा की स्वीकृति म विलम्ब हो जाता है।

(5) सामा यतया यह भी आराप लगाया जाता है कि बैंक की ऋण क्रियाएँ अमेरिका जैसे प्रभावशाली राष्ट्रो द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से नियत्रित की जाती हैं अत अमेरिका का राजनैतिक विरोध करने वाले राष्ट्रो को विश्व बैंक से पर्याप्त सहायता प्रदान करन मे कठिनाई होती है। इस आलोचना म कुछ वजन अवश्य है।

अन्त म हम यह सकते हैं कि उपयुक्त आलोचनाओ के बावजूद विकासशील राष्ट्रो के आर्थिक विकास मे विश्व बैंक की महत्वपूण भूमिका रही है तथा विश्व बैंक के योगदान के परिणामस्वरूप ही अद्ध विकसित राष्ट विकास ऋणा को आदर की दृष्टि स देखने लग है।

अन्तर्राष्ट्रीय विकास सघ

(International Development Association)

स्थापना व उद्देश्य (Establishment and objects of IDA) – विश्व बैंक के लिये अपनी धाराओ म भारी परिवर्तन किय बिना अपन ऋणो को अधिक

उदार बनाना सम्भव नहीं था। अत एक ऐसी संस्था स्थापित करने की आवश्यकता महसूस की गयी जो विकासशील राष्ट्रों को आसान शर्तों पर ऋण प्रदान कर सके।

इसी उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए सन् 1960 में अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ की स्थापना की गयी थी।

विकास संघ की स्थापना का मुख्य उद्देश्य विकासशील राष्ट्रों को आसान शर्तों पर दीर्घकालीन ऋण प्रदान करना है। इन ऋणों पर ब्याज की दर नगण्य होती है। विकास संघ द्वारा प्रदत्त ऋणों की अवधि 50 वर्ष होती है तथा ऋण की प्रथम किस्त का भुगतान ऋण लेने के 10 वर्ष बाद प्रारम्भ होता है। विकास संघ अपने ऋणों पर ब्याज न लेकर प्रशासनिक व्यय पूरा करने के दृष्टिकोण से ¾ प्रतिशत सेवा शुल्क ही लेता है। इसके अतिरिक्त संघ से ऋण प्राप्त करने हेतु सरकारी जमानत की भी आवश्यकता नहीं होती है। संघ के ऋणों का भुगतान ऋणी देश अपनी मुद्रा में कर सकता है अत ऋणी राष्ट्र दुर्लभ विदेशी विनिमय की चिन्ता से भी मुक्त हो जाते है। विकास संघ द्वारा प्रदत्त साख के लिए अधिकांश कोष सरकारों से प्राप्त हुवे है। प्रशासकीय दृष्टिकोण से विश्व बैंक व अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ के कार्यकारी संचालक, अधिकारी व स्टाफ सदस्य एक (same) ही हैं। अत हम कह सकते हैं कि परिचालन के दृष्टिकोण से बैंक व विकास संघ एक ही संगठन है।

अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ की स्थापना अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के इतिहास में तीन दृष्टिकोणों से एक महत्वपूर्ण युगान्तकारी घटना थी। प्रथम, इससे विश्व व्यापार व भुगतान की बहु-पक्षीय प्रणाली की स्थापना के प्रयत्नों को बल मिला, द्वितीय, इससे विश्व के सर्वाधिक धनाढ्य राष्ट्रों के लिए गरीबी औपचारिक रूप से *प्रमुख चिन्ता का मामला बना तथा तृतीय इसकी स्थापना से रियायती वित्तव्यवस्था* का संस्थानिकरण (Institutionalization) हो पाया।

अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ की वित्त व्यवस्था व सहायता आवंटन

(Financing and Allocation of Funds)

विकास संघ ने 1 बि डालर से कम कोषों से अपना कार्य प्रारम्भ किया था। *तत्पश्चात् सन् 1965 से अब तक इसके संसाधनों का सात बार आपूरण (Reple-*nishment) किया जा चुका है। जून 1986 के अन्त तक विकास संघ के संसाधन लगभग 39 बि डालर हो चुके थे।

विकास सघ का आपूरण कार्यक्रम कठिनाईयो से परिपूर्ण रहा है। इसके ससाधन आपूरण के भार को बांटने की समस्या तथा अमेरिका द्वार भुगतानो मे विलम्ब से सघ के आपूरण कार्यक्रमों मे कठिनाईयाँ आयी हैं। इस अवधि मे विकास सघ के *सबसे बडे मूल अंशदाता सयुक्त राज्य अमेरिका व इग्लैण्ड के अंशदान का हिस्सा* निरन्तर गिरता गया है जबकि अन्य राष्ट्रो ने यह भार वहन करना प्रारम्भ किया है। लेकिन फिर भी अन्तर्राष्ट्रीय विकास सघ द्रुतगति से प्रगति के पथ पर अग्रसर है।

वर्तमान मे *कुल छूट सहायता के प्रवाह मे अन्तर्राष्ट्रीय विकास सघ प्रमुख* भूमिका निभा रहा है।

1960 से 1980 की बीस वर्ष की अवधि मे आधिकारिक विकास सहायता दुगुनी से अधिक तथा बहुपक्षीय माध्यमो से प्रवाहित होने वाली सहायता 13 प्रतिशत से बढकर 28 प्रतिशत हो गई थी। 1980 के वर्ष मे अन्तर्राष्ट्रीय विकास *सघ का कुल सहायता मे 9 प्रतिशत तथा बहुपक्षीय सहायता मे 30 प्रतिशत योगदान* रहा था।

अन्तर्राष्ट्रीय विकास सघ ने प्रारम्भ के 20 वर्षों मे अर्थात् 1960 से 80 की अवधि म लगभग 1300 परियोजनाओ की वित्त व्यवस्था करने हेतु 78 राष्ट्रो को 27 वि. डालर की *सहायता प्रदान की थी। 1986 के वित्त वर्ष मे विकास सघ ने* 97 परियोजनाओ के लिये 37 राष्ट्रो को 3,140 मि. डालर की सहायता प्रदान की है। ध्यान रहे, विकास सघ द्वारा प्रदत्त ऋण विश्व बैंक के 13,179 मि डालर के ऋण से काफी कम है।

विकास संघ द्वारा प्रदत्त सहायता व परियोजनाएँ

(IDA Projects)

विकास सघ की परियोजनाएँ कार्यक्षेत्र, ढांचे व क्रियान्वयन के दृष्टिकोण से बैंक *योजनाओ के समरूप ही हैं। लेकिन विकास सघ के सदस्य राष्ट्रो के आर्थिक पिछडा*-पन के कारण विकास सघ ने कृषि व ग्रामीण विकास हेतु अधिक सहायता प्रदान की है। विकास सघ बैंक की तुलना मे परियोजना की लागत के अधिक अश के लिये सहायता प्रदान करता है तथा यह अश गरीब राष्ट्रो मे सर्वाधिक रहा है। विकास सघ की परियोजनाओ *की लागत के शेष हिस्से (करीब 56 प्रतिशत) की वित्तव्यवस्था* आशिक रूप से तो सहायता प्राप्तकर्ता राष्ट्रो द्वारा तथा आशिक रूप से दाताओं द्वारा

सारणी—18 2

1982 86 की अवधि में अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ द्वारा प्रदत्त ऋणों का उद्देश्यानुसार वितरण (प्रतिशत)*

	उद्देश्य	1982	1983	1984	1985	1986
1	कृषि व ग्रामीण विकास	33 4	39 3	39 2	44 9	32 3
2	मूलभूत ढाँचा (Bas c Infra structure)	38 5	26 5	23 9	18 1	20 7
	(अ) ऊर्जा	27 7	9 3	14 0	7 1	12 1
	(ब) परिवहन	8 7	15 5	9 9	9 0	7 8
	(स) दूरसंचार	2 1	1 7	—	2 0	0 8
3	उद्योग[1]	9 0	4 2	9 ›	2 5	6 3
4	अन्य ढाँचा (Other infrastructure)	3 4	12 2	4 0	11 1	8 6
	(अ) जलपूर्ति व मलव्यवस्था	1 5	5 4	2 5	5 2	3 1
	(ब) शहरी विकास	1 9	6 8	1 5	5 9	5 5
5	मानव संसाधन विकास	4 5	9 2	10 6	14 6	16 1
	(अ) शिक्षा	3 6	7 5	5 7	13 6	8 0
	(ब) जनसंख्या स्वास्थ्य व पोषाहार	0 9	1 7	4 9	1 0	8 1
6	गैर परियोजना ऋण[2]	10 1	8 6	13 2	8 6	15 9
	योग[3]	100	100	100	100	100
	अमरिका मि डालर म	2 686 3	3,340 7	3 575 0	3 028 1	3139 9

1 इसमें विकास वित्त कम्पनियाँ उद्योग छोटे पैमाने के उपक्रम व पर्यटन सम्मिलित हैं।

2 इसमें तकनीकी सहायता भी सम्मिलित है।

3 विस्तृत वितरण योग से भिन्न पूर्णांकीकरण (Rounding) के कारण है।

* *Source World Bank, Annual Reports*

की जाती है। विकास संघ द्वारा 1982 से 86 के वर्षों में प्रदत्त सहायता का क्षेत्रानुसार बटवारा सारणी 18.2 में दर्शाया गया है।

सारणी 18.2 से स्पष्ट है कि विकास संघ द्वारा कृषि व ग्रामीण विकास के लिये प्रदत्त सहायता के प्रतिशत में काफी वृद्धि हुई है। यह प्रतिशत 1982 के वर्ष में 33.4 था जो कि 1985 में बढ़कर 44.9 में अधिक हो गया लेकिन 1986 के वित्त वर्ष में इस प्रतिशत में पुनः गिरावट होने से यह 32.3 रह गया था। *विकास संघ की स्थापना के समय बेसिक सुदृढ़ ढाँचे (Basic Infrastructure)* वाली परियोजनाओं जैसे परिवहन, ऊर्जा, बन्दरगाह आदि, पर ध्यान केन्द्रित किया था। लेकिन 1960 के दशक में विकास चिन्तन विकसित होने के साथ-साथ यह महसूस किया जाने लगा कि बहुत से विकासशील राष्ट्रों में कृषि क्षेत्र की अवहेलना किये जाने के परिणामस्वरूप खाद्यान्नों की कमी व इनके लिये आयातों पर निर्भरता बढ़ती जा रही है। अतः 1960 के दशक के अन्तिम वर्षों से विकास संघ कृषि क्षेत्र के लिए अधिक सहायता प्रदान कर रहा है। 1973 के वर्ष में रोजगार व आय के वितरण की चिन्ता बढ़ने के कारण बैंक व विकास संघ ने ग्रामीण विकास के लिये अधिक सहायता व ऋण प्रदान किये। *ऐसी परियोजनाओं की संख्या में निरन्तर वृद्धि हो रही है जिनसे छोटे किसान जुड़े हुए हैं।*

विकास संघ को अनेक सफलतायें प्राप्त हुई हैं। उदाहरणार्थ विकास संघ की *सहायता से दक्षिणी-एशिया के राष्ट्रों को 'हरित क्रान्ति' के विस्तार वाली तकनीकी* के विकास से कृषि उत्पादन में वृद्धि हुई है। इन प्रयत्नों के परिणामस्वरूप भारतवर्ष ने लम्बी अवधि के पश्चात् खाद्यान्नों के उत्पादन में आत्मनिर्भरता प्राप्त की है। सिंचाई सुविधाओं व कृषि मार्ग की विस्तृत व्यवस्था में विकास संघ का विशेष योगदान रहा है। हाल ही के वर्षों में विशाल सिंचाई परियोजनाओं के स्थान पर ऐसी परियोजनाओं को प्राथमिकता दी जा रही है जिनसे वितरण सुविधाओं में सुधार *हो तथा निजी मालिकों के कुओं का विकास एवं खेतों के अन्दर जल प्रबन्ध उत्तम हो* सके। इसके अतिरिक्त मालावी व कीनिया के कृषि विकास में भी विकास संघ की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है।

अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ ने शहरी गरीबी व रोजगार के कार्यक्रमों के लिए भी सहायता प्रदान की है। शहरों में आश्रय (shelter) की समस्या का गरीबों की सामर्थ्य के अनुरूप हल खोजने में विकास संघ ने पथ प्रदर्शक कार्यक्रम अपनाये हैं।

औद्योगिक ऋणों मे छोटे व मध्यम आकार की फर्मों को प्राथमिकता प्रदान कर रोजगार बढाने के प्रयास किये गये हैं। जलपूर्ति परियोजनाओं मे अधिकाधिक सरल प्रणालियो को अपनाने पर बल दिया गया है। 1982-86 के वित्त वर्षों मे उद्योगो को प्रदत्त सहायता म कुल सहायता के प्रतिशत के रूप म उतार-चढाव होते रहे हैं। 1984 के वित्त वर्ष मे यह प्रतिशत अधिकतम 9 2 था जो कि 1986 के वर्ष म 6.3 रह गया था ।

अन्य ढांच (Other Infrastructure को (जिसम जलपूर्ति व मल-व्यवस्था तथा शहरी विकास सम्मिलित है) 1983 व 1985 के वित्त वर्षों म कुल सहायता का लगभग 12 प्रतिशत प्रदान किया गया था। मानव ससाधना के विकास के लिए दी गई सहायता मे विशेष वृद्धि हुई है। इस मद के लिए दी गई सहायता 1982 के वित्त वर्ष म कुल सहायता के 4 5 प्रतिशत से बढकर 1986 के वर्ष म 16 1 प्रतिशत हो गई थी। इस मद म शिक्षा व स्वास्थ्य स सम्बद्ध कार्यक्रम शामिल है। हाल ही के वर्षों मे विकास सघ ने सेकेण्डरी व उच्च स्तर शिक्षा के स्थान पर प्राथमिक शिक्षा एव व्यावसायिक व तकनीकी शिक्षा के लिए अधिक सहायता प्रदान की है। विकास सघ के गैर-परियोजना सहायता के प्रतिशत मे भी वृद्धि हुई है। इस मद मे एक छोटा अश तकनीकी सहायता के रूप म भी सम्मिलित है।

विकास संघ द्वारा प्रदत्त सहायता की सार्थकता

(Effectiveness of the IDA Lendings)

विकास सघ जैसी वित व्यवस्था करने वाली सस्था के कार्यक्रमो की सार्थकता (Effectiveness) मापने की एक विधि इसके विनियोगो पर प्रतिफल की दरो का मूल्याकन करना हो सकती है। विकास सघ की परियोजनाओं की क्षेत्रानुसार प्रतिफल की दर सारणी 18 3 मे दर्शायी गयी है। सारणी से स्पष्ट है कि कुल मिलाकर विकास सघ द्वारा वित्त व्यवस्था मे सहायता प्राप्त करने वाली परियोजनाओं पर प्रतिफल की दर लगभग 18 प्रतिशत रही है जो कि विश्व बैंक की परियोजनाओं पर प्रतिफल की दर के बराबर है। सारणी 18 3 से यह भी स्पष्ट है कि क्षेत्रानुसार प्रतिफल की दर मे भारी भिन्नताएँ विद्यमान हैं। उदाहरणार्थ, पूर्वी अफ्रीका के देशो मे यह प्रतिफल की दर 13.2 प्रतिशत रही है जबकि दक्षिणी एशिया के देशो मे यह 22 5 प्रतिशत थी। यद्यपि ये प्रतिफल की दरें विकास सघ द्वारा पूर्ण ऐसी लगभग 183 परियोजनाओं के लिये है जिनके लिये इन दरो की गणना की

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम के कोष सदस्य राष्ट्रों की सरकारों से प्राप्त होते हैं, लेकिन हाल ही मे विश्व बैंक ने भी इसके कोष मे योगदान दिया है। जहाँ तक अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम के प्रशासन का प्रश्न है, इसके कुछ अधिकारी विश्व बैंक वाले अधिकारी ही होते हैं, लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय विकास सघ के विपरीत वित्त निगम का पृथक प्रशासनिक ढाँचा है। फिर भी वित्त निगम विश्व बैंक समूह का अभिन्न अग है जो बैंक से ऋण प्राप्त करता है, बैंक के लिए सेवायें निष्पादित करता है तथा कई वित्तीय क्रियाओं मे बैंक का सहयोगी बना रहता है।

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम की भूमिका

(Role of IFC)

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम को इक्विटि निवेश करने तथा सरकारी जमानत के *बिना ऋण प्रदान करने का अधिकार है। अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम की भूमिका* निजी व मिश्रित (निजी-सार्वजनिक) उत्पादक उपक्रमों को निजी पूँजी प्रदान करने की है न कि इन उपक्रमों को प्रतिस्थापित करने की। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम उद्यमकर्ताओं, विनियोग पूँजी व उत्पादन को एक साथ जुटाने मे उत्प्रेरक (catalyst) की भूमिका निभाता है।

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम को वाणिज्य वित्तीय सस्थाओं से भिन्न करने वाली *एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि वित्त निगम परियोजना प्रवर्तकों (sponsors) को* परियोजनाओं की भावी उत्पादकता व वित्तीय सुस्थिति के बारे मे तकनीकी सलाह प्रदान करने के लिए वचनबद्ध है।

इसके अतिरिक्त निगम सदस्य सरकारों को उन राष्ट्रों मे घरेलू व विदेशी निवेश के लिये उपयुक्त वातावरण विकसित करने के प्रयासों के लिये नीति सम्बन्धी सहायता *भी प्रदान करता है। निगम इक्विटि निवेश भी करता है तथा बिना सरकारी गारन्टी* के ऋण भी प्रदान करता है। निगम का विशिष्ट विभाग वित्तीय बाजारों के प्राथमिक विकास मे योगदान को ध्यान मे रखते हुए निगम व विश्व बैंक की पूँजी बाजार विकास क्रियाओं का केन्द्र बिन्दु है। यह विभाग वित्तीय बाजारों की आवश्यकताओं एव विकासशील राष्ट्रों की समस्याओं हेतु विशिष्ट ससाधन प्रदान करता है।

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम की पूंजी में वृद्धि व निगम की प्रगति

(Increase in the Corporation's Capital and its Progress)

26 दिसम्बर 1985 को बोर्ड ऑव गवर्नरस् (Board of Governors) ने संचालक मण्डल (Board of Directors) के उस प्रस्ताव को अनुमोदित कर दिया था जिसके तहत निगम के पूंजी स्टॉक को बढ़ाकर 1 3 बि डालर तथा नये अशो मे 650 मि डालर के विनियोग करने का प्रावधान था। 1 अगस्त 1986 तक निगम को अतिरिक्त अशो (shares) के लिए अशदान (subscription) तथा भुगतान के रूप मे 130 मि डालर (कुल का पाँचवा हिस्सा) प्राप्त होना था। पूंजी की इस वृद्धि से निगम को 1985 के वित्त वर्ष से प्रारम्भ हुए द्वितीय पचवर्षीय कार्यक्रम (Second Five-year Programme) को क्रियान्वित करने हेतु पूंजी-आधार प्रदान होगा। इस कार्यक्रम मे निगम की क्रियाओ (operations) व विशुद्ध निवेश मे 7 प्रतिशत वार्षिक वृद्धि को पूरी पचवर्षीय अवधि मे बनाये रखा जाएगा। इस कार्यक्रम मे सब-सहारा अफ्रीका के राष्ट्रो, वित्तीय बाजारो व सस्थाओ, सामूहिक पुनःसरचना (*Corporate Restructuring*) एव ऊर्जा अन्वेषण के क्षेत्रो मे क्रियाओ पर विशेष बल दिया जायेगा।

1986 के वित्त वर्ष मे बोर्ड ऑव डिरेक्टर्स ने कुल 85 परियोजनाओ का अनुमोदन किया था जबकि 1985 के वर्ष मे इन परियोजनाओ की सख्या 75 थी। इसी प्रकार 1986 के वित्त वर्ष मे बोर्ड ने 710 मि डालर विशुद्ध विनियोग राशि का अनुमोदन किया था जो कि 1985 के वर्ष मे अनुमोदित राशि से 17 प्रतिशत अधिक थी। सहभागिता सहित वित्त निगम का कुल विनियोग 1156 मि डालर था जबकि यह राशि 1985 के वर्ष मे 977 मि डालर ही थी।

• वित्त निगम के 1986 वित्त वर्ष के प्रतिवेदन से ज्ञात होता है कि निगम ने निर्धन राष्ट्रो मे विनियोग पर विशेष ध्यान दिया है। 1986 के वित्त वर्ष मे कुल 1156 मि डालर के अनुमोदित विनियोग मे से 295 मि डालर की 33 परियोजनाएँ ऐसे राष्ट्रो मे स्थित थी जिनकी प्रतिव्यक्ति आय 800 डालर से कम थी। ये परियोजनाएँ अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम द्वारा अनुमोदित परियोजनाओ का 39 प्रतिशत थी तथा इनमे वित्त निगम द्वारा अनुमोदित विनियोग का 25 प्रतिशत विनियोजित हुआ था।

भारत व विश्व बैंक समूह

(India and the World Bank Group)

भारत विश्व बैंक व इससे सम्बद्ध संस्थाओं के संस्थापक सदस्यों में से एक है। भारत को विश्व बैंक ने न केवल आर्थिक सहायता उपलब्ध कराई है अपितु समय-समय पर महत्त्वपूर्ण आर्थिक परामर्श भी प्रदान किया है। बैंक ने समय-समय पर अनेक दल भेजकर राष्ट्र के विकास कार्यक्रमों का अध्ययन किया है। बैंक ने नई दिल्ली में एक स्थानीय प्रतिनिधि (Resident Representative) की नियुक्ति की है जो भारत सरकार के सम्पर्क में रहकर राष्ट्र की विकास योजनाओं व परियोजनाओं की जानकारी प्राप्त करता है। भारत व पाकिस्तान के मध्य नहरी जल के विवाद के हल में विश्व बैंक की मध्यस्थ की भूमिका बहुत ही महत्त्वपूर्ण रही थी जिसके परिणामस्वरूप सन् 1960 में यह विवाद निपट सका था। भारत वर्ष की सहायता हेतु बैंक ने Aid India Club' नामक सहायता संघ बनाया है जिसने तृतीय पंचवर्षीय योजना काल से अब तक भारत को काफी वित्तीय सहायता प्रदान की है।

विश्व बैंक व अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ (IDA) द्वारा भारत को स्वीकृत ऋण सारणी 18.4 में दर्शाया गया है।

सारणी-18.4

विश्व बैंक व विकास संघ द्वारा भारत को प्रदत्त ऋण (मि० डालर में)

	30 जून 1986 तक स्वीकृत ऋण			1986 के वित्त वर्ष में स्वीकृत ऋण		
	कुल ऋण	कुल में भारत का अंश		कुल ऋण	कुल में भारत का अंश	
		भारत को स्वीकृत ऋण	प्रतिशत		भारत को स्वीकृत ऋण	प्रतिशत
विश्व बैंक	126,098.6	10,691 9	8.5	13,178 8	1743.2	13 2
अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ	39,822 0	13,828.2	34.7	3,139.9	625.1	19.9
योग	165,920.6	24520.1	14.8	16,318 8	2368.3	14.5

सारणी 18.4 से स्पष्ट है कि विश्व बैंक ने 30 जून 1986 तक कुल 126098 6 मि. डालर के ऋण स्वीकृत किय थे जिनमे भारत का अश 10691.9 मि. डालर था जो कि कुल का लगभग 8 5 प्रतिशत था। 1986 के वित्त वर्ष मे विश्व बैंक द्वारा कुल स्वीकृत 13178 8 मि डालर ने ऋण म स भारतवर्ष को 1743 मि डालर ऋण स्वीकृत किया गया था जो कि कुल स्वीकृत ऋण का 13 2 प्रतिशत था।

जहाँ तक विकास सघ द्वारा भारत को स्वीकृत ऋणो का प्रश्न है 30 जून 1986 तक सघ ने कुल 39,822 मि डालर के ऋण स्वीकृत किय थ जिनम से भारत का अश 13,828.2 मि डालर था जो कि कुल का 34 7 प्रतिशत था। 1986 के वित्त वर्ष म विकास सघ द्वारा स्वीकृत कुल 3139 9 मि डालर के ऋण मे से भारत सघ को लगभग 625 मि. डालर ऋण स्वीकृत किया गया था जो कि कुल का लगभग 20 प्रतिशत था।

अत स्पष्ट है कि 30 जून 1986 तक विकास सघ ने अपने कुल स्वीकृत ऋणो मे स भारत को 34.7 प्रतिशत ऋण स्वीकृत किये जबकि विश्व बैंक के ऋणो मे यह प्रतिशत लगभग 8 5 ही था।

विश्व बैंक व विकास सघ दोनो ने मिलकर 30 जून 1986 तक कुल 165,921 मि डालर ऋण स्वीकृत किये थे जिनम से भारत को 14 8 प्रतिशत अश प्राप्त हुआ। इसी प्रकार 1986 के वित्त वर्ष मे भारत का बैंक व विकास सघ स कुल मिलाकर 2368 मि डालर ऋण स्वीकृत हुए जो कि कुल स्वीकृत ऋणो का 14 5 प्रतिशत था।

यद्यपि यह सत्य है कि विश्व बैंक समूह से सहायता प्राप्तकर्ता राष्ट्रों मे भारत का अश सर्वाधिक रहा है। लेकिन यदि हम सहायता प्राप्तकर्ता राष्ट्रों को प्राप्त प्रति व्यक्ति सहायता क दृष्टिकोण स देखें तो विश्व बैंक समूह स भारत को प्राप्त प्रतिव्यक्ति सहायता 1983-8 4 म 3 8 डालर थी जो कि 1984-85 म घटकर 3 2 डालर रह गयी थी। अत विश्व बैंक समूह स प्राप्त सहायता को शीघ्रातिशीघ्र बढाने की आवश्यकता है। इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय विकास सघ से प्राप्त सहायता मे भी भारत का अश बहुत घट गया है। यह अश 30 जून 1985 तक औसतन 36 प्रतिशत था जो कि 1086 के वित्त वर्ष मे केवल 20 प्रतिशत रह गया था।

जहाँ तक अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम से भारत को प्राप्त ऋण का प्रश्न है जून 1978 के अन्त तक वित्त निगम ने 13 परियोजनाओं में 63.6 मि डालर का विनियोग स्वीकृत किया था जो कि निगम के कुल विनियोग का लगभग 3 प्रतिशत था। 1981 के वित्त वर्ष मे 7 निजी क्षेत्र के उपक्रमों के लिए वित्त निगम ने 100 मि डालर का विनियोग स्वीकृत किया था। 1984 के वित्त वर्ष में वित्त निगम ने भारत मे 15 मि. डालर का विनियोग किया था। अन स्पष्ट है कि भारतवर्ष अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम से पर्याप्त लाभ उठाने मे असमर्थ रहा है। भारतवर्ष के निजी क्षेत्र के निवेशकों को निगम द्वारा प्रदत्त सुविधा का अधिकतम उपयोग करने का प्रयास जारी रखना चाहिए।

निष्कर्ष

(Conclusion)

निष्कर्ष के रूप मे हम कह सकते हैं कि विकासशील राष्ट्रो में निजी उद्यमकर्ताओं को प्रोत्साहित करने मे वित्त निगम ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। लेकिन फिर भी विकास निगम के ऋण काफी महँगे हैं क्योंकि वित्त निगम ब्याज के अतिरिक्त लाभ में भी हिस्सा प्राप्त करता है। इसी प्रकार यह भी महसूस किया जाता है कि वित्त निगम ऋण देते समय अमेरिका समर्थक विकासशील राष्ट्रों को विशेष प्राथमिकता प्रदान करता है।

इस अध्याय मे विश्व बैंक समूह के विस्तृत अध्ययन के बाद हम कह सकते हैं कि विश्व बैंक समूह का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण योगदान यह रहा है कि इसके प्रयत्नों के परिणामस्वरूप विकासशील राष्ट्र विकास ऋणो को सम्मानजनक मानने लगे हैं। इस समूह को यदि यथेष्ठ वित्तीय समर्थन प्राप्त होता रहा तो यह समूह ऋण, तकनीकी सहायता, तथा समन्वीकरण व सवर्द्धन क्रियाओं के माध्यम से निरन्तर अधिकाधिक योगदान प्रदान करता रहेगा।

———

19

अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या
(Problem of International Liquidity)

प्राक्कथन
(Introduction)

अन्तर्राष्ट्रीय 'तरलता' की समस्या को सामान्यतया अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक आरक्षित निधि (reserves) की 'मात्रा' (quantity) से सम्बद्ध विचार-वस्तु से जुड़ा हुआ माना जाता है जबकि भरोसे की समस्या (confidence problem) को सामान्यतया आरक्षित निधियों की बनावट (composition) से जुड़ा हुआ माना जाता है, विशिष्ट रूप से इसे विभिन्न प्रकार की आरक्षित निधि परिसम्पत्तियों के सहअस्तित्व तथा इससे इनमे विघ्नकारी विवर्ती (shift) की सम्भावना से जुड़ा हुआ माना जाता है। यह भी माना जाता है कि इन दोनो समस्याओ के पीछे अन्तर्राष्ट्रीय आरक्षित निधि परिसम्पत्ति के वितरण (distribution) से सम्बद्ध मूलभूत विचार--वस्तु भी विद्यमान है।

अन्तर्राष्ट्रीय आरक्षित निधि परिसम्पत्तियो (reserves) व तरलता (liquidity) पर साहित्य मुख्यत इन तीन विचार-वस्तुओ से सम्बद्ध आदर्शमूलक (normative) विचार के रूप मे विकसित हुआ है। उदाहरणार्थ, आरक्षित निधियों की उपयुक्त मात्रा कितनी होनी चाहिये तथा इनकी पूर्ति मे वृद्धि किस दर से होनी चाहिए ? आरक्षित निधियों की उपयुक्त बनावट किस तरह की होनी चाहिए तथा नई आरक्षित निधियाँ किस रूप मे बढाई जानी चाहिए ? आरक्षित निधियो का उपयुक्त वितरण क्या होना चाहिए तथा नई आरक्षित निधियो के लाभो का वितरण किस प्रकार किया जाना चाहिए ? आदि प्रश्न अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या से सम्बद्ध मूल प्रश्न हैं। अतः इस अध्याय मे हम इन प्रश्नो पर विस्तृत विचार करेंगे।

अन्तर्राष्ट्रीय तरलता से अभिप्राय
(Meaning of International Liquidity)

विश्लेषण प्रारम्भ करने से पूर्व अन्तर्राष्ट्रीय तरलता का अभिप्राय स्पष्ट करना अपेक्षित है।

अन्तर्राष्ट्रीय आरक्षित निधियों (reserves) के अर्थ पर तो लगभग सभी अर्थशास्त्री सहमत हैं दस के समूह[1] (Group of Ten) ने इस प्रकार परिभाषित किया है —"एक राष्ट्र की आरक्षित निधियों को मोटे रूप से उसके मौद्रिक अधिकारियों की ऐसी समस्त परिसम्पत्तियों के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जिन्हें प्रत्यक्ष रूप में अथवा अन्य परिसम्पत्तियों के रूप में सुनिश्चित परिवर्तनशीलता के माध्यम से राष्ट्र के बाह्य सन्तुलन के घाटे की स्थिति में उसकी विनिमय दर के समर्थन हेतु प्रयुक्त किया जा सके।"* अतः स्पष्ट है कि आरक्षित निधि को सकल (gross) रूप में परिभाषित किया जाता है न कि विशुद्ध (net) रूप में तथा इसमें हम केन्द्रीय बैंक के कुल स्वर्ण कोषों, परिवर्तनशील विदेशी विनिमय, विशेष आहरण अधिकार (SDRs) तथा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष में आरक्षित निधि की स्थिति को सम्मिलित करते हैं।

दूसरी ओर 'अन्तर्राष्ट्रीय तरलता' के अर्थ पर काफी समय से कम ही सहमति पाई गई है। युद्धोत्तर कालीन प्रारम्भिक वर्षों में कुछ अर्थशास्त्रियों ने, जैसे, एच. डब्ल्यू. आरन्ट (H W. Arndt), बी० गुडमन (B Goodman) ने अन्तर्राष्ट्रीय तरलता पद को गुणवत्ता वाले वर्णनात्मक विशेषण के रूप में किसी भी 'दी हुई' (given) आरक्षित निधि के लिए प्रयुक्त करने पर जोर दिया तथा इसे परम्परागत घरेलू मौद्रिक उपयोग के सादृश्य उपयोग कर इसमें विदेशी भुगतानों पर आकस्मिक व्यय (contingencies) वहन करने हेतु विशिष्ट आरक्षित निधि की पर्याप्तता व उपयोगिता का वर्णन किया। तत्पश्चात् अन्य अर्थशास्त्रियों [जैसे ब्राउन (Brown), गर्मिंट

---

1 *Group of Ten, Report of the Study Group on the Creation of Reserve Assets*, 1965

* "A country's reserves may be broadly defined as all those assets of its monetary authorities that can be used directly or through assured convertibility into other assets, to support its rate of exchange when its external payments are in deficit."

(Gemmill), क्लेमेन्ट (Clement), विलियमसन (Williamson), कोहन(Cohen) व काने (Kane)] ने अन्तर्राष्ट्रीय तरलता पद को गुणवत्ता वाले ऐसे वर्णनात्मक विशेषण के रूप मे प्रयुक्त किया जिसमे राष्ट्र अथवा विश्व की समस्त मारक्षित निधि को शामिल किया जा सके तथा अन्तर्राष्ट्रीय तरलता मे राष्ट्र अथवा विश्व की 'समस्त' (total) मारक्षित निधि की पूर्ति की पर्याप्तता अथवा उपयोगिता को वर्णित किया एव इसमे उधार देय सुविधाओ अथवा विदेशी उधार की सुलभता, निजी स्वामित्व वाली विदेशी विनिमय मारक्षित निधियो अथवा देनदारियो के बकाया के स्तर, घरेलू मुद्रा-पूर्ति के लिए आवश्यक आरक्षित निधि आदि घटको के लिए सकल आरक्षित निधियो का समायोजन किया। [2] वास्तव मे बिना अवांछनीय समायोजक उपायो का सहारा लिये राष्ट्र की भुगतान सन्तुलन के घाटे की वित्तव्यवस्था करने की योग्यता को अन्तर्राष्ट्रीय तरलता द्वारा वर्णित किया गया था।

काने[3] (Kane) के अनुसार 'एक राष्ट्र की अन्तर्राष्ट्रीय तरलता को उसकी विभिन्न विदेशी मारक्षित निधियो, देनदारियो, वचनबद्धताओ, एव उधार के स्रोतो के सम्भाव्यतात्मक भारशील योग (Probabilistically Weighted sum) के रूप मे मानना सर्वोत्तम है।"[3]

लेकिन वर्तमान मे इनमे से किसी भी अर्थ का पक्ष नही लिया जा सकता है। मेक्लप (Machlup) की अध्यक्षता वाले अन्तर्राष्ट्रीय अध्ययन समूह के विचारविमर्श के पश्चात् अन्तर्राष्ट्रीय तरलता को मात्र "स्वामित्व वाली मारक्षित निधियो (owned reserves) व बिना शर्त वाले आहरण अधिकारो के योग"* के रूप मे परिभाषित किया जाता है। दूसरे शब्दो मे हम कह सकते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय तरलता को मात्र अन्तर्राष्ट्रीय मारक्षित निधियो का पर्याय माना जाता है।

एक अन्य स्थान पर प्रो० मेक्लप (Machlup) ने अन्तर्राष्ट्रीय तरलता को इस प्रकार से परिभाषित किया है, "एक वैयक्तिक केन्द्रीय बैंक की स्थिति पर उसके अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानो के साधनो की प्रायोज्य मारक्षित निधियो (Disposable

2 Williamson, John—Liquidity & the Multiple Key Currency Proposal—AER, June 1963 pp 427-33

3 Kane, E J—International Liquidity . A Probabilistic Approach—KeyKlos, 1s (1965) p 29

* International liquidity has been defined simlpy as 'the sum of owned reserves and unconditional drawing rights'

है। यद्यपि इस वृद्धि की दर को अनुकूलतम (optimum) वृद्धि दर नहीं माना जा सकता क्योंकि कुछ परिस्थितियों में यह वाछनीय हो सकता है कि इस तरह से गणना की गई SDRs सृजन की दर में समायोजन करके राष्ट्रीय रिजर्व-व्यवहार को विश्व रिजर्व पूर्ति के अनुरूप के नजदीक लाया जाये।

विश्लेषण को आगे बढाने से पूर्व अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की मात्रा व बनावट में हाल ही के परिवर्तनों पर विहंगम दृष्टिपात अपेक्षित है।

अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की मांग

(The demand for Reserves)

अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक आरक्षित निधि की माँग को प्रभावित करने वाले घटक अथवा इनके निर्धारक घटक कौनसे है?

मुख्यत रूप से भिन्न राष्ट्रो की सरकारों द्वारा विनिमय दर की लचक पर किसी न किसी प्रकार की सीमा लगाये रखने की वचनबद्धता से आरक्षित निधियो की माँग उत्पन्न होती है। यदि विनिमय दर पूर्णरूप से स्वतंत्र है तो आधिकारिक मौद्रिक आरक्षित निधियों की आवश्यकता नहीं होगी। आरक्षित निधि की आवश्यकता इसलिए होती है कि विभिन्न राष्ट्रों के मौद्रिक अधिकारी विनिमय दर निर्धारण को पूर्णतया निजी बाजारो पर छोड देने के अनिच्छुक रहते हैं।

यदि अन्य बातें समान रहें तो व्यक्तिगत सरकारें सदैव ही कम की तुलना में अधिक आरक्षित निधि रखना पसन्द करेंगी। इस सन्दर्भ में उनकी मनोदशा बाजार के विवेकशील व्यक्ति से भिन्न नहीं होती है। आरक्षित निधि का दिया हुआ स्तर कम स्तर की तुलना में अधिक उपयोगिता प्रदान करता है क्योंकि इससे अधिकारियों को घरेलू अर्थव्यवस्था के प्रबन्ध हेतु अधिक स्वतंत्रता मिल जाती है। आरक्षित निधि का भण्डार जितना अधिक होगा उतनी ही सरकार की घरेलू व्यय में कमी, अवमूल्यन अथवा नियन्त्रणों जैसे समायोजक उपाय अपनाए बिना बाह्य सन्तुलन की वित्त व्यवस्था करने की क्षमता अधिक होगी। ऐसे समायोजक उपायों को अपनाना कठिन व अनुविधाजनक इसलिए हो सकता है कि इनसे बेरोजगारी, साधन आवंटन में विकृति तथा विकास दर में कमी आदि की स्थिति उत्पन्न हो सकती है। इन आर्थिक प्रभावों को आरक्षित निधि का सचय न करने की सम्भावित अवसर लागत के रूप में देखा जा सकता है अथवा इन आर्थिक प्रभावों को टालने को आरक्षित निधियों के सचय की उपयोगिता माना जा सकता है।

अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की मात्रा व बनावट से सम्बद्ध कुछ आँकड़े

(Level and Composition of International Liquidity)

सारणी-19.1 में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के सदस्य राष्ट्रों की सन् 1982 से 87 की अवधि में प्राधिकारिक प्रारक्षित निधि की स्थिति दर्शायी गई है।

Table—19.1

Official Holdings of Reserve Assets 1982-87 (End of year)

(In billions of SDRs)

	1982	1983	1984	1985	1986	1987
Reserve Position in Fund	25.5	39.1	41 6	38 7	35.3	31.5
SDRs	17.7	14.4	16.5	18.2	19.5	20.2
Foreign Exchange	285.1	308.4	349.0	348 3	363.9	454.8
Non-Gold Reserves	328.3	361.9	407.1	405 3	418.7	506.4
Gold (Valued at London Market Prices)	393.1	345 4	297.8	282 6	303.3	322.3
Total Reserves	721.4	707.3	704 9	687 9	722.0	828.7

Source IMF Annual Report, (1988), p 66.

सारणी-19.1 से स्पष्ट है कि सन् 1982 से 87 की छः वर्ष की अवधि में कुल अन्तर्राष्ट्रीय तरलता 721 4 बि. SDR से बढ़कर 828.7 बि. SDR हो गई थी। जहाँ तक सारणी में व्यक्तिगत मदों की वृद्धि का प्रश्न है इस अवधि में गैर-स्वर्ण मदों के योग में लगभग 54 प्रतिशत की वृद्धि हुई है। तरलता की इस वृद्धि में, सदस्यों की कोष में प्रारक्षित निधि स्थिति, विशेष आहरण अधिकार व विदेशी

विनिमय दोनों का ही महत्वपूर्ण योगदान रहा है। लेकिन इनमें से सर्वाधिक महत्वपूर्ण योगदान विदेशी विनिमय की वृद्धि का रहा है। विचारार्थ अवधि में विदेशी विनिमय के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय तरलता 285.1 बि. SDR से बढ़कर 454.8 बि. SDR हो गई थी अर्थात् इस अवधि म विदेशी विनिमय की आरक्षित निधि में लगभग 60 प्रतिशत की वृद्धि हुई है।

जहाँ तक बाजार भाव पर स्वर्ण के भण्डारों की वृद्धि का प्रश्न है यह 393.1 बि SDR से घटकर 322.3 बि. SDR रह गया था। इस परिवर्तन का मुख्य कारण स्वर्ण की कीमत में उतार-चढ़ाव हो रहा है।

सन् 1987 में गैर-स्वर्ण आरक्षित निधि में 88 बि. SDR की वृद्धि विदेशी विनिमय आरक्षित निधि में 119 बि. SDR की वृद्धि तथा डालर के SDR के सन्दर्भ के अवमूल्यन से आरक्षित निधि के विद्यमान संचय में 28 बि. SDR की हानि का विशुद्ध परिणाम थी।

सारणी 19.2 विदेशी विनिमय के रूप में विद्यमान आरक्षित निधि में अमेरिकी डालर का अंश सन् 1982 में 70.5 प्रतिशत था यह अंश सन् 1985 में घटकर केवल 64.2 प्रतिशत रह गया था, लेकिन सन् 1987 में इसमें पुन वृद्धि होने से यह प्रतिशत 67.1 हो गया था। इसके विपरीत ड्यूशमार्क में नामित (denominated) परिसम्पत्तियाँ सन् 1982 में 12.5 प्रतिशत से बढ़कर 1987 में 14.7 प्रतिशत हो चुकी थीं। इसी प्रकार विचारार्थ अवधि में जापानी येन में नामित परिसम्पत्तियाँ 4.7 से बढ़कर 7.0 प्रतिशत हो गई थीं।

अतः स्पष्ट है कि विदेशी विनिमय की कुल आरक्षित निधि में अमेरिकी डालर का प्रतिशत अंश घटने के बावजूद भी यह प्रमुख आरक्षित निधि बना हुआ है। द्वितीय सर्वाधिक महत्वपूर्ण राष्ट्रीय मुद्राओं में ड्यूशमार्क आता है तथा तृतीय स्थान जापानी येन का है।

सन् 1985 को छोड़कर गैर-स्वर्ण आरक्षित निधि का आयातों से अनुपात सन् 1982 से निरन्तर बढ़ रहा है। समस्त प्रमुख राष्ट्र समूहों के लिए यह अनुपात सन् 1985 से 87 की अवधि में बढ़ा है। औद्योगिक राष्ट्रों का गैर-स्वर्ण आरक्षित निधि का आयातों से अनुपात सन् 1982 से 1987 की अवधि में 17 प्रतिशत से बढ़कर

25 प्रतिशत हो गया था ।* इस वृद्धि का प्रमुख कारण औद्योगिक राष्ट्रों द्वारा विनिमय बाजार में भारी हस्तक्षेप की नीति अपनाना था। विकासशील राष्ट्रों की गैर-स्वर्ण आरक्षित निधि का आयातों से अनुपात सन 1982 में 26 प्रतिशत से बढ़कर 1987 में 42 प्रतिशत हो चुका था। अत स्पष्ट है कि इस अवधि में अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की मात्रा में वृद्धि हुई है।

Table—19 2

Currency Composition of Official Holdings of Foreign Exchange
1982-87
(In Percent)

Currency	1982	1983	1984	1985	1986	1987
U S Dollar	70 5	71 2	69 4	64 2	66 0	67 1
Pound Sterling	2 5	2 6	3 0	3 1	2 8	2 6
Deutche Mark	12 3	11 6	12 3	14 9	14 9	14 7
French Franc	1 2	1 0	1 1	1 3	1 2	1 2
Swiss Franc	2 8	2 4	2 1	2 3	1 9	1 6
Netherlands guilder	1 1	0 8	0 8	1 1	1.1	1 1
Japanese yen	4 7	4 9	5 7	7 8	7 6	7 0
Unspecified Currencies	5 0	5 5	5 8	5 4	4 5	4 7

Source Same as that of Table 19 1, p 68

लेकिन आरक्षित निधियों को प्राप्त करने व इनका सचय करने की भी अवसर लागत होती है। आरक्षित निधि एसे वास्तविक ससाधनों पर स्वामित्व का प्रतिनिधित्व करती है जिनको प्र यथा उत्पादन म वृद्धि कुशल साधन आवटन तथा आर्थिक विकास हेतु प्रयुक्त किया जा सकता था। अत राष्ट्र का आवश्यकता से अधिक आरक्षित निधि का सचय त्यागे गये उपभोग व विनियोग के रूप में वास्तविक

* IMF Annual Report (1988) p 19

त्याग का प्रतिनिधित्व करता है। इसी सन्दर्भ मे प्रो० मेकलप[5] (Machlup) ने आरक्षित निधि की *'माँग'* (*Demand*) *'इच्छा'* (*desire*) *व 'आवश्यक्ता'* (*need*) म अन्तर किया है। हम यह मान सक्ते हैं कि सरकारो की आरक्षित निधि की असीमित 'इच्छा' हो सकती है। हम यह मान सकते हैं कि सरकारो की आरक्षित निधि की 'आवश्यक्ता' भी बहुत अधिक हो सकती है क्योकि आरक्षित निधि के अभाव मे कुछ सम्भावित अवाछनीय परिणाम हो सक्ते हैं। लेकिन ये 'दोनो' आरक्षित *निधि की 'माँग' की अवधारणा से पूर्णतया भिन्न है। आरक्षित निधि की 'माँग' का* अभिप्राय माँगी गई आरक्षित निधि के विनिमय मे कुछ मूल्य अर्पण करने की तत्परता से है। माँग के द्वारा आरक्षित निधि सचय करने व न करने की सीमान्त लागत को सन्तुलित किया जाता है। इसे आरक्षित निधि के भिन्न स्तरो की सीमान्त लागत व सीमान्त उपयोगिता के सन्तुलन के रूप मे भी देखा जा सकता है। आरक्षित निधि के *स्वामित्व की विशुद्ध लागत जितनी अधिक होगी उतनी ही इसकी प्रभावी माँग कम* होगी।

आरक्षित निधि की "माँग" के आनुभविक सूचको के निर्माण के अनेक प्रयत्न किये गये हैं। अधिकाश आनुभविक अध्ययन इस मान्यता पर आधारित है कि राष्ट्र विशेष का आरक्षित निधि का वास्तविक सचय इनकी 'प्रभावी माँग' से सम्बद्ध कुछ अर्थपूर्ण सकेत दे सकता है। लेकिन इसका अभिप्राय यह नही है कि राष्ट्र *विशेष की आरक्षित निधि की 'आवश्यक्ता' ज्ञात करने हेतु हम केवल आरक्षित निधि* का अवलोकित (observed) व्यवहार ज्ञात होना ही पर्याप्त है। यदि हम राष्ट्र विशेष की आरक्षित निधि की आवश्यक्ता व पर्याप्तता की चर्चा करते हैं तो विश्लेषण मे आदर्श मूलक (normative) दृष्टिकोण अपनाते हैं तथा राष्ट्र विशेष मे आरक्षित निधि के भिन्न स्तरो के *'उस राष्ट्र के लिए परिणामो से सम्बद्ध वैयक्तिक मूल्याकन* (value judgement) की प्रक्रिया अपनाते है। यह प्रक्रिया इस *यथार्थमूलक* (positive) विश्लेषण से पूर्णतया भिन्न है जिसमे यह निर्धारित करने का प्रयास किया जाता है कि राष्ट्र विशेष की आरक्षित निधि की माँग के वास्तविक निधारक घटक (determinants) क्या हैं?

अधिकांश अर्थशास्त्रियो ने इस यथार्थ मूलक प्रश्न के विश्लेषण हेतु प्रमुखतया *'अनुपातों' की तुलना के आधार पर राष्ट्र विशेष की आरक्षित निधि की 'माँग'*

5. Machlup, F—The Need for Monetary Reserves—Banca Nazionale del lavoro Quarterly Review, Sept, 1966 pp 175 222,

का अनुमान लगाने का प्रयास किया है। विशेषकर उन्होंने आरक्षित निधि की आयातों के स्तर से तुलना की है। लेकिन प्रो० मैकलप[6] (Machlup) व हेलर[7] (Heller) ने इन अनुमानों की इस आधार पर आलोचना की है कि आरक्षित निधि की माँग को व्यापार व भुगतान के उच्चावचना (variability) से जोड़ा जाना चाहिए न कि इनके कुल स्तर (overall volume) से।

आरक्षित निधि की पूर्ति

(The Supply of Reserves)

आरक्षित निधि की पूर्ति से सम्बद्ध यथार्थमूलक विश्लेषण का केन्द्र बिन्दु अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की विश्व माँग रहा है। इस सन्दर्भ में प्रमुख प्रश्न यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक आरक्षित निधि की विश्व पूर्ति को प्रभावित करने वाले अथवा इसके निर्धारक घटक कौनसे है? जैसा कि पूर्व में इंगित किया जा चुका है आरक्षित निधि की विश्वपूर्ति अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय तरलता के वर्तमान में चार प्रमुख अंग (components) हैं स्वर्ण, परिवर्तनशील विदेशी विनिमय, विशेष आहरण अधिकार तथा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष में आरक्षित निधि स्थिति। इनमें से प्रथम दो अर्थात् स्वर्ण व विदेशी विनिमय औपचारिक अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण में नहीं है। अतः SDRs की उपयुक्त भविष्य वृद्धि दर की गणना करते समय इन दो अंगों की पूर्व गणना कर लेनी चाहिए।

सन् 1968 से पूर्व मौद्रिक स्वर्ण की पूर्ति का विश्लेषण काफी रोचक विषय था लेकिन वर्तमान में अधिकांश विश्लेषणकर्ता यह आशा कर रहे हैं कि स्वर्ण धीरे-धीरे अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक व्यवस्था से बाहर निकल जायेगा।

इस सन्दर्भ में दूसरी महत्वपूर्ण विचार वस्तु यह है कि आरक्षित निधि के विदेशी विनिमय वाले अंश के निर्धारक घटक क्या हैं? यह विषय वस्तु पूर्ति विश्लेषण में कम से कम उस समय तक महत्वपूर्ण बनी रहेगी जब तक अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक व्यवस्था में सुधारों के परिणामस्वरूप डालर व ड्यूस मार्क, पाउण्ड स्टर्लिंग व फ्रेंच फ्रैंक जैसी राष्ट्रीय मुद्राओं को आरक्षित निधियों से हटा दिया नहीं जाता है। अतः फिलहाल विदेशी विनिमय के अस्तित्व व इसकी वृद्धि को वास्तविक मानकर

6 Mhchlup, F,—op cit 1966,
7 Heller, R H —*The Transactions Demand for International Means of Payment*—JPE (Jan Feb 1968), pp 141 45

स्वीकृत कर लेना चाहिए। आरक्षित निधि के इस अंश की वृद्धि का मुख्य स्रोत अमेरिका के भुगतान सन्तुलन के घाटे रहे हैं।

आरक्षित निधि की पर्याप्तता

(Adequacy of Reserves)

अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की पर्याप्तता के विवेचन हेतु हमें पुनः इसी प्रश्न का उत्तर प्रदान करना होगा कि अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की उपयुक्त मात्रा कितनी होनी चाहिए तथा आरक्षित निधि की पूर्ति मे किस दर से वृद्धि की जानी चाहिए? बहुत से विश्लेषणकर्ताओं के विचार से तो विश्व तरलता की 'पर्याप्तता' को सही-सही इंगित करना सम्भव ही नहीं है। इनमे से कुछ सशयवादी (skeptics) तो 'पर्याप्तता' की सही गणना इसलिए असम्भव मानते हैं कि वैकल्पिक आर्थिक नीतियाँ अपनाने की स्थिति मे आरक्षित निधि की आवश्यकता भी भिन्न होगी। अन्य संशयवादी यह मानते हैं कि राष्ट्रीय सरकारें आरक्षित निधि के सबध के विशिष्ट लक्ष्य विरले ही निर्धारित करती है। इन विश्लेषणकर्ताओं के अनुसार आरक्षित निधि तो नीति पर मात्र एक परिसीमा (Constraint) है तथा आरक्षित निधि यदि एक 'न्यूनतम स्तर' (अथवा दर) से कम है तो कुछ उपाय किये जायेंगे लेकिन जब तक आरक्षित निधि (अथवा रिजर्व वृद्धि) न्यूनतम अत्यावश्यक से अधिक है, सरकारें आरक्षित निधि स्थिति के प्रति उदासीन रहेंगी। उदाहरणार्थ, मेक्लप (Machlup) ने इस बात पर जोर दिया है कि "विश्व स्तर पर मौद्रिक आरक्षित निधि की विशिष्ट मात्रा *(particular sum) की 'आवश्यकता' नहीं है। अत. हम किसी भी बोध मे यह नहीं कह सकते कि विश्व की कुल आरक्षित निधि अपर्याप्त है।"*[8]

लेकिन प्रो॰ मेक्लप (Machlup) का विचार चरम (extreme) विचार है। उदाहरणार्थ, प्रो॰ कूपर[9] (Cooper) यह तो स्वीकार करते हैं कि कुछ विस्तार सीमाओं (ranges) मे राष्ट्र आरक्षित निधि के स्तर (अथवा वृद्धि दर) के मध्य *उदासीन पाये जा सकते हैं लेकिन उनका निष्कर्ष है कि आरक्षित निधि को नीति का* स्पष्ट उद्देश्य (explicit objective) मानने से सम्बद्ध सामान्यीकरण उचित ही है।

8 *Machlup, F—op cit (1966), p 207.*

9 Cooper—in IMF'S 'International Reserves—Need and Availability",—Washington (1970).

वर्तमान मे अन्तर्राष्ट्रीय तरलता के अधिकांश विद्यार्थी यह स्वीकार करने को तैयार हैं कि केन्द्रीय बैंकों की क्रियाएँ विवेकपूर्ण (rational) होती हैं। वे यह भी मानने को तैयार हैं कि राष्ट्र आरक्षित निधि के मोटे रूप से लक्ष्य निर्धारित करते हैं तथा सैद्धान्तिक रूप से राष्ट्र विशेष की माँग की मात्रात्मक गणना करना असम्भव नहीं है। उदाहरणार्थ, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की तरलता विषय वस्तु के विभिन्न पहलुओं पर सन् 1970 में आयोजित विशिष्ट सम्मेलन में बहुमत का निश्चय ही यही विचार था। अतः इस आधार पर हम प्रत्येक राष्ट्र की आरक्षित निधि की 'माँग' ज्ञात कर समस्त राष्ट्रों की माँग के योग को विश्व आरक्षित निधि की पर्याप्तता का माप मान सकते हैं (यद्यपि यह योग करते समय विभिन्न राष्ट्रों की माँगों के सम्भावित स्रोतों की अन्तरनिर्भरता को नजरअन्दाज करना होगा)। इतना ही नहीं समस्त राष्ट्रों की आरक्षित निधि की माँग में से आधिकारिक डालर दायित्वों को घटाकर SDRs सृजन की दर को मोटे रूप से गणना की जा सकती है। इस तरह से प्राप्त अवशेष (residual) विश्व आरक्षित निधि की वृद्धि की पर्याप्तता का प्रतिनिधित्व करेगा। यहाँ 'पर्याप्तता' का अभिप्राय आरक्षित निधि की मात्रा व वृद्धि की उस दर से है जो कि समस्त राष्ट्रों को अलग-अलग अपने भुगतान उद्देश्यों का निपटारा करने हेतु पर्याप्त है।

लेकिन इस बोध में 'पर्याप्तता' को हम 'इष्टतम' नहीं मान लेना चाहिए।

आरक्षित निधि की बनावट

(The Composition of Reserves)

अन्तर्राष्ट्रीय आरक्षित निधि की उपयुक्त (appropriate) बनावट क्या होनी चाहिए तथा नई आरक्षित निधि का सृजन किस रूप (form) में होना चाहिए?

स्वर्ण विनिमय मान में निहित अस्थायित्व वस्तुतः वही है जो कि ग्रेशम के नियम (Gresham's Law) द्वारा इंगित किया जाता है। एक साथ विभिन्न प्रकार की कई आरक्षित निधियों (स्वर्ण, डालर, पाउण्ड आदि) के सहअस्तित्व तथा इनके मध्य स्थिर-कीमत सम्बन्ध की मान्यता अस्थायित्व का मूल कारण है। इस सन्दर्भ में प्रमुख समस्या यह है कि वर्तमान में अन्तर्राष्ट्रीय विवर्तों की समस्या अथवा स्थिर कीमत सम्बन्ध गड़बड़ा देने वाली आरक्षित निधियों की बनावट हेतु प्रयत्नों की समस्या का अनुकूलतम हल क्या है?

सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से ग्रेशम के नियम की समस्या का मुकाबला करने के तीन वैकल्पिक तरीके हैं : प्रथम तो, धारकों की प्रारक्षित निधि पसन्दगी के अनुरूप विभिन्न प्रारक्षित निधियों का समायोजन करना, द्वितीय, विभिन्न परिसम्पत्तियों के गुणों (attributes) में परिवर्तन कर धारकों की प्रारक्षित निधि पसन्दगी का समायोजन करना तथा तृतीय, प्रारक्षित निधियों की कुल संख्या को घटाकर एक मुद्रा प्रणाली अपना लेना। साठ के दशक में अन्तर्राष्ट्रीय तरलता के विभिन्न सुझावों में इन तीनों में से किसी एक हल का सुझाव प्रस्तुत किया गया था। इन सुझावों की विस्तृत चर्चा हम इस अध्याय के अन्त में करेंगे।

वर्तमान में प्रचलित विचारधारा यह प्रतीत होती है कि ग्रेशम के नियम की *समस्या को हल करने का सर्वश्रेष्ठ तरीका प्रारक्षित निधियों की संख्या को शीघ्र ही* घटाना है तथा इसका बेहतर तरीका डालर व अन्य विदेशी विनिमय की समस्त प्रारक्षित निधियों के सन्तुलनों का किसी न किसी प्रकार का दृढ़ीकरण (consolidation) अथवा निधिकरण (funding) करना है। दीर्घकालीन उद्देश्य यह होगा कि स्वर्ण की मौद्रिक भूमिका को भी अन्ततः समाप्त कर दिया जाये। इस प्रकार *अन्ततः SDRs (व अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष में प्रारक्षित निधि स्थिति) ही अन्तर्राष्ट्रीय* प्रारक्षित निधि का एक मात्र माध्यम रह जायेगा। ऐसा करने से भिन्न राष्ट्रों की सरकारों के मध्य 'भरोसे' की समस्या पूर्णतया समाप्त हो जायेगी तथा नई प्रारक्षित निधि का सृजन मात्र SDRs के रूप में होगा। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की सारी पूर्ति प्रथम बार औपचारिक रूप से अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण में आ जायेगी।

प्रारक्षित निधि का वितरण

(Distribution of Reserves)

प्रारक्षित निधि का उपयुक्त वितरण कैसे हो तथा नई सृजित प्रारक्षित निधि के लाभ कैसे वितरित किये जायें? वितरण की विषय वस्तु पर उस समय ध्यान *केन्द्रित किया गया था जब विभिन्न समझौतों के परिणामस्वरूप सन् 1968 में SDRs* के सृजन का निर्णय लिया गया। इस विचार वस्तु पर प्रो० मेक्लप[10] (Machlup) ने सन् 1965 में अपने शुरुआती (Seminal) योगदान में यह इंगित किया कि 'वितरण' की समस्या का सामना करना ही पड़ेगा इसे टालने का कोई रास्ता नहीं है।

10 Machlup, F—The Cloakroom Rule of International Reserves—QJE-(Aug 1965), pp 337 55

आधार पर तर्क प्रस्तुत करते हैं। वर्तमान में 'बड़ी' प्रस्ताव आर्थिक साहित्य में विस्तृत चर्चा का विषय बना हुआ है।

जैसा कि पूर्व में इंगित किया जा चुका है अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या के समाधान हेतु आर्थिक विशेषज्ञों द्वारा समय-समय पर योजनाएँ प्रस्तावित की गई हैं जिनकी संक्षिप्त रूपरेखा इस अध्याय के शेष भाग में प्रस्तुत की जायेगी।

अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक व्यवस्था में सुधार हेतु प्रस्ताव

(Proposals for Reform of International Monetary System)

अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक व्यवस्था में सुधार हेतु कई योजनाएँ प्रस्तावित की गयी हैं अतः यहाँ पर हम प्रमुख योजनाओं के प्रमुख विचार बिन्दुओं की संक्षिप्त रूपरेखा ही प्रस्तुत करेंगे —

(1) स्वर्ण मूल्य में वृद्धि (हरॉड योजना-1953) (Increase in the Price of Gold, Harrod Plan—1953) :—प्रो० हरॉड (*Harrod*) का विचार है कि आरक्षित निधियों की वृद्धि दर बहुत ही कम रही है अतः उन्होंने स्वर्ण के मूल्य में वृद्धि का जोरदार समर्थन किया है।

उदाहरणार्थ, यदि स्वर्ण का मूल्य 35 $ प्रति औंस से बढ़ाकर दुगना अर्थात् 70 $ प्रति औंस कर दिया जाय तो जब तक मुद्रा पूर्ति, वस्तु कीमतें तथा व्यापार की मात्रा में वृद्धि नहीं होती है, मौद्रिक स्वर्ण भण्डार व उन अन्य समस्त परिमाणों (magnitudes)—जिनके साथ स्वर्ण की प्रायः तुलना की जाती है—के मध्य अनुपात भी दुगना हो जायेगा। नये स्वर्ण उत्पादन के माध्यम से स्वतंत्र विश्व में स्वर्ण की वार्षिक वृद्धि की दर बढ़ सकती है। यदि स्वर्ण के अतिरिक्त उत्पादन की वृद्धि दर नहीं भी बढ़ती है तो भी डालर एवं अन्य मुद्राओं के रूप में स्वर्ण वृद्धि वर्तमान से दुगनी हो जायेगी। यदि स्वर्ण उत्पादन की भौतिक मात्रा में भी वृद्धि हो जाती है तो स्वर्ण का मौद्रिक मूल्य और भी अधिक हो जायेगा। मान लीजिए कि स्वर्ण की कीमत दुगनी कर देने से स्वर्ण की भौतिक मात्रा की पूर्ति में 50 प्रतिशत वृद्धि हो जाती है तो इस वार्षिक पूर्ति से स्वर्ण के मौद्रिक मूल्य में 200 प्रतिशत की वृद्धि होगी जिसका अभिप्राय यह है कि स्वतंत्र विश्व की स्वर्ण आरक्षित निधि की वार्षिक वृद्धि का मूल्य बढ़कर तिगुना हो जायेगा।

(2) केन्ज योजना व ट्रिफिन योजना (The Keynes Plan and the Triffin Plan) —मौद्रिक आरक्षित निधियों के केन्द्रीयकरण की दिशा में केन्ज (Keynes) की अप्रेल 1943 की अन्तर्राष्ट्रीय समाशोधन संघ (Clearing union) की योजना व ट्रिफिन (Triffin) की जून 1959 की अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष को केन्द्रीय रिजर्व बैंक के रूप मे विस्तृत करने की योजनाएँ सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव है।

केन्ज योजना के अन्तर्गत समाशोधन संघ के निक्षेप दायित्वो (deposit liabilities) को नई अन्तर्राष्ट्रीय चलन इकाई मे व्यक्त किया जायेगा जिसे 'बैंकर' (Bancor) के नाम से जाना जायेगा। 'बैंकर' का मूल्य स्वर्ण के रूप मे स्थिर रहेगा, यद्यपि ऐसा नही है कि इसे कभी भी परिवर्तित नही किया जा सकेगा। इन 'बैंकरों' को स्वर्ण द्वारा पुन क्रय करना निक्षेपकर्ताओं के लिए अनिवार्य नही होगा। सदस्य राष्ट्रो के केन्द्रीय बैंक अपने कोषो का उपयोग अन्य केन्द्रीय बैंको के खातो म हस्तांतरित करने हेतु ही कर सकेंगे। यद्यपि 'स्टर्लिंग एरिया' जैसे अपवादस्वरूप चलन समूहों (Currency Groups) के अलावा केन्द्रीय बैंक विदेशी मुद्राएँ अपनी आरक्षित निधियो के हिस्से के रूप मे जमा नही रखेंगे। इस प्रकार मौद्रिक आरक्षित निधि केवल स्वर्ण व 'बैंकर' दो ही रूपो मे रहेगी।

समाशोधन सघ के पास 'बैंकरो' की निक्षेप दो ही विधियो से विस्थापित हो सकेगी अथवा बढ सकेगी: प्रथम तो समाशोधन सघ को स्वर्ण का विक्रय करके तथा द्वितीय ऐसे केन्द्रीय बैंको की 'ओवरड्राफ्ट' overdraft) सुविधा के उपयोग के माध्यम से जिनके अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान सन्तुलन मे उनके 'बैंकर' खाते की जमा से अधिक घाटे हैं चूंकि 'ओवर ड्राफ्ट' करने वाले केन्द्रीय बैंक द्वारा समाशोधन सघ की जमा को केवल अन्य केन्द्रीय बैंको को भुगतान के लिए उपयोग मे लिया जा सकता है अत इससे नये 'बैंकर' निक्षेप कोष सृजित होगे।

इस योजना में समस्त मुद्राओ के 'समता मूल्य' (Par Values) स्थिर रहेगे लेकिन भुगतान सतुलन मे चिरकालिक घाटे अथवा अतिरेक की स्थिति मे इन्हे परिवर्तित किया जा सकता है। प्रत्येक राष्ट्र के लिए समाशोधन सघ मे देनदारी (debit balance) की अधिकतम सीमा का कोटा निर्धारित कर दिया जायेगा। यह कोटा राष्ट्र के आयातो व निर्यातो के योग के तीन अथवा पांच वर्षों के औसत के आधार पर निर्धारित किया जायेगा। यदि किसी भी राष्ट्र का देनदारी शेष उसके कोटा के चौथाई हिस्से से अधिक होगा तो उस राष्ट्र को इस अधिक्य का 1 प्रतिशत

लेकिन इतना तो स्पष्ट ही है कि ट्रिफिन योजना इस मान्यता पर आधारित है कि समय के साथ विश्व की आरक्षित निधियों की माँग मौद्रिक अधिकारियों 'द्वारा स्वर्ण भण्डारों' की वृद्धि की तुलना मे तेजी से बढ रही है।

ट्रिफिन योजना के मूल विवरण मे प्रत्येक सदस्य राष्ट्र को अपनी मौद्रिक आरक्षित निधियों का न्यूनतम ⅕ भाग अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के पास निक्षेपों के रूप मे रखना आवश्यक है तथा इन निक्षेपों पर ब्याज भी प्राप्त होगा। केन्द्रीय बैंकों को प्रारम्भ मे मुद्रा कोष के पास स्वर्ण अथवा विदेशी विनिमय जमा करवा के कोष के शेष (IMF balances) प्राप्त हो सकेंगे। कोष केन्द्रीय बैंकों को इस तरह से जमा विदेशी मुद्रा तथा स्वर्ण अथवा डालर के विनिमय मे प्राप्त शेषों के मूल्य को स्वर्ण मे परिवर्तित करने की गारन्टी देगा।

अतः स्पष्ट है कि 'केन्ज योजना' व 'ट्रिफिन योजना' बहुत कुछ मिलती जुलती है। इन दोनों योजनाओं मे केवल आरक्षित निधि के सृजन की विधि मे अन्तर है। दोनों योजनाओं की तुलना करने वाले विश्लेषणकर्ताओं का विचार है कि 'ट्रिफिन योजना' की तुलना मे 'केन्ज योजना' अधिक मुद्रा स्फीतिकारी (inflationary) है। लेकिन ऐसा केवल अल्पकाल के सन्दर्भ मे ही सही माना जा सकता है।

(3) स्टाम्प योजना-1958 (Stamp Plan) :-मेक्सवेल स्टाम्प (Maxwell Stamp) ने अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के विस्तार की एक भिन्न विधि प्रस्तावित की है। यद्यपि स्टाम्प योजना मौद्रिक आरक्षित निधि के केन्द्रीयकरण की योजना नही है लेकिन इस योजना को अपनाने से कोष अन्तर्राष्ट्रीय आरक्षित निधि सृजन करने वाली संस्था के रूप में विस्तृत हो जायेगा।

स्टाम्प का प्रस्ताव है कि एक वर्ष के अन्दर-अन्दर मुद्रा कोष अर्द्धविकसित राष्ट्रों की सरकारों को वितरित करने हेतु 3 बिलियन डालर के प्रमाण-पत्रों का सृजन करे। इन प्रमाणपत्रों को निर्यातों के विनिमय मे स्वीकार करने एवं उन्हे मौद्रिक आरक्षित निधि के रूप में उपयोग मे लाने की इच्छुक सरकारों को ये उस समय प्राप्त होंगे जब अर्द्धविकसित राष्ट्र अपना क्रय करेंगे। यदि इन प्रमाणपत्रों को सभी राष्ट्र भुगतानों के रूप मे स्वीकार करने लग जायें तो इन्हे इन प्रमाणपत्रों को स्वर्ण मे चुकाने योग्य बनाने की आवश्यकता नही होगी।

स्टाम्प योजना की सन् 1962 की व्याख्या (version) मे 'मूल' योजना की अनेक आपत्तियों को हटा दिया गया था। इसमे कोष द्वारा साख के रूप मे क्या सृजित

किया जायेगा इस पर तथा राष्ट्र विशेष के अवशोषण हेतु प्रदत्त 'कोष पत्रों' (Fund Paper) की मात्रा दोनों पर ही सीमा निर्धारित कर दी गई थी। प्रारम्भ में सृजित साख की मात्रा केवल 2 बिलियन डालर होगी तथा ये प्रमाणपत्र अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ (IDA) को 50 वर्ष की अवधि के ऋण के रूप में दिए जायेंगे एवं इन पर ब्याज दर वही होगी जो IDA को विकासशील राष्ट्रों से प्राप्त होगी। भुगतान संतुलन में अतिरेक वाले राष्ट्र गरीब राष्ट्रों के प्रमुख निर्यातकर्ता बनने का निर्णय लेकर अपने अभ्यंश (Quota) की मात्रा के बराबर अन्य मौद्रिक अधिकारियों से प्रमाणपत्र स्वीकार कर सकते हैं। कोष के दृष्टिकोण से प्रमाणपत्र जारी करना मुद्रा सृजन ही है लेकिन यह ट्रिफिन योजना के अन्तर्गत सृजित मुद्रा से दो दृष्टिकोणों से भिन्न है : प्रथम तो आरक्षित निधि सृजन की गति के दृष्टिकोण से तथा द्वितीय प्राप्त आरक्षित निधि की गुणवत्ता के दृष्टिकोण से।

(4) जोलोटा (Zolota), बर्नस्टीन (Bernstein) एवं जेकब्सन (Jacobson) प्रस्ताव :—सन् *1957* की *जीनोफोन जोलोटाज (Xenophon Zolotas)* योजना, 1960 की एडवर्ड एम० बर्नस्टीन (Edward M. Bernstein) योजना तथा सन् 1961 के पर जेकब्सन (Per Jacobson) प्रस्ताव में यह प्रावधान है कि भुगतान संतुलन में अतिरेक वाले सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण औद्योगिक राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष को ऋण प्रदान करें जिससे कोष इस तरह से प्राप्त ऋणों का अल्पकालीन पूँजी के अपवाह (out flow) की समस्या से ग्रसित महत्त्वपूर्ण औद्योगिक राष्ट्रों के अधिकारियों के सुपुर्द कर सके। ये तीनों योजनाएँ एक दूसरे से केवल तकनीकी विस्तार में ही भिन्न हैं। उदाहरणार्थ, बर्नस्टीन योजना के *अन्तर्गत समस्याग्रस्त केन्द्रीय बैंक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष द्वारा उपलब्ध कराई* जाने वाली राशि पर अपेक्षाकृत अधिक निश्चितता से निर्भर रह सकते हैं। जबकि जेकब्सन योजना में प्रत्येक मामले में ऋणदाता बैंक द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के अभीष्ट (intended) उद्देश्यों का अनुमोदन होना आवश्यक है। ये तीनों ही योजनाएँ 'गर्म-मुद्रा' (hot money) के चलनों के आक्रमणों की स्थिति में स्वर्ण विनिमय मान को मजबूत बनाये रखने हेतु तैयार की गई हैं। इनकी सर्वनिष्ट विशेषता (Common feature) यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष उन राष्ट्रों से उधार लेगा जिन्हें पूँजी अन्तर्वाह के रूप में प्राप्त हो रही है तथा इस तरह से उधार लिए गये कोष उन केन्द्रीय बैंकों को उपलब्ध करायेगा जिनसे पूँजी का अपवाह हो रहा है।

इन हस्तक्षेपों में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की भूमिका केवल मध्यस्थ व गारन्टर की है न कि निर्गमन बैंक अथवा मात्र सृजन करने वाले व्यापारिक बैंक की। क्योंकि इन योजनाओं के प्रस्तावों में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों हेतु मजबूत तरलता-स्थिति वाले केन्द्रीय बैंकों से माँग निक्षेपों (Demand Deposits) के रूप में उधार लेगा तथा 'गर्म मुद्रा' (hot money) तूफान से टूट राष्ट्रों के केन्द्रीय बैंकों को उधार देगा।

बर्नस्टीन योजना के दिसम्बर 1962 के विस्तृत रूप को भी अन्तर्राष्ट्रीय आरक्षित निधि के केन्द्रीयकरण व सृजन के प्रस्तावों में उपयुक्त स्थान प्रदान किया जाना चाहिए।

यद्यपि इस योजना में उन संशोधनों पर कम जोर दिया गया है जिनके कारण यह उनके द्वारा पूर्व में प्रदत्त योजना से अधिक उग्र प्रतीत होती हो। बर्नस्टीन ने इस योजना में तीन चरणों की सिफारिश की है : (1) राष्ट्रों को न केवल कोष के पास अपने स्वर्ण अंश (Gold Tranche) अपितु साख अंश (Credit Tranche) को भी अर्थात् अपने कोष के पूर्ण आहरण अधिकार को उनकी सकल आरक्षित निधि का अंश मानना चाहिए। (2) ये आहरण अधिकार वर्तमान की तुलना में कम सशर्त (Conditional) होने चाहिए विशेषकर सदस्य राष्ट्रों को बिना मुद्रा कोष के पूर्व अनुमोदन के अपने अभ्यंश उधार लेने की सुविधा होनी चाहिए, (3) सदस्य राष्ट्रों को अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के ससाधनों का जब कभी भी उपयोग करना हो तो ये 'स्वाभाविक' (matter of Course) रूप से प्राप्त होने चाहिए अर्थात् ये ससाधन छोटी मात्रा में व कम समय के अन्तराल से प्राप्त होने चाहिए ताकि अभ्यास में से उधार सामान्य घटना हो न कि कमजोरी का सकेत।

लेकिन यदि इन तीनों चरणों को व्यावहारिक भी मान लिया जाय तो भी इनसे कोष नई आरक्षित निधि का सृजन करने की क्षमता वाली सस्था नहीं बन पायेगी।

(5) मौल्डिंग योजना (Maulding Plan 1962) .—सितम्बर 1962 में ब्रिटिश राजकोष के चासलर रेजिनाल्ड मौल्डिंग (Reginald Maulding) ने कुछ प्रस्ताव रखे थे। यद्यपि ये प्रस्ताव विशिष्ट (specific) नहीं थे परन्तु ये शीघ्र ही मौल्डिंग योजना के नाम से विख्यात हो गये। इस योजना में एक स्पष्ट प्रावधान यह है कि व्यापार संतुलन में अतिरेक वाले राष्ट्र घाटे वाले राष्ट्रों से प्राप्त होने वाली मुद्राओं के नये शेषों को (घाटे वाले राष्ट्रों को समर्थन प्रदान

करने हेतु) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के नव स्थापित पारस्परिक मुद्रा खाते (Mutual Currency Account) में जमा करवादें तथा विनिमय में कोष के ऋण पत्र प्राप्त कर लें। कोष के इन पत्रों (certificates) (अथवा निक्षेप) पर इन मूल स्वर्ण मूल्य की गारन्टी होगी, न्यूनतम ब्याज होगा, तथा इनके धारक राष्ट्र के भुगतान सतुलन में घाटे की स्थिति में इन्हें अन्य मौद्रिक अधिकारियों को भुगतान करने हेतु प्रयुक्त किया जा सकेगा। इस नई मुद्रा की जमाओं की सीमा तक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष अथवा इसका 'पारस्परिक मुद्रा खाता' राष्ट्रीय मुद्राओं के विनिमय में एक नई अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर स्वीकार्य आरक्षित निधि का निर्गमन करने वाला प्राधिकरण होगा। मुद्रा कोष की इन 'निक्षेपों' को अधिकांश केन्द्रीय बैंक डालर एवं स्टलिंग शेषों की तुलना में इसलिए अधिक पसद करेंगे कि इन पर स्वचालित स्वर्ण गारंटी होगा जबकि अमेरिका अथवा इंग्लैण्ड के दायित्वों पर ऐसी गारन्टी विरले ही होती है।

जहाँ तक अधिप्राप्त आरक्षित निधि की किस्म व इसके सृजन की विधि का प्रश्न है मौडलिंग योजना सन् 1943 की केन्ज योजना एवं कुछ पहलुओं में ट्रिफिन योजना के सर्वाधिक नजदीक मानी जा सकती है।

(6) रूसा योजना (The Roosa plan–1962)—बहु-मुद्रा आरक्षित निधि प्रणाली की स्थापना की दिशा में सर्वप्रथम मई 1962 में अमेरिकी राजकोष के अनु सचिव (under Secretary) रॉबर्ट वी रूसा (Robert V. Roosa) एवं न्यूयार्क फेडरल रिजर्व बैंक द्वारा बहु-मुद्रा आरक्षित निधि-प्रणाली स्थापना की दिशा में कदम उठाया गया था। कुछ अग्रिम-विनिमय सौदों में अमरिका ने विभिन्न राष्ट्रीय मुद्राओं को अपनी विदेशी आरक्षित निधि के अंश के रूप में रखना प्रारम्भ कर दिया था। उदाहरणार्थ, न्यूयार्क का फेडरल रिजर्व बैंक न्यूयार्क में स्थित बैंक ऑव इंग्लैण्ड के डालर खाते में 50 मि० डालर जमा करवा देता था इस जमा के बदले बैंक ऑव इंग्लैण्ड लन्दन में स्थित न्यूयार्क बैंक के स्टर्लिंग खाते में लगभग 18 मि पाउण्ड जमा करवा देता था तथा इसी तरह का प्रबन्ध बैंक द फ्रांस के साथ किया गया था। इन प्रतिपूरक प्रबन्धों का उद्देश्य दोनों पक्षों को अग्रवर्ती आड (Forward cover) प्रदान करना होता था।

इसके अतिरिक्त रूसा ने इंगित किया कि भुगतान सतुलन में किसी भी अस्थायी अथवा स्थायी असतुलन की अवधि में अमरिका विदेशी मौद्रिक प्राधिकरण पर अपने

दायित्व घटायेगा नहीं जिससे कि कुल अन्तर्राष्ट्रीय आरक्षित निधि घटे, अपितु विदेशी मुद्राएँ अर्जित करेगा। ये मुद्राएँ अमरिका की आरक्षित निधि में जुड जायेंगी जिससे कुल आरक्षित निधि बढ़ेगी। अतः अमेरिका के भुगतान सतुलन के घाटे व अतिरेक दोनों के ही परिणामस्वरूप विश्व आरक्षित निधि में वृद्धि करना सम्भव होगा। अमेरिका के भुगतान सतुलन मे घाटे की स्थिति मे अमेरिका द्वारा किये गये भुगतानों से प्राप्तकर्ता राष्ट्रों के डालर सचय मे वृद्धि होगी तथा भुगतान सतुलन में अतिरेक की स्थिति मे अमेरिका के पास विदेशी मुद्राओं का सचय बढ जायेगा। वैकल्पिक रूप से अमेरिका विनिमय आरक्षित निधि के पर्याप्त सचय के बाद इस सचित राशि का उपयोग करके अपने अस्थायी घाटों को पूरा करने का निर्णय ले सकता है जिससे अमेरिका के दायित्वों मे वृद्धि नहीं होगी अथवा अमेरिका से स्वर्ण का अपवाह टल सकेगा।

अत स्पष्ट है कि रूसा योजना के अन्तर्गत अमेरिका के पास 'विभिन्न प्रमुख राष्ट्रों के परिवर्तनशील विनिमय की सयत (moderate) मात्रा का कमो-बेशी सचय निरन्तर होता रहेगा।' इस सचय को 'स्वर्ण' आरक्षित निधि की ओर अधिक मितव्ययता माना जा सकता है। इस योजना के विशुद्ध प्रभाव के परिणाम स्वरूप वर्तमान मे दो मुख्य मुद्राओं द्वारा निभाई भूमिका का बहु-पक्षीकरण एक ऐसे ढाँचे के माध्यम से होगा जिसमे मौद्रिक प्राधिकरणों के मध्य और अधिक सहयोग के लिए काफी दबाव बना रहेगा।

लेकिन स्पष्ट है कि रूसा के निष्कर्ष के विपरीत यह प्रणाली वास्तव मे द्वि-पक्षीय ढाँचे म मुद्राओं के 'स्वेप' (Swap) वाली प्रणाली होगी न कि बहुपक्षीय प्रबन्ध वाली।

रूसा की बहु-मुद्रा आरक्षित निधि प्रणाली मे किसी भी प्रकार की 'स्वर्ण' गारन्टी नहीं होगी। वास्तव म रूसा ने अवमूल्यन की स्थिति में हानि क्षति-पूर्ति की गारन्टी को अनावश्यक, दुर्वहनीय (Cumbersome), हानिप्रद व बेकार मानकर अस्वीकार कर दिया था। उनकी मान्यता थी कि डालर पर आरक्षित निधि के रूप मे भरोसा सन्देह से परे होना चाहिए तथा इसे स्वर्ण गारन्टी से सम्भालना न तो आवश्यक है और न ही सम्भव। लेकिन उन्हे प्रस्तावित 'मुद्राओं के प्रतिपूरक (reciprocal) सचय' से काफी आशायें हैं।

ध्यान रहे कि हमने यहाँ पर अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली हेतु प्रदत्त प्रमुख प्रस्तावों का ही सार प्रस्तुत किया है इन प्रस्तावों के अलावा कुछ अन्य प्रस्ताव भी

किये गये हैं जैसे सन् 1962 का लुट्ज (Lutz) प्रस्ताव 1963 की पोस्थमा (Posthuma) योजना आदि। इसके अतिरिक्त सन् 1969 में विशेष आहरण अधिकारों (SDRs) का सृजन अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की वृद्धि की दिशा में अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली के माध्यम से उठाया गया सर्वाधिक महत्वपूर्ण कदम है। लेकिन जैसा कि पहले इंगित किया जा चुका है, SDRs का विस्तृत विवरण हम 'अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष' शीर्षक के अध्याय में प्रस्तुत कर चुके हैं।

20

विदेशी सहायता व ऋण सेवा भार

(Foreign Aid and Debt Service Burden)

विदेशी सहायता की अवधारणा

(The Concept of Foreign Aid)

विदेशी सहायता क्या है ? अथवा विदेशी सहायता मे कौनसे ऋण शामिल किये जाते हैं ? इन प्रश्नो के उत्तर पर सहमत होने के पश्चात् ही हम विदेशी सहायता की समस्याओं का अध्ययन भलि-भाँति कर सकते हैं।

प्रो० जगदीश भगवती (J Bhagwati) व इकास (Eckaus) के अनुसार, "सक्षिप्त उत्तर यह है कि विदेशी सहायता के अन्तर्गत अर्द्ध-विकसित राष्ट्रो को रियायती शर्तों पर किये गये वास्तविक साधनों के स्पष्ट (explicit) हस्तान्तरण सम्मिलित होते हैं। साधन हस्तान्तरण मे जब तक व्यापारिक रूप से (Commercially) उपलब्ध शर्तों से कुछ अश तक अधिक अनुकूल शर्तें आवेष्ठित (involved) नहीं हो तब तक इसमे उपहार तत्त्व सम्मिलित नही होता है।"[1]

अत निजी पूँजी चलनो से विकासशील राष्ट्रो को पर्याप्त लाभ प्राप्त होने के बावजूद भी हम इन्हें विदेशी सहायता नही मान सकते।

सर राय हरॉड (Sir Roy Harrod) ने इसी बात को और अधिक स्पष्ट करते हुए लिखा है कि ' सहायता के अन्तर्गत हमे अनुदान व सुलभ ऋण (soft loans) सम्मिलित करने चाहिए।————————जिन्होंने विश्व बैंक बॉण्ड्स मे निवेश कर रखा है उन्हे उतना ही प्रतिफल मिलना है जितना उन्हे घरेलू सरकारी बॉण्ड्स में मिलता है। "सहायता" की धारणा (idea) यह है कि किसी न किसी ने त्याग

1. Bhagwati, J and Eckaus, R S —(edt)—Foreign Aid,(Penguin, 1970), p 7

किया है। लेकिन इस उदाहरण में (विश्व बैंक के उदाहरण में) किसने त्याग किया है ?"[2]

अत स्पष्ट है कि विश्व बैंक के ऋणों को हम सहायता की श्रेणी में नही रख सकते क्योंकि इन ऋणों में किसी का त्याग अन्तर्निहित नही है। विश्व बैंक इसके बाण्ड क्रय करने वालो को उतनी ही ब्याज की दर प्रदान करता है जितनी ऐसे बॉण्ड्स पर उन विनियोगकर्ताओं को उनकी घरेलू सरकारें प्रदान करती है। सहायता तो ऐसा दीर्घकालीन विनियोग है जिसमे त्याग निहित हो। फिर भी आर्थिक सहायता प्रदान करने के कई अन्य तरीके भी है तथा इनमे से प्रत्येक तरीके मे साधनो के स्पष्ट हस्तांतरण का होना आवश्यक नही हैं। अर्द्ध-विकसित राष्ट्रो को दी जाने वाली विशिष्ट प्रशुल्क कटौतियाँ व आयात-नियतांश भी अधिमानिक (preferential) बरताव ही है, क्योंकि इनसे अर्द्ध विकसित राष्ट्रो के निर्यातो की सापेक्ष उपार्जन शक्ति मे वृद्धि होती है अत ये इन राष्ट्रो के लिए रिआयती हस्तांतरण है। यद्यपि इस तरह की रिआयतें इनके वास्तविक व सम्भावित प्रभाव के दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण हैं लेकिन फिर भी इस तरह के अप्रत्यक्ष हस्तान्तरणो को प्राय विदेशी सहायता की श्रेणी मे सम्मिलित नही किया जाता है।

जैसा कि अन्तर्ज्ञान से स्पष्ट है, ब्याज दर जितनी कम होगी तथा ऋण की अवधि जितनी अधिक होगी, ऋणदाता के दृष्टिकोण से हस्तांतरण म उतना ही अधिक सहायता तत्त्व शामिल होगा। यदि घरेलू बाजार मे प्रचलित शर्तों पर ऋण प्रदान किया जाता है तो ऋणदाता की लागत के दृष्टिकोण से ऋण का सहायता मूल्य ऋणात्मक होता है।

विदेशी सहायता प्रदान करने के उद्देश्य

(Objectives of Foreign Aid)

अमेरिका व रूस के मध्य चल रहे विचारधाराओ के युद्ध मे विदेशी सहायता प्रमुख हथियार रहा है। अमेरिका विश्व का सबसे बडा सहायता प्रदानकर्त्ता राष्ट्र है लेकिन अमेरिका द्वारा बडी मात्रा मे विदेशी सहायता प्रदान करने मे मात्र कल्याण की भावना ही नही बल्कि अन्य उद्देश्य भी निहित रहे है। धनाढ्य राष्ट्रो द्वारा प्रदत्त विदेशी सहायता के पीछे तीन प्रमुख उद्देश्य रहे हैं :—

2 Harrod, Sir Roy—' Aid to the Less Developed Countries,"—Commerce—Annual No , Dec, 1965, p A 22

(1) व्यूह रचना से सम्बद्ध उद्देश्य

(Strategic objectives)

अमेरिका मे राजनेता इस बात पर बल देते हैं कि आर्थिक सहायता केवल मित्र राष्ट्रों को ही प्रदान की जानी चाहिये। अभिप्राय यह है कि विकसित पूंजी वादी राष्ट्र अल्प विकसित राष्ट्रों को इसलिए ऋण एव आर्थिक सहायता प्रदान करते है कि वे राष्ट्र समाज वादी वर्ग मे न चले जाएँ। दूसरी ओर, समाजवादी राष्ट्र यह अनुभव करते हैं कि उनकी विचारधाराओं के प्रचार हेतु अल्पविकसित राष्ट्र ही उचित क्षेत्र है, अत ये राष्ट्र भी विकासशील राष्ट्रों को सहायता प्रदान करते हैं।

अत स्पष्ट है कि अन्य राष्ट्रों से मित्रता पूर्ण सम्बन्ध बनाये रखने, वहां की सरकारों को अपने प्रभाव मे रखने, आदि उद्देश्य विदेशी सहायता के पीछे निहित रहते हैं।

(2) आर्थिक उद्देश्य

(Economic objectives)

विदेशी सहायता प्रदान करने से प्रत्यक्ष आर्थिक लाभ भले ही न हो, इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता है कि विदेशी सहायता प्रदान करने का निर्णय अनेक आर्थिक उद्देश्यों से प्रभावित होता है।

विकसित राष्ट्रों मे अति उत्पादन का भय बना रहता है अत आर्थिक मन्दी की स्थिति टालने हेतु यह आवश्यक होता है कि देश मे उत्पादन की मांग बनी रहे। जब कोई सरकार अन्य राष्ट्र को सहायता प्रदान करती है तो ऋणदाता राष्ट्रों मे उत्पन्न माल के लिये बाजार का विस्तार होताहै। उदाहरणार्थ, पी० एल० 480 के अन्तर्गत भारी मात्रा मे गेहूं भेजकर अमेरिका ने विभिन्न राष्ट्रों में स्वय के गेहूं बाजार को विस्तृत किया था।

इसी प्रकार आर्थिक मन्दी काल मे सरकार ऋण प्रदान कर ऋणी राष्ट्रों मे बाजार स्थापित करने का प्रयास करती है। इसीलिये तो कहा जाता है कि विकसित राष्ट्र अर्द्धविकसित राष्ट्रों को सहायता प्रदान कर अपनी ही अर्थ व्यवस्था को सुदृढ बनाते हैं।

विदेशी सहायता के पीछे यह भी उद्देश्य रहता है कि ऋणी राष्ट्र ऐसे निर्णय नही लें जिनसे ऋणदाता राष्ट्र के आर्थिक हितों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता हो।

(3) मानव कल्याण का उद्देश्य
(Charitable objective)

अमेरिका अर्द्धविकसित राष्ट्रों को इन उद्देश्य से भी विदेशी सहायता प्रदान करता है कि ये राष्ट्र अपनी गरीबी, भुखमरी व दरिद्रता की समस्याओं से निपट सकें। युद्ध, प्राकृतिक प्रकोप आदि से पीड़ित देशों की सहायताकर्ता सरकार का उद्देश्य यह भी हो सकता है कि सहायता प्राप्तकर्ता राष्ट्र अपनी विनिमय दर में स्थायित्व बनाय रख सके।

यदि अपनी अर्थव्यवस्थाओं का आर्थिक विकास करना स्वयं अर्द्धविकसित राष्ट्रों का दायित्व है तो विकसित राष्ट्रों का भी यह दायित्व है कि इन राष्ट्रों को विकास के लिए उपयुक्त उपकरण अथवा साधन उपलब्ध करवायें। इस भावना से प्रेरित होकर भी कई विकसित राष्ट्र आर्थिक सहायता प्रदान करते हैं।

जहाँ तक अर्द्धविकसित राष्ट्रों के लिये आर्थिक सहायता के महत्त्व का प्रश्न है यह कहा जा सकता है कि सहायता प्राप्तकर्ता राष्ट्र आर्थिक सहायता से निसंदेह ही लाभान्वित होते हैं। लेकिन यह ध्यान रहना चाहिये कि आर्थिक विकास की प्रक्रिया को तीव्र करने हेतु विदेशी सहायता का सार्थक (effective) होना बहुत कुछ सहायता की प्रकृति तथा इससे जुड़ी शर्तों पर निर्भर करता है।

विदेशी सहायता की आवश्यकता की गणना की विधि
(Computation of Aid Requirement)[1]

समृद्ध राष्ट्रों से पिछड़े राष्ट्रों को कितनी सहायता राशि का हस्तातरण होना चाहिये यह मापने हेतु कोई सामान्य व वस्तु-परक विधि उपलब्ध नहीं है, परन्तु फिर भी हाल ही के वर्षों में विकासशील राष्ट्रों की विदेशी सहायता की आवश्यकता के कई अनुमान लगाये गये हैं।

विदेशी सहायता की आवश्यकता का अनुमान लगाने हेतु अर्द्ध-विकसित राष्ट्रों की सकल राष्ट्रीय आय की किसी ऐतिहासिक वृद्धि की दर से प्रारम्भ करते हैं। तत्पश्चात् अग्रलिखित दो में से किसी एक विधि (अथवा दोनों के संयोग) को अपनाया जा सकता है।

प्रथम विधि के अनुसार विदेशी विनिमय की समस्या की ओर ध्यान न देकर लक्षित विकास का दर को प्राप्त करने हेतु वार्षिक विनियोग की आवश्यकता का अनुमान

लगाकर विदेशी सहायता की आवश्यकता को आंका जाता है। विनियोग की अनुमानित आवश्यकता की प्रक्षिप्त (projected) आर्थिक घरेलू बचत से तुलना की जाती है। यदि प्रक्षिप्त बचत आवश्यक विनियोग से कम है तो इन दोनो का अन्तर- जिसे 'बचत-अन्तराल' (saving-gap) के नाम से जाना जाता है को विदेशी सहायता का द्योतक मान लिया जाना है।

द्वितीय विधि विदेशी विनिमय की आवश्यक्ता का अनुमान लगाने पर आधारित है। यदि आयात प्रक्षेप (imports projections) निर्यात प्रक्षेपो से अधिक हैं तो इन दोनो का अन्तर विदेशी विनिमय का अन्तर होगा।

रॉजन्सटीन रोडां[3] (Rosentein Rodan) ने विदेशी सहायता की आवश्यक्ता की गणना करने हेतु निम्न सूत्र प्रदान किया है :—

$$F = (kr - b) \ \Sigma Y + 5Yo \left[b - \frac{So}{Yo} \right]$$

उपर्युक्त सूत्र म *आर्थिक विकास हेतु 5 वर्ष की अवधि के लिए आवश्यक विदेशी* सहायता की गणना की गई है। सूत्र मे Yo अर्द्ध विकसित राष्ट्र को सकल राष्ट्रीय आय है तथा इसकी वृद्धि की दर r है (r को राष्ट्र की अनुमानित ऋण ग्राह्यता क्षमता के आधार पर चुना जाता है), (So/Yo) प्रारम्भिक वर्ष मे औसत बचत की दर है तथा b बचत की सीमान्त दर एव k पूँजी/उत्पादन अनुपात है।

सूत्र से स्पष्ट है कि विदेशी सहायता की आवश्यक्ता प्रारम्भिक सकल राष्ट्रीय आय, बचत दर व पूँजी-उत्पादन अनुपात से सर्वाधिक प्रभावित होती है, बचत की सीमान्त दर से आवश्यक सहायता की मात्रा दीर्घकाल मे अधिक प्रभावित होती है।

ध्यान रहे कि उपर्युक्त सूत्र के द्वारा सहायता आवश्यक्ता की गणना करने का अभिप्राय है कि हम पूर्व वर्णित विधियो मे से प्रथम विधि को प्रयुक्त कर रहे हैं।

विदेशी सहायता से सम्बद्ध विचार वस्तु

(Issues in Aid Policy)

प्राय यह प्रश्न उठाया जाता है कि क्या आर्थिक विकास के लिये विदेशी सहायता

3 Resenstein—Rodan, P. N —'International Aid for underdeveloped countries'—reprinted in Bhagwati and Eckaus (edt) —"Foreign Aid" p 106

आवश्यक व उपयोगी है लेकिन इसके अतिरिक्त सहायता नीति से सम्बद्ध अन्य भी कई ऐसे प्रश्न हैं जिन पर नीति विशेषज्ञों तथा सहायता प्रदान करने वाली एजेन्सीज ने समय-समय पर विचार किया है।

विदेशी सहायता से सम्बद्ध प्रमुख विचार वस्तु को हम निम्न शीषकों में विभाजित कर के स्पष्ट कर सकते हैं —

(1) ऋण बनाम अनुदान (Loans versus grants)

विकास सहायता समिति (DAC) के अनुसार वित्तीय सहायता अग्रलिखित छः[4] रूपों मे प्रदान की जा सकती है —

(1) अन्तर्राष्ट्रीय सगठनो को विकास उद्देश्य हेतु दिये गये योगदान
(2) द्वि-पक्षीय अनुदान (Bilateral grants)
(3) *ऋणदाता राष्ट्र की मुद्रा में चुकाये जाने वाले द्वि-पक्षीय ऋण*
(4) ऋणी राष्ट्र की मुद्रा में चुकाये जाने वाले द्वि-पक्षीय ऋण
(5) दृढीकरण साख (Consolidation Credits)
(6) ऋण प्राप्तकर्ता राष्ट्र की मुद्रा मे विक्रय करके साधनो का हस्तान्तरण (पी. एल. 480 के कृषि पदार्थों के अधिशेष का योगदान)

उपर्युक्त वर्गीकरण मे विकास सहायता समिति ने ऋणदाता व ऋणी राष्ट्रों पर पड़ने वाले ऋण के प्रभाव को विशेष महत्त्व दिया है। उदाहरणार्थ, समिति यह महसूस करती है कि आसान मुद्रा मे चुकाया जाने वाला ऋण दुर्लभ मुद्रा मे चुकाये जाने वाले ऋण से भिन्न होता है, अत इन दोनो प्रकार के ऋणो को भिन्न श्रेणियो मे रखा गया है।

यद्यपि उपर्युक्त वर्गीकरण कई उद्देश्यो के लिये उपयोगी है परन्तु विदेशी सहायता के इन समस्त रूपों को मोटे तौर पर दो श्रेणियो में विभाजित किया जा सकता है प्रथम अनुदान तथा द्वितीय ऋण। अनुदान व ऋण मे से सहायता का कौनसा रूप उत्तम है यह सहायता प्रदान करने के उद्देश्य पर निर्भर करता है। यदि निश्चित राशि के हस्तान्तरण का उद्देश्य पूंजी हस्तान्तरण अधिकतम करना है तो

4 Source Agency for International Development

ऐसा अनुदान अथवा ऋण दिया जाना चाहिये जिसमें उच्च अनुदान तुल्य राशि (High grant equivalent) अन्तरनिहित हो। इसके विपरीत यदि उद्देश्य वास्तविक हस्ता तरण को न्यूनतम करना है तो व्यावसायिक दरो पर व अल्प परिशोधन (Short Amortization) वाला ऋण प्रदान करना चाहिये।

विकासशील राष्टो को आर्थिक सहायता अनुदान के रूप मे दी जानी चाहिये अथवा ऋण के रूप मे इस सन्दभ मे प्रो० किन्डल बर्गर (Kindleberger) का विचार है कि ऋण प्रदान किया जाय अथवा अनुदान यह केवल इस आधार पर तय नही किया जाना चाहिय कि सहायता को किस उपयोग मे लिया जाता है उनके अनुसार ' अन्तर्राष्टीय सामाजिक कल्याण फलन के लिये यह आवश्यक है कि एक निश्चित स्तर से कम प्रतिव्यक्ति आय वाले राष्ट्रो को ऋण दिये जान चाहिये चाहे वे राष्ट्र इस सहायता को उपभोग मे काम ले अथवा पूँजी निर्माण मे।''[5]

जहाँ तक सभव हो विकासशील राष्ट्रो को अनुदान ही अधिक दिया जाना चाहिये। अगर कम विकसित देश मे भुगतान सम्बन्धी कठिनाइयाँ है अर्थात् उनके निर्यात कम है एव इनम वृद्धि नही हो रही है तथा आयात अधिक है एव इनमे कमी करना सभव नही है तो ऐस राष्ट्रो को अधिकाधिक अनुदान की ही आवश्यकता होगी।

2 बहुपक्षीय बनाम द्वि पक्षीय सहायता

(Multilateral Versus Bilateral Aid)

बहुपक्षीय सहायता के अन्तर्गत किसी देश को अनेक देशो से सहायता प्राप्त करने की सुविधा रहती है जबकी द्विपक्षीय सहायता मे दो देशो के बीच ऋण सम्बन्धी समझौते होते है। प्रो० किन्डल बर्गर का मत है कि द्विपक्षीय सहायता के अन्तगत ऋणदाता का सहायता के उपयोग पर नियत्रण रहता है तथा यह सहायता प्रदानकर्ता राष्ट्र को इस प्रलोभन का शिकार बना देती है कि वह सहायता को अत्यधिक अल्पकालीन राजनैतिक उद्देश्यो हेतु उपयोग करे तथा राजनैतिक दबाव डालने का प्रयास करे। उनके अनुसार "समय के साथ सहायता सुस्थापित होती जाती है इसे जारी रखने से राजनैतिक लाभ मिलने बन्द हो जाते हैं तथा इसे बन्द करना निश्चय ही शत्रुतापूर्ण (unfriendly) माना जाता है।'[6] अत बहु पक्षीय एजेन्सीज ऋण दाता

5 Kindleberger C P—International Economics (5th ed) pp 4d2 43
6 Kindleberger C P—op cit p 439

को सरक्षण प्रदान करती है जिसके पीछे ऋण दाता अपने राजनैतिक उलझाव को सीमित कर सकता है तथा आवश्यक होने पर ऋण प्राप्तकर्ता राष्ट्रों से भी अपने दुखद उलझाव को कम कर सकता है लेकिन बहुपक्षीय सहायता से ऋण दाता राष्ट्र द्वारा अर्जित "कृतज्ञता" मे कमी भी आती है।

प्रो० टामस बलॉघ[7] (Thomas Balogh) व रोजन्स्टीन रोडा[8] (Rosentein Rodan) ने दर्शाया है कि प्रमुखतया द्विपक्षीय सहायता की अनिवार्यता व वांछनीयता की स्वीकृति अधिकाधिक हो रही है। अनुभव ने इस क्षेत्र में बहुपक्षीय सस्थाओ की अपर्याप्तता स्पष्ट कर दी है तथा यह अधिकाधिक महसूस किया जा रहा है कि बिना सहायता की मात्रा को दाव पर लगाये सहायता प्रवाहो को राष्ट्रीय नीति लाभो से पूर्णतया पृथक नही किया जा सकता। इस सदर्भ मे रोडा ने 'कनसार्टियम तकनीकी' के माध्यम से द्विपक्षीय प्रवाहो के 'बहुपक्षीयकरण' करने की वकालत की है।

लेकिन बहुपक्षीय ऐजेन्सीज द्वारा प्रदत्त सहायता मे दो स्पष्ट कमियाँ बनी रहती हैं प्रथम तो यह की इन ऐजेन्सीज ने व्यावसायिक लकीरो (Professional lines) पर अति विशिष्टीकरण कर लिया है, (यह आलोचना विश्व बैंक व अन्तर्राष्ट्रीय विकास सघ के सदर्भ मे लागू नही होती है लेकिन यूनेस्को, एफ ए ओ, आई एल. ओ, डब्लु एच ओ आदि के सन्दर्भ में सत्य है)। बहुपक्षीय एजेन्सीज की दूसरी समस्या यह है कि जैसे बच्चे के जन्म दिवस की पार्टी में प्रत्येक बच्चे को इनाम दिया जाना जरूरी होता है उसी भाँति बहुपक्षीय ऐजेन्सीज का सहायता मानदण्ड ऐसा अपनाया जाता है कि सभी जरूरतमन्द राष्ट्रो को सहायता मिल जाये। अत बहुपक्षीय ऐजेन्सीज पर सहायता के दावेदारो का दबाव निरन्तर बना रहता है।

3 पी. एल. 480 के अन्तर्गत प्रदत्त खाद्यान्न सहायता की कार्यकुशलता
(The Economic efficiency of food aid under PL 480)

विदेशी सहायता साहित्य के अन्तर्गत प्रमुख विश्लेषणात्मक विषय (Issue) अति उत्पादन को खपाने से सम्बद्ध रहा है। इस अति उत्पादन को खपाने के प्राप्तकर्ता राष्ट्रों के कृषि विकास पर पडने वाले प्रभावो का प्रश्न प्रमुख रहा है। प्रारम्भिक वर्षों

7 Balogh, T —Multilateral versus Bilateral Aid—Reprinted in Bhagwati & Eckaus (edt) Foreign Aid (1970)

8 Rosenstein—Rodan P N —The Consortia Technique—Reprinted in Bhagwati & Eckaus (edt) Foreign Aid (1970)

व्यवस्था का अंग मान लिया जाता है ऐसा प्राय. समाज वादी राष्ट्र करते हैं। एक वैकल्पिक विधि जो कि फ्रांस के प्राधिकरण प्रयुक्त करते हैं वह यह है कि सहायता प्रवाह को उन प्रावधानो से जोड दिया जाता है जिनके अन्तर्गत सहायता राशि को फ्रांस की वस्तुओ व सेवाओ पर व्यय किया जाता है, जबकि फ्रांस 'पारस्परिकता' के रूप मे पूराने फ्रांस-अर्पकी क्षेत्रो से अधिमानिक (preferential) आधार पर क्रय करता है।

एक अन्य तरीके के अन्तर्गत केवल उन्ही वस्तुओ व परियोजनाओ के लिये वित्त व्यवस्था की जाती है जिनके अन्तर्गत उल्लेखित मदो (specified items) की पूर्ति मे सहायता प्रदान कर्ता राष्ट्र का स्पष्ट लाभ विद्यमान हो।

(4) *निर्यात व आयात साख (Export and Import credits)* · इसके अन्तर्गत आयातकर्ताओ अथवा निर्यातकर्ताओ को साख प्रदान की जाती है जो कि ऋणदाता राष्ट्र के निर्यातो से स्वत ही जुडी रहती है।

(5) वस्तुओं व तकनीकी सेवाओ के रूप मे प्रत्यक्ष निहित सहायता

(Aid directly in the form of goods & technical services)

इसके अन्तर्गत सहायता प्राप्तकर्ता राष्ट्र को सहायता प्रदानकर्ता राष्ट्र से वस्तुओ व सेवाओ के रूप मे ही सहायता प्रदान की जाती है।

5 एक प्रतिशत सहायता का लक्ष्य

(The 1 per cent aid target)

विदेशी सहायता कितनी दी जानी चाहिये ? इस प्रश्न का उत्तर "माँग दृष्टिकोण" व "पूर्ति दृष्टिकोण" दोनों को ध्यान मे रखकर प्रदान किया जा सकता है।

"माँग दृष्टिकोण" के अनुसार हम सहायता प्राप्तकर्ता अर्द्ध-विकसित राष्ट्र की सहायता आवश्यकताओ को ध्यान मे रखते हुए सहायता राशि निर्धारित करते हैं। प्रो० रोजन्सटीन रोडा (Rosenstein Rodan) के सूत्र से हम इसी आधार पर सहायता आवश्यकता की गणना करते हैं।

जहाँ तक "पूर्ति दृष्टिकोण" का प्रश्न है इसके अन्तर्गत हम सहायता प्रदानकर्ता राष्ट्रों के मध्य सहायता वितरण पर विचार करते है। आँकडो व गणना विधि की विभिन्नताओ के बावजूद इस लक्ष्य पर आश्चर्यजनक सर्वसम्मति पाई गई

कि विकसित राष्ट्र अपनी राष्ट्रीय आय का 1 प्रतिशत विकासशील राष्ट्रों को रियायती ऋणों व अनुदान के रूप मे प्रदान करें। सन् 1960 म सयुक्त राष्ट्र सघ ने 1960 के दशक का 'विकास दशक' घोषित करते हुए राष्ट्रीय आय की एक प्रतिशत सहायता को विकास सहायता का लक्ष्य स्वीकार किया था।

1956 से 61 के वर्षों मे यह लक्ष्य वास्तव म प्राप्त किया जा चुका था तथा इस अवधि म विदेशी सहायता विकसित राष्ट्रों की आय का 1 1 प्रतिशत थी।

सन् 1966 के बाद अमेरिका द्वारा प्रदत्त विदेशी सहायता म कमी होने के परिणामस्वरूप इस लक्ष्य की प्राप्ति नही हो पायी है। वतमान म विदेशी सहायता इस लक्ष्य से बहुत कम रही है, उदाहरणाथ, सन् 1981 म सयुक्त राज्य अमरिका, ब्रिटेन, कनाडा, जापान व पश्चिमी जमनी ने अपनी राष्ट्रीय आय का क्रमश 0 2, 0 44, 0 43, 0 28 तथा 0 47 प्रतिशत विदेशी सहायता प्रदान की थी। यह प्रतिशत समस्त राष्ट्रों के औसत के रूप म 0 35 ही था।

इसके अतिरिक्त, राष्ट्रीय आय का एक प्रतिशत जैसे विदेशी सहायता लक्ष्य म आनुपातिक करारोपण अन्तरनिहित है तथा अर्थशास्त्री आय प्रगतिशील करारोपण के पक्ष में तर्क करते हैं। यथार्थ म आनुपातिक करारोपण भी लागू नही होता है, तथा सबसे धनाढ्य साहूकार देश अमरिका इस पैमाने पर नीची श्रेणी म आता है।

विदेशी सहायता नीति में अकुशलताएँ

(Inefficiencies in Aid Policy)

पूर्व वर्णित बन्धनो अथवा शर्तों से विदेशी सहायता मे विभिन्न प्रकार की अकुशलताएँ आ जाती हैं, जिनसे सहायता प्राप्तकर्ता राष्ट्र के लिए सहायतार्थ प्रदत्त राशि की सार्थकता व उपयोगिता घट जाती है तथा बाजार मे मूल्य व गुणवत्ता सम्बन्धी प्रतिस्पर्धा घट जाती है, अर्थात् सहायता प्रदानकर्ता राष्ट्र को एक प्रकार की एकाधिकारी शक्ति प्राप्त हो जाती है। इस एकाधिकारी शक्ति के माध्यम से सहायता प्रदानकर्ता राष्ट्र, सहायता प्राप्तकर्ता राष्ट्र पर इच्छित वस्तुएँ इच्छित मूल्यो पर थोपता रहता है।

विकासशील राष्ट्र को 'परियोजना' सहायता प्रदान करने के परिणामस्वरूप उन्हें ऐसी परियोजनाओ के लिए ऋण दिया जा सकता है जो कि "प्रदर्शन" (Dis-

से सहायता प्राप्तकर्ता राष्ट्र, सहायता प्रदानकर्ता राष्ट्रों में से अथवा ऐसे राष्ट्र के न्यूनतम कीमत वाले पूर्तिकर्ता से उपकरण क्रय कर सकेंगे।

लेकिन प्रतिस्पर्द्धा में वृद्धि के बावजूद भी बंधनमुक्त सहायता में एक अन्य सम्भावित गम्भीर अकुशलता तो बनी ही रहेगी, वह यह कि सहायता प्राप्तकर्ता विकासशील राष्ट्र सहायता राशि का एक दूसरे से विनियोग-वस्तुएँ क्रय करने में उपयोग लेने में असमर्थ रहेंगे। विकासशील राष्ट्रों द्वारा एक दूसरे से क्रय की गयी विनियोग-वस्तुएँ सस्ती व तकनीकी दृष्टिकोण से अधिक उपयुक्त होने के साथ-साथ पूर्ति कर्ता राष्ट्र के आर्थिक विकास में भी सहायक सिद्ध हो सकती है।

बंधनयुक्त विदेशी सहायता में अकुशलता का एक अन्य स्रोत यह है कि विकासशील राष्ट्रों को विश्व बाजार में उपलब्ध से कम निपुण सलाहकारों से काम चलाना पड़ सकता है जो कि इन राष्ट्रों की आर्थिक दशाओं के अनुकूल नहीं है— विशेषकर इनकी सापेक्ष साधन-दुर्लभता के।

बन्धनयुक्त सहायता में एक अन्य अकुशलता यह है कि विश्व के सबसे बड़े साहूकार देश अमेरिका ने यह प्रथा चला रखी है कि सहायता का 50 प्रतिशत माल अमेरिका के जहाजों में ही ले जाया जायेगा तथा अमेरिका के जहाजों में माल ढोने की लागत विश्व लागतों से बहुत ऊँची है। ऐसी शर्तों के फलस्वरूप सहायता राशि का वास्तविक मूल्य बहुत कम हो जाता है।

सहायता में उपर्युक्त अकुशलताओं की गम्भीरता इस तथ्य पर निर्भर करती है कि विकासशील राष्ट्र सहायता प्रदानकर्ता राष्ट्रों की आपसी सहायता प्रतिस्पर्द्धा का कितना लाभ उठा सकते हैं तथा बन्धनयुक्त सहायता के अन्तर्गत विकास उपकरणों की ऊँची कीमत चुकाने से किस सीमा तक मुक्त हो सकते हैं।

कई विशेषज्ञों का मत है कि वर्तमान में सहायता प्रदानकर्ताओं में प्रतिस्पर्धा काफी व्यापक हो चुकी है, अतः सहायता में अकुशलताएँ भी घट गयी हैं।

लेकिन पाकिस्तान के वित्त मन्त्री व वहाँ के योजना आयोग के विद्वान अर्थ-शास्त्री डा० महबूब उल हक[11] (Mahbub ul Haq) ने अपने अध्ययन में पाया कि छः विभिन्न राष्ट्रों द्वारा वित्त व्यवस्था प्रदत्त छब्बीस विकास परियोजनाओं के प्रतिदर्श (sample) में एक-एक मद के बन्धन युक्त स्रोत के न्यूनतम भावों (quotation) की अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धात्मक न्यूनतम भावों से तुलना करने से ज्ञात होता है कि अन्तर्राष्ट्रीय बोलों की तुलना में बन्धनयुक्त स्रोत की भारित औसत कीमत 51 प्रति-

11 Haq, Mahbub ul—Tied Credits—A Quantatitive Analysis—Paper for the International Economic Association Round Table on Capital Movements & Econ. Development, July 21-23 1965, Washington, D. C.

शत ऊँची थी। डा० हक ने टिप्पणी करते हुए लिखा है कि इस सन्दर्भ में सबसे बुरे अपराधी जापान, फ्रांस, इटली तथा नीदरलैण्ड रहे हैं तथा यदि पश्चिमी जर्मनी व इगलैण्ड से अधिक सहायता प्राप्त हुई होती तो परियोजनाएँ न्यूनतम अधिप्राप्ति के स्रोत की दिशा मे घूम जाती। गैर-परियोजना सहायता के अन्तर्गत अमेरिका से अधिप्राप्त वस्तुओ की एक अन्य तुलना से ज्ञात हुआ कि अधिकाश लोहा व इस्पात उत्पादो की अन्तर्राष्ट्रीय कीमतो की तुलना मे अमेरिका मे 40 से 50 प्रतिशत ऊँची कीमतें थी तथा इन उत्पादो के लिए जापान सस्ता स्रोत होता, लेकिन पाकिस्तान को जापान से प्राप्त होने वाली गैर-परियोजना सहायता नगण्य थी।

तीसरी तुलना से ज्ञात हुआ कि न्यूनतम अन्तर्राष्ट्रीय किरायो से अमेरिका के जहाजो के बन्धनयुक्त सहायता क किराये 43 से 113 प्रतिशत तक ऊँचे थे।

डा० हक ने एक मोटा हिसाब लगाया है कि सन् 1965 मे पाकिस्तान को प्राप्त 500 मिलियन डालर की सहायता यदि बन्धनमुक्त होती तो अन्तर्राष्ट्रीय बाजारो से पूर्ति अधिप्राप्त कर, राष्ट्र 60 मिलियन डालर की बचत कर सकता था। इस प्रकार बन्धनयुक्त सहायता से अधिप्राप्ति का औसत मूल्य 13½ प्रतिशत से कुछ अधिक ऊँचा हो गया था।

डा० हेरी जॉनसन[12] (Harry Johnson) ने इगित किया है कि डा० हक के अनुमानो मे सहायता की अकुशलताओ का वास्तविक से कम आकलन (underestimate) होने के दो कारण हैं :—

(1) प्रथम तो यह कि पाकिस्तान को बन्धनयुक्त व बन्धनमुक्त सहायता की पूर्ति करने वाले प्रतिस्पर्धी पूर्तिकर्ताओ की सख्या काफी बडी थी, तथा

(2) द्वितीय यह है कि इन अकुशलताओ से होने वाली हानि को कुल सहायता राशि से जोडने की बजाय सहायता के उस अश से जोडा जाना चाहिये था जो बन्धनमुक्त था। यदि हम इस विधि से गणना करें तो डा० हक के आँकडो के आधार पर सहायता को बन्धनयुक्त करने से अधिप्राप्ति की औसत कीमत लगभग 20 प्रतिशत ऊँची प्राप्त होगी।

अत स्पष्ट है कि डा० हक के निष्कर्ष निर्णायक रूप से दर्शाते हैं कि बन्धनयुक्त विदेशी सहायता की विभिन्न अकुशलताओ को नगण्य मान कर नकारा नही जा सकता है।

---

12. Johnson, H G —op cit., Chap 3

विदेशी ऋण-सेवा भार की समस्या

(Problem of debt Service burden)

विकासशील राष्ट्रो की अनेक आर्थिक समस्याओं मे से अन्तर्राष्ट्रीय ऋण-ग्रस्तता की समस्या सर्वाधिक विकराल रूप धारण कर चुकी है तथा यह समस्या ऋणी राष्ट्रों के सामाजिक व आर्थिक विकास मे 1980 के दशक मे गम्भीर बाधा बन गई है।

सन् 1982 से 1987 के मध्य विश्व के सत्रह सर्वाधिक ऋणी राष्ट्रों (ब्राजील, मेक्सिको, कोलम्बिया, मोरोक्को नाइजीरिया, फिलीपीन्स, आदि) की प्रति-व्यक्ति आय गिर कर ½ रह गई थी तथा सब-सहारन अफ्रीकी राष्ट्रो की प्रतिव्यक्ति आय इस अवधि मे घटकर एक-चौथाई रह गई थी। लेटिन अमेरिका मे सन् 1987 में प्रतिव्यक्ति निवेश का स्तर सन् 1970 से भी नीचा था जबकि सब-सहारन अफ्रीकी राष्ट्रो मे यह साठ के दशक को मध्यावधि से कम था।

अधिकांश विकासशील राष्ट्र 'कर्ज जाल' (debt Trap) में उलझे हुए हैं। प्रारम्भिक अनुमानों से ज्ञात होता है कि सन् 1987 मे भी विकासशील राष्ट्रो के विदेशी ऋणों मे उसी दर से वृद्धि होती रही है जिस दर से सन् 1986 मे हुई थी अर्थात् यह वृद्धि दर 2 से 2.5 प्रतिशत के मध्य रही है। सांकेतिक रूप मे (in nominal terms) कुल ऋणों मे सन् 1987 मे 6.25 प्रतिशत की वृद्धि होकर वे 1120 बिलियन डालर से 1190 बिलियन डालर हो चुके हैं। सन् 1987 मे दीर्घ-कालीन ऋण वितरण (disbursement) सन् 1986 के 86 बिलियन डालर से कुछ बढ़कर लगभग 90 बिलियन डालर थे। विशुद्ध उधार प्रवाह सन् 1986 के 25 बिलियन डालर से बढ़कर सन् 1987 मे 26 बिलियन डालर हुआ था लेकिन सन् 1986 का विशुद्ध उधार प्रवाह सन् 1981 की तुलना मे एक तिहाई रह गया था। लेकिन अत्यधिक ऋणी मध्यम आय वाले राष्ट्रो (HICs) व निम्न आय वाले सब-सहारन राष्ट्रो (SSA) की अन्तर्राष्ट्रीय ऋण ग्रस्तता की समस्या बहुत ही गम्भीर हो चुकी थी।

अन्तर्राष्ट्रीय ऋण ग्रस्तता की समस्या को विश्व समुदाय ने पहली बार सन् 1982 मे आधिकारिक रूप से स्वीकार किया था। लेकिन ऋण ग्रस्तता की समस्या गरीब देशो के लिए सबसे बड़ा सरदर्द बन चुकी है। अकटाड के आंकड़ो से ज्ञात होता है कि तजानिया, जिम्बाबवे, मालागासी, बर्मा, एक्वेडर, पेरू आदि अनेक राष्ट्र अपनी कुल निर्यात आय का 30 से 50 प्रतिशत तक ऋण भुगतान के रूप में चुका रहे हैं। सामान्यतया किसी भी राष्ट्र द्वारा अपने विदेशी ऋण की अदायगी पर यदि

उसकी कुल निर्यात आय के 20 प्रतिशत से अधिक व्यय किया जाता है तो स्थिति कष्टप्रद व गम्भीर मानी जा सकती है।

अन्तर्राष्ट्रीय ऋण-ग्रस्तता की गम्भीरता को सारणी 20.1 के सूचक स्पष्ट रूप से दर्शाते हैं।

सारणी 20.1 मे विकासशील राष्ट्रो की ऋण ग्रस्तता की स्थिति इंगित करने वाले प्रमुख सूचक दर्शाये गये हैं।

जहाँ तक कुल बकाया ऋण राशि का प्रश्न है सन् 1980 मे यह राशि 428.6 बिलियन डालर थी जो 1986 मे बढकर 753.4 बिलियन डालर हो चुकी थी। इस प्रकार विकासशील राष्ट्रो की ऋण ग्रस्तता मे 1981 से 86 की अवधि मे लगभग 76 प्रतिशत की वृद्धि हुई है। इसी प्रकार ऋण का सकल राष्ट्रीय उत्पाद (GNP) से अनुपात भी 20 6 से बढकर 35 4 प्रतिशत तक पहुँच चुका है। इस अवधि में कुल ऋण का निर्यातो से अनुपात 90 प्रतिशत से बढकर 144 5 प्रतिशत हो चुका है। ऋण सेवा अनुपात अर्थात् ऋण सेवा भुगतान (ब्याज व परिशोधन) का कुल निर्यात आय से अनुपात इसी अवधि मे 16 प्रतिशत से बढकर 22 3 प्रतिशत हो चुका है। ऋण सेवा का सकल राष्ट्रीय उत्पाद से अनुपात भी निरन्तर बढ रहा है, यह अनुपात सन् 1986 मे 5 5 हो चुका था। ब्याज सेवा का निर्यातो से अनुपात भी निरन्तर बढ़ता रहा है, यह अनुपात सन् 1980 मे 6 9 से बढकर सन् 1986 मे 10 7 हो चुका था। सारणी की अन्तिम पंक्ति दर्शाती है कि कुल ऋण मे निजी ऋण का प्रतिशत लगभग स्थिर बना हुआ है लेकिन कुल बकाया ऋण मे निजी ऋणो का 64 प्रतिशत के करीब होना ऋण समस्या की भावी गम्भीरता का सूचक है।

सारणी मे दर्शाये गये सभी अनुपातो मे निरन्तर वृद्धि बढते हुए ऋण भार की समस्या की गम्भीरता का सूचक है।

ऋण संकट के विस्फोटक रूप धारण करने के कारण

(Causes for the eruption of debt crisis)

(1) सन् 1981 तक विभिन्न बैंको द्वारा अति उधार (over-lending) देते रहना तथा 1981 के बाद बैंक साख का तुरन्त बन्द कर देना। सन् 1983 मे इन बैंको द्वारा प्रदत्त कुल कर्ज की राशि 35 बि डालर थी जो 1984 व 85 में गिरकर क्रमश. 15 व 9 अरब डालर रह गई थी।

(2) अन्तर्राष्ट्रीय ऋण ग्रस्तता की समस्या के विकराल रूप धारण करने का दूसरा

सारणी-20.1

विकासशील राष्ट्रों के ऋण सूचक, 1980-86

(सामान्य संकेत के विपरीत प्रतिशत के रूप में)

सूचक	1980	1981	1982	1983	1984	1985	1986
1. ऋण का जी.एन.पी. से अनुपात	20.6	22.4	26.3	31.4	33.0	35.8	35.4
2. ऋण का निर्यात से अनुपात	90.0	98.0	117.6	134.8	121.2	143.7	144.5
3. ऋण सेवा अनुपात	16.0	17.5	20.6	19.4	19.5	21.4	22.3
4. ऋण सेवा का जी.एन.पी. से अनुपात	3.7	4.0	4.6	4.5	4.9	5.3	5.5
5. ब्याज सेवा का निर्यात से अनुपात	6.9	8.3	10.4	10.1	10.1	10.8	10.7
6. कुल बकाया व वितरित ऋण (बिलियन डालर में)	428.6	490.8	551.1	631.3	673.2	727.7	753.4
7. कुल ऋण में निजी ऋण का प्रतिशत	63.1	64.5	65.0	65.8	65.7	63.8	63.5

Source : The World Development Report, 1987, p. 18.

Note : Data are based on a sample un of ninety developing Countries. Data for 1986 are estimates.

प्रमुख कारण विकासशील राष्ट्रों से विकसित राष्ट्रों को होने वाला पूँजी का प्रवाह था। विश्व बैंक के अनुसार सन् 1986 में 109 विकासशील राष्ट्रों ने ब्याज अदायगी के रूप में उनको प्राप्त सभी प्रकार के दीर्घकालीन ऋणों से 30 बि डालर अधिक का भुगतान किया था।

(3) विकासशील राष्ट्रों की नीची विकास की दर ने भी विदेशी ऋण समस्या को भयावह बनाने में योगदान दिया है। सन् 1985 में विकासशील राष्ट्रों की सामूहिक विकास की दर 4 2 प्रतिशत थी जो कि 1986 में गिरकर 3 66 प्रतिशत रह गई थी।

(4) विकासशील राष्ट्रों की अपर्याप्त निर्यात-आय ऋण भुगतान में प्रमुख बाधा बनी हुई है। इन राष्ट्रों की निर्यात आय कम होने का कारण निर्यातों की मात्रा कम होना तथा निर्यातों की विश्व बाजार में कीमत कम होना दोनों ही रहे हैं। विकसित राष्ट्रों द्वारा बढ़ते संरक्षणवाद की नीति अपनाना व विकासशील राष्ट्रों द्वारा निर्यात संवर्द्धन के पूरे प्रयास न करना दोनों ही निर्यातों की भौतिक मात्रा को बढ़ाने में बाधक सिद्ध हुए हैं। इसके अतिरिक्त प्राथमिक वस्तुओं की अन्तर्राष्ट्रीय कीमतों में भारी गिरावट को विकासशील राष्ट्रों की निर्यात आय को नीचा रखने में प्रमुख बाधक घटक माना जा सकता है।

(5) ऋण संकट का एक अन्य कारण ऐसे घटक हो सकते हैं जो कि ऋणी राष्ट्र के नियन्त्रण से बाहर हो उदाहरणार्थ, हाल ही के वर्षों में बहुत से ऋणी राष्ट्रों ने तैरती हुई ब्याज दर पर ऋण लिये हैं (ये ब्याज दरें लन्दन के बैंकों की आपसी ब्याज दर से जुड़ी रहती हैं) तथा इन ब्याज दरों में अचानक वृद्धि होती रहती है।

इसी प्रकार कृषि प्रधान राष्ट्र में सूखे की स्थिति में निर्यातों में भारी कमी अथवा निर्यात वस्तुओं के विश्व बाजार में प्रतिकूल विकास के कारण निर्यात आय में कमी होने को भी इसी श्रेणी में रखा जा सकता है अथवा विदेशी उधार में अचानक कमी या किसी अन्य कारण से विदेशी विनिमय आय में कमी हो सकती है।

(6) असामान्यरूप से ऊँची ब्याज दरों पर उधार लेना तथा अल्पकालीन ऋणों पर अत्यधिक निर्भरता व अत्यधिक ऋण भी ऋण-सेवा भार की समस्या को जन्म दे सकते हैं।

कर्जों के जाल में उलझे राष्ट्र के समक्ष विकल्प

(The choices available to a country in the debt trap)

ऋण सेवा भार की समस्या का उदय इसलिए होता है कि ऋणी राष्ट्रों से ऋण चुकाने की आशा की जाती है तथा आर्थिक सहायता मे वृद्धि के साथ-साथ विकासशील राष्ट्रों पर ऋण एव ब्याज का भार भी बढता जाता है।

यदि सहायता प्राप्तकर्ता राष्ट्र मे विदेशी सहायता को उत्पादक विनियोग मे प्रयुक्त किया जाय विदेशी सहायता मे होने वाली वृद्धि ऋण सेवा की वृद्धि से अधिक हो, सहायता प्रदानकर्ता राष्ट्र सहायता प्राप्तकर्ता राष्ट्र को ऋणो के भुगतान लम्बी अवधि तक फैलाने की अनुमति दे दे अथवा ऋणो को पूर्वव्याप्ति प्रभाव (retrospective effect) से अनुदान मे परिवर्तित कर दिया जाय तो ऋण भार मे वृद्धि से गम्भीर समस्याएँ उत्पन्न नही होगी। लेकिन यदि इनमे से कोई भी विकल्प उपलब्ध नही है तो ऋणी राष्ट्र दुविधा मे पड सकता है, विशेषकर उस स्थिति मे जब ऋणी राष्ट्र मे सीमान्त बचत व विनियोग पर प्रतिफल की दर नीची हो।

विकासशील राष्ट्रों की ऋण सेवा भार समस्या के सन्दर्भ मे सामान्यतया ऋण पुन सूचीकरण (debt rescheduling) का सुझाव दिया जाता है। ऋण पुनः सूचीकरण से अभिप्राय ऋणो का पुन प्रबन्ध अथवा इनकी पुन सरचना करके मूल पुनर्भुगतान सूची की अवधि को फैलाने से है। इसमे माफी अवधि भी शामिल हो सकती है।

अत ऋण सेवा भार की समस्या से ग्रसित राष्ट्र के सामने एक विकल्प पुन. सूचीकरण का भी होता है।

ऋण सेवा से ग्रस्त राष्ट्र के समक्ष सामान्यतया तीन विकल्प प्रस्तुत रहते है —

1. वह राष्ट्र अपने ऋणो पर पुनर्भुगतान बन्द कर दे और इस प्रकार ऋण सेवा बकाया का सचय करता रहे। लेकिन इस विकल्प की एक बडी कमी यह है कि ऐसा करने से ऋणी राष्ट्र का विश्वास उठ जायेगा तथा उसके लिये भविष्य मे ऋण प्राप्त करना कठिन हो जायेगा।

2. राष्ट्र के समक्ष दूसरा विकल्प यह है कि वह हर हालत मे अपने ऋण सेवा भार को चुकाता रहे। लेकिन ऐसा करने से राष्ट्र को अपने अन्य विदेशी विनिमय व्यय मे कटौती करनी पड सकती है। सामान्यतया यह कटौती आयातो की

कम करके की जाती है अत यह विकल्प अपनाना उन राष्ट्रों के लिए मुश्किल होता है जिनके आयात प्रति आवश्यक वस्तुओं के ही रह गये हो, इस प्रकार यह विकल्प आर्थिक व सामाजिक दोनो ही आधारो पर व्यवहार्य नही है।

3 तृतीय विकल्प के अनुसार राष्ट्र ऋण के पुन सूचीकरण करवाने के प्रयत्न कर सकता है अथवा पुन वित्त व्यवस्था (refinancing) द्वारा बाकी ऋण मे से नया मध्यावधि ऋण ले सकता है जिसका भुगतान ऋण के मुनाफे (proceeds) के भुगतान के साथ किया जा सकता है।

यदि उपर्युक्त तीनो विकल्प ऋण सेवा भार समस्या के हल मे योगदान नही दे सकें तो फिर ऋणदाता राष्ट्र ही इस समस्या का हल कर सकते हैं। वास्तविकता तो यह है कि ऋण सेवा भार का विषय हमारा एक ऐसी समस्या की ओर ध्यान आकर्षित करता है जो ऋणदाताओ द्वारा सृजित की गई है तथा वे ही इस समस्या का आसानी से हल भी कर सकते हैं। अमेरिका ने हाल ही मे इस दिशा मे छोटा लेकिन प्रथम कदम उठाने का सुझाव दिया है।

भारतवर्ष की विदेशी ऋण समस्या

(India's External Debt Problem)

जहाँ तक भारतवर्ष की विदेशी ऋण समस्या का प्रश्न है स्थिति काफी गभीर कही जा सकती है।

हाल ही मे तेल मूल्यो की वृद्धि की वित्त व्यवस्था करने हेतु भारत को अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष की 'विस्तारित कोष सुविधा' के अन्तर्गत 3 9 बिलियन डालर का ऋण प्राप्त हुआ था। इसके अतिरिक्त भारत ने अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी बाजारो से भारी ऋण की राशि प्राप्त की है। इन ऋणो के कारण भारत के विदेशी ऋण के दायित्वो मे भी वृद्धि हुई है। अत हाल ही के वर्षों मे भारत की 'ऋण जोखिम श्रेणी' (debt risk ranking) 30 से बढकर 33वी हो गई है, जो कि बढ़ते हुए ऋणो की सूचक है।

दूसरी ओर, भारतीय रिजर्व बैंक ने अपने 1983-84 के वार्षिक प्रतिवेदन मे सकेत दिया है कि भारत के ऋण सेवा भुगतान निर्यातो की कुल आय का 14 प्रतिशत से कम तथा कुल चालू प्राप्तियो के 8 प्रतिशत से कम थे। इन आँकडो से हमे लगता है कि भारत के विदेशी ऋण शायद अब भी नियन्त्रणीय सीमाओ मे होंग।

लेकिन इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि हाल ही के वर्षों में भारत के विदेशी ऋणों में भारी वृद्धि हुई है। जिसके परिणामस्वरूप ऋण सेवा भार बहुत बढ़ चुका है। आने वाले वर्षों में यह भार और भी तीव्र गति से बढ़ेगा। अत अब और अधिक विदेशी ऋण लेना स्थिति पर नियन्त्रण खो देने की दिशा में ही प्रयास कहा जायगा। भारत के विदेशी ऋणों में हम चार मदों के अन्तर्गत प्राप्त ऋण शामिल कर सकते हैं

(1) विदेशी सहायता का बकाया ऋण,

(2) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की समस्त ऋण सुविधाओं का बकाया ऋण,

(3) व्यापारिक उधार का बकाया ऋण, तथा

(4) गैर-प्रवासी भारतीयों के रुपये व विदेशी मुद्रा खातों के बकाया ऋण।

सारणी 20.2 में 31 मार्च 1984 को भारतवर्ष पर विदेशी ऋणों की बकाया राशि दर्शायी गई है।

सारणी—20 2

31 मार्च, 1984 को भारत पर विदेशी ऋण (करोड रु. में)

1.	विदेशी सहायता के तहत रिआयती ऋण	19,450.0 (63 6)
2	अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के ऋण[1]	5,566 1 (18 2)
3.	व्यापारिक उधार	2,277.0 (7.4)
4	गैर-प्रवासियों के बाह्य खातों की जमायें	3,300.0 (10.8)
	योग	30,593.1 (100)

Source 1 For foreign Aid . Ministry of Finance, Brochure on External Assistance 1983-94

2 For IMF : IMF International Financial Statistics, octo, 1914,

3. *Commercial Borrowing : Business Standard, 12-11-84*
4 NRERA and FCNRA : *Economic Times, 12-12-84*

1 Includes Trust Fund Loan, Compensatory Financing and Extended Fund Facility.

Note Figures in the brackets are percentages.

सारणी 20 2 दर्शाता है कि 31 मार्च 1984 को भारत का कुल विदेशी ऋण 30,593 करोड रुपये था, जिसमे से सर्वाधिक हिस्सा लगभग 64 प्रतिशत विदेशी सहायता के रूप मे बकाया था दूसरा स्थान मुद्रा कोष के ऋणों का था जो कि कुल ऋण का 18 प्रतिशत से कुछ अधिक, लेकिन विदेशी सहायता के बाकी ऋणों से काफी कम था ।

सारणी 20 3 मे भारत का कुल ऋण सेवा भार दर्शाया गया है ।

सारणी--20.3

भारत का ऋण सेवा भुगतान (करोड रुपयो मे)

	1985	1986	1987	1988	1989	1990
कुल ऋण सेवा भुगतान	3,357.9	4,170.2	4,668.1	4,431.9	4,252 8	3,957.8

Source . Estimated on the basis of World Debt Tables-1983-84, published by the World Bank.

सारणी से स्पष्ट है कि भारतवर्ष के ऋण सेवा भुगतान सन् 1985 मे 3,358 करोड रुपये थे जो कि सन् 1990 मे बढकर 3,958 करोड रुपये हो जायेंगे, लेकिन ये भुगतान सर्वाधिक सन् 1987 मे थे, इस वर्ष मे हमे 4,668 करोड रुपये का ऋण सेवा भार वहन करना था ।

यह जानने हेतु कि भारतवर्ष अपनी अधिकतम ऋण क्षमता पर पहुँच चुका है अथवा नही, हमें भारत के ऋण अनुपातो को कुछ ऐसे देशो के ऋण अनुपातो से तुलना करनी होगी जो कि पूर्व के वर्षों मे ऋण समस्याओ मे फस कर ऋणों का भुगतान करने में असमर्थ रहे हैं । ऐसे राष्ट्रों में ब्राजील, मेक्सिको, अर्जेन्टीना आदि को

1984 मे 18 2 था जो कि ब्राजील के सन् 1982 के अनुपात से कुछ अधिक था। भारत के बकाया ऋण का वस्तुओं व सेवाओं के निर्यातों से अनुपात सन् 1984 मे 170 6 था, जो ब्राजील, मेक्सिको व अर्जेन्टीना के अनुपात से ऊपर जा चुका था।

एक अनुमान के अनुसार भारत का ऋण सेवा का निर्यात व चालू प्राप्तियों से अनुपात सन् 1986-90 के वर्षों म क्रमश 20 व 15 प्रतिशत से अधिक हो जाने की सम्भावना है। एक व्यावहारिक मापदण्ड यह है कि यदि ऋण सेवा अनुपात 10 प्रतिशत से कम है तो चिन्ता की बात नही है, लेकिन यदि यह 10 प्रतिशत से अधिक है तो *यह सम्भवत खतरनाक (potentially dangerous)* है।

लेकिन इसका *अभिप्राय यह कदापि नही है कि भारतवर्ष की स्थिति भी मेक्सिको* ब्राजील आदि जैसी होगी। भारत की स्थिति इन राष्ट्रों से कई दृष्टिकोणों से भिन्न है। प्रथम, तो यह कि भारत के विदेशी ऋणों मे एक बडा हिस्सा रिआयती विदेशी *सहायता का है जिसके पुनर्भुगतान की शर्तें अपेक्षाकृत आसान हैं। द्वितीय यह कि* भारतवर्ष ने विदेशी ऋणों का विवेकपूर्ण उपयोग करके ऐसे निवेश किये हैं जिनसे हमारी आय मे वृद्धि हुई है। इसके अतिरिक्त भारत ऋण पुनर्भुगतानों में देरी के अन्य घरेलु व अन्तर्राष्ट्रीय कारणों को भी नियन्त्रित रखने मे सक्षम रहा है।

21.

विकासशील राष्ट्रों की व्यापार समस्याएँ, व्यापार समझौते, सम्मेलन, आर्थिक व्यवस्था व सहयोग

(Trade Problems of Developing Countries, Trade Agreements, Conferences, Economic order and Co-operation)

इस अध्याय मे हम विकासशील राष्ट्रो की व्यापार समस्याओ मे से आयात प्रतिस्थापन द्वारा उद्योगीकरण, निर्यात अस्थिरता (Export Instability), वस्तु सीमा स्थिरीकरण, विनिमय दर नीति व निजी विदेशी विनियोग के प्रति इन राष्ट्रो के रवैये से सम्बन्धित नीतियों का विश्लेषण प्रस्तुत करेंगे। इन राष्ट्रों की कुछ अन्य व्यापार समस्याओ जैसे विदेशी सहायता से सम्बद्ध समस्याएँ, ऋण सेवा भार समस्या आदि की सम्बद्ध अध्याय म पहले ही चर्चा की जा चुकी है। अत शेष प्रमुख समस्याओ का विस्तृत विवेचन यहां प्रस्तुत किया जा रहा है।

१ आयात प्रतिस्थापन द्वारा उद्योगीकरण

(Industrialization by Import Substitution)

विकासशील राष्ट्रो की आयात प्रतिस्थापन पर आधारित उद्योगीकरण की नीति के दोषो का सार डा० प्रेबिश[1] ने इन शब्दों मे व्यक्त किया है :—

(1) ऐसे अर्द्धविकसित राष्ट्र जिनमे उद्योगीकरण की सर्वाधिक प्रगति हुई है, उनमे उद्योगीकरण की सरल व अपेक्षाकृत आसान अवस्था प्राप्त की जा चुकी है। इस अवस्था से आगे आयात प्रतिस्थापन के लिये उचित श्रेणी की आर्थिक व्यवहार्यता की स्थिति प्राप्त करने हेतु तकनीकी रूप से जटिल व अधिक कठिन प्रतिस्थापन वाली क्रियाओ मे आयात प्रतिस्थापन के लिए अत्यधिक पूँजी

1. Prebish, R —Towards a new Trade Policy for Development—(United Nations, 1964).

गहनता व बड़े बाजारों की आवश्यकता होती है। अतः स्पष्ट है कि विकासशील राष्ट्रों में आयात प्रतिस्थापन एक सीमा तक ही सम्भव है। इस सीमा से आगे आयात प्रतिस्थापन करने पर प्राय काफी मात्रा में पूँजी का अपव्यय होता है। इसके अतिरिक्त आयात प्रतिस्थापन को वस्तुओं की विस्तृत विस्तार सीमा तक फैलाने से अन्य आयातों की माँग में वृद्धि होती है। ये अन्य आयातें उस कच्ची सामग्री अथवा अर्द्ध-निर्मित माल के हो सकते हैं जिसे ऐसी उत्पादन क्रियाओं में प्रयुक्त करना आवश्यक है जिनके सन्दर्भ में आयात प्रतिस्थापन हो रहा है अथवा तकनीकी द्वारा निरन्तर सृजित पूँजीगत वस्तुओं या उपभोग वस्तुओं के उत्पादन हेतु आवश्यक सामग्री के आयातों में वृद्धि हो सकती है।

(2) *अर्द्धविकसित राष्ट्रों में अन्य प्रतिकूल घटकों के अतिरिक्त सापेक्ष रूप से छोटे* बाजारों ने उद्योगों की लागतें बेहद ऊँची कर दी है। अत: अत्यधिक ऊँची संरक्षणात्मक प्रशुल्क लगाई जाती है जिसके औद्योगिक संरचना पर प्रतिकूल प्रभावों के परिणामस्वरूप छोटे व गैर आर्थिक संयंत्रों की स्थापना प्रोत्साहित होती है एवं आधुनिक तकनीकी अपनाने की उत्प्रेरणायें क्षीण हो जाती हैं तथा उत्पादकता में वृद्धि मन्द पड़ जाती है। अत: विकासशील राष्ट्रों में निर्मित माल के निर्यातों से सम्बन्धित एक वास्तविक दुश्चक्र (*Vicious circle*) सृजित हो गया है। इन निर्यातों की कठिनाइयों का सामना इसलिये भी करना पड़ता है कि इनकी आन्तरिक लागतें ऊँची है तथा आन्तरिक लागतें, अन्य कारणों के अतिरिक्त, बाजार के विस्तार के लिये *आवश्यक निर्यातों के अभाव* में ऊँची है। यदि औद्योगिक निर्यातों को विकसित करना सम्भव होता तो उद्योगीकरण की प्रक्रिया अधिक क्रियाशील होती क्योंकि इससे निर्माण उद्योगों में *अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन सम्भव हो जाता।*

(3) विकासशील राष्ट्रों में उद्योगीकरण प्रायः सुनियोजित कार्यक्रम का परिणाम नहीं होता है अपितु यह ऐसी प्रतिकूल बाह्य परिस्थितियों द्वारा शासित होता है जिनके कारण आयात घटाना आवश्यक होता है। ये उपाय विशेषकर उन गैर-आवश्यक वस्तुओं के आयातों के सन्दर्भ में प्रयुक्त किये जाते हैं जिनके आयातों को टाला अथवा स्थगित किया जा सकता है। इस प्रकार इन वस्तुओं के घरेलू उत्पादन को दुर्लभ उत्पादक-कारकों का अवशोषण करके तथा प्राय लागतों की परवाह किये बिना, प्रोत्साहित किया जाता है। इस सन्दर्भ में अधिक विवेकपूर्ण नीति तो वह होगी जिसमें विकासशील राष्ट्र उन

वस्तुओं के सन्दर्भ में आयात प्रतिस्थापन करते जिनको अन्य वस्तुओं की तुलना में अधिक अनुकूल परिस्थितियों के अन्तर्गत उत्पादित किया जा सकता था। ऐसी वस्तुओं की श्रेणी में केवल उपभोग वस्तुएँ ही नहीं अपितु कच्ची सामग्री, अर्द्ध निर्मित माल व पूँजीगत वस्तुएँ भी सम्मिलित हो सकती हैं।

(4) गैर-आवश्यक अथवा कम आवश्यक वस्तुओं के सन्दर्भ में आयात-प्रतिस्थापन के परिणामस्वरूप वे विकासशील राष्ट्र जो औद्योगिक प्रक्रिया में सर्वाधिक आगे हैं, उनके आयात अनिवार्य वस्तुओं विशेषरूप से ऐसी अनिवार्य वस्तुएँ जिनकी उत्पादन प्रक्रिया में आवश्यकता होती है– पर केन्द्रित हो चुके हैं। अतः इन राष्ट्रों को प्राथमिक निर्यातों से अर्जित आय में भारी गिरावट की स्थिति से निबटने हेतु आयातों में कटौती करना उतना आसान नहीं रह गया है जितना कि विगत में था क्योंकि वर्तमान में आन्तरिक आर्थिक क्रियाओं की गति को धीमी किये बिना व रोजगार के अवसरों में कमी किये बिना आयातों में कटौती की जाने की सम्भावना बहुत ही सीमित रह गई है।

(5) अन्त में डा० प्रेबिश कहते हैं कि आवश्यकता से अधिक संरक्षण के परिणामस्वरूप विकासशील राष्ट्र विदेशी प्रतिस्पर्धा से पूर्णतया अलग-थलग पड़ चुके हैं जिसके परिणामस्वरूप उत्पादन की गुणवत्ता में सुधार के लिए तथा निजी उपक्रम प्रणाली में लागत घटाने के लिए प्रेरणायें बहुत कम एवं न के समान रह गई हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि विकासशील राष्ट्रों की आयात प्रतिस्थापन की इन नीतियों का, छोटे बाजार के लिए संरक्षित उत्पादन की आन्तरिक लागतें विश्व-बाजार की लागतों से ऊँची बने रहने का प्रभाव तथा संरक्षित वस्तुओं की प्रतियोगिता व कुशलता के स्तर में गिरावट का प्रभाव पड़ता है।

डा० प्रेबिश इस स्थिति के लिए विकसित राष्ट्रों को इसलिए दोषी ठहराते हैं कि ये राष्ट्र विकासशील राष्ट्रों के औद्योगिक उत्पादों के लिए अपने बाजार खोलने के इच्छुक नहीं हैं जबकि प्रो० हेरी जॉनसन[2] (Harry Johnson) इस स्थिति के लिए विकासशील राष्ट्रों की अधिमूल्यित विनिमय दर बनाये रखने की संरक्षणात्मक आयात-प्रतिस्थापन वाली नीतियों को उत्तरदायी मानते हैं।

2. Johnson, H G—Economic Policies Towards Less Developed Countries—(George Allen & unwin, 1967) Chap 3, p 73

डा० प्रेबिश ने इस समस्या के हल हेतु सुझाव दिया है कि विकसित राष्ट्रों को विकासशील राष्ट्रों से औद्योगिक माल को अधिमानिक प्रविष्टि देनी चाहिए ताकि इन राष्ट्रों में उत्पादित माल की ऊँची लागतों का भार विकसित राष्ट्रों द्वारा वहन किया जा सके। इसके विपरीत प्रो० जॉनसन ने इस दुविधा से छुटकारा पाने के लिए विकासशील राष्ट्रों की विनिमय-दर में समायोजन व उदार आयात नीति के संयोग को अपनाने का सुझाव दिया है।

आधुनिक औद्योगिक संरचना में प्रदा-प्रदा सम्बन्धों के महत्त्व को तथा आदाओं की संरक्षण प्रदान करने से लागतों में होने वाली वृद्धि के प्रभाव द्वारा विकासशील राष्ट्रों के उद्योगों द्वारा उत्पादित माल का विश्व बाजार में प्रतियोगिता अयोग्य बन जाने के प्रभाव को ध्यान में रखा जाना आवश्यक है। सामान्यतया विकासशील राष्ट्र आयात प्रतिस्थापन के द्वितीय चरण में आदाओं को संरक्षण प्रदान करते हैं लेकिन इस संरक्षण के लागत वृद्धि प्रभाव की ओर ध्यान नहीं दिया जाता है।

२. निर्यात अस्थिरता

(Export Instability)

विकासशील राष्ट्रों की निर्यात आय व निर्यात कीमतों में विशाल अल्पकालीन उच्चावचन इन राष्ट्रों के आर्थिक विकास में गतिरोध उत्पन्न करते हैं। अतः इस अल्पकालीन अस्थिरता (short run instability) के कारणों, प्रभावों व सीमाओं का अध्ययन आवश्यक है।

विकासशील राष्ट्रों की प्राथमिक वस्तुओं की कीमतों में प्रायः अन्धाधुन्ध उच्चावचन होते रहते हैं। इन उच्चावचनों का प्रमुख कारण बेलोचदार तथा अस्थिर माँग व पूर्ति वक्रों की उपस्थिति है। यह स्थिति चित्र 21.1 द्वारा स्पष्ट की गई है। चित्र 21.1 में D–D व S-S वक्र क्रमशः विकासशील राष्ट्र के प्राथमिक वस्तु के निर्यातों के अधिक ढालू अर्थात् बेलोचदार माँग व पूर्ति वक्र है। यदि D-D माँग वक्र व S-S पूर्ति वक्र है तो साम्य कीमत OP होगी।

अब यदि माँग घटने से माँग वक्र विवर्त होकर D′-D′ हो जाता है अथवा पूर्ति बढ़ने से पूर्ति वक्र विवर्त होकर S′-S′ हो जाता है तो नई साम्य कीमत गिरकर OP′ हो जायेगी। लेकिन यदि माँग व पूर्ति वक्र एक साथ विवर्त होकर D′-D′ व S′-S′ हो जाते हैं तो साम्य कीमत और अधिक गिरकर OP″ हो जायेगी। अब यदि माँग
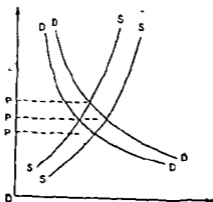
चित्र 21.1 : अस्थिरताकारक माँग व पूर्ति वक्र

व पूर्ति वक्र पुन विवर्त होकर D-D व S-S बन जाते हैं तो कीमत तेजी से बढ़कर O-P हो जाती है। अतः स्पष्ट है कि विकासशील राष्ट्रों के प्राथमिक वस्तुओं के माँग व पूर्ति वक्रो की बेलोचदार (अर्थात् अधिक ढालु) व अस्थिर (विवर्तन) प्रकृति इन राष्ट्रों में निर्यातो की कीमतो मे उच्चावचन जनित कर सकती है।

प्राथमिक वस्तुओ के माँग व पूर्ति वक्र बेलोचदार व अस्थिर क्यों ?

(Why are the Demand and Supply Curves of Primary goods inelastic & Shifting ?)

विकासशील राष्ट्रो मे प्राथमिक वस्तुओ के निर्यातो के माँग व पूर्ति वक्र बेलोचदार व अस्थिर होने के निम्न कारण हैं —इन निर्यातो का माँग वक्र बेलोचदार इसलिये होता है कि विकसित राष्ट्रो के व्यक्तिगत उपभोक्ताओ का चाय, काफी व चीनी जैसी प्राथमिक वस्तुओ के आयातो पर इनकी आय का बहुत कम अनुपात व्यय होता है अत प्राथमिक वस्तुओ की कीमत मे परिवर्तन के परिणामस्वरूप इन वस्तुओ के क्रय में अधिक परिवर्तन नही होता जिससे इन वस्तुओ का माँग वक्र बेलोचदार पाया जाता है। दूसरी ओर प्रतिस्थापनो के अभाव मे भी अधिकांश खनिज पदार्थों की माँग बेलोचदार बनी रहती है। लेकिन विकासशील राष्ट्रो में प्राथमिक वस्तुओ के निर्यातो के माँग वक्र की अस्थिरता का प्रमुख कारण विकसित राष्ट्रो मे व्यापार चक्रो के उच्चावचन होते हैं।

जहाँ तक पूर्ति वक्र बेलोचदार होने का प्रश्न है इसका प्रमुख कारण विकासशील राष्ट्रों में साधन उपयोग की दृढ़ता व अपरिवर्तनीयतायें (rigidities and inflexibilities) होती हैं जो कि दीर्घ-सगर्भता वाली वस्तुओं में विशेष रूप से विद्यमान रहती हैं। पूर्ति वक्रों में अस्थिरता (विवर्तन) का प्रमुख कारण अतिवृष्टि-अनावृष्टि, जन्तु व फसल रोग आदि हैं।

निर्यात अस्थिरता के प्रभाव व इसका माप

(Effects and Measurements of Export Instability)

निर्यात कीमतों में अत्यधिक उच्चावचन के कारण विकासशील राष्ट्रों की निर्यात आय में भारी वार्षिक उच्चावचन आते रहते हैं अतः निर्यात आय में वृद्धि वाले वर्षों में निर्यातकर्ताओं के उपभोग, विनियोग व बैंक जमाओं में वृद्धि हो जाती है जबकि निर्यात आय में कमी वाले वर्ष में आय बचत व विनियोग में कमी हो जाती है। आय की इस वृद्धि व कमी का शेष अर्थव्यवस्था पर कई गुणा प्रभाव पड़ता है, जिससे विकासशील राष्ट्रों के सहज आर्थिक विकास की प्रक्रिया में बाधाएँ प्रस्तुत होती हैं।

जहाँ तक निर्यात अस्थिरता के माप का प्रश्न है प्रो० मेक्बीन[3] (Macbean) के सन् 1966 के अध्ययन, अब (Erb) व शिआवो केम्पो[4] (Schiavo Campo) के सन् 1969 के अध्ययन, मेसल[5] (Massell) के सन् 1970 के अध्ययन व लान्सीरी[6] (Lancieri) के सन् 1978 के अध्ययन में विकसित व विकासशील राष्ट्रों के निर्यातों की अस्थिरता को मापने के प्रयास किये गये हैं। मेक्बीन ने अपने अध्ययन से ज्ञात किया कि सन् 1946 से 1958 की अवधि का 45 विकासशील राष्ट्रों के समूह का निर्यात अस्थिरता सूचक 23 था जबकि 13 विकसित राष्ट्रों के समूह के लिये यह सूचक 18 हो पाया गया। तत्पश्चात् अर्ब व शिआवो केम्पो ने पाया कि सन् 1954

3 Macbean, A I—Export Instability and Economic Development (Cambridge Mass Harvard Univ Press 1966)

4 Erb, G F and Schiavo-Campo S—Export Instability Level of Development & Economic Size of LDCS—Bulletin of Oxford Univ Institute of Econ & Stat 1969

5 Massell, B F—Export Instability and Economic Structure—A E Rev Sept, 1970

6 Lancieri E—Export Instability & Economic Development An Appraisal—Banca Nazionale del lavoro—Q Rev June 1978

से 1966 की अवधि मे विकासशील राष्ट्रो के इसी समूह का निर्यात अस्थिरता सूचक घट कर 13 हो गया था जबकि विकसित राष्ट्रो के समूह के लिये यह सूचक 6 रह गया था। मेसल के अध्ययन से भी इन निष्कर्षों की पुष्टि होती है। लान्सीरी ने अपने हाल ही के अध्ययन से ज्ञात किया कि सन् 1950 से 72 की अवधि मे 123 विकासशील राष्ट्रो के समूह के लिये निर्यात अस्थिरता सूचक लगभग 12 था जबकि 26 विकसित राष्ट्रो के लिये यह सूचक 6 ही था।

अतः उपर्युक्त अध्ययनो से ज्ञात होता है कि विकासशील राष्ट्रो की निर्यात 'अस्थिरता का सूचक' विकसित राष्ट्रो के सूचक से लगभग दुगना है। लेकिन 0 से 100 के पैमाने पर प्रांका जाय तो विकासशील राष्ट्रो मे निर्यात आय अस्थिरता का सूचक निरपेक्ष बोध मे बहुत अधिक नही है।

प्रो० मेकबीन अपने अध्ययन से इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि विकासशील राष्ट्रो की निर्यात आय में अधिक उच्चावचनों के कारण इन राष्ट्रों की राष्ट्रीय आय, बचत व विनियोग मे विशेष उच्चावचन सृजित नही होते हैं क्योंकि एक तो इन राष्ट्रो की निर्यात आय के अस्थिरता सूचक निरपेक्ष बोध मे बहुत ऊँचे नही हैं तथा दूसरे इन राष्ट्रों की अर्थव्यवस्थाओं के विदेशी व्यापार गुणक भी बहुत नीचे हैं। अतः मेकबीन के अनुसार विकासशील राष्ट्रो द्वारा भारी लागत वाले अन्तर्राष्ट्रीय वस्तु समझौतों की मांगो का औचित्य नही है। लेकिन इस सन्दर्भ मे हम यदि निर्यात मात्रा व निर्यात कीमतो के अस्थिरता सूचको का अध्ययन करें तो हमे और अधिक अन्तर्दृष्टि प्राप्त हो सकती है। स्वरूप व स्वामी[7] (Swaroop and Swami) ने अपने सन् 1977 के भारत वर्ष के निर्यातो के अध्ययन से पाया कि सन् 1963-64 से 1973-74 की अवधि मे भारत की निर्यात आय का कोपोक[8] (Coppock) विधि से प्राप्त अस्थिरता सूचक 12 था जबकि निर्यात मात्रा व कीमत का अस्थिरता सूचक क्रमश 6.4 व 13 था। अतः स्पष्ट है कि भारत के निर्यातो की इकाई कीमत मे काफी अस्थिरता विद्यमान थी। यदि ऐसी स्थिति विस्तृत स्तर पर विद्यमान है तो निर्यात कीमत स्थिरीकरण के प्रयासो से विकासशील राष्ट्र निश्चय ही लाभान्वित होंगे।

---

7 Swaroop, B and Swami, K D —A Note on Growth and Stability of Exports *of India—Rajasthan Economic Journal—Jan 1977, pp 67-75.*

8. Coppock, J. D.—International Economic Instability—McGraw Hill Book Co. 1962

अन्तर्राष्ट्रीय वस्तु कीमत स्थिरीकरण व वस्तु समझौते

(International Commodity Price Stabilization and Commodity Agreements)

अधिकांश विकासशील राष्ट्रों का विदेशी विनिमय अर्जित करने का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्रोत प्राथमिक वस्तुओं के निर्यात हैं। इन राष्ट्रों की निर्यात आय का 85 से 90 प्रतिशत प्राथमिक वस्तुओं के निर्यातों से प्राप्त होता है। लेकिन प्राथमिक वस्तुओं की अन्तर्राष्ट्रीय कीमत मे भारी उच्चावचन होते रहते हैं जिसके परिणाम-स्वरूप निर्यातों से अर्जित आय मे अस्थिरता उत्पन्न होती है। यदि प्राथमिक वस्तुओं की अन्तर्राष्ट्रीय कीमत मे स्थिरीकरण प्राप्त कर लिया जाय तो विकासशील राष्ट्रों के विकास मे उपस्थित एक बडी बाधा को हटाया जा सकता है। वस्तु कीमत स्थिरीकरण की अनेक योजनाएँ हो सकती हैं। इनमे से प्रमुख योजनाओं का विवेचन यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

द्वितीय विश्व युद्ध की अवधि के बाद स्थापित किये गये विपणन बोर्डों (Marketing Boards) की स्थापना जैसी विशुद्ध घरेलू योजनाओं द्वारा निर्यात कीमत स्थिरीकरण प्राप्त किया जा सकता है। ये बोर्ड स्वय द्वारा निर्धारित स्थिर कीमतो पर घरेलू उत्पादकों का उत्पादन क्रय करके स्वय इस उत्पादन को उच्चावचन युक्त विश्व कीमतो पर निर्यात किया करते थे। लाभकर वर्षों मे घरेलू कीमतें विश्व कीमतो से नीची निर्धारित की जाती थी ताकि बोर्ड 'लाभ कोष' एकत्रित कर सके। इसके विपरीत हानिकर वर्षों में घरेलू उत्पादकों को एकत्रित कोषों मे से राशि चुका कर विश्व कीमतो से ऊँची कीमतें प्रदान की जाती थी। इस प्रकार के बोर्डों के उदाहरण घाना का कोका विपणन बोर्ड व बर्मा का चावल विपणन बोर्ड है। लेकिन इन बोर्डों में से कुछ ही बोर्डों को सीमित सफलता मिल पाई थी क्योंकि इनके लिये यह सही-सही अनुमान लगाना काफी मुश्किल था कि घरेलू कीमत कितनी निर्धारित की जाय कि वह कई वर्षों की विश्व कीमत के औसत के बराबर हो। इसके अलावा इन बोर्डों मे व्याप्त भ्रष्टाचार भी उनकी असफलता का कारण था।

लेकिन विकासशील राष्ट्रों की सर्वाधिक रुचि "अन्तर्राष्ट्रीय वस्तु समझौतों" मे रही है क्योंकि इन समझौतो से विकासशील राष्ट्रों की निर्यात कीमतों व निर्यात से अर्जित आय म वृद्धि की भी सभावना बनी रहती है। मूलरूप से अन्तर्राष्ट्रीय वस्तु

समझौतों की तीन योजनायें प्रचलित रही हैं :- (1) प्रतिरोधक भण्डारण (Buffer stocks) (2) निर्यात नियन्त्रण तथा (3) क्रय अनुबन्ध ।

प्रतिरोधक भण्डारण की योजना के अन्तर्गत वस्तु की कीमत जब न्यूनतम सम्मत (minimum agreed) कीमत से नीचे गिर जाती है तो वस्तु का क्रय करके इसके भण्डारण में वृद्धि की जाती है तथा जब वस्तु की कीमत उच्चतम निर्धारित कीमत से ऊँची चली जाती है तो भण्डारण में से वस्तु का विक्रय किया जाता है। प्रतिरोधक भण्डारण व्यवस्था की कुछ कमियाँ निम्न थीं —

(1) कई वस्तुओं का भण्डारण बहुत ऊँची कीमत पर ही किया जा सकता है,

(2) यदि न्यूनतम कीमत साम्य से ऊँची निर्धारित कर दी जाती है तो समय के साथ भण्डारण में अधिकाधिक वृद्धि होती जायेगी ।

इस तरह के प्रतिरोधक भण्डारण प्रबन्ध का उदाहरण अन्तर्राष्ट्रीय टिन समझौता है। यह समझौता सन् 1956 में किया गया था लेकिन कई वर्षों के सफल सचालन के बाद इसके पास टिन का भण्डार समाप्त हो गया तथा यह टिन कीमत को निर्धारित अधिकतम् से ऊँचा जाने से नहीं रोक पाया था ।

निर्यात नियन्त्रण (Export Controls) द्वारा वस्तु कीमत स्थिरीकरण-प्राप्त करने हेतु निर्यातित वस्तु की मात्रा को नियमित किया जाता है। इस योजना का प्रमुख लाभ यह है कि इसके अन्तर्गत भण्डारण बनाये रखने की लागत टल जाती है। दूसरी ओर इसकी मुख्य कमी यह है कि इसमें अकुशलताओं को बढ़ावा मिलता है तथा इसकी सफलता के लिए यह आवश्यक है कि वस्तु का प्रत्येक बड़ा निर्यातकर्ता राष्ट्र इस योजना में भाग ले। वास्तव में बड़े निर्यातकर्ता राष्ट्रों के लिए ऐसे समझौते से बाहर बने रहने अथवा समझौते में भाग लेकर धोखा-धड़ी करने के लिए बहुत अधिक प्रेरणायें बनी रहती हैं ।

निर्यात नियन्त्रण योजना का उदाहरण अन्तर्राष्ट्रीय चीनी समझौता है। यह समझौता सन् 1954 में किया गया था लेकिन इससे चीनी की अन्तर्राष्ट्रीय कीमत में स्थिरता अथवा वृद्धि प्राप्त नहीं की जा सकी थी। ऐसा विकसित-राष्ट्रों को चुकन्दर (beet sugar) के उत्पादन में वृद्धि करने की क्षमता के कारण हुआ। निर्यात-नियन्त्रण योजना का एक अन्य उदाहरण अन्तर्राष्ट्रीय कॉफी समझौता था। यह समझौता सन् 1962 में हुआ था। लेकिन इस समझौते द्वारा भी कॉफी की कीमतों का नियमन नहीं हो पाया तथा 1970 के दशक के अन्तिम वर्षों में पूर्ति की

कमी के परिणामस्वरूप काफी की कीमत तेजी से बढ़ गई थी।

क्रय अनुबन्ध (purchase Contracts) बहुपक्षीय दीर्घकालीन समझौते होते हैं। इन समझौतों द्वारा एक ऐसी न्यूनतम कीमत निर्धारित की जाती है जिस पर आयात-कर्ता राष्ट्र वस्तु की उल्लेखित मात्रा का आयात करने को सहमत हो जाते है तथा निर्यातकर्ता राष्ट्र उस वस्तु की उल्लेखित मात्रा को अधिकतम अनुबन्धित कीमत पर निर्यात करने को सहमत हो जाते हैं। इस प्रकार क्रय अनुबन्धों की योजना में प्रति-रोधक भण्डारण व नियन्त्रण योजनाओं वाली कमियाँ नहीं होती हैं। लेकिन इस योजना में वस्तु की द्वि-कीमत प्रणाली लागू हो जाती है। क्रय अनुबन्ध योजना का उदाहरण 'अन्तर्राष्ट्रीय गेहूँ समझौता' है। इस समझौते पर सन् 1949 में हस्ताक्षर हुए थे। इस समझौते से प्रमुखतया अमेरिका, कनाडा व आस्ट्रेलिया प्रभावित हुए थे न कि विकासशील राष्ट्र। लेकिन 1970 के दशक के प्रारम्भिक वर्षों मे सोवियत रूस द्वारा गेहूँ की भारी मात्रा क्रय करने के परिणामस्वरूप गेहूँ की कीमतें विस्थापित कीमत सीमा से तेजी से ऊपर चली गई थी अत यह समझौता निष्क्रिय हो गया।

उपर्युक्त वर्णित समझौते अनेकों म से वे हैं जिनका कुछ न कुछ महत्त्व रहा है तथा जो द्वितीय विश्व युद्ध के बाद की अवधि मे कभी न कभी परिचालक थे। लेकिन जैसा कि स्पष्ट है ये समझौते विकासशील राष्ट्रों के निर्यातों की कीमत स्थायी बनाये रखने अथवा उसे बढाने मे या तो असफल रहे अथवा सीमित सफलता ही प्राप्त कर पाये थ। इस असफलता का एक प्रमुख कारण तो इन समझौतो के परिचालन की ऊँची लागतें थी तथा दूसरा कारण इन अन्तर्राष्ट्रीय समझौतो को विकसित राष्ट्रों से प्राप्त समर्थन की कमी थी, क्योंकि इन समझौतो के विस्थापित करने व चालू रखने का अधिकांश भार विकसित राष्ट्रों को ही वहन करना पडता है। लेकिन फिर भी विकासशील राष्ट्रो ने नई अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था की माँग मे अन्तर्राष्ट्रीय वस्तु समझौतो को केन्द्रीय स्थान प्रदान किया है तथा हाल ही के वर्षों मे इन राष्ट्रो को इस दिशा मे कुछ सफलता भी प्राप्त हुई है।

इसके अलावा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने भी 1970 के दशक के प्रारम्भ मे ऐसे विकासशील राष्ट्रो के लिए जिनकी निर्यात आय पूर्व के पाँच वर्षों की निर्यात आय के गतिमान औसत (Moving average) से कम थी। एक मामूली 'क्षति-पूर्ति वित्त व्यवस्था' योजना प्रारम्भ की थी।

लेकिन उपर्युक्त सभी योजनाएँ विकासशील राष्ट्रो की माँग की तुलना में बहुत

ही मामूली व छोटे प्राकार की थी प्रत इस दिशा मे सफलता प्राप्त करने हेतु विकसित राष्ट्रों से विशिष्ट सहयोग प्राप्त होना अत्यावश्यक है।

विकासशील राष्ट्रों की विनिमय दर नीतियाँ

(Exchange-Rate Policies of Developing Countries)

आयात प्रतिस्थापन द्वारा उद्योगीकरण के अनुसरण तथा इससे उत्पन्न अकुशलता व अप्रतियोगितात्मकता का स्फीतिकारी मौद्रिक व राजकोषीय नीतियो व मुद्रा-अवमूल्यन की अनिच्छा की नीति के संयोग से गहरा आपसी सम्बन्ध है। स्फीतिकारी नीतियाँ अपनाने से भुगतान सन्तुलन में घाटा उत्पन्न होता है तथा विनिमय दर का अवमूल्यन करने की अनिच्छा से आयात प्रतिस्थापन का सहारा लेना पडता है। इसके अतिरिक्त इस मार्ग से प्रारम्भ की गई आयात प्रतिस्थापन नीतियो के अन्तर्गत परित्याग किये जाने वाले आयातो का चुनाव राजनैतिक कार्य साधकता द्वारा होता है तथा विशेष रूप से यह चुनाव उपभोग वस्तुओ के स्थान पर विनियोग व वस्तुओ (विशेषकर विलासिता वाली वस्तुओ) का किया जाता है। अत इससे उत्पन्न सरक्षणात्मक प्रणाली अत्यधिक अकुशल होती है। स्फीतिकारी मौद्रिक व राजकोषीय नीतियो को अपनाये रखने से एक दुश्चक्र जनित हो जाता है जिससे और अधिक आयात प्रतिस्थापन आवश्यक व अधिकाधिक कष्टदायी हो जाता है क्योंकि मुद्रा-स्फीति व आयात-प्रतिस्थापन के लागत प्रभावो के कारण निर्यातो की कठिनाईयाँ व आयातो की प्रेरणाएँ बढ जाती हैं। विशेषकर इस अवस्था में इन राष्ट्रो के नीति-निर्धारक निर्यात उपदानो द्वारा अथवा कुछ निर्यातो को प्रोत्साहित करने वाली बहु-विनिमय दरो द्वारा अथवा निर्यात अधिलाभ की योजनाओ द्वारा निर्यातकर्ताओ को दुर्लभ विदेशी विनिमय का आवटन करके आशिक अवमूल्यन का आश्रय लेते हैं। लेकिन इन योजनाओ से परम्परागत निर्यात क्षेत्रो की बजाय नये उद्योगो के निर्यातो को प्रोत्साहन मिलता है जिससे साधन आवंटन मे और अधिक विकृति (distortion) आती है।

स्पष्ट अवमूल्यन के विपरीत इन योजनाओं को अपनाने से नियन्त्रण प्रणाली के क्रियान्वयन म भारी मात्रा म सरकारी व निजी साधन रुक जाते हैं तथा निजी व सामाजिक लागतो के मध्य भारी भिन्नता सृजित हो जाती है जिसे बाद मे सरकारी नीतियों द्वारा समाप्त करना पडता है। फिर भी अवमूल्यन रूपी विकल्प का तथाकथित सामाजिक कारणो अथवा वित्तीय रूढिवादिता तथा कभी-कभी इस विश्वास के

कारण कि अवमूल्यन व व्यापार उदारतानों के सयोग से व्यापार की शर्तों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा, कड़ा विरोध किया जाता है। स्पष्ट ही है कि यदि विकासशील राष्ट्र विकसित राष्ट्रो की व्यापार नीतियो के परिवर्तनो के परिणामस्वरूप उत्पन्न नये व्यापार *अवसरो का पूर्ण लाभ उठाना चाहते हैं तो विकासशील राष्ट्रो को अपनी विनिमय* दरो का विश्व बाजार मे इनकी प्रतियोगिता की योग्यता क्षीण करने वाली आयात-प्रतिस्थापन नीतियो द्वारा दृढतापूर्वक समर्थ करने की बजाय इनमे उचित समायोजन करने को तत्पर रहना चाहिए।

स्फीतिकारी मौद्रिक व राजकोषीय नीतियाँ न केवल अवमूल्यन की अनिच्छुक सरकारो को विशिष्ट रूप से हानिकर आयात-प्रतिस्थापन वाली नीतियो का आश्रय लेन को ही बाध्य करती है अपितु इन नीतियों के आर्थिक विकास व कुशलता पर भी अनेक प्रकार के हानिकारक प्रभाव पडते हैं। इन प्रभावो मे सर्वाधिक गम्भीर प्रभाव तो जनसख्या के कुछ वर्गों को स्फीति के आर्थिक प्रभावो से बचाने हेतु किये गये प्रयासो द्वारा अर्थव्यवस्था मे उत्पन्न विकृतियो के रूप मे होना है। उदाहरणार्थ, सरकार खाद्यान्नो की कीमतें नीचे बनाये रखकर अथवा शहरी परिवहन की लागतो को नियन्त्रित करके औद्योगिक श्रमिक को राहत देने के प्रयास करती है अथवा ब्याज दर नीची रखकर निर्माण उद्योगों में वास्तविक आय के सचार के प्रयास किये जाते हैं। इसी प्रकार स्फीति की अल्पकालीन दर के बारे मे अत्यधिक अनिश्चितता बने रहने के कारण विनियोग निर्णयो की सामान्य प्रक्रिया मे बाधा उत्पन्न होने की सम्भावना बनी रहती है। यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि विकासशील राष्ट्रो मे स्थानीय मुद्रा स्फीति बने रहने का कारण सदैव ही या तो विकास कार्यक्रम की वित्त व्यवस्था हेतु आवश्यक कराधान पर राजनैतिक असहमति अथवा राष्ट्रीय आय के दावदारो म इसके विभाजन पर राजनैतिक असहमति होती है।

विकासशील राष्ट्रों का निजी विदेशी विनियोग के प्रति रवैया

(Attitude of Developing Countries towards Private Foreign Investment)

आधुनिक विश्व में आर्थिक राष्ट्रवाद की शक्ति एव इसकी अविवेकशीलता जनित करने की सामर्थ्य सर्वाधिक स्पष्ट विकासशील राष्ट्रो मे उस अतिविरोधी व सदेहपूर्ण रवैय से सामन आती है जो य राष्ट्र प्रत्यक्ष निजी विदेशी विनियोग के प्रति अपनाते हैं। सर्वाधिक विरोध तो उन बडे अन्तर्राष्ट्रीय निगमो के प्रति उत्तेजित हुआ है जो

इन राष्ट्रो मे खनन व पेट्रोलियम जैसी क्रियाओ तथा बड़ी मात्रा मे उत्पादन एव तकनीकी रूप से सर्वाधिक विकसित निर्माण उद्योगो जैसे—वाहन निर्माण, उर्वरको व तेल शोधन आदि मे कार्यरत हैं। लेकिन ये ही तो ऐसे उद्योग है जिनमे प्रतिस्पर्धात्मक आर्थिक उत्पादन हेतु अनुसन्धान अथवा खोज तथा विकास हेतु पूंजी के विस्तृत पैमाने पर सग्रहण तथा सर्वाधिक अग्रवर्ती उत्पादन तकनीकी व प्रबन्धकीय व विपणन तकनीको का निर्णायक महत्त्व है जिसके परिणामस्वरूप विकासशील राष्ट्रो के इन क्षेत्रो के आधुनिकरण व तीव्र विकास मे अन्तर्राष्ट्रीय निगम महत्त्वपूर्ण योगदान कर सकते हैं। लेकिन इसके बावजूद भी विकासशील राष्ट्रो की सीमाओ के भीतर इन निगमो के सचालन को अत्यधिक सदेह की दृष्टि से देखा जाता है तथा सामान्यतया इन निगमों की स्थापना, विनियोग व स्वदेश भेजे जाने वाले लाभो एव इनके उत्पादन व वितरण के सगठन के तरीको पर बहुत ही कड़ी व प्रतिबन्धक शर्तें लगा दी जाती हैं। विशेषकर इन उपक्रमो के स्वामित्व व प्रबन्ध मे प्राय अल्पाश व कभी-कभी तो अधिकाश स्वदेशी हिस्सेदारी की मांग की जाती है तथा अवयवों (components) एव पूर्ति का घरेलू उत्पादन अथवा क्रय आवश्यक कर दिया जाता है।

इन प्रतिबन्धो का राजनैतिक व सास्कृतिक प्रयोजन तो समझ मे आता है लेकिन इनके कारण प्राय कम्पनियो की सगठनात्मक दक्षता मे भारी कमी आ जाती है तथा इन निगमो के मुख्यालयो वाले राष्ट्र मे प्रयुक्त जिन विशिष्टीकरण की विधियो व विभिन्न विभागो के मध्य श्रम-विभाजन के कारण इनकी प्रतिस्पर्धात्मक कुशलता बनी रहती है उस पर रोक लग जाती है। विशेषकर इन निगमो के अन्तर्राष्ट्रीय समूहो के अन्तर्गत उपलब्ध तकनीकी के स्थानीय उपयोग को इस तरह सशर्त बना दिया जाता है कि इनकी विधियो की गोपनीयता बनाये रखने की क्षमता ऐसे विदेशियो को जिन पर आसानी से विश्वास नही किया जा सकता इन निगमो के प्रशासकीय पदो व समितियो म रखने से जोखिम म पड सकती है। इसके अतिरिक्त इन निगमो की विकसित राष्ट्रों मे तो दक्षता बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करती है कि ये सैकडो हजारो कल-पुर्जे ऐसे विशिष्टीकरण प्राप्त पूर्तिकर्ताओ से क्रय करते हैं जिनमे से प्रत्येक कुछ ही आवश्यक पुर्जों को विशिष्ट रूप से तैयार करते हैं तथा इन्हें अपने विशिष्टीकरण के अनुभव से अत्यधिक कुशलता से तैयार करते हैं एव इन पूर्तिकर्ताओ पर पुर्जों की गुणवत्ता के कडे मानदण्डो व माल भेजने की नियमितता व विश्वसनीयता के लिए भरोसा किया जा सकता है। अत यदि इन निगमो पर यह दबाव डालने का प्रयास किया जाता है कि वे यह पूरी प्रणाली उस अर्द्ध विकसित

अर्थ व्यवस्था मे विकसित करें जिसमे उसी श्रेणी की आर्थिक जटिलता उपलब्ध नही है तो विकासशील राष्ट्रो की तुलना मे श्रम लागतें कम होने के बावजूद भी लागतो मे वृद्धि होगी व उत्पाद-गुणवत्ता गिरेगी जिससे इनका स्थानीय सचालन अप्रतियोगी बन जायेगा।

अत विकासशील राष्ट्रो को इस सन्दर्भ में दो तरह के नीति परिवर्तन करने चाहिये। प्रथम ता यह है कि विकासशील राष्ट्रो को बहु-राष्ट्रीय निगमो के इन राष्ट्रो के विकास मे योगदान की कीमत के अश के रूप मे व्यापार के निगमीय तरीके (Corporate ways) स्वीकार करने चाहिये तथा जहाँ सभव हो वहाँ इन निगमो के प्रभाव व लाभो को घरेलू प्रतिद्वन्दियो व आयातो की अधिक प्रतियोगिता द्वारा नियत्रित करने का प्रयास करना चाहिए न कि इनके प्रबन्ध मे राजनैतिक नियत्रण व सहभागिता द्वारा। द्वितीय यह है कि इन राष्ट्रो को स्थानीय आत्मनिर्भरता व आयात प्रतिस्थापन की नीतियो को लागू करने क प्रयास त्याग कर मूल कम्पनी के विश्व व्यापी सचालनो मे स्थानीय सचालन को एकीकृत करने के प्रयास करने चाहिये। विशेष रूप से इन राष्ट्रो को जिन हिस्सो व पुर्जो म इनका तुलनात्मक लाभ विद्यमान है (अथवा जिनमे यह विस्थापित हो सकता है) उनके घरेलू उत्पादन मे निर्यात हेतु विशिष्टीकरण को प्रोत्साहित करना चाहिए तथा बदले मे कम्पनी के अन्य राष्ट्रो मे सचालन से अन्य हिस्सो व पुर्जों के स्वतत्र आयात करने चाहिये।

प्रशुल्क व व्यापार का सामान्य समझौता (गैट)

[The General Agreement on Tariffs and Trade (GATT)]

प्रशुल्क व व्यापार पर सामान्य समझौते गैट) का सन् 1947 ई मे एक अन्तर्राष्ट्रीय सगठन के रूप म जन्म हुआ था। प्रारम्भ मे "गैट" की सदस्य सख्या 23 थी जो कि वर्तमान मे बढकर 83 हो गयी है। गैट का मुख्यालय जिनेवा (स्वीट्जरलैण्ड) मे स्थित है। 'गैट' बहुपक्षीय व्यापार समझौतो के द्वारा स्वतत्र व्यापार के सवर्द्धन के कार्य म रत है। द्वितीय विश्व युद्ध के तुरन्त बाद हवाना' मे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सगठन (International Trade Organization) का अमेरिका की सनेट द्वारा अनुसमर्थन (ratification) नही हो पाने के कारण 'गैट' की स्थापना हुई थी।

'गैट' के तीन प्रमुख सिद्धान्त है :—

1. गैर-विभेदात्मकता (Non-discrimination)

2 गैर-प्रशुल्क व्यापार प्रतिबन्धों की समाप्ति

3. व्यापार से सम्बद्ध मत भेदों को हल करने हेतु परस्पर विचार-विमर्श ।

इन सिद्धान्तों की विस्तृत चर्चा अग्रलिखित है —

(1) गैर-विभेदात्मकता से अभिप्राय 'परमानुग्रहित राष्ट्र व्यवहार' (Most favoured Nation Principle) से है । 'परमानुग्रहित राष्ट्र व्यवहार' के अन्तर्गत एक सदस्य राष्ट्र को प्रदत्त प्रशुल्क रिआयत समस्त अन्य सदस्यों को समान मात्रा में प्रदान करनी होती है । अत स्पष्ट है कि 'परमानुग्रहित' राष्ट्र के समान ही अन्य सदस्य राष्ट्रों से व्यवहार किया जायेगा ।

उपर्युक्त द्विपक्षीय व्यवस्था की प्रमुख कमी यह थी कि राष्ट्रों के मध्य अधिकाश प्रशुल्क समझौते उन्हीं वस्तुओं के लिए किये जाते रहे हैं जो सम्बद्ध राष्ट्रों के आपसी व्यापार में 'प्रमुख' रही है । अन्यथा अनेक 'मुफ्त भार डालू' (free loader) सदस्य राष्ट्र जो समझौता वार्ताओं में प्रत्यक्ष रूप से शामिल नहीं होते हैं तथा स्वयं किसी भी प्रकार की प्रशुल्क रिआयत प्रदान नहीं करते हैं उन्हें भी दो अन्य सदस्य राष्ट्रों के मध्य हुई प्रशुल्क कटौती के समझौतों से लाभ प्राप्त होते रहते हैं ।

(2) गैर-प्रशुल्क व्यापार प्रतिबन्धों की समाप्ति में नियताशों पर रोक प्रमुख है । समझौते में मात्रात्मक प्रतिबन्धों का पूर्ण निषेध है, लेकिन निम्न अपवादिक परिस्थितियों में नियताश लागू करने की छूट दी जाती है :—

(A) भुगतान सन्तुलन में अत्यधिक घाटे की स्थिति में राष्ट्रों को आयात नियताश लागू करने की अनुमति दी जाती है । इस संदर्भ में आयात नियताश सम्बद्ध राष्ट्र की आरक्षित निधि के रिक्तीकरण को बचाने हेतु कोष की स्वीकृति से ही लागू किया जा सकता है ।

(B) अर्द्धविकसित राष्ट्रों को आर्थिक विकास हेतु 'गैट' से अनुमति प्राप्त कर विशेष प्रतिबन्ध लागू करने की स्वीकृति दी जाती है ।

(C) कृषि व मत्स्य उत्पादों पर प्रतिबन्धात्मक उत्पादन अथवा विपणन नियन्त्रणों की स्थिति में इन पर उसी सीमा तक आयात नियताश लागू किया जा सकता है ।

(3) 'गैट' के ढाँचे के अन्तर्गत प्रशुल्क कटौती हेतु यह आवश्यक है कि समझौते में भाग लेने वाले राष्ट्र यह विश्वास करें कि प्रशुल्क की ऊँची दरों या व्यापार पर

प्रतिकूल प्रभाव पडता है। विभिन्न राष्ट्र आपसी विचार-विमर्श द्वारा उन प्रशुल्कों को कम करते हैं। विशेषकर ऐसी प्रशुल्को को कम किया जाता है जो *आयातों की न्यूनतम मात्रा को भी हतोत्साहित कर देती हैं। इन प्रशुल्क* समझौतो मे राष्ट्र की विशेष परिस्थितियों, व्यक्तिगत उद्योगो व अर्द्ध विकसित राष्ट्रों के हितो का विशेष ध्यान रखा जाता है।

'गैट' के तत्वाधान मे सन् 1947 से 1962 की अवधि मे पांच विभिन्न समझौता के द्वारा प्रशुल्कों म करीब 35 प्रतिशत की कटौती की गयी थी। सन् 1965 म 'गैट'' को विकासशील राष्ट्रों के साथ अधिमानिक व्यवहार करने हेतु बढावा दिया गया तथा उन राष्ट्रों को बिना पारस्परिकता (reciprocity) के औद्योगिक राष्ट्रों के मध्य हुई प्रशुल्क कटौतियों से लाभान्वित होने की अनुमति प्रदान की गई थी।

'गैट' की प्रशुल्क कटौतियो मे विशेष सफलता प्राप्त नही होने का प्रमुख कारण एक-एक उत्पाद (product by product) के आधार पर किय गये समझौते रहे हैं। *इसके अतिरिक्त अमेरिका द्वारा 1950 के दशक म 'व्यापार सहमति एक्ट'* (Trade Agreement Act) म नवीनीकरण करके इसमे भारी सरक्षणात्मक योजनाएँ शामिल करते रहने से भी इन समझौता मे कठिनाई उत्पन्न हुई है। इसके अलावा गैट समझौतों के बावजूद व्यवहार हेतु राजनैतिक सकल्प का भारी अभाव पाया गया है। गैट की वर्तमान अवस्था का वर्णन अग्रलिखित है।

गैट की वर्तमान अवस्था[9]

(The Present Position of the GATT)

(1) 'गैट' वतमान म 90 राष्ट्रो द्वारा अनुमोदित एक बहुपक्षीय समझौता है। तीस *अन्य राष्ट्र भी वस्तुत 'गैट' के नियमो का अनुसरण कर रहे है। विश्व का* 80 प्रतिशत से अधिक व्यापार 'गैट' के नियमा द्वारा शासित है।

(2) वतमान म केवल 'गैट' ही विश्व स्तर का ऐसा निर्णायक मण्डल है जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की समस्याओं स जूझ रहा है। यह न केवल एक नियम सहिता ही है अपितु एक ऐसा मच भी है जहाँ सदस्य राष्ट्र [जिन्हे 'अनुबन्ध

9 *For details see Narasimah S—Twenty years of UNCTAD International* Trade Policy Issues—FTR, July Sept. 1984 (UNCTAD Special Number) pp 182 95

कर्ता पक्षों' (contracting parties) के नाम से जाना जाता है] अपनी व्यापार समस्याओं पर विचार-विमर्श कर उनका हल निकालते हैं एव अपने व्यापार अवसरों का विस्तार करने हेतु वार्तायें करते हैं।

(3) ऐसे अन्य विश्व मण्डल (world bodies) भी हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार व इससे सम्बद्ध क्रियाओं के क्षेत्रों से सम्बद्ध हैं लेकिन वे केवल सलाह दे सकते हैं व सिफारिश कर सकते हैं परन्तु निर्णय नहीं ले सकते। 'गैट' के नियमों मे व्यापार विवादों के औचित्यों व दोषों (rights and wrongs) को गहराई से जाँचने, परामर्श प्रदान करने के लिये आमंत्रित करने, व्यापार बाध्यताओं को टालने, यहा तक कि प्रतिकारात्मक उपायो के लिए अधिकार प्रदान करने एव कई अन्य कारगर कार्यवाहियों को लागू करने का प्रावधान है।

(4) 'गैट' सदस्य राष्ट्रों के अधिकारों व दायित्वों को सम्मिलित किये हुए एक 'अनुबन्ध' है। यद्यपि गैट का मूल पाठ (text) कुछ जटिल अवश्य है लेकिन इसके अन्दर कुछ मूलभूत सिद्धान्त प्रतिस्थापित किये गये हैं जो इस प्रकार हैं —

(1) परमानुग्रहित राष्ट्र व्यवहार

(2) गैर-विभेदात्मक पारस्परिकता तथा पारदर्शकता

(3) विशिष्ट रूप से प्रशुल्क द्वारा सरक्षण, तथा

(4) बहु-पक्षीय वार्ताओं द्वारा प्रशुल्क व गैर-प्रशुल्क युक्तियों को उदार बनाना

उपर्युक्त उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु निम्न के लिए प्रावधान रखे गये हैं —

(1) बहु-पक्षीय व्यापार वार्तायें

(2) विवादों व मतभेदों का परामर्श व मेल-मिलाप द्वारा निपटारा करना

(3) अपवादात्मक दशाओं मे छूटें प्रदान करना

(5) यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि 'गैट' (1) अधिकारों व दायित्वों तथा (2) रोक्थामों व सन्तुलनों, दोनों के प्रावधानों का एक अनुबन्ध है। गैट के नियमों व क्रिया-विधियों का इसके सदस्यों को प्रमुख लाभ इसलिए प्राप्त होता है कि विकसित व विकासशील सभी व्यापार साझेदार इसके सिद्धान्तों को स्वीकृति प्रदान करते है। अत विकासशील राष्ट्रों के लिये अपनी आयात नीतियाँ बनाते समय 'गैट' के नियमों का पालन करते रहना महत्वपूर्ण है।

लेकिन गैट के ढाँचे के अन्तर्गत अधिकांश बहुपक्षीय वार्ताओं के दौरों (Rounds) में विकासशील राष्ट्रों की समस्याओं को केवल परिधि पर ही छोड़ दिया जाता रहा अतः 'गैट' की संरचनात्मक दुर्बलताएँ ही 'अंकटाड' की जन्मदाता मानी जा सकती हैं।

सन् १९६२ का व्यापार विस्तार अधिनियम, केनेडी दौर व टोकियो दौर

(The 1962 Trade Expansion Act, The Kennedy Round and the **Tokyo Round)**

संयुक्त राज्य अमेरिका ने व्यापार सहमति अधिनियम के स्थान पर 'सन् 1962 का व्यापार विस्तार अधिनियम' प्रमुखतया यूरोपीय आर्थिक समुदाय (EEC) अथवा साझा बाजार (CM) के सृजन से उत्पन्न स्थिति पर विचार करने हेतु पारित किया था।

1962 के व्यापार विस्तार अधिनियम के तहत अमेरिका के राष्ट्रपति को यह अधिकार प्रदान किया गया कि वे सभी प्रशुल्क करों म सन् 1962 के स्तर से 50 प्रतिशत तक कमी कर सकते हैं तथा जो प्रशुल्क 5 प्रतिशत स कम हैं उन्हें पूर्णतया समाप्त कर सकते हैं। इस प्रकार इस अधिनियम के द्वारा व्यापार समझौता अधिनियम की 'एक-एक वस्तु' (product-by-product) की प्रणाली को समाप्त कर दिया गया। इसके अतिरिक्त विस्तार अधिनियम से प्रशुल्क कटौतियों से विस्थापित होकर (displaced) *नुकसान वहन करने वाले श्रमिकों व फर्मों के लिये 'समायोजन सहायता'* (Adjustment Assistance) का प्रावधान भी था। अतः 'नुकसान नहीं' (no-injury) वाला सिद्धान्त समाप्त करके विस्थापित श्रमिकों को पुन: प्रशिक्षित करने व सहायता प्रदान करने के प्रावधान के अतिरिक्त हानि वहन करने वाली फर्मों को राहत, नीची लागत न ऋण व तकनीकी सहायता प्रदान करने का प्रावधान रखा गया था। अत स्पष्ट है कि सन् 1962 के अधिनियम का सर्वाधिक महत्वपूर्ण पहलू 'समायोजन सहायता का सिद्धान्त' था क्योंकि सामान्यत. प्रशुल्क कटौतियों से जनता लाभान्वित होती है अत जनता का इन कटौतियों का भार वहन करने म भागीदार बनाया गया था हालांकि 1970 के दशक के प्रारम्भिक वर्षों म सहायता के मानदण्डों म छूट प्रदत्त करने से पूर्व, सहायता प्राप्त करने की श्रेणी में आने योग्य फर्मों व मजदूरों की संख्या लगभग नगण्य सी ही रही थी।

सन् 1962 के अधिनियम के प्राधिकरण के तहत व 'गैट' के तत्त्वाधान मे अमेरिका ने विस्तृत स्तर पर बहु-पक्षीय व्यापार वार्ताओं का सूत्रपात किया। इन वार्ताओ को 'केनेडी दौर' (Kennedy Round) के नाम से जाना जाता है।

'केनेडी दौर' की वार्ताएँ सन् 1967 में पूर्ण हो चुकी थी तथा इन वार्ताओं के परिणामस्वरूप यह समझौता हुआ कि पाँच वर्षों की अवधि के अवस्थाबद्ध कार्यक्रम द्वारा औद्योगिक उत्पादो पर औसत शुल्क दरो मे इनके सन् 1962 वाले स्तर से 35 प्रतिशत की कटौती कर दी जायगी। जब सन् 1972 के अंत तक यह समझौता पूर्ण रूप से क्रियान्वित हो चुका था तो औद्योगिक राष्ट्रों में औद्योगिक उत्पादों पर प्रशुल्क दरें 10 प्रतिशत से भी कम रह गई थीं तथापि कृषि पर अब भी गम्भीर गैर-प्रशुल्क प्रतिबन्ध लगे हुए थे।

सन् 1962 के व्यापार विस्तार अधिनियम के स्थान पर सन् 1974 मे व्यापार सुधार अधिनियम (Trade Reform Act) लागू कर दिया गया। इस अधिनियम द्वारा राष्ट्रपति को यह अधिकार दिया गया था कि वे (1) 60 प्रतिशत तक प्रशुल्क कटौतियों पर वार्ता कर सकते हैं एवं 5 प्रतिशत व इससे कम प्रशुल्कों को पूर्णरूप से समाप्त कर सकते हैं, तथा (2) गैर-प्रशुल्क प्रतिबन्धों में कमी से सम्बद्ध वार्ता कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त इस अधिनियम द्वारा समायोजन सहायता के मानदण्डों को भी उदार बना दिया गया था। सन् 1974 के व्यापार सुधार अधिनियम के प्राधिकरण के तहत अमरिका ने 'टोकियो दौर' (Tokyo Round) के तहत बहु-पक्षीय प्रशुल्क वार्ताओं में भाग लिया। टोकियो दौर' की वार्ताएँ सन् 1974 मे समाप्त हो चुकी थी।

'टोकियो दौर' के तहत सन् 1980 से प्रारम्भ 8 वर्षों की अवधि के अवस्थाबद्ध कार्यक्रम द्वारा अमेरिका द्वारा प्रशुल्क कटौतियों का औसत 31 प्रतिशत, यूरोपीय साझा बाजार द्वारा 27 प्रतिशत व जापान द्वारा 8 प्रतिशत रहा। इसके अतिरिक्त टोकियो दौर की वार्ताओं में गैर-प्रशुल्क व्यापार प्रतिबन्धों के प्रभावों को कम करने के उद्देश्य से गैर-प्रशुल्क प्रतिबन्धों की अनुप्रयुक्ति करते समय अनुसरण हेतु एक आचार संहिता निर्धारित की गई। इस आचार संहिता में निम्न बातें शामिल थी —

(1) सरकारी अधिप्राप्ति संहिता पर सहमति,

(2) राशिपातन रोकने की स्थितियों मे लगाई गई प्रशुल्क की अनुप्रयुक्ति मे एकरूपता,

(3) विकासशील राष्ट्रों के निर्मित, अर्द्ध-निर्मित एवं चुने हुए अन्य निर्यातों के लिए

'वरीयता की सामान्य प्रणाली' (यद्यपि इस प्रणाली में वस्त्र, जूते, उपभोक्ता इलेक्ट्रानिक्स इस्पात एवं कई अन्य ऐसे उत्पाद शामिल नहीं किये गये थे जो कि विकासशील राष्ट्रों के लिए विशेष रूप से महत्वपूर्ण थे)।

इन वार्ताओं से पूर्व यह अनुमान लगाया गया था कि टोकियो दौर के तहत प्रशुल्क कटौतियों से प्राप्त वार्षिक स्थैतिक लाभ लगभग 1.7 बिलियन डालर होगा। इन लाभों में प्रशुल्क कटौतियों से पैमाने की मितव्ययताओं तथा सर्वतोमुखी कुशलता में वृद्धि एवं नव-प्रवर्तनों से प्राप्त प्रावैगिक लाभों को शामिल करने से प्राप्त कुल वार्षिक लाभ 8 बिलियन डालर आंका गया था। ये लाभ प्रमुखतया समय के साथ विश्व व्यापार की मात्रा में वृद्धि से प्राप्त होने वाले थे।

व्यापार और विकास के लिए संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन—अंकटाड[10] (*United Nations Conference on Trade and Development*—UNCTAD)

अंकटाड के जन्म का कारण गैट (GATT) की संरचनात्मक दुर्बलताएँ (*structural weaknesses*) ही थी। सन् 1961 में संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा ने साठ के दशक को (1960S) संयुक्त राष्ट्र संघ का 'विकास दशक' घोषित किया तथा इसी वर्ष संयुक्त राष्ट्र संघ ने एक प्रस्ताव स्वीकार किया जिसे 'अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार आर्थिक विकास का प्राथमिक उपकरण' शीर्षक दिया गया। इस दस्तावेज में संयुक्त राष्ट्र संघ के महासचिव से यह प्रार्थना की गई कि वे सदस्य राष्ट्रों से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की समस्याओं --विशेष रूप से अर्द्ध-विकसित राष्ट्रों की समस्याओं पर एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाने पर सलाह प्राप्त करें। इस सलाह के परिणामस्वरूप 'अंकटाड' का जन्म हुआ। जुलाई 1962 में अर्द्धविकसित राष्ट्रों के 'काहिरा' सम्मेलन में अंकटाड के प्रथम सत्र के लिए समर्थन (support) दिया गया तथा संयुक्त राष्ट्र महासभा ने इसे अनुमोदित कर दिया।

सन् 1963 में 'तृतीय विश्व' के 75 राष्ट्रों ने संयुक्त राष्ट्र महासभा को एक संयुक्त घोषणा पत्र प्रस्तुत किया जिसमें इन राष्ट्रों का दृष्टिकोण, आवश्यकताएँ एवं आकांक्षाएँ सम्मिलित थीं। इन 75 राष्ट्रों के घोषणा पत्र के परिणामस्वरूप

10 For detailed discussion on UNCTAD conferences see FTR (UNCTAD SPECIAL), op. cit.

"77 के समूह" का जन्म हुआ जो कि अर्द्धविकसित राष्ट्रों का प्रथम अनौपचारिक सगठन था। इस समूह के वर्तमान मे करीब 122 राष्ट्र सदस्य है, लेकिन आज भी इसे '77 के समूह' के नाम से ही जाना जाता है। '77 का समूह' समस्त अर्द्ध विकसित राष्ट्रों का प्रतिनिधित्व करता है तथा इन राष्ट्रों मे आर्थिक समस्याओं के निवारण हेतु घोषणाएँ एव प्रस्ताव प्रस्तुत करता रहता है। '77 के समूह' के निर्माण के बाद 'अकटाड' की समस्त कार्य सूचियो (agendas) मे '77 के समूह' के प्रस्ताव ही छाये रहे हैं।

अंकटाड के उद्देश्य अथवा कार्य

(Objectives and Function of UNCTAD)

सयुक्त राष्ट्र महासभा ने 30 दिसम्बर 1964 का प्रस्ताव सख्या 1995 (XIX) को स्वीकृत कर 'अकटाड' को सयुक्त राष्ट की स्थायी ऐजेन्सी के रूप मे स्थापित कर दिया। इस प्रस्ताव मे अकटाड के कार्य भी स्पष्ट किये गये जो कि आगे चल कर, अर्द्ध-विकसित राष्टो के व्यापार के विकास मे सहायक इस सस्था के प्रमुख उद्देश्य बने। 'अकटाड' के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित है —

(1) विद्यमान अन्तर्राष्ट्रीय सगठनो के द्वारा निष्पादित कार्यों को ध्यान मे रखते हुए आर्थिक विकास की गति तीव्र करने हेतु विशिष्ट रूप से विकास की विभिन्न अवस्थाओं वाले राष्ट्रो के मध्य व भिन्न आर्थिक व सामाजिक सगठनो वाले राष्ट्रो व विकासशील राष्ट्रो के मध्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार म सवर्द्धन करना।

(2) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार व इससे सम्बद्ध आर्थिक विकास की समस्याओं के लिए सिद्धान्त व नीतियाँ तैयार करना।

(3) इन सिद्धान्तो व नीतियों को क्रियान्वित करने हेतु प्रस्ताव तैयार करना तथा इसकी सक्षमता के अन्तर्गत ऐसे अन्य कदम उठाना जो आर्थिक प्रणालियो व विकास की भिन्न अवस्थाओं को ध्यान मे रखते हुए इस क्रियान्वयन से सम्बद्ध हैं।

(4) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार व आर्थिक विकास से सम्बद्ध क्षेत्र मे सयुक्त राष्ट्र प्रणाली के अन्तर्गत विद्यमान अन्य सस्थाओं की क्रियाओं के समन्वय मे सुविधा प्रदान करना एव इनकी समीक्षा करना तथा इस सम्बन्ध में सयुक्त राष्ट्र चार्टर के तहत महासभा व आर्थिक व सामाजिक परिषद् के साथ उनकी समन्वीकरण की जिम्मेदारी के निष्पादन मे सहयोग करना।

(5) व्यापार के क्षेत्र मे बहुमुखी वैधिक उपकरणो को अंगीकृत करने व समझौते (negotiations) करने के लिए सक्षम संयुक्त राष्ट्र के अंगो के सहयोग से समझौते के लिए विद्यमान अंगो की पर्याप्तता को मद्देनजर रखते हुए एवं उनकी क्रियाओ को दोहराये बिना जहाँ उपयुक्त हो कार्यवाही का सूत्रपात (initiation) करना ।

(6) चार्टर की धारा 1 के अनुसरणानुसार सरकार व क्षेत्रीय आर्थिक समूहो की व्यापार व सम्बद्ध विकास नीतियो का तालमेल (harmonisation) करने वाले केन्द्र के रूप मे उपलब्ध होना ।

(7) इसकी सक्षमता (competence) के कार्य क्षेत्र मे आने वाले किसी भी अन्य मामले का निपटारा करना ।

अंकटाड का प्रमुख कार्यक्षेत्र
(UNCTAD'S Major Coverage)

इसके जन्म से ही विकासशील राष्ट्र अर्थात् '77 का समूह' अंकटाड पर छाया रहा है । 'तीसरी दुनिया' के देशो द्वारा उस समय विद्यमान विश्व व्यापार के प्रारूप (framework) प्रमुखतया 'गैट' प्रणाली के प्रति उनके असन्तोष एवं औद्योगिक व विकासशील राष्ट्रो के व्यापार मे बढ़ते हुए अन्तराल पर उनकी चिन्ता के कारण इन देशो द्वारा 'अंकटाड' के प्रथम सम्मेलन की वकालत की गयी थी ।

अर्द्ध-विकसित राष्ट्रो से सम्बद्ध प्रतिकूल आर्थिक स्थितियो के उपशमन (alleviation) हेतु 'अंकटाड' मे सम्मिलित क्षेत्रीय समूह वार्ताओ की मतैक्य निर्माण (consensus formation of negotiation) प्रक्रिया का अनुसरण करते हैं । अतः पिछले कई वर्षो से 'नई अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था' (New International Economic Order) की योजना, अर्द्ध-विकसित राष्ट्रो के लिए उदार व्यापार नीति, वस्तु कीमत स्थिरीकरण के प्रयास, तीसरी दुनिया के देशो के विदेशी ऋणो की वित्त व्यवस्था के साधन, तथा अर्द्ध-विकसित राष्ट्रो की व्यापार की शर्तों मे सुधार हेतु प्रस्ताव को अंकटाड की कार्यसूची मे सम्मिलित किया गया है ।

सामान्यतया अंकटाड सम्मेलन लम्बी अवधि तक चलते हैं, तथा इनमे विस्तृत कार्यसूची सम्मिलित की जाती रही है । लेकिन सन् 1983 मे बलग्रेड अंकटाड सम्मेलन मे केवल तीन प्रमुख मुद्दों (items) की कार्यसूची थी अतः यह सम्मेलन केवल चार सप्ताह बाद ही स्थगित कर दिया गया था ।

अंकटाड में निर्धन राष्ट्रों को सामान्यतया एक ही श्रेणी में रखा गया है। उदाहरणार्थ युरगवे (Urugay) की प्रतिव्यक्ति वार्षिक आय 2800 डालर है तो भी इसे उसी अर्द्ध-विकसित राष्ट्रों की श्रेणी में शामिल किया जाता है जिसमें केवल 120 डालर प्रतिव्यक्ति आय वाले देश चैद को शामिल किया जाता है। युरगवे आर्थिक दृष्टिकोण से 4,900 डालर प्रतिव्यक्ति आय वाले आयरलैण्ड के समान है लेकिन आयरलैण्ड को B समूह के औद्योगिक राष्ट्रों की श्रेणी में शामिल किया जाता है। इसी प्रकार दक्षिणी कोरिया व सिंगापुर को अंकटाड में विकासशील राष्ट्रों के समूह में नीति निर्माण के लिए जाइर (Zaire) के साथ रखा जाता है जबकि इनके उद्देश्य जापान जैसे औद्योगिक राष्ट्र जैसे है।

अंकटाड सम्मेलनों में विभिन्न प्रस्तावों पर मतदान करते समय भी अर्द्ध-विकसित राष्ट्र सामान्यतया एक ब्लाक के रूप में ही मतदान करते हैं जबकि औद्योगिक राष्ट्र अपने आप को सामान्यतया मतदान से वंचित रख लेते हैं अथवा '77 के समूह' के विरुद्ध मतदान करते हैं। बहुत सी बार संयुक्त राज्य अमेरिका एक असहमति मतदान कर देता है तथा शेष औद्योगिक राष्ट्र अपने आपको मतदान से वंचित रख लेते हैं।

अंकटाड सम्मेलन

(UNCTAD Conferences)

अंकटाड की स्थापना के बाद आज तक इस संस्था में सात सम्मेलन हो चुके हैं। ये सम्मेलन 1964 में जिनेवा में, 1968 में नई दिल्ली में, 1972 में सेंटियागो में, 1976 में नाइरोबी में, 1979 में मनीला में, 1983 में बलग्रेड में तथा 1987 में जिनेवा में हुए थे। विभिन्न अंकटाड सम्मेलनों में रखे गये प्रस्तावों व उनका कार्यान्वित करने हेतु उठाये गये कदमों का विवेचन अग्रलिखित है।

अंकटाड का प्रथम सम्मेलन

(UNCTAD—I)

अंकटाड का प्रथम सम्मेलन सन् 1964 में जिनेवा में आयोजित किया गया था। 120 राष्ट्रों के 2000 से भी अधिक प्रतिनिधियों ने इस तीन माह चलने वाले सम्मेलन में भाग लिया था। प्रथम सम्मेलन की कार्यसूची पर काफी गर्मा-गर्म बहस हुई थी,

विलियम फॉक्स[11] (William Fox) के अनुसार यह सम्मेलन '20 वीं' शताब्दी के विचार विमर्शों मे भावनाओं की महानतम अभिव्यक्ति (greatest outpourings) थी।

जिनेवा सम्मेलन मे प्रतिनिधियो की सामान्य सिद्धान्तो पर ही वार्ता हुई, विशेषकर *विकासशील राष्ट्रो की उत्कृष्ट आकाक्षाओ व आदर्श विश्व की आर्थिक स्थितियो* पर सहभागिता व्यक्त की गई, विशिष्ट वादे बहुत कम परिभाषित किये गये तथा यही प्रारूप अंकटाड के भविष्य मे होने वाले सम्मेलनो मे अपनाया गया।

अंकटाड के प्रथम सम्मेलन की प्रमुख प्राप्तियाँ अंकटाड की सयुक्त राष्ट्र की स्थायी सस्था के रूप मे स्थापना तथा अंकटाड के स्वय के सचिवालय की स्थापना एव अंकटाड के स्थायी प्रतिनिधि के रूप मे व्यापार विकास बोर्ड की स्थापना थी। '77 के समूह' का निर्माण भी इसी समय हुआ था।

इस सम्मेलन के सभापति अर्जेन्टीना के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री डा० राल प्रेबिश (Raul Prebisch) थे जो बाद मे प्रथम अंकटाड के महासचिव (secretary General) बने। डा० प्रेबिश की देख-रेख मे एक स्थायी सचिवालय भी स्थापित किया गया था।

डा० प्रेबिश के अंकटाड प्रथम पर प्रतिवेदन मे प्रतिरोधक भण्डारण (Buffer Stock) एव निर्यात नियताश सहित प्रत्यक्ष वस्तु बाजार नियन्त्रण प्रक्रियाएँ सम्मिलित थी, साथ ही अर्द्ध-विकसित राष्ट्रो के निर्यात के लिए वरीयता की सामान्य प्रणाली *(Generalised System of Preferences), अर्द्ध-विकसित राष्ट्रो के निर्यातो से* प्रतिस्पर्धा करने वाली वस्तुओ का अन्तर्राष्ट्रीय नियमन, ऋण पुन.सूची करण (rescheduling) तथा क्षति पूर्ति वित्त योजना इस प्रतिवेदन मे शामिल थी। ये समस्त प्रस्ताव *अर्द्ध विकसित राष्ट्रो के पक्ष मे थे तथा इनमे विकसित राष्ट्रो से छूटो की माँग की* गई थी।

प्रथम अंकटाड सम्मेलन मे यह भी निर्णय लिया गया कि अंकटाड का तीन-चार *वर्षों मे अधिक से अधिक एक बार सम्मेलन बुलाया जाता रहेगा।*

अत. स्पष्ट है कि प्रथम अंकटाड सम्मेलन एक न्यायोचित एव विवेकपूर्ण अन्तर-

---

11 William Fox.—Tin, The Working of a Commodity Agreement—(London: Mining Journal Books, Ltd, 1974)

वस्तु बाजार के उच्चावचन अर्द्धविकसित राष्ट्रों की गम्भीर समस्या बन चुकी थी। *उदाहरणार्थ, सन् 1960 में प्राकृतिक रबर की औसत कीमत 35 अमेरिकी* सेंट प्रति पौंड थी जो सन् 1968 में गिरकर 15 अमेरिकी सेंट प्रति पौंड रह गयी थी। इस प्रकार 6 वर्ष से कुछ अधिक समय में 14 रबर उत्पादक राष्ट्रों को संयुक्त रूप से 4 बिलियन डालर के विदेशी विनिमय की हानि उठानी पड़ी।

निर्मित माल की समस्या के भिन्न निहित स्वार्थ समूहों ने भिन्न-भिन्न हल प्रस्तावित किये। *लेकिन सभी आर्थिक अथवा राजनैतिक समूहों ने सकल्प किया* (resolved) कि अर्द्धविकसित राष्ट्रों के निर्यात संवर्द्धन के लिए अधिक प्रयत्न लाभ-*प्रद होंगे। इस विचार-विमर्श के परिणामस्वरूप "गैट" (GATT) के एक भाग* (part) के रूप में 'अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार केन्द्र' (International Trade Centre) की स्थापना की गयी।

विकास वित्त (Development Finance) एवं सहायता के रूप में, अंकटाड के प्रथम सम्मेलन में औद्योगिक राष्ट्रों द्वारा उनकी संयुक्त (combined) सकल राष्ट्रीय *आय के एक प्रतिशत के बराबर अर्द्धविकसित राष्ट्रों को सहायता प्रदान करने के* प्रस्तावित उद्देश्य को द्वितीय अंक्टाड में दोहराया गया (reiterated) जबकि *आधिकारिक सहायता प्रवाहों को सकल राष्ट्रीय आय का 0.75 प्रतिशत करने के* उप-उद्देश्य का सुझाव दिया गया। प्रथम अंक्टाड की असफलता के परिणामस्वरूप अक्टूबर 1967 के 'अल्जियर्स चार्टर' (Charter of Algiers) द्वारा द्वितीय अंक्टाड में विचार-विमर्श के लिये कार्यवाही हेतु ठोस कार्यक्रम तैयार किया गया था।

अत अंकटाड के द्वितीय सम्मेलन में 'अल्जियर्स चार्टर' की सिफारिशों के आधार पर अनेक महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव पारित किये गये। ये प्रस्ताव वस्तुओं से सम्बन्धित कार्यवाही (जिसमें वस्तु प्रबन्धों पर सहमति तथा वस्तु-कीमत स्थिरीकरण शामिल थे), व्यापार उदारता, विकास वित्त तथा विकासशील राष्ट्रों में सर्वाधिक पिछड़े हुए राष्ट्रों के विकास हेतु विशिष्ट उपाय से सम्बद्ध थे। वास्तव में 'नई अन्तर्राष्ट्रीय *आर्थिक व्यवस्था' (NIEO) पर विचार-विमर्श के इतिहास में द्वितीय अंकटाड की* विशेष महत्ता रही है क्योंकि इस सम्मेलन में विकास के मूलभूत मुद्दों को अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के समक्ष रखा गया तथा कार्यवाही के कार्यक्रम को प्रारम्भ करने से सम्बद्ध सहमति प्राप्त की गयी थी। द्वितीय अंक्टाड के विचार-विमर्शों के परिणामस्वरूप सन् 1970 में यूरोपीय आर्थिक समुदाय की वरीयता की सामान्य प्रणाली (G.S.P.) प्रारम्भ की गयी।

जब नई दिल्ली मे द्वितीय अंकटाड सम्मेलन समाप्त हुआ तो इसकी तुरन्त प्राप्तियो व परिणामों के धनात्मक प्रगति नहीं होने के कारण अनेक पर्यवेक्षकों ने इस सम्मेलन को असफल बताया। लेकिन उन पूर्व के वर्षों के सिहावलोकन से ज्ञात होता है कि द्वितीय अंकटाड की वास्तविक प्रगति अंकटाड के भविष्य मे होने वाले सम्मेलनों व भविष्य के वर्षों मे अनुगामी कार्यवाही (follow-up action) पर निर्भर थी।

द्वितीय अंकटाड की कार्यवाही के अध्ययन से ज्ञात होता है कि सभी मुद्दों पर मूल सिद्धान्तो व उद्देश्यों से सम्बन्धित सामान्य सहमति थी लेकिन कार्यक्रम के क्रियान्वयन एवं कार्यवाही हेतु कार्यक्रम के बारे में विकसित व विकासशील राष्ट्रों के विचारों (opinion) में अन्तर था। अंकटाड के द्वितीय सम्मेलन की वार्ताओं में कुल 106 प्रतिनिधियों ने भाग लिया था जिनमे से अल्प विकसित राष्ट्रों के 74, औद्योगिक राष्ट्रों के 24 तथा पूर्वी यूरोपीय समाजवादी राष्ट्रों के 8 प्रतिनिधि थे लेकिन अल्पविकसित राष्ट्रों की असंख्य समस्याओं के ठोस हल के निर्माण अथवा क्रियान्वयन के रूप में अंकटाड के द्वितीय सम्मेलन में भी विशेष उपलब्धि नहीं हो पायी।

अंकटाड का तृतीय सम्मेलन
(UNCTAD-III)

अंकटाड का तृतीय सम्मेलन सन् 1972 के प्रारम्भ में चिली की राजधानी सेण्टियागो (Santiago) में रखा गया जिसमे 140 राष्ट्रों के 2,500 प्रतिनिधियों ने भाग लिया। इस सम्मेलन का प्राथमिक उद्देश्य 'शक्ति सहभागिता' (shared power) अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय निर्णय-निर्धारण में अल्पविकसित राष्ट्रों का-- विशेषकर व्यापार व मौद्रिक मामलों में--प्रभावी रूप से शामिल होना था।

जिनेवा के अंकटाड के प्रथम सम्मेलन के परिणामस्वरूप अल्पविकसित राष्ट्रों की आशायें कम हो चुकी थीं तथा 1968 के अंकटाड के द्वितीय सम्मेलन के अल्पविकसित राष्ट्रों के उद्देश्यों को अग्रगामी करने पर निराशकारी परिणाम निकले थे। लेकिन अंकटाड के तृतीय सम्मेलन से उत्तम परिणामों की भविष्यवाणी की गयी क्योंकि यह सम्मेलन ऐसे राष्ट्र में रखा गया था जो कि अलन्डे (Allende) के नेतृत्व मे प्रजातान्त्रिक चुनावों द्वारा समाजवादी सरकार बनाने का निर्णय ले चुका था। लेकिन इस सम्मेलन की तैयारियाँ 1961 मे ही प्रारम्भ हो चुकी थी तथा उस समय

चिलो मे राजनैतिक परिणामों की भविष्यवाणी करना असभव था, तथापि यह सयोग प्रतीकारात्मक ही था।

इस सम्मेलन को स्थगित करने से पूर्व कई सप्ताहो तक अनेक प्रस्ताव पारित किये गये। मैतक्य (consensus) प्रक्रिया मे जो काफी कम किये गये (watered down) ममझौते शामिल थे उनमे अन्य ममझौतो के अलावा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के शासक सिद्धान्त, बहुपक्षीय व्यापार वार्तायें, व्यापार सम्बन्ध व विस्तार, पर्यटन, तकनीकी हस्तातरण, म नव पर्यावरण, सहकारिता आन्दोलन सस्थागत प्रबन्ध, जन विचार (public opinion), राष्ट्रो के आर्थिक अधिकार व कर्तव्यो का चार्टर शामिल थे। इन मैतक्य समझौतो द्वारा अध्यक्ष ने राष्ट्रो के तीन भिन्न समूह छ स्थायी समितियाँ, तीन कार्यकारी समूह, अनेक छोटे तदर्थ समू, तथा शिखर सम्मेलन (summit) समिति बनायी। भारी बहुमत द्वारा पारित प्रस्तावो की दीर्घकालीन महत्ता लगभग समाप्त सी हो गई थी।

अकटाड के तृतीय सम्मेलन मे अक्टाड की 'चालु मशीनरी के पूर्ण उपयोग द्वारा सहमति प्राप्त करन के प्रयत्न जारी रखने का प्रस्ताव पारित किया गया ……… …"। इस सम्मेलन का मूलभुत उद्देश्य प्रथम व द्वितीय अकटाड सम्मेलन मे घोषित विकासशील राष्ट्रो की आकाक्षाओ को क्रियान्वित करना रहा।

यद्यपि तृतीय अक्टाड प्रमुख समस्याओ को हल नही कर पाया लेकिन इसकी एक महत्वपूर्ण उपलब्धि यह थी कि यह गरीब व अमीर राष्ट्रो के अ पसी मतभेदो को कम करने हेतु आवश्यक नये विचारो व अर्न्तदृष्टियो क विनिमय हेतु एक अन्तराष्ट्रीय मच बन गया था।

अंकटाड का चतुर्थ सम्मेलन
(UNCTAD—IV)

अ कटाड का चतुर्थ सम्मेलन 5 मई 1976 से केन्या की राजधानी नेरोबी में प्रारम्भ होकर चार सप्ताह तक चला था तथा इस सम्मेलन मे 153 से अधिक राष्ट्रो के 2000 प्रतिनिधियो ने भाग लिया। चतुर्थ अ कटाड मे वस्तुएँ, अर्द्ध-विकसित राष्ट्रो की ऋण समस्याएँ तथा पूंजी व तकनीकी का अन्तर्राष्ट्रीय हस्तातरण आदि प्रमुख समस्याएँ शामिल थी। इस सम्मेलन मे अर्द्धविकसित राष्ट्रो के निर्यातको के पक्ष मे वस्तु कीमतो को स्थापित करने व बनाने रखने के उद्देश्य से 'वस्तुओ का एकीकृत कार्यक्रम' (Integrated Programme for commodities) प्रस्तावित

किया गया था। प्रमुख 10 वस्तुओं के समूह के प्रतिरोधक भण्डारण (Buffer stocks) को विकसित करने हेतु प्रमुखतया औद्योगिक राष्ट्रों के योगदान से 3 बिलियन डालर की भण्डारण वित्त व्यवस्था की जानी थी। चतुर्थ अंकटाड में अनेक प्रस्ताव पारित किये गये जिसमें से अधिकांश कार्य-सूची मुद्दों पर सहमति थी। वस्तुओं से सम्बद्ध दो महत्त्वपूर्ण कार्यवाही की गयी —

(1) प्रथम, भण्डारण व अन्य उपायों की वित्त व्यवस्था हेतु 'साझा कोष' (common Fund) की सम्भावित स्थापना के लिए प्रारंभिक (preparatory) बैठकें एवं विचार-विमर्श में एक समय सूची निर्धारित की, तथा

(2) द्वितीय, वस्तुओं की शृंखला पर प्रारम्भिक बैठकों तथा आवश्यक होने पर समझौतों हेतु सम्मेलन के लिये समय सूची स्थापित की।

अल्पविकसित राष्ट्रों के ऋणों से सम्बद्ध मुद्दों पर यह सहमति हुई कि ऋण राहत को भुगतान सन्तुलन में सहायक के रूप में लिया जायेगा तथा विगत के ऋणों का पुनःसूचीकरण (debt rescheduling) करने की अनुकूल विशेषताओं के अध्ययन का प्रस्ताव रखा गया ताकि इस तरह के सूचीकरण को भविष्य में पुन लागू किया जा सके।

अंकटाड के चतुर्थ सम्मेलन में नई अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था' (NIEO) अर्थात् एक नया सगठनात्मक प्रारूप जिसके अन्तगत औद्योगिक राष्ट्र अर्द्ध-विकसित राष्ट्रों को अधिक आर्थिक सहायता देंगे —की स्थापना का प्रस्ताव रखा गया। इसके अतिरिक्त इस सम्मेलन में सदस्य राष्ट्रों के लिये आचार संहिता (code of conduct) पर विचार-विमर्श की आवश्यक्ता पर बल दिया गया था।

इस प्रकार नेरोबी सम्मेलन के बारे में हम कह सकते हैं कि इसका प्रमुख मुद्दा संरचनात्मक परिवर्तन था। सम्मेलन के महासचिव डा० गमानी कोरिया (Gamani Corea) के अनुसार, साझा कोष, तकनीकी हस्तान्तरण तथा भविष्य के सम्मेलनों के लिए आचार संहिता से सम्बद्ध मूलभूत तत्त्वों आदि में सफलता प्राप्त की गई थी। यद्यपि चतुर्थ अंकटाड द्वारा 'वस्तुओं के लिए एकीकृत कार्यक्रम (IPC) के रूप में वस्तु समस्या पर सहमति की दिशा में कुछ ठोस प्रगति प्राप्त करने का प्रयास किया गया लेकिन ऐसे कार्यक्रम के सम्भावित रूप पर निष्कर्ष प्राप्त नहीं किया जा सका। विस्तृत मार्गदर्शक रूपरेखा तैयार की गई तथा वस्तुओंके एकीकृत कार्यक्रम का

सम्भावित प्रारूप तैयार किया लेकिन कार्यवाही कार्यक्रम (Action programe) सामने नहीं आया। संक्षेप मे हम कह सकते हैं कि चतुर्थ अंकटाड मे "मूल मुद्दो पर प्रमुख नई सहमति अथवा नई प्राप्ति नही हो पायी।"

अंकटाड का पंचम सम्मेलन
(UNCTAD—V)

अंकटाड का पंचम सम्मेलन मई, 1979 मे मनीला मे हुआ था। ठोस क्रियान्वयन के दृष्टिकोण से विगत के अंकटाड सम्मेलनो के परिणामस्वरूप बहुत कम सफलता मिल पाई थी। लेकिन इन सम्मेलनो मे किये गये विचार-विमर्शो के परिणामस्वरूप अनेक आर्थिक मुद्दो पर वाद-विवाद सतह (surface) पर आया। अर्द्ध-विकसित राष्ट्रो द्वारा अपनी विपरीत आर्थिक स्थितियो के उपशमन (Alleviation) करने के प्रयत्नो मे '77 का समूह' अपनी नेतृत्व की स्थिति जमा चुका था।

मनीला सम्मेलन मे औद्योगिक राष्ट्रो से अर्द्ध-विकसित राष्ट्रो को अधिक सहायता के प्रवाह का प्रस्ताव रखा गया था। औद्योगिक राष्ट्रो से अर्द्ध—विकसित राष्ट्रो को 0 7 प्रतिशत आधिकारिक सहायता के लक्ष्य की पुन पुष्टि की गई। वास्तव मे पचम अंकटाड ने सहायता के इस प्रवाह को अत्यधिक अर्द्ध-विकसित राष्ट्रो के लिए दुगना करने का प्रस्ताव रखा था।

वस्तुओ के लिए 'साझा कोष' तथा अर्द्ध-विकसित राष्ट्रो की प्रमुख वस्तुओ की कीमतो के स्थिरीकरण हेतु प्रतिरोधक भण्डारण की वित्त-व्यवस्था हेतु 13 राष्ट्रों द्वारा 87 मिलियन डालर की वित्त-व्यवस्था का वादा किया गया। इसके अलावा प्रतिनिधियो ने तकनीकी हस्तान्तरण की विधि के माध्यम से अर्द्ध-विकसित राष्ट्रो की तकनीकी क्षमता मे वृद्धि करने हेतु विश्व व्यापी व्यूह रचना विकसित करने पर सहमति व्यक्त की।

कई अन्य प्रस्ताव भी पारित किये गये। इनमे से प्रशुल्क विस्तार मे कमी करना विशिष्ट वस्तुओ के निर्यातो से अर्जित आय मे कमी करने के लिए क्षतिपूर्ति हेतु पूरक सुविधा विकसित करने हेतु अध्ययन, प्रतिबन्धात्मक व्यापार व्यवहारो तथा एसे उपाय जिनके द्वारा ऐसे व्यवहारो से निपटा जा सके उनसे सम्बद्ध सूचना प्रसार एव सूचना एकत्रीकरण के लिए सतत कार्यवाही तथा भविष्य के सम्मेलनो मे सन् 1974 के सम्मेलन की आचार सहिता का अनुसरण करने पर विचार करना। ध्यान

रहे यह एक ऐसी संहिता थी जिसमें लाइनर जहाजरानी (liner shipping) में अर्द्ध-विकसित राष्ट्रों द्वारा भाग लेने के विशिष्ट प्रावधान थे।

दूसरी ओर दो प्रमुख मुद्दों पर सहमति नहीं हो सकी, प्रथम, यद्यपि प्रतिनिधियों ने तकनीकी हस्तान्तरण की अन्तर्राष्ट्रीय संरचना पर कुछ कार्यवाही के लिए कदम उठाने पर सहमति व्यक्त की लेकिन ऐसे हस्तान्तरण के लिए आचार संहिता तैयार नहीं की गयी। द्वितीय, ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय वस्तु व्यापार एवं वित्तीय क्रियाओं का पुनर्गठन करने का प्रयत्न किया गया जो कि न केवल औद्योगिक राष्ट्रों का अपितु अर्द्ध-विकसित एवं समाजवादी राष्ट्रों का ढांचा बदल सकती थी, यह उद्देश्य पंचम अंकटाड की कार्य सूची का केन्द्र बिन्दु प्रतीत हो रहा था।

मनीला सम्मेलन का प्रमुख मुद्दा 'अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक ढांचे का पुनर्गठन' करना था। इस सम्मेलन में भी '77 के समूह' ने अंकटाड IV से चले आ रहे विचार विमर्शों के उत्साहवर्द्धक परिणाम नहीं निकलने पर तथा नई अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था की स्थापना के क्रियान्वयन में विकसित राष्ट्रों की राजनीतिक इच्छा की कमी के कारण लगभग पूर्ण गतिरोध पर चिन्ता व्यक्त की थी।

अंकटाड का छठा सम्मेलन
(UNCTAD—VI)

अंकटाड का छठा सम्मेलन जून 1983 में युगोस्लाविया की राजधानी बेलग्रेड (Belgrade) में हुआ। "77 का समूह" (जिसमें 117 राष्ट्र शामिल थे) अनेक समस्याओं का सामना कर रहा था तथा ये समस्याएँ ही छठे अंकटाड की कार्य-सूची का केन्द्र बिन्दु बनी। इन समस्याओं में अर्द्ध-विकसित राष्ट्रों के प्रतिकूल होती व्यापार की शर्तें, नीची वस्तु कीमतें व ऊँची तैयार माल की कीमतें तथा अर्द्ध-विकसित राष्ट्रों के चालू खाते में अत्यधिक घाटा प्रमुख थे। अन्तर्राष्ट्रीय ऋण सेवा का भार भी उग्ररूप से बढ़ चुका था।

उपर्युक्त एवं अन्य समस्याओं से राहत पाने हेतु "77 का समूह" अप्रेल 1983 में ब्यूनस ऐरीस (Buenos Aires) में छठे अंकटाड सम्मेलन के लिए एक मसौदा तैयार करने हेतु एकत्रित हुआ। इस सभा का मुख्य परिणाम यह वाक्यांश था कि आर्थिक समायोजन का भार अर्द्ध-विकसित राष्ट्रों पर अपेक्षाकृत अधिक अनुपात में पड़ा है एवं इससे अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग संस्थाओं के सिद्धान्तों व व्यावहारिकता

दोनों का ही अपदान (erosion) हुआ है। इस प्रकार से '77 के समूह' ने दावा किया कि इस मुख्य समस्या के हल की प्रकृति विश्व व्यापी ही होनी चाहिए थी तथा इसमें विश्व अर्थव्यवस्था की पुन संरचना (restructuring) इस तरह से होनी चाहिए कि अर्द्ध-विकसित राष्ट्रों व औद्योगिक राष्ट्रों के मध्य अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धों को शामिल करने वाले संस्थागत ढाँचे मे आमूल-चूल परिवर्तन हो।

सन 1983 की कार्यसूची मे तीन प्रमुख मुद्दों पर विचार विमर्श केन्द्रित रहा। ये तीन मुद्दे थे अर्द्ध विकसित राष्ट्रों के विदेशी ऋण, वस्तुएँ व व्यापार। इसके अतिरिक्त जहाजरानी व तकनीकी से सम्बद्ध मुद्दों पर भी विचार-विमर्श किया गया। अंकटाड के छठे सम्मेलन में भी पूर्व के सम्मेलनों की भाँति विकसित व अर्द्ध-विकसित राष्ट्रों द्वारा एक दूसरे के आमने-सामने आने की कार्य विधि जारी रही। '77 के समूह" ने औद्योगिक राष्ट्रों से अर्द्ध-विकसित राष्ट्रों को तकनीकी के अधिदेशाधीन हस्तातरण (mandated transfer of technology), अर्द्ध-विकसित राष्ट्रों को सहायता व अनुदान के प्रवाह के लिए शीघ्र कार्यवाही करने हेतु अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष व विश्व बैंक की नीतियों मे संशोधन के प्रस्ताव रखे एवं सामान्यीकृत व्यापार अधिमाना (GTP) के आवरण युक्त विस्तार (*Blanket expansion*) तथा वस्तुओं के लिए 'साझा कोष' के शीघ्र सृजन एवं वस्तु समझौतों के विस्तार तथा एक ऐसे कार्यक्रम के लिए वकालत की जो अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहायताकर्ता एजेन्सीज पर अंकटाड के प्रभाव मे वृद्धि करे।

अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या हल करने हेतु '77 के समूह' ने अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से 30 बिलियन डालर विशेष आहरण अधिकारों के अतिरिक्त निर्गमन हेतु स्पष्ट रूप से कहा। विश्व बैंक को अधिक ऋण के लिए कहा। विकसित राष्ट्रों द्वारा SDRs का कुछ हिस्सा वापिस अर्द्ध-विकसित राष्ट्रों को उधार देने का सुझाव दिया गया। ऋणों पर कम कठोर शर्तें लगाने के लिए भी कहा गया।

वस्तुओं से सम्बद्ध लम्बित 15 वस्तुओं के भण्डारण की वित्त व्यवस्था करके इनकी 70 के दशक की औसत कीमत के सन्दर्भ में कीमतों का स्थिरीकरण किया जायेगा। इस कोष के लिए औद्योगिक राष्ट्रों की 9 बिलियन डालर लागत लगेगी तथा इस योजना से उत्पादकों द्वारा अर्जित आय मे लगभग 20 बिलियन डालर की वृद्धि होगी। इस लागत मे से आधी अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का वहन करनी थी, लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने इस प्रस्ताव का अनुमोदन नहीं किया।

व्यापार से सम्बद्ध यह प्रस्ताव रखा गया कि औद्योगिक राष्ट्रों को अर्द्ध-विकसित राष्ट्रों से तैयार वस्तुओं उदाहरणाय इस्पात की छड़ों के निर्यातों के विरुद्ध विभेदात्मक प्रशुल्क लगाना बन्द करना चाहिए। इन वस्तुओं के आयातों के लिए औद्योगिक राष्ट्रों को लक्ष्य निर्धारित करने चाहिये तथा अंकटाड गैट की कुछ शक्तियाँ प्राप्त करें।

छठे अंकटाड में तकनीकी व जहाजरानी से सम्बद्ध विचार-विमर्श हुआ। जहाँ तक तकनीकी का प्रश्न है पूर्व में इस वर्ष में ब्यूनस एरीस (Buenos Aires) की सभा में औषधियों के लिए संहिता (code) हेतु योजना तैयार की गयी थी जिसे बेलग्रेड में मान्यता दी गई लेकिन इसे अपनाया नहीं गया। जहाजरानी से सम्बद्ध कोई प्रस्ताव स्वीकार करने की बजाय प्रतिनिधियों ने समुद्र परिवहन में अर्द्ध-विकसित राष्ट्रों के भाग लेने से सम्बद्ध मुद्दों का अध्ययन करने व विगत के कार्य को आधुनिक करने के लिए मतदान किया।

छठे अंकटाड सम्मेलन में कोई प्रमुख नई पहल नहीं की गयी लेकिन विगत के सम्मेलनों में पारित कई कार्यक्रमों को पुनः दोहराया गया। 'नई अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था' अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक प्रणाली के मुख्य पुनर्गठन की योजना, (जो कि पूर्व के कई सम्मेलनों का प्रमुख विषय रहा था) के मुद्दों के बारे में कोई गम्भीर विचार-विमर्श नहीं हुआ। सन् 1983 की कार्यसूची पूर्व के वर्षों से छोटी थी तथा सम्मेलन की अवधि दो दिवस बढ़ाई गयी लेकिन फिर भी चार सप्ताहों के वार्ताओं के मैनथन के बावजूद बहुत कम मुद्दे पारित हो पाये थे।

अंकटाड का सप्तम सम्मेलन

(UNCTAD—VII)

अंकटाड का सप्तम व नवीनतम सम्मेलन जिनेवा (Geneva) में 9 जुलाई 1987 से 3 अगस्त 1987 तक जिम्बाब्वे के वित्त, आर्थिक नियोजन व विकासमन्त्री तथा अंकटाड के भूतपूर्व उप-महासचिव बर्नर्ड चिदज़ेरो (Bernard Chidzero) की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ था तथा इस सम्मेलन में 148 से अधिक राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया।

अंकटाड का यह सम्मेलन 1983 के बेलग्रेड सम्मेलन के बाद की अवधि में अधिकांश विकासशील राष्ट्रों में आर्थिक पुनः उत्थान (recovery) में गतिरोध पर बड़ी हुई चिन्ता के वातावरण में प्रारम्भ हुआ था। इस सम्मेलन में वस्तुओं की घटती हुई कीमतों, यथास्थिर विश्व व्यापार, अपर्याप्त पूँजी के प्रवाहों एवं निम्न व मध्यम

आय वाले राष्ट्रों की सतत ऋण समस्याओं के कारण समायोजन क्रियाओं में उपस्थित बाधाओं पर विशेष बेचैनी व्यक्त की गयी थी। लेकिन इस सम्मेलन में बलग्रेड की भाँति सामना करने के वातावरण के विपरीत अपेक्षाकृत शान्त, साझा हितों को पहचानने हेतु अधिक रचनात्मक प्रयास करने तथा सहयोग की नवीकृत भावना (renewed spirit) द्वारा मोटे तौर से नीति दिशा पर वार्ता करने का वातावरण बना हुआ था।

सप्तम अंकटाड इसके पूर्व के सम्मेलनों से कई दृष्टिकोणों से भिन्न था। इसकी कार्य-सूची को चार सार मदों (Substantive items) तक ही सीमित रखा गया तथा पूर्व के सम्मेलनों की भाँति प्रमुख औद्योगिक राष्ट्रों के पूर्ण समर्थन के अभाव में अनेक भिन्न-भिन्न प्रस्तावों को स्वीकृत करने की बजाय 'सप्तम अंकटाड के निर्णायक निर्णय' (Final Act of UNCTAD—VII) नामक समाहित सम्मेलन दस्तावेज पर सहमति व्यक्त की गई। इसके अतिरिक्त कार्य सूची के चारों प्रमुख मदों के लिए चार भिन्न समितियाँ निर्मित कर देने से इन समितियों की अधिकांश बैठकें अनौपचारिक वातावरण में हो पायीं अत: व्यक्तिगत राष्ट्र विचार विमर्श में अधिक सक्रियता पूर्वक भाग ले सके। भिन्न विषय-सूचियों पर विचार विमर्श में अधिक लचक भी बनी रही। इसके विपरीत पूर्व के अंकटाड सम्मेलनों में विकासशील राष्ट्र (77 का समूह) बाजार अर्थव्यवस्थाओं वाले विकसित राष्ट्र (समूह B) तथा पूर्वी यूरोप के समाजवादी राष्ट्र (समूह D) इन तीन समूहों एवं चीन के मध्य विचार-विमर्श होता रहा था।

निर्णायक एक्ट

(The Final Act)

सप्तम अंकटाड के परिणाम 'निर्णायक एक्ट' नामक दस्तावेज में प्रस्तुत किये गये हैं। इस दस्तावेज के निर्णय अंकटाड में सम्मिलित राष्ट्रों के मतैक्य (consensus) का प्रतिनिधित्व करते हैं।

चार सार विचार वस्तु

(Four Substantive Issues)

सप्तम अंकटाड में चार सार विचार वस्तुओं पर विचार-विमर्श किया गया था। इन विचार वस्तुओं का विस्तृत विवेचन अग्रलिखित है :—

(1) **विकास हेतु संसाधन (Resources for Development)** :—विकास हेतु आवश्यक संसाधनों पर अधिकांश विचार-विमर्श विकासशील राष्ट्रों की ऋण समस्याओं, विदेशी वित्तीय संसाधनों की पर्याप्तता, घरेलू बचत संग्रह एवं अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक व्यवस्था से सम्बद्ध मामले पर केन्द्रित रहा। अनेक विकासशील राष्ट्रों में वित्तीय संसाधनों के विशुद्ध ऋणात्मक प्रवाह (net negative transfers) पर विशेष ध्यान दिया गया था।

अंकटाड प्रतिनिधियों ने सहमति व्यक्त की कि ऋण संकट एक जटिल समस्या है अतः इसका कोई भी स्थायी समाधान एक एकीकृत सहयोगपूर्ण विकास अभिमुख (co-operative growth-oriented) रणनीति के ढांचे के अन्तर्गत निकालना चाहिए जो कि प्रत्येक राष्ट्र की विशिष्ट परिस्थितियों को ध्यान में रखे। व्यापारिक बैंकों को ऋणी राष्ट्रों के ऋणों के पुनःसूचीकरण व नये ऋणों को बढ़ावा देने में लचीली नीति प्रयुक्त करने हेतु प्रोत्साहित किया गया। यह सुझाव दिया गया कि ऐसे सर्वाधिक गरीब राष्ट्र जो संरचनात्मक समायोजन कार्यक्रम अपना रहे हैं उन्हें पेरिस क्लब के प्रबन्धों के माध्यम से ऋण सेवा भार की लम्बी अनुग्रह व पुनर्भुगतान अवधि प्रदान करके तथा वर्तमान ऋणों पर नीची ब्याज दरें लागू करके उनके भार को आसान बनाया जाना चाहिए।

लेकिन ऋण समस्या पर अनुवर्ती (follow up) विचार-विमर्श हेतु उपयुक्त फोरम (forum) पर सहमति नहीं हो सकी। अतः निर्णायक एक्ट में विचारों की भिन्नता प्रतिबिम्बित हुई।

एक्ट में इस बात पर मतैक्य व्यक्त किया गया कि संरचनात्मक समायोजन कार्यक्रमों हेतु विदेशी संसाधनों की सतत व पर्याप्त मात्रा में आवश्यकता होती है। आधिकारिक विकास सहायता (ODA) के सन्दर्भ में एक्ट में कोष-बैंक विकास समिति के रियायती दरों पर हस्तांतरण बल (task force) की सिफारिशों की ऋणदाता राष्ट्रों से अनुपालना का आग्रह किया गया तथा आधिकारिक विकास सहायता (ODA) के अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सहमति प्रदत्त सकल राष्ट्रीय उत्पाद के 0 7 प्रतिशत के लक्ष्य को प्राप्त करने का आग्रह किया गया। ऋणदाता राष्ट्रों से यह भी प्रार्थना की गई कि वे अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ (IDA) के अष्टम आपूरण हेतु वचनबद्धता को अविलम्ब पूरी करें तथा यह भी सुनिश्चित करें कि IDA की शर्तें अत्यधिक रियायती बनी रहें। गैर-रियायती संसाधनों के सन्दर्भ में एक्ट में विश्व बैंक की विशुद्ध उधार को उपयुक्त स्तर तक बनाये रखने हेतु बैंक की पूँजी में पर्याप्त सामान्य वृद्धि क

लिए आवाहन किया गया तथा क्षेत्रीय विकास बैंकों व कृषि विकास हेतु अन्तर्राष्ट्रीय कोष के संसाधनों के पर्याप्त आपूरण की सिफारिश की गई।

(2) वस्तुएँ (Commodities) —अंकटाड के सप्तम सम्मेलन में वस्तु बाजारों में हुए विकास तथा नीची वस्तु कीमतें बने रहने की दीर्घकालीन (prolonged) प्रवृत्ति के लिए जिम्मेदार घटकों का मूल्यांकन किया गया। वस्तु क्षेत्र के प्रचालन को सुधारने के उपायों के रूप में सम्मेलन में वस्तु समझौतों की भूमिका, वस्तुओं के लिए साझा कोष (common fund) की भूमिका व विविधिकरण, संसाधन (processing) विपणन व वितरण एवं उत्तम बाजार प्राप्ति market-access) में सुधार की आवश्यकता पर बल दिया गया।

यद्यपि इस सम्मेलन में वस्तु समझौतों में सुधार के उपायों का आग्रह किया गया था लेकिन निर्णायक एक्ट में यह चेतावनी दी गई कि नये समझौतों में जहाँ कीमत स्थिरीकरण प्रक्रिया का समावेश हो वहाँ दीर्घकालीन बाजार प्रवृत्ति को रोकने का प्रयास नहीं किया जाना चाहिए। सन् 1976 के नेरोबी के अंकटाड-IV के सम्मेलन में अपनाये गये वस्तुओं के लिए एकीकृत कार्यक्रम (Integrated Programme for Commodities) के सम्बन्ध में 'निर्णायक एक्ट' में अब तक के वस्तु समझौतों में शामिल नहीं की गई वस्तुओं के लिए प्रारम्भिक बैठकें बुलाये जाने का आग्रह किया गया। यद्यपि इस तरह के सहयोग के भावी रूप विशिष्ट के लिए द्वार खुला छोड़ दिया गया था।

1976 के वस्तुओं के लिए एकीकृत कार्यक्रम (IPC) का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भाग 'साझा कोष' (Common Fund) था। यद्यपि यह कोष 90 से भी अधिक राष्ट्रों (सिवाय अमेरिका के जिसने इसका मूलतः समर्थन किया था) द्वारा अनुसमर्थित हो चुका था लेकिन फिर भी इसकी संयुक्त पूँजी इस कार्यक्रम के क्रियान्वयन हेतु आवश्यक पूँजी के दो तिहाई से भी कम थी। यह आशा की जाती है कि साझा कोष की दोनों खिड़कियाँ (एक वस्तु समझौतों को वित्तीय समर्थन देने हेतु तथा दूसरी वस्तुओं से सम्बद्ध विकास उपायों वाली) खुलने के बाद जब साझा कोष का पूर्ण अंशदान प्राप्त हो जायेगा तो इसका पूँजी आधार 750 मि डालर होगा। अंकटाड VII के सम्मेलन में सोवियत रूस भी साझा कोष सहमति पर हस्ताक्षर कर चुका है। अन्य अनेक राष्ट्रों द्वारा हस्ताक्षर व अनुसमर्थन हो जाने के बाद अब यह आशा है कि साझा कोष शीघ्र ही स्थापित हो पायेगा।

सुधरी हुई बाजार पहुँच के सन्दर्भ में निर्णायक एक्ट में विचार-विमर्श को प्रमुखत गैट के युरगवे दौर (Uruguay Round) के ट्रोपिकल वस्तुओं पर विचार विमर्श हेतु विलम्बित (defer) कर दिया गया था।

(3) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार (International Trade) —वर्तमान स्थिति का पुनरीक्षण करते समय अंकटाड-VII में आर्थिक विकास में व्यापार की निर्णायक भूमिका (Crucial role) तथा संरचनात्मक समायोजन का सफल प्रबन्ध करने हेतु व्यापार विस्तार की भूमिका पर बल दिया गया। निर्णायक एक्ट के क्रिया-कारी भाग (Operative part) में वरीयता की सामान्य प्रणाली (GSP) के दायरे में आने वाली वस्तुओं में सुधार हेतु तर्क दिया गया था। यह भी स्वीकार किया गया कि GSP अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने में पूर्ण सफल नहीं रही है।

निर्णायक एक्ट में बहुपक्षीय व्यापार समझौतों के युरगवे दौर द्वारा बाजार पहुँच सुधारने के सम्भावित लाभों की विस्तृत चर्चा की गई। इसके अतिरिक्त एक्ट में अन्य सम्बद्ध अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों से मन्त्रणा करते हुए बहुपक्षीय व्यापार समझौतों (MTNS) में अंकटाड सचिवालय द्वारा विकासशील राष्ट्रों को प्रदत्त तकनीकी सहायता के प्रदान का समर्थन किया गया तथा सेवाओं के क्षेत्र में अंकटाड के वर्तमान आदेश-पत्र (existing mandate) के अन्तर्गत कार्य जारी रखने का समर्थन किया गया। यद्यपि कुछ प्रमुख औद्योगिक राष्ट्रों ने सेवाओं के क्षेत्र में अंकटाड की भूमिका को सशर्त समर्थन ही दिया तथा यह तर्क प्रस्तुत किया कि अंकटाड के आदेशपत्र द्वारा अन्य संगठनों (जैसे गैट) को सेवाओं की विचार वस्तु के विश्लेषण से वंचित नहीं रखना चाहिए।

(4) सर्वाधिक गरीब राष्ट्रों की समस्याएँ (Problems of the least developed Countries) —निर्णायक एक्ट में संयुक्त राष्ट्र संघ की साधारण सभा द्वारा सन् 1981 में समर्थित (endorsed) कार्यवाही के महत्त्वपूर्ण नये कार्यक्रम (Substantial New Program of Action) में निहित विकासशील व ऋण-दाता दोनों ही समूहों के राष्ट्रों की वचनबद्धता की याद दिलाई गई तथा निराशा व्यक्त करते हुए कहा गया कि विकास व आधिकारिक विकास सहायता (ODA) के प्रवाह के लक्ष्य प्राप्त नहीं हो पाये हैं। ऋणदाता राष्ट्रों से उनकी वचनबद्धता का आदर करने का आग्रह किया गया। अंकटाड सम्मेलन में संरचनात्मक समायोजन सुविधा (S A.F.) के संसाधनों में भारी वृद्धि हेतु कोष

के प्रबन्ध सचालक के प्रस्ताव का स्वागत किया गया तथा यह आशा की गई कि अन्तर्राष्ट्रीय विकास सघ के अष्ठम आपूरण व SAF दोनो से मिलाकर सर्वाधिक गरीब राष्ट्रो को प्राप्त सहायता म भविष्य मे काफी वृद्धि होगी। इस सम्मेलन म सहायता की सार्थकता (effectiveness) हेतु उपाय तथा सहायता समन्वयन (aid Coordination) मे वृद्धि पर भी ध्यान केन्द्रित किया गया। IDA द्वारा ऋण के विलोपन (Cancellation) एव अन्य ऋण राहत कार्यक्रमो का स्वागत किया गया तथा ऐसे ऋणदाताओ से ऋण राहत कार्यक्रमा का आग्रह किया गया जिन्होने अब तक ऐसे कार्यक्रम नही अपनाये हैं।

निष्कर्ष

(Conclusion)

निष्कर्ष के रूप मे हम कह सकते हैं कि सप्तम अ क्टाड VII के निम्न परिणाम काफी उत्साहवर्धक रहे हैं —

(1) अधिक लचीली ऋण रणनीति (Debt Strategy) हेतु समझ अ क्टाड-VII की महत्वपूर्ण प्राप्ति मानी जा सकती है।

2 वस्तुओ के सन्दभ मे साझाकोष (Common Fund) के कार्यान्वयन के आसार मे अक्टाड-VII द्वारा काफी वृद्धि हुई है।

3 अक्टाड तथा गैट के आपसी सम्बन्ध के प्रत्यक्ष ज्ञान (Perception) मे परिवर्तन स्पष्ट परिलक्षित हो रहे थे। इनके मध्य नया सम्बन्ध पूरकता के आधार पर स्थापित होने से इस व्यापक धारणा म परिवतन हो सकता है कि 'गैट' तो औद्योगिक राष्ट्रो के हितो को साधता है जबकि 'अक्टाड' विकासशील राष्ट्रो का हित सवर्द्धन करता है।

4. इसके अतिरिक्त पूर्व के अक्टाड सम्मेलनों की समूह सरचना (Group Structure) से आंशिक रूप से हटने तथा सम्मेलन पर एक दस्तावेज' जारी करन की नई परिपाटी द्वारा मतैक्य (Consensus) प्राप्त करना अधिक आसान व व्यावहारिक हो गया है।

लेकिन अन्त मे प्रश्न यह उठता है कि क्या सप्तम अ क्टाड का जोश बना रह सकगा ? यह बहुत कुछ इस तथ्य पर निर्भर करेगा कि भविष्य के वर्षों म अ क्टाड की समितियो म अनुवतन (Follow up) कार्य कितना हो पाता है।

मूल्यांकन

(Evaluation)

निष्कर्ष के रूप मे हम कह सकते है कि अंकटाड सम्मेलनो के मिले-जुले परिणाम रहे हैं, कुछ क्षेत्रो मे अंकटाड सफल रहा है जबकि अन्य क्षेत्रो मे असफल। उदाहरणार्थ, वस्तुओ के क्षेत्र मे अंकटाड के विचार विमर्श से सीमित सफलता ही प्राप्त हुई है।

अंकटाड की मुख्य उपलब्धियाँ निम्न रही है —

(1) सन् 1970 मे अंकटाड वरीयता की सामान्य प्रणाली (GSP) प्रतिपादित करने मे सफल हुआ। इस प्रणाली के अन्तर्गत विकसित राष्ट्र निर्यात करो की वरीय दर (preferential rate of duty) प्रदान कर विकासशील राष्ट्रो को उनके तैयार माल का निर्यात करने का विस्तृत अवसर प्रदान करते है। यह अंकटाड की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि मानी जा सकती है क्योंकि इस कदम द्वारा अंकटाड गैट के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से सम्बन्धित मामलो मे व्यवहार के परमानुग्रहित राष्ट्र (Most-favoured-Nation) व पारस्परिकता (Reciprocity) के मूल सिद्धान्तो से विचलन करके, जी एस. पी. (GSP) लागू करवाने मे सफल हुआ।

(2) एक अन्य महत्त्वपूर्ण पहलू जिस ओर अंकटाड ने विशेष ध्यान दिया है वह भिन्न सामाजिक व आर्थिक प्रणालियो वाले राष्ट्रो के मध्य व्यापार है जैसे, पूर्व-पश्चिम व्यापार (East-West trade) को बढावा देना। साथ ही साथ विकासशील राष्ट्रो व पूर्वी यूरोप तथा एशिया के समाजवादी राष्ट्रो (Socialist Countries) के मध्य व्यापार प्रोत्साहित करने मे भी अंकटाड ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

(3) विकासशील राष्ट्रो के मध्य आपसी व्यापार के क्षेत्र मे विस्तार हाल ही के वर्षों का एक अन्य महत्वपूर्ण विकास है। अर्द्ध-विकसित राष्ट्रो को विशिष्ट बर्ताव प्रदान करना पूर्णतया अंकटाड के प्रयत्नो का ही परिणाम है।

(4) विदेशी सहायता, ऋण विस्फोटन (debt explosion), जहाजरानी व तकनीकी जैसे क्षेत्रो मे विकास हेतु अनेक सूत्रपात (initiative) किये गये हैं। परन्तु यह दावा नही किया जा सकता कि इन क्षेत्रो मे काफी सफलता प्राप्त हो चुकी है।

लेकिन अंकटाड की उपर्युक्त सफलताएँ अत्यधिक सीमित हैं एव बहुत से क्षेत्रो मे अंकटाड असफल रहा है। अंकटाड की प्रमुख असफलताएँ निम्न क्षेत्रो मे रही हैं —

1. करीब एक दशक से अधिक समय पूर्व अंकटाड के सूत्रपात मे विकासशील राष्ट्रो के पक्ष मे जी. एस पी. (GSP) की समझौता वार्ताओ पर काफी समय व शक्ति व्यय की गयी थी। लेकिन विकासशील राष्ट्रो के निर्यातो पर विभिन्न प्रकार की दृश्य व अदृश्य बाधाएँ लगाकर इन राष्ट्रो को जी एस. पी के माध्यम से प्रदत्त प्रशुल्क वरीयता के पूर्ण लाभो से वंचित रख देने के परिणामस्वरूप इन राष्ट्रो के अधिकांश वार्ताकारो को नैराश्य (frustration) तथा भ्रमनिवारण (disillusionment) ही हाथ लगा है।

2. इसी प्रकार अंकटाड द्वारा सन् 1977-80 मे समझौता किया गया 'वस्तुओ का एकीकृत कार्यक्रम' दूसरा ऐसा क्षेत्र था जिसमे विकासशील राष्ट्रो को प्रमुख भेदन (break through) की आशा थी। इस सन्दर्भ मे लम्बे व टेढ़े-मेढ़े समझौते हुवे। लेकिन जून 1980 मे हुई सहमति द्वारा मूलरूप से विचार किये गये छः बिलियन डालर के 'साझा कोष' को रूपान्तरित व काट-छाँट कर केवल 400 मिलियन डालर कर दिया गया। लेकिन सप्तम अंकटाड सम्मेलन मे इस दिशा मे महत्वपूर्ण प्रगति हुई है।

वस्तुओ के क्षेत्र मे सर्वाधिक बेचैनी उत्पन्न करने वाला घटक तो यह है कि हाल ही मे अन्तर्राष्ट्रीय वस्तु कीमतें वास्तविक शर्तों के रूप म 30 वर्षों की अवधि म न्यूनतम स्तर पर पहुँच चुकी थी। इस विकास का विकासशील राष्ट्रो पर गभीर प्रभाव पडा है।

3 अंकटाड विकास के लिये आवश्यक व्यापार नीति को अपनाने व कार्यान्वित करने में असफल रहा है। सक्षेप मे हम कह सकते हैं कि 'नई अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था' के माध्यम से विश्व व्यापार आर्थिक व्यवस्था के विशाल स्तर पर पुन निर्माण करने के कार्य मे अंकटाड असफल रहा है। यह प्रस्ताव औद्योगिक व समाजवादी दोनो ही श्रेणियो के राष्ट्रो के लिये अत्यधिक आगे जा चुका है। लन्दन मे छपे पत्र 'द इकॉनमिस्ट' ने तो यहाँ तक लिख दिया है कि 'अंकटाड उन सस्थाओ मे से एक है "जो कई सप्ताह तक झुंझलाहट व फूँ-फाँ (huff and puff) करके अपनी स्वय की असमर्थता प्रदर्शित करती रहती है।"[12]

12 Uncreative UNCTAD'—The Economist,—Vol 237 (June 11, 1983), P. 14

निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते हैं कि अब वह समय आ गया है जब भारत जैसे विकासशील राष्ट्र अब तक अपनाई गई रणनीति एवं प्रनिबल (Thrust) का अधिक गहराई से अध्ययन कर संघर्षपूर्ण (agonising) पुनर्मूल्यांकन करके इस नीति की असफलता के कारणों का 'समष्टि' व 'व्यष्टि' दोनों आधारों पर विश्लेषण करें एवं तत्पश्चात् विकासशील राष्ट्रों के स्वयं द्वारा कार्यान्वित करने हेतु सिफारिशें प्रस्तुत करें।

इस सन्दर्भ में 'दक्षिण-दक्षिण' सहयोग की दिशा में भी विशेष प्रयत्नों की आवश्यकता है। इस दिशा में प्रयत्नों द्वारा विकासशील राष्ट्रों के आपसी व्यापार का विस्तार किया जा सकता है तथा विकासशील राष्ट्रों में से अधिक पिछड़े राष्ट्रों को विशेष लाभ प्रदान किया जा सकता है।

अंक्टाड को 'एक-एक वस्तु' से सम्बद्ध ताजा वार्तायें प्रारम्भ करनी चाहिये। इन वार्ताओं में उन वस्तुओं को शामिल किया जाना चाहिये जिनमें विकासशील राष्ट्रों का सर्वाधिक हित स्वार्थ निहित है। ये समझौते प्रारम्भ में ऐसे अर्द्ध-विकसित राष्ट्रों की वस्तुओं से प्रारंभ किये जाने चाहिये जो अपने निर्यात के लिए एक या दो प्राथमिक वस्तुओं पर ही निर्भर हैं। तत्पश्चात् इन समझौतों में अधिक वस्तुएँ व अधिक राष्ट्र शामिल किये जा सकते हैं।

वास्तव में अंक्टाड को अपनी कार्यसूची सीमित करके एक या दो उद्देश्यों को क्रियान्वित करने की दिशा में अपनी शक्ति लगानी चाहिए। उदाहरणार्थ, वस्तु वार्ताओं के उद्देश्य के लिए तथा/अथवा घरेलू आर्थिक नीतियों पर विचार-विमर्श करने के उद्देश्य के लिए ऐसा सम्भव है।

अन्त में हम कह सकते हैं कि 'अष्ठम अंक्टाड' से काफी पूर्व में ही विगत के अंक्टाड सम्मेलनों में पारित प्रस्तावों व उनकी सिफारिशों का मुख्य पुनरावलोकन (major review) कर लिया जाना चाहिए तथा अल्पकालीन व दीर्घकालीन आधार पर कार्यवाही हेतु एक प्राथमिकता सूची तैयार की जानी चाहिए। इस प्रयोग का केवल मात्र उद्देश्य विकसित व विकासशील दोनों ही श्रेणी के राष्ट्रों द्वारा किये गये वादों का कार्यान्वयन ही होना चाहिए।

इसी के साथ हम अंक्टाड के विश्लेषण को समाप्त करते हैं तथा विकासशील राष्ट्रों के सब अन्य प्रस्ताव की चर्चा प्रारम्भ करते हैं।

नई अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था

अधिकांश विकासशील राष्ट्रों में नितान्त गरीबी की स्थिति विद्यमान होने के कारण तथा विश्व अर्थव्यवस्था विकासशील राष्ट्रों के हितों के अनुरूप कार्यरत नहीं है इस धारणा के गहरी जड़ें पकड़ लेने के कारण सन् 1974 में संयुक्त राष्ट्र संघ *महासभा ने 'नई अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था'* (NIEO) *के सृजन का आवाहन किया।*

नई अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था क्या है ?

(What is NIEO ?)

नई अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था ऐसे प्रस्तावों का ढाँचा है जिन्हें विश्व आर्थिक शक्ति में आय असन्तुलनों को सुधारने हेतु प्रस्तुत किया गया है।

नई अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था के उद्देश्यों का सार प्रो आई. जी. पटेल (I G. Patel) ने निम्न शब्दों में व्यक्त किया है। नई अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था *का उद्देश्य* —

"........'अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धों में उन उद्देश्यों व नीतियों को स्थापित *करना है जो कि समस्त आधुनिक समाजों में राज्यों के भीतर विद्यमान समूहों के मध्य* सम्बन्धों के लिए स्वीकृत मापदण्ड (norms) बन चुके हैं।"[13]

इस बात को प्रो. मनमोहन सिंह (Manmohan Singh) ने निम्न शब्दों में व्यक्त किया है —

"नई अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था की माँग मूलतः विश्व अर्थ व्यवस्था की अन्तर्निर्भरता के अधिक कुशल व न्यायसंगत प्रबन्ध के लिए माँग है।"[14]

निओ (NIEO) में सम्मिलित तत्त्व —'निओ' (NIEO) में शामिल अधिकांश माँगें पूर्व में अंक्टाड के सन् 1964 में जिनेवा सम्मेलन में, सन् 1968 के नई दिल्ली सम्मेलन में व सन् 1972 के सेण्टियागो सम्मेलन में रखी गई थीं तथा सन् 1976 के नैरोबी सम्मेलन व सन् 1979 के मनीला सम्मेलन में इन माँगों को दोहराया गया था 'निओ' के मूल प्रस्ताव में छः महत्त्वपूर्ण तत्त्व शामिल थे —

(1) विशेष आहरण अधिकार कड़ी का प्रस्ताव (SDR—Link Proposal)

(2) विकासशील राष्ट्रों को दी जाने वाली विदेशी सहायता में वृद्धि करना।

---

13 Patel I. G.—A New International Economic Order ?—(Ramaswami Memorial Lecture of 1974), Reprinted in IER (April, 1974), p 3

14 Singh, Manmohan—International Economic Order—IER (Jan -Mar 1982), p 2.

(3) विकासशील राष्ट्रों को किये जाने वाले तकनीकी हस्तांतरण (transfer of technology) में वृद्धि करना।

(4) विकासशील राष्ट्रों की निर्मित वस्तुओं को विकसित राष्ट्रों में अधिमानित प्रशुल्क (Preferential Tariff) के आधार पर छूट देना।

(5) प्राथमिक वस्तुओं की कीमत में स्थिरीकरण (Price stabilization) तथा

(6) विकासशील राष्ट्रों की निर्यात आय में वृद्धि व स्थिरीकरण हेतु विकसित राष्ट्रों से प्राप्त वित्त व्यवस्था द्वारा अनेक वस्तुओं के अन्तर्राष्ट्रीय वस्तु समझौते (International commodity Agreements) स्थापित करना।

इन बिन्दुओं पर विस्तृत चर्चा अग्रलिखित है :—

(1) एस. डी आर कड़ी के प्रस्ताव के तहत अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष विकासशील राष्ट्रों को नई अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा SDRs की मूल क्रय शक्ति का आवटन करेगा। विकसित राष्ट्र इस प्रस्ताव का इस आधार पर विरोध करते हैं कि नव सृजित समस्त SDRs केवल विकासशील राष्ट्रों को आवटित कर दिये जाने से अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष की अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में अभिवृद्धि में वित्तीय योगदान अथवा वृद्धि की सामर्थ्य घट जायेगी। ऐसा प्रतीत होता है कि इस विषय पर विकासशील राष्ट्रों के राजनीतिज्ञों व अर्थशास्त्रियों ने SDR के सृजन के मात्रात्मक महत्त्व के लिए न्यायसगत से अधिक आवेश व प्रयास कर डाले हैं। लेकिन विश्व वित्तव्यवस्था में राष्ट्रों को SDRs के सृजन के पक्ष में मतदान करने वाले व SDRs प्राप्त करने वाले दो भिन्न वर्गों में विभाजित कर देना इस दिशा में एक सकारात्मक उपलब्धि मानी जा सकती है। लेकिन S.D.R. कड़ी प्रस्ताव के क्रियान्वयन की अभी तक कोई योजना नहीं है क्योंकि नई तरलता के सृजन को विकास आवश्यकताओं से जोड़ देना विवेकपूर्ण नहीं माना जा रहा है।

(2) विशुद्ध वित्तीय पक्ष में 'निओ' की माँगों में विकासशील राष्ट्रों को प्राप्त विदेशी सहायता को बढ़ाकर विकसित राष्ट्रों की सकल राष्ट्रीय आय का 0.7 प्रतिशत कर देने की माँग प्रमुख है। इसके अतिरिक्त यह भी प्रस्ताव रखा गया कि विदेशी सहायता को द्विपक्षीय से बहुपक्षीय बनाया जाय तथा विकासशील राष्ट्रों के पूरे विदेशी ऋण का विलोपन (cancellation) कर दिया जाये।

लेकिन इस महत्त्वपूर्ण क्षेत्र मे अब तक कोई विशेष सरचनात्मक भेदन (Structural breakthrough) नहीं हो पाया है। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर स्वीकृत विकसित राष्ट्रो की सकल राष्ट्रीय आय के 0.7 प्रतिशत विदेशी सहायता के उद्देश्य की तुलना मे विदेशी सहायता का प्रवाह आधे से भी कम है। उपलब्ध प्रवृत्तियो से ऐसा नही प्रतीत होता कि विदेशी सहायता अनुपात म निकट भविष्य मे विशेष सुधार हो पायेगा। विदेशी सहायता के प्रवाहो के पूर्व कथन (predictability) एव निश्चितता (certainty) मे वृद्धि के भी कोई आसार नजर नही आ रहे हैं। इसके अतिरिक्त अधिकाश विदेशी सहायता आज भी द्वि-पक्षीय ही है। वास्तविकता तो यह है कि हाल ही के वर्षो म सरकारी सहायता को बन्धन मुक्त करने अथवा स्थानीय लागतो की वित्तव्यवस्था करने अथवा कार्यक्रम सहायता (Programme Assistance) के रूप मे सहायता प्रदान करने का वातावरण हाल ही के वर्षों मे और अधिक बिगड गया है क्योकि अधिकाश सहायता प्रदानकर्ता राष्ट्र विदेशी सहायता के घरेलू दबावो के फलस्वरूप इसे निर्यात सवर्द्धन के उपकरण के रूप मे उपयोग करने लग गये हैं।

तकनीकी हस्तातरण के क्षेत्र मे 'बहुराष्ट्रीय निगमो' पर सयुक्त राष्ट्र सघ द्वारा नियुक्त आयोग को उन निगमो के व्यवहार के मानदण्डो व इनको घरेलू व मेजबान सरकारो के इनके प्रति व्यवहार के लिए विस्तृत आचार सहिता तैयार करने का कार्य सौपा गया था। इसके अतिरिक्त तकनीकी की ऐसी आचार सहिता पर वार्ता जारी की गई थी जो कि तकनीकी के पर्याप्त विकास व हस्तान्तरण हेतु एक ऐसा सामान्य व विश्वव्यापी विधि सम्मत (legal) ढाँचा स्थापित करेगी जिससे विकासशील राष्ट्रो की वैज्ञानिक तकनीकी सामर्थ्य का विकास हो सके। इसी प्रकार सन् 1979 मे विकास हेतु विज्ञान व तकनीकी के लिए सयुक्त राष्ट्र वित्त व्यवस्था प्रणाली स्थापित करने पर भी एक समझौता हुआ जिसकी शुरूआत विकासशील राष्ट्रो के स्रोतो के पूरक के रूप मे एक अन्तरिम कोष के साथ हुई।

लेकिन उपर्युक्त प्रयत्नो के बावजूद भी तकनीकी हस्तातरण के क्षेत्र मे आज तक विशेष प्रगति नही हो पाई है।

(4) विकासशील राष्ट्रो के निर्मित माल के निर्यातो को विकसित राष्ट्रो मे अधिमानिक प्रशुल्क पर आयात करने के प्रस्ताव को 'अधिमानो की सामान्य प्रणाली' (GSP) के नाम से जाना जाता है। इस प्रणाली के अनुसार विकासशील राष्ट्रो के आयातो पर इन राष्ट्रो के प्रतिस्पर्द्धी विकसित राष्ट्रो की लागत

नीची होने के बावजूद भी विकासशील राष्ट्र प्रतिस्पर्धा मे टिक सकेगें। यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि 'निग्रो' में केवल व्यापार अवरोधों को समाप्त करने की मांग नहीं है अपितु केवल 'अधिमानिक' प्रशुल्क की मांग है। क्योंकि व्यापार अवरोधों की समाप्तियों से विकसित राष्ट्रों के निर्यातों की अभिवृद्धि के परिणामस्वरूप इसके अधिकांश लाभ विकसित राष्ट्रों को ही प्राप्त होगें। 'गैट' के तत्वाधान म 'केनेडी दौर' व टोकियो दौर' की वार्ताओं के परिणामस्वरूप ऐसा ही हुआ था।

आज तक रखे गये 'निग्रो' प्रस्तावों मे से अधिमानिक प्रशुल्क की योजना की अवधारणा तथा इनका निर्माण व क्रियान्वयन 'निग्रो' की प्रमुख उपलब्धि मानी जा सकती है।

अधिमानो की सामान्य प्रणाली ने अपनी प्रथम बाधा तुरन्त पार कर ली है। क्योंकि इस प्रस्ताव को 'गैट' के सदस्य राष्ट्र 'परमानुग्रहीन राष्ट्र व्यवहार' (MFNP) *की परम्परागत व्याख्या के आधार पर निष्फल कर सकते थे। इन व्यवहारों द्वारा* सिवाय चुगी सघ के सदस्यों के अधिमानिक व्यवहार को छूट नही थी। लेकिन 'असमान राष्ट्रों के साथ असमान व्यवहार' (unequals should be treated unequally) के आधारपर गैट ने परमानुग्रहित राष्ट्र व्यवहारो का परित्याग किया है। यह अनुमान लगाया गया है कि अधिमानिक प्रशुल्कों के परिणामस्वरूप विकासशील राष्ट्रों के निर्मित माल के निर्यातो म 2 से 3 मिलियन डालर की वार्षिक वृद्धि होगी तथा पश्चिमी यूरोपीय देशों व जापान द्वारा सन् 1971-72 म तथा अमेरिका व कनाडा द्वारा सन् 1976 मे अधिमानो की सामान्य प्रणाली (G.S P) की स्थापना से इस दिशा में प्रगति भी हुई है।

लेकिन अमेरिका द्वारा विधान की स्वीकृति मे विलम्ब तथा लगभग सभी विकसित राष्ट्रों द्वारा अधिमान प्रदत्त वस्तुओं की विस्तार सीमा (range) व मात्रा पर ससाधन सीमाओं के कारण अधिमानो की सामान्य प्रणाली के लाभ काफी कम मिल पाये हैं। उदाहरणार्थ, विकासशील राष्ट्रों की कई महत्वपूर्ण निर्यात वस्तुओं जैसे वस्त्र जूते, साईकल आदि को प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से अधिमानो की सामान्य प्रणाली से बाहर छोड़ दिया गया है।

(5) 'निग्रो' म प्राथमिक वस्तुओं से सम्बद्ध दो प्रस्ताव हैं —प्रथम प्रस्ताव त प्राथमिक उत्पादो के निर्मित वस्तुओं के रूप मे मूल्य स्तर से सम्बद्ध है तथ द्वितीय इन कीमतों मे अनावश्यक चक्रीय उच्चावचनों को रोकने से सम्बद्ध है।

हाल ही के वर्षों मे 'साझा केन्द्रीय कोष' (Common Central Fund) (जिसका नीची कीमतो से ग्रस्त प्राथमिक वस्तुओ के भण्डार हेतु उपयोग किया जाना था) से सम्बद्ध प्रस्ताव को आवश्यक से कम महत्त्व प्रदान किया गया है लेकिन इसे समाप्त नही किया है। 'निम्रो' के तत्वाधान मे अनेक अधिक महत्त्वपूर्ण वस्तुओ के लिए पृथक भण्डारण कोष विकसित किये जा रहे हैं।

द्वितीय प्रस्ताव में प्राथमिक व तैयार वस्तुओं के मध्य व्यापार की शर्तों मे स्थायी विवर्तन लाने से सम्बन्धित योजनाएँ शामिल हैं। उत्पादकों के कार्टेलो व अनुक्रमणीकरण (Indexat on) के माध्यम से इस उद्देश्य को प्राप्त करने के प्रयास किये जायेंगे।

इसके अतिरिक्त विकासशील राष्ट्रो की एक यह भी माँग है कि इन राष्ट्रो से विकसित राष्ट्रो मे आयात किये जाने वाले कृषि उत्पादो पर समस्त आयात प्रशुल्क समाप्त किय जाएँ। यह अनुमान लगाया गया है कि इन प्रशुल्क सामाप्तियो से विकासशील राष्ट्रों के निर्यातो मे 3 मिलियन डॉलर की वार्षिक वृद्धि होगी। लेकिन इस दिशा मे आज तक की प्रगति लगभग नगण्य है।

(6) विकासशील राष्ट्रो की मांगो में अन्तर्राष्ट्रीय 'वस्तु समझौतों' की माँग प्रमुख है। इन समझौतो को 'वस्तुओ के एकीकृत कार्यक्रम' (Integrated programe of Commodities) के नाम से जाना जाता है। प्रारम्भ मे इस कार्यक्रम मे दस वस्तुओ (चीनी, ताम्बा, वस्त्र, कॉफी, रबड, कोका, टिन, चाय, जूट, व रेशे) को शामिल करने की योजना है।

लेकिन वस्तु समझौतो का विगत का अनुभव उत्साहवर्द्धक नही रहा है। ऐसे समझौतो के परिणामस्वरूप या तो वस्तुओं के अनियन्त्रणीय भण्डार एकत्रित हो जाते हैं अथवा इनके लिए अकुशलतावर्द्धक निर्यात नियन्त्रणो को अपनाना आवश्यक हो जाता है। इस नकारात्मक अनुभव के बावजूद सन् 1979 में संयुक्त राष्ट्र द्वारा प्रवर्तित (sponsored) वस्तु स्थिरीकरण पायलट (pilot) कार्यक्रम हेतु 400 मि० डालर के 'साझा कोष' की स्थापना के लिए विकसित राष्ट्रो ने अंशदान दिया। ध्यान रहे यह अंशदान विकासशील राष्ट्रो की 6 बि० डालर की मांग की तुलना मे बहुत कम था।

इतने छोटे कोष की नये समझौतो के निर्माण अथवा अल्पाधिकारी क्रेताओ के बोलबाले वाले बाजारों में पर्याप्त कीमत समर्थन मे कितनी भूमिका रहेगी यह तो पूर्णतया अनिश्चित ही है। जहाँ तक अन्तर्राष्ट्रीय वस्तु समझौतो का सम्बन्ध है

उनकी भूमिका के विस्तार के लिए सकारात्मक कार्यक्रम नजर नही आता है। चाय काफी व कोका के समझौते तो वार्ताओ से पूर्व ही विद्यमान थे बाद मे केवल चीनी व रबड से सम्बद्ध पुन वार्ताएँ हुई हैं।

निष्कर्ष

(Conclusion)

अत निष्कर्ष के रूप मे हम कह सकते हैं कि निओ' द्वारा विकासशील राष्ट्रो की कुछ माँगें अल्परूप मे पूरी हुई हैं तथा अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था मे कुछ और सुधार होने की भी सम्भावना है। लेकिन पूर्ण रूप से नई आर्थिक व्यवस्था की स्थापना की सम्भावना तो बहुत ही कम प्रतीत होती है।

इसी के साथ हम 'निओ के विश्लेषण' को समाप्त करते हैं तथा विकासशील राष्ट्रों के मध्य आपसी सहयोग की दिशा मे उठाये गये एक अन्य महत्त्वपूर्ण कदम पर विचार करना प्रारम्भ करते हैं।

*दक्षिण--दक्षिण सहयोग

(South-South Co-operation)

प्रस्तावना

(Introduction)

विकासशील राष्ट्रो के मध्य आपसी आर्थिक सहयोग को सामान्यतया 'दक्षिण—दक्षिण सहयोग' के नाम से जाना जाता है।

विकासशील राष्ट्रो का अस्तित्व बनाये रखने हेतु व आर्थिक विकास की प्रक्रिया म आगे बढते रहने के व्यावहारिक विकल्प के रूप मे दक्षिण-दक्षिण सहयोग महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है। विकसित राष्ट्रो मे निरन्तर बनी रहने वाली मन्दी (recession) की स्थिति, उत्तर-दक्षिण' वार्ताओ मे गतिरोध की स्थिति एव विश्व स्तर की आर्थिक संस्थाओ की अकर्मण्यता ने विकासशील राष्ट्रो ने लिए दक्षिण-दक्षिण सहयोग' को स्वेच्छिक के बजाय अनिवार्य सा बना दिया है।

विकासशील राष्ट्रो के मध्य आपसी आर्थिक सहयोग की वार्ताओ की चर्चा वर्षों

---

* This section builds heavily on Dr V R Panchamukhi's—South South co-operation Some Issues—Financial Express—March 21 1985

पूर्व जारी थी लेकिन 'दक्षिण–दक्षिण सहयोग' का वास्तविक सूत्रपात सन् 1968 में नई दिल्ली मे आयोजित द्वितीय अंकटाड के सम्मेलन मे इन राष्ट्रो मे आपसी सहयोग की आवश्यकता पर बल देने के साथ ही हुआ था। तत्पश्चात् 'दक्षिण-दक्षिण सहयोग' की अवधारणा पर सन् 1970 के ल्यूसाका शिखर सम्मेलन में विचार-विमर्श हुआ। सन् 1974 मे संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा ने जब 'नई अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था' (NIEO) का आवाहन किया जो विकासशील राष्ट्रो के पारस्परिक सहयोग का विशेष उल्लेख किया था। डाकार (Dakar) के सन् 1975 के कच्ची सामग्री के सम्मेलन मे इस विषय की पुन पुष्टि की गयी। तत्पश्चात् सन् 1975 के लीमा (Lima) मे हुए विदेश मन्त्रियो के सम्मेलन एवं कोलम्बो मे सन् 1976 मे हुए गुट निरपेक्ष राष्ट्रों के सम्मेलन तथा चौथे अंकटाड सम्मेलन मे इस प्रकार के सहयोग की अवधारणा की अभिपुष्टि की गई। तत्पश्चात् मेक्सिको मे सन् 1976 मे इस विषय पर विस्तृत घोषणा की तैयारी के लिए बैठक बुलाई गई। चतुर्थ अंकटाड के तत्वाधान मे विकासशील राष्ट्रो मे आपसी सहयोग से समन्वय हेतु एक समिति बनाई गई जिसने सन् 1977 मे एक कार्य-योजना (work programe) स्वीकृत की। '77 के समूह' की सन् 1979 की बैठक मे भी विकासशील राष्ट्रो के मध्य आपसी व्यापार की वृद्धि की आवश्यकता एवं सामूहिक आत्मनिर्भरता की आवश्यकता पर बल दिया गया।

मई 1981 मे काराकास (cracas मे विकासशील राष्ट्रों के मध्य आर्थिक सहयोग पर हुई उच्चस्तरीय बैठक ने इस विषय को एक नया आयाम प्रदान किया एवं विकास–शील राष्ट्रो के मध्य प्रशुल्क अधिमानो की विश्व व्यापी प्रणाली (Global System of Tariff preferences) की माँग की गई ताकि व्यापार संवर्द्धन, उत्पादन व रोजगार मे योगदान प्रदान हो सके। फरवरी 1982 मे 44 विकासशील राष्ट्रो के विचार विमर्श मे इस सन्देश के प्रभाव को प्रबल किया गया। अक्टूबर 82 में '77 के समूह' के मंत्रियो ने न्यूयार्क मे एक घोषणा स्वीकार कर विकासशील राष्ट्रो के मध्य प्रशुल्क अधिमानो (GSTP) की स्थापना पर वार्ताएँ प्रारम्भ की। इस कार्यक्रम का उद्देश्य विकासशील राष्ट्रो के मध्य आपसी व्यापार मे व्यापार अधिमानो व दीर्घकालीन समझौतो जैसे प्रत्यक्ष उपाय अपनाकर उनके आपसी व्यापार मे वृद्धि करना था। जून 83 मे बेलग्रेड (Belgrade) मे हुए अंकटाड के छठे सम्मेलन मे अधिमानीकृत व्यापार प्रबन्धों के विस्तार तथा आधारभूत संरचनात्मक सुविधाओ द्वारा औद्योगिक विकास के कार्यक्रमो को सघन करके विकासशील राष्ट्रो मे आपसी सहयोग के प्रयत्नो की आवश्यकता पर बल दिया गया। मार्च 1983 मे नई दिल्ली मे हुए सप्तम गुट

निरपेक्ष शिखर सम्मेलन मे प्रभावी व सार्थक सहयोग कार्यक्रम हेतु एक प्रस्ताव पारित किया गया। '77 के समूह' की हाल ही की बैठक म विकासशील राष्ट्रो के मध्य प्रशुल्क अधिमानो (GSTP) के प्रथम दौर को 10 मई 1987 तक पूर्ण कर लेने का निर्णय दक्षिण-दक्षिण सहयोग की दिशा मे एक स्वागत योग्य कदम कहा जा सकता है।

'दक्षिण-दक्षिण सहयोग' की विचार वस्तु

(Issues in South-South Co-operation)

यद्यपि, 'दक्षिण-दक्षिण सहयोग' को इससे अधिक उपयोगी 'उत्तर-दक्षिण' आर्थिक सम्बन्धो का प्रतिस्थापन मानना तो अनुचित है लेकिन फिर भी 'दक्षिण-दक्षिण सहयोग' को विकासशील राष्ट्रो व विश्वस्तरीय कल्याण मे अभिवृद्धि का महत्वपूर्ण उपकरण माना जा सकता है। '77 के समूह' (G-77) व निर्गुट राष्ट्र आन्दोलन (NAM) की बैठकों मे 'दक्षिण-दक्षिण सहयोग' के लाभो की अनुभूति के बावजूद इस दिशा मे हुई प्रगति पूर्णतया मन्द रही है तथा इसका प्रभावी सचालन नगण्य सा ही रहा है।

आर्थिक सहयोग के लिए एक आधारभूत पूर्वापेक्षा (pre-requisite) सहभागी राष्ट्रो मे पूरकता का अस्तित्व है? यह भी आवश्यक है कि इस प्रकार के आर्थिक सहयोग से सभी सहयोगी राष्ट्रो के कुल कल्याण मे वृद्धि के साथ-साथ व्यक्तिगत राष्ट्र के कल्याण म वृद्धि हो। यह पूर्णतया स्पष्ट होना चाहिए कि सहयोग से प्रत्येक राष्ट्र लाभान्वित होगा। यद्यपि यह आवश्यक नही है कि सहयोग की प्रत्येक क्रिया से प्रत्येक राष्ट्र के कल्याण के स्तर म वृद्धि हो लेकिन सहयोग की दिशा मे की गई विभिन्न क्रिया-विधियो के मूल प्रभाव के परिणामस्वरूप प्रत्येक सहयोगी राष्ट्र के कल्याण म वृद्धि होनी चाहिए। सहयोग प्रोत्साहित करने हेतु आदान-प्रदान (give and take) दृष्टिकोण सहयोग की समग्र योजना का आवश्यक अग होता है। सहयोग का यह आधार वाक्य (premise) सभी सहयोगियों को भली-भाँति स्पष्ट होना चाहिए।

अत विकासशील राष्ट्रो के मध्य सहयोग की योजना मे दृष्टिकोण की समग्रता को ध्यान म रखना आवश्यक है। केवल व्यापार अथवा उत्पादन के क्षेत्र मे ही सहयोग की बात करना पर्याप्त नहीं है।

पूरकताओ को पहचानने हेतु प्रथम कदम के रूप मे समस्त सहयोगी राष्ट्रो की ससाधन सम्पत्ति-सूची (inventories) तैयार की जानी आवश्यक है। इस

पूरकताओं की सम्पत्ति-सूचियों की सूचना के आधार पर सहयोग की व्यापक योजनाएँ तैयार करने का कार्य आसान हो जायेगा।

दुर्भाग्यवश वर्तमान में विभिन्न राष्ट्रों की संसाधन स्थिति व क्षमताओं से सम्बद्ध पूर्ण सूचना उपलब्ध नहीं है।

विकासशील राष्ट्रों के मध्य आपसी सहयोग के प्रयासों में केवल व्यापार के क्षेत्र में सहयोग पर अनावश्यक बल दिया जा रहा है। व्यापार अधिमानों की विश्वव्यापी प्रणाली (GSTP) जैसी योजनाओं पर वार्ताओं में विकासशील राष्ट्रों के आपसी व्यापार में वृद्धि में प्रशुल्क व गैर-प्रशुल्क अधिमानों की भूमिका पर विचार-विमर्श किया गया है।

डा० पंचमुखी[15] (Panchamukhi) ने इस सन्दर्भ में तीन मुद्दों पर बल देने की आवश्यकता बतलाई है —

(1) अन्तर उद्योग (Inter industry) व्यापार प्रवाहों को उद्योगान्तर्गत (Inter-industry) प्रवाहों से भिन्न करना आवश्यक है।

इस सन्दर्भ में सामान्यतया यह दावा किया जाता है कि विकासशील राष्ट्रों की एक जैसी विकास अवस्थाएँ होने के कारण उनके मध्य व्यापार पूरकताओं की गुंजाइश बहुत कम है। विकासशील राष्ट्रों में घरेलू उत्पादन, निर्यातों व आयातों का ढाँचा लगभग एक जैसा होता है।

इस सन्दर्भ में डा० पंचमुखी[16] ने सुझाव दिया है कि हमें अन्तर-उद्योग सम्भावनाओं की बजाय उद्योगान्तर्गत सम्भावनाओं की छान-बीन करनी चाहिए। दो राष्ट्रों के मध्य उद्योगान्तर्गत व्यापार से अभिप्राय यह है कि वे राष्ट्र उत्पाद मिश्रण, बाजार रणनीति, पूर्ति का समय आदि इस प्रकार से चुनेंगे कि वे अपने व्यापार प्रवाह का मोटे रूप से किये गये एक ही वर्गीकरण के भीतर विस्तार कर सकें उदाहरणार्थ, भारत व बंगलादेश के मध्य जूट के व्यापार में भारत केवल कारपेट बैकिंग (carpet backing) में विशिष्टीकरण कर सकता है जबकि बंगलादेश जूट के थैलों में विशिष्टीकरण कर सकता है। इसी प्रकार भारत व श्रीलंका के चाय के आपसी व्यापार में चाय व चाय मिश्रण की श्रेणियों में भिन्नता के आधार पर व्यापार किया जा सकता

15 Panchamukhi, V R —op. cit
16 Panchamukhi, V.R —op. cit

पूरकताओ की सम्पत्ति-सूचियो की सूचना के आधार पर सहयोग की व्यापक योजनाएँ तैयार करने का कार्य आसान हो जायेगा ।

दुर्भाग्यवश वर्तमान मे विभिन्न राष्ट्रो की ससाधन स्थिति व क्षमताओ से सम्बद्ध पूर्ण सूचना उपलब्ध नही है ।

विकासशील राष्ट्रो के मध्य आपसी सहयोग के प्रयासो मे केवल व्यापार के क्षेत्र मे सहयोग पर अनावश्यक बल दिया जा रहा है । व्यापार अधिमानो की विश्वव्यापी प्रणाली (GSTP) जैसी योजनाओ पर वार्ताओ मे विकासशील राष्ट्रो के आपसी व्यापार मे वृद्धि मे प्रशुल्क व गैर-प्रशुल्क अधिमानो की भूमिका पर विचार-विमर्श किया गया है ।

डा० पचमुखी[15] (Panchamukhi) ने इस सन्दर्भ मे तीन मुद्दो पर बल देने की आवश्यकता बतलाई है —

(1) अन्तर उद्योग (Inter industry) व्यापार प्रवाहो को उद्योगान्तर्गत (Inter-industry) प्रवाहो से भिन्न करना आवश्यक है ।

इस सन्दर्भ मे सामान्यतया यह दावा किया जाता है कि विकासशील राष्ट्रो की एक जैसी विकास अवस्थाएँ होने के कारण उनके मध्य व्यापार पूरकताओ की गु जाइश बहुत कम है । विकासशील राष्ट्रो मे घरेलू उत्पादन, निर्यातो व आयातो का ढाँचा लगभग एक जैसा होता है ।

इस सन्दर्भ मे डा० पचमुखी[16] ने सुझाव दिया है कि हमे अन्तर-उद्योग सम्भावनाओ की बजाय उद्योगान्तर्गत सम्भावनाओ की छान-बीन करनी चाहिए । दो राष्ट्रों के मध्य उद्योगान्तर्गत व्यापार से अभिप्राय यह है कि वे राष्ट्र उत्पाद मिश्रण, बाजार रणनीति, पूर्ति का समय आदि इस प्रकार से चुनेगे कि वे अपने व्यापार प्रवाह का मोटे रूप से कियेगये एक ही वर्गीकरण के भीतर विस्तार कर सकें उदाहरणार्थ, भारत व बगलादेश के मध्य जूट के व्यापार मे भारत केवल कारपेट बैकिंग (carpet backing) मे विशिष्टीकरण कर सकता है जबकि बगलादेश जूट के थैलो मे विशिष्टीकरण कर सकता है । इसी प्रकार भारत व श्रीलका के चाय के आपसी व्यापार मे चाय व चाय मिश्रण की श्रेणियो मे भिन्नता के आधार पर व्यापार किया जा सकता

15 Panchamukhi, V R —op cit
16 Panchamukhi, V.R.—op. cit

है। इस प्रकार स्पष्ट है कि उद्योगान्तर्गत व्यापार एक प्रतिस्पर्धात्मक स्थिति को पूरकता की स्थिति मे परिवर्तित कर सकता है। यदि व्यापार सहभागी राष्ट्र अपनी विनियोग व उत्पादन क्रियाओ का उचित नियोजन करें तो इस प्रकार के उद्योगान्तगत व्यापार में वृद्धि की काफी गुंजाइश विद्यमान है।

(2) इस सन्दर्भ मे दूसरी आवश्यक्ता व्यापार सवर्द्धन को विनियोग क्रियाओ की परियोजनाओ से समन्वित करने की है। वतमान मे सहयोग के लिए उद्यत विकासशील राष्ट्रो म नियोजन सगति (plan harmonization) की प्रक्रिया विद्यमान होन का काई सकेत नही है? दक्षिणी-पूर्व एशियन राष्ट्र सघ (Association of South East Asian Nations) व अन्य लेटिन अमेरिका के राष्ट्रो के सगठना जैसे सुस्थापित सगठनो मे भी नियोजन सगति की प्रक्रिया बहुत कम मात्रा मे विद्यमान है। स्पष्ट ही है कि नियोजन सगति प्रक्रिया से अभिप्राय विभिन्न राष्ट्रा मे एसे उचित सरचनात्मक समायोजन से है जिनसे विभिन्न राष्ट्रा के कल्याण के स्तर म वृद्धि सुनिश्चित हो सके।

(3) तृतीय, यह जाँच करन की आवश्यक्ता है कि क्या केवल प्रशुल्क व गैर-प्रशुल्क अधिमान प्रस्ताव से विकसित राष्ट्रो से विकासशील राष्ट्रो की ओर व्यापार प्रवाह के सवर्द्धन का उद्देश्य प्राप्त हो सकेगा? यदि नही तो इनके साथ किस प्रकार की पूरक नीतियाँ अपनाई जानी चाहिए। आयातो पर प्रशुल्क व गैर-प्रशुल्क छूटें प्रदान करने का अभिप्राय यह है कि विकासशील राष्ट्रो मे से आयातकर्ता राष्ट्र अन्य विकासशील सहयोगी राष्ट्रा स व्यापार प्रवाहो म वृद्धि करने का आर्थिक भार अपने कन्धो पर ले लेते हैं। यह भार इन प्रतिबन्धो मे छूट प्रदान करने से आगम मे होन वाली कमी के रूप मे तथा घरेलू उद्योगों को प्रदत्त सरक्षण म कमी के रूप मे वहन करना पड सकता है। सामान्यतया कमजोर सहयोगी राष्ट्र इस भार को वहन करने की सामर्थ्य म उस समय तक नही पाया जायगा जब तक कि द्विपक्षीय अथवा बहु-पक्षीय आर्थिक ढाँचे के अन्य लाभो द्वारा इनकी क्षति-पूर्ति नहीं हो जाय। इस सन्दर्भ मे यह सुझाया जा सकता है कि कमजोर सहभागिया पर व्यापार प्रतिबन्धो को कम करने के आर्थिक भार की क्षति-पूर्ति शक्तिशाली सहभागियों द्वारा निर्यात साख, साधनो के रिआयती प्रवाहों, तकनीकी सहायता अथवा इसी प्रकार की अन्य सुविधाओ द्वारा की जा सकती है।

राष्ट्रो के मध्य समन्वित की जाने वाली नीतियो मे विनियोग, औद्योगिक लाइसेंस, ब्याज-दर व साख की नीतियो को भी सम्मिलित किया जाना चाहिए। इस प्रकार के नीतियो के समन्वय के अभाव मे यह सम्भव है कि आयातो पर प्रशुल्क व गैर-प्रशुल्क रिआयतो के बावजूद भी निर्यातकर्ता राष्ट्र मे वस्तु विशेष से सम्बद्ध मौद्रिक व विनियोग नीतियाँ हतोत्साहित करने वाली होने के कारण व्यापार प्रवाह मे वृद्धि न हो। यह स्पष्ट नही है कि प्रशुल्क अधिमानो को विश्वव्यापी प्रणाली (GSTP) व इससे सम्बद्ध योजनाओ मे इस तरह से एकीकृत नीतियो पर विचार किया गया है। समष्टि आर्थिक नीतियो मे समन्वय के अभाव मे गम्भीर विघ्न उत्पन्न हो सकते हैं।

प्रशुल्क व गैर प्रशुल्क अधिमानो के दृष्टिकोण के विकल्प के रूप मे डा रॉलप्रेबिश (Raul Prebish) ने एक नव प्रवर्तक (innovative) दृष्टिकोण सुझाया है जिसके अनुसार आयातकर्ता राष्ट्रो द्वारा प्रशुल्क कटोतियो की बजाय निर्यातकर्ता राष्ट्रों द्वारा निर्यात उपदान (export subsidy) प्रदान करके विकासशील राष्ट्रो के व्यापार मे वृद्धि की जा सकती है।

इस दृष्टिकोण के पीछे मूल तर्क यह है कि निर्मित माल व पूँजीगत वस्तुओ के निर्यातक राष्ट्र इन वस्तुओ के आयातकर्ता राष्ट्रो की तुलना मे मजबूत आर्थिक स्थिति मे होते हैं अत व्यापार सम्वर्द्धन का भार अपेक्षाकृत मजबूत स्थिति वाले राष्ट्रो को वहन करना चाहिए।

स्पष्ट है कि यह वैकल्पिक योजना अधिक विवेकपूर्ण व न्याय सगत प्रतीत होती हैं। लेकिन यह सन्देहास्पद ही है कि निर्मित माल मे व्यापार सृजन व व्यापार दिशा-परिवर्तन द्वारा क्षतिपूर्ति के अभाव में निर्यातकर्ता राष्ट्रों पर व्यापार सम्वर्द्धन का सम्पूर्ण भार डाला जा सकता है। दूसरा, यह कि अधिकाश विकासशील राष्ट्रो के निर्यातो को पहले से ही उपदान प्रदान किया हुआ है। अत: उत्पादन के इस भार मे विशेष उपदानो का भार और शामिल कर देना न्यायोचित नही है। लेकिन यह भी ध्यान रखना होगा कि अधिकाश विकासशील राष्ट्र आयातकर्ता के साथ-साथ निर्यातकर्ता भी हैं। अत इनके आयातो पर विदेशो मे प्रदत्त उपदान इनके द्वारा अपने निर्यातो को प्रदत्त उपदान से सन्तुलित हो जायेगें। लेकिन ऐसी नीतियो के परिणामस्वरूप उपदान की मात्रा व इससे प्राप्त लाभ की गणना करके ही डा० प्रेबिश की योजना को प्रशुल्क व गैर-प्रशुल्क अधिमानो की योजना से श्रेष्ठ साबित किया जा सकता है।

'दक्षिण-दक्षिण सहयोग' के सम्वर्द्धन हेतु सेवाओं के व्यापार (Trade in Ser-

vices) की वृद्धि के लिए भी सुनियोजित प्रयासों की आवश्यकता है। बैंकिंग, बीमा, परिवहन व संचार, परामर्श, सूचना प्रदान करना बाजार आदि क्षेत्रों को सेवा क्रियाओं में सम्मिलित किया जाता है। ये क्रियाएँ सामान्यतया श्रम-गहन, पूँजी की अधिक उत्पादकता वाली व कम गर्भावधि विलम्ब (low gestation lag) वाली होती हैं। अतः विकासशील राष्ट्रों को इनमें क्षेत्रीय व उपक्षेत्रीय स्तर पर आत्म-निर्भरता प्राप्त करने के प्रयास करने चाहिए।

इसी प्रकार आपसी सहयोग हेतु यह भी आवश्यक है कि आर्थिक सहयोग किसी न किसी प्रकार की निर्भरता (dependency) के बजाय पारस्परिक अन्तर-निर्भरता (mutual-inter dependency) के ढाँचे पर आधारित होना चाहिए क्योंकि निर्भरता के प्रादुर्भाव के भय से कुछ सहयोगी राष्ट्रों की सहयोग की तत्परता में बाधा उपस्थित हो सकती है। दक्षिण एशिया क्षेत्रीय सहयोग एसोसिएशन (South Asian Regional Co-operation) के राष्ट्रों में इस प्रकार के भय की स्थिति स्पष्ट नजर आती है।

ऐसी स्थिति में भारत जैसे आर्थिक रूप से सुदृढ़ व आकार में बड़े राष्ट्रों को अन्य छोटे राष्ट्रों से उनकी वस्तुओं व सेवाओं तथा तकनीकी ज्ञान के क्रय का आश्वासन देकर उन्हें आर्थिक सहयोग के लाभों में समान वितरण के लिए आश्वस्त करना चाहिए।

हाल ही में 'दक्षिण बैंक' (South Bank) का प्रस्ताव भी सामने आया है। इस बैंक की कुल पूँजी करीब 38 बि० डालर होगी जिसमें से 4 8 बि. डालर की प्रदत्त पूँजी व शेष चलती-पूँजी होगी। इस प्रकार का बैंक विकासशील राष्ट्रों में आपसी सहयोग सम्वर्द्धन में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है तथा इससे इन राष्ट्रों के विकास व विविधता में योगदान प्राप्त हो सकता है।

इसी के साथ हम इस अपेक्षाकृत लम्बे व रोचक अध्याय को समाप्त करते हैं तथा अगले अध्याय में भारतवर्ष के विदेशी व्यापार की स्थिति का अध्ययन प्रारम्भ करते हैं।

22

भारत का विदेशी व्यापार व भुगतान संतुलन एवं इनसे सम्बद्ध नीतियाँ

इस अध्याय मे हम भारतवर्ष के विदेशी व्यापार के मूल्य, बनावट व दिशा एव भुगतान सतुलन मे हाल ही की प्रवृत्तियो पर वहिंगम दृष्टिपात करते हुए भारत की आयात-निर्यात नीति व व्यापार मे राज्य की भूमिका का अध्ययन करेगें।

भूमिका
(Introduction)

भारतवर्ष प्राचीन काल से ही विदेशी व्यापार करता रहा है, लेकिन स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व भारत का अधिकाश व्यापार इ ग्लैंड के साथ ही होता था एव हमारे अधिकाश निर्यात कच्चे माल के व आयात तैयार माल के हुआ करते थे।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत के विदेशी व्यापार के मूल्य, बनावट व दिशा मे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। उदाहरणार्थ, सन् 1950-51 मे भारत के निर्यात 600 6 करोड रु के तथा आयात 650 2 करोड रु के थे जिनका मूल्य 1986-87 मे बढकर *क्रमश 12,566 6 करोड रु व 20,083 5 करोड रु हो गया था।* वर्तमान में भारत का विदेशी व्यापार कुछ ही देशो व वस्तुओ तक सीमित नही है। आज भारत के व्यापारिक सम्बन्ध विश्व के लगभग सभी देशो से हैं एवं आयात-निर्यात वस्तुओ की सूची मे अब कई हजार वस्तुएँ हैं।

भारत के निर्यातो मे विभिन्न प्रकार के औद्योगिक व कृषि क्षेत्रो के उपकरण, हस्तशिल्प, हाथकर्घा, कुटीर व शिल्प वस्तुएँ सम्मिलित हैं। परियोजना निर्यात-जिनमे परामर्श देना, नगर निर्माण तथा 'टर्न की' आदि शामिल है—मे गत वर्षों मे भारी विकास हुआ है।

इसी प्रकार आर्थिक विकास के लिए आवश्यक सामग्री के आयातों के कारण आयात व्यापार में भी भारी वृद्धि हुई है। आयातित वस्तुओं की सूची में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। वर्तमान में हम प्रमुखतया अत्याधुनिक मशीनों एवं दुर्लभ कच्चेमाल तथा विकास के लिए आवश्यक लूब्रिकेन्ट तेल और रासायनिक खाद आदि का आयात करते हैं। विकास के लिए भारी मात्रा में आयातों के कारण तथा विश्व बाजार में पट्रोलियम पदार्थों व उर्वरकों के मूल्यों में तीव्र वृद्धि के कारण देश का व्यापार सन्तुलन घाटे में चल रहा है।

भारतीय अर्थव्यवस्था में विदेशी व्यापार की भूमिका

(Role of Foreign Trade in the Indian Economy)

भारतीय अर्थव्यवस्था के विकास में विदेशी क्षेत्र का सामरिक महत्त्व है। भारतीय नियोजन के प्रारम्भ से ही विकास प्रक्रिया की रणनीति किसी न किसी रूप में विदेशी व्यापार के किसी न किसी पहलू से जुड़ी हुई रही है। आयात-प्रतिस्थापन अभिमुख रणनीति तथा निर्यात सम्वर्द्धन अभिमुख रणनीति के मध्य चुनाव अथवा इन दोनों रणनीतियों का उपयुक्त सयोग भारतीय अर्थव्यवस्था की विकास रणनीति का सदैव ही महत्त्वपूर्ण अंग रहा है।

लगभग पिछले एक दशक से भारतवर्ष के निर्यात सकल राष्ट्रीय आय के लगभग 6 प्रतिशत के स्तर पर निश्चल बने हुए हैं जब कि भारत के आयात 80 के दशक में बढ़कर सकल राष्ट्रीय आय के 10 प्रतिशत तक पहुँच चुके हैं।

भारतीय अर्थव्यवस्था की विकास प्रक्रिया मे विदेशी व्यापार की निर्णायक भूमिका रही है। तकनीकी, औद्योगिक कच्चे माल, अर्द्ध-निर्मित माल व बुरे वर्षों में खाद्यान्नों के आयात अर्थव्यवस्था के सतत विकास व स्थायित्व के लिए आवश्यक हैं। भारत जैसे विशाल राष्ट्र मे इन आयातों के अन्तर्वाह (inflow) की वित्त व्यवस्था हेतु विदेशों से परम्परागत उधार अथवा विदेशी सहायता (सिवाय सीमान्त रूप के) हमारी स्वयं की विदेशी विनिमय अर्जित करने की क्षमता का प्रतिस्थापन नहीं बन सकती है।

आत्मनिर्भरता (Self reliance) प्राप्त करने हेतु यह आवश्यक है कि हमारे आयातों की वित्तव्यवस्था के लिए हम पर्याप्त मात्रा में वस्तुएँ व सेवाएँ निर्यात करें।

यद्यपि हमने कई क्षेत्रो मे आत्मनिर्भरता प्राप्त करने की दिशा मे सराहनीय प्रगति की है लेकिन निर्यातो के क्षेत्र मे आत्म निर्भर होने हेतु हमे अभी काफी प्रयास करने होगें। अर्थव्यवस्था के तीव्र आर्थिक विकास व विविधता हेतु हमारे निर्यातो मे भारी वृद्धि आवश्यक है।

व्यापार सन्तुलन मे असाम्य से आयातो की पूर्ति मे विघटन (disruption) पैदा होता है जिससे सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था प्रभावित होती है अतः व्यापार नियोजन मे निर्यातो को बनाये रखने एव इनमे सम्वर्द्धन को सर्वाधिक महत्त्व दिया जाना चाहिये ताकि विकास हेतु आवश्यक आयातो के क्रय मे कठिनाई न आ पाये।

निर्यातो की भूमिका को एक अन्य दृष्टिकोण से भी देखा जा सकता है, वह यह कि जिस सीमा तक हम आयात-निर्यात के उच्च स्तर पर हमारे व्यापार को सतुलित कर सकते हैं उस सीमा तक हमारी अर्थव्यवस्था दक्षता व उच्च उत्पादकता के ऐसे लाभ प्राप्त कर सकती है जिन्हे मात्र आयात-प्रतिस्थापन नीतियो पर पूर्ण निर्भरता द्वारा प्राप्त करना सम्भव नही है। निर्यात बाजारो मे विक्रय के प्रयासो से गुणवत्ता-सुधार, घरेलू उत्पादन मे तकनीकी उन्नति तथा विश्व स्तर पर प्रतिस्पर्धात्मकता के लिए सर्वाधिक प्रेरणायें बनी रहती है।

इसके अतिरिक्त निर्यात वृद्धि से सम्भव आयात वृद्धि से कीमतें नियत्रण मे रहेगी एव तकनीकी अनुकूलन प्रोत्साहित होगा जिससे आयातो की लागत घटेगी।

अत स्पष्ट है कि स्वस्थ निर्यात वातावरण हेतु उपर्युक्त समष्टि अर्थशास्त्र नीतियाँ अपनाना आवश्यक है।

भारत का व्यापार सतुलन

India's Bot

जैसा कि विदित ही है निर्यातो मे से आयातो का मूल्य घटा देने से राष्ट्र का व्यापार सतुलन प्राप्त होता है। सारणी 22 1 मे हाल ही के वर्षों मे भारत के व्यापार सतुलन की स्थिति दर्शाई गई है।

सारणी 22.1 से दो तथ्य स्पष्ट दिखाई देते हैं.—प्रथम तो यह कि सन् 1975-76 से सन् 1986-87 की अवधि मे सिवाय सन् 1976-77 के भारतवर्ष के व्यापार सतुलन मे निरन्तर घाटा बना रहा है तथा द्वितीय यह है कि इस घाटे मे सन् 1977-78 के पश्चात् तीव्र वृद्धि हुई है। ऐसा प्रमुखतया पेट्रोलियम व तेल उत्पादो के आयातो की लागत मे वृद्धि के परिणामस्वरूप हुआ है। उदाहरणार्थ, सन् 1982-83 मे पेट्रोलियम व तेल उत्पाद का मूल्य कुल आयातो का लगभग 40

सारणी 22 1

भारत के निर्यात आयात व व्यापार सन्तुलन (करोड़ रु. मे)

वर्ष	निर्यात	आयात	व्यापार सन्तुलन
1970-71	1535.2	1634 2	— 99.0
1975-76	4036.3	5264.8	—1228.5
1976-77	5142 3	5073 3	+ 69 0
1977-78	5407 9	6020 2	— 612.3
1978-79	5726.3	6814 3	—1088 0
1979-80	6418 4	9142.6	—2724 2
1980-81	6710 7	12549 2	—5838.8
1981-82	7805 9	13607.6	—5801 7
1982-83	8803 4	14292 7	—5489 3
1983-84	9770.7	15831 5	—6060 8
1984-85	11743 7	17134 2	—5390.5
1985-86	10894 6	19657.7	—8763.1
1986-87	12566.6	20083.5	—7516 9

Source Economic Survey, Govt. of India

प्रतिशत था। यदि हम कुल आयातो मे से पेट्रोलियम व लेत उत्पाद के आयात निकाल दें तो भारत के आयातो की वृद्धि सारणी 22.1 द्वारा प्रदर्शित वृद्धि से काफी कम होगी।

लेकिन फिर भी भारतवर्ष के व्यापार सतुलन मे बढता हुआ घाटा निश्चय ही चिन्ता का विषय है। इस तथ्य का अनुमान इससे लग सकता है कि सन् 1970-71 मे हमारे निर्यात 11 माह से अधिक आयातो के भुगतान हेतु पर्याप्त थे जो कि सन् 1975-76 मे 9 माह से कुछ अधिक आयातो के भुगतान के लिए व 1980-81 मे तो केवल छ माह से कुछ अधिक आयातो के भुगतान के लिए ही पर्याप्त रह गये थे। सन् 1985-86 व 87-88 मे भारत वर्ष के निर्यात क्रमश. 6.5 माह व 7 5 माह के आयातो के भुगतान के लिए ही पर्याप्त थे।

भारत के निर्यात

(India's Exports)

भारतीय निर्यातो को विश्व परिप्रेक्ष्य मे देखा जाये तो स्पष्ट होगा कि विश्व निर्यातो में भारत वर्ष का अश नियोजन की प्रारम्भिक अवधि की तुलना मे एक चौथाई से भी कम रह गया है।

नियोजन के प्रारम्भिक दशक के आर्थिक विकास मे भारत की निर्यात आय मे गतिहीनता (stagnation) की स्थिति बनी हुई थी। इसके विपरीत 1960 के दशक मे भारत के निर्यातो मे स्पष्ट वृद्धि हुई तथा निर्यातो के कुल मूल्य व मात्रा दोनो मे ही चार प्रतिशत से अधिक वार्षिक वृद्धि होती रही।

इन दोनो ही दशको की अवधि मे विश्व निर्यातो मे भारी वृद्धि हुई जिसका अभिप्राय यह था कि इस पूरी अवधि मे भारत का विश्व निर्यातो मे अश निरन्तर घटता गया। सन् 1950 मे भारत विश्व निर्यातो का लगभग 2 प्रतिशत निर्यात करता था। यह अश सन् 1960 मे घटकर 1 प्रतिशत तथा सन् 1970 मे केवल 0 65 प्रतिशत रह गया था।[1]

लेकिन 1970 के दशक मे भारतवर्ष के निर्यातो की वृद्धि पूर्व के दशको से निश्चय ही अधिक थी क्योकि इस दशक मे भारत के निर्यातो की मात्रा की वार्षिक वृद्धि दर 6 प्रतिशत से अधिक तथा कुल मूल्य की वृद्धि दर लगभग 16 प्रतिशत रही थी। लेकिन फिर भी भारत के निर्यातो का विश्व निर्यातो मे अश गिरता रहा तथा सन् 1980 मे यह घटकर 0.42 प्रतिशत रह गया था। निर्यात अश मे इस कमी का प्रमुख कारण इंधन के विश्व मूल्य मे हुई वृद्धि थी।

यद्यपि सन् 1980 के पश्चात् की अवधि मे भारत के निर्यातो की वृद्धि दर मे कमी आई है लेकिन फिर भी भारतवर्ष के निर्यातो का विश्व निर्यातो मे अश 1980 के दशक की प्रथम आधी अवधि मे यथास्थिर बना रहा है (यहाँ तक कि इसमें मामूली वृद्धि भी हुई है), वर्तमान मे यह अश 0.5 प्रतिशत से कुछ कम स्तर पर बना हुआ है। इसका प्रमुख कारण विश्व व्यापार का लगभग यथास्थिर बना रहना है।

---

1 See, Nayyar, Deepak—India's Export Performance, 1970—85 : Underlying Factors and Constraints—E and PW Annual No (May, 1987)

समग्र स्तर पर भारत के निर्यातों की वृद्धि दर में सन् 1970-71 से 1986-87 की अवधि में दो अवस्थाएँ (Phases) स्पष्ट परिलक्षित होती हैं। विशेषज्ञों ने भारत के निर्यातों की वृद्धि के दृष्टिकोण से सन् 1977-78 को विभाजक वर्ष माना है। अत इस 15 वर्षीय अवधि को दो उप-अवधियों 1970-71 से 1977-78 से 1984-85 में बांट कर अध्ययन किया जा सकता है।

सारणी-22 2 से स्पष्ट है कि चाहे हम निर्यातों के रुपयों के रूप में मूल्य को लें, चाहे डालर के रूप में अथवा SDRs क रूप में लें अथवा निर्यातों की मात्रा को लें सन् 1977-78 से 1984-85 की अवधि म सन् 1970-71 से 1977-78 की अवधि की तुलना में निर्यातों की वृद्धि दर आधी रह गई थी। अत स्पष्ट है कि 1977-78 से 1984-85 की अवधि में निर्यातों की वृद्धि दर में तीव्र गति से गिरावट आई है। पूर्व अवधि के सिंहावलोकन से ज्ञात होता है कि 1977-78 तक की अवधि की निम्न निर्यात वृद्धि दर पूर्व की अवधि से विचलनयुक्त थी जबकि इससे बाद की अवधि की निर्यात वृद्धि दर इस से पूर्व के दशक की वृद्धि दर के अनुरूप रही है।

सारणी . 22.2

भारत के निर्यातों में वार्षिक वृद्धि की औसत दर

कुल निर्यात	1970-71 से 1977-78	1977-78 से 1984-85	1970-71 से 1984-85
रुपयों में मूल्य	20 3	11 0	14 4
डालर मूल्य	17 8	6 1	12 0
एस. डी. आर. मूल्य	15 3	9.5	11.9
मात्रा का सूचकांक	7.5	3 2	5 4

Source . Nayyar, Deepak, op cit; P. AN-77.

लेकिन यह तो निर्विवाद सत्य है कि सन् 1970 के बाद की अवधि की निर्यात वृद्धि दर इस से पूर्व के दशकों से स्पष्टतया अधिक थी। लेकिन साथ ही यह

भी स्पष्ट है कि अर्थव्यवस्था की आयात आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए तथा अन्तर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य के दृष्टिकोण से 1970 के बाद की अवधि की निर्यात वृद्धि दर भी अपर्याप्त थी।

सारणी 22 2 मे प्रस्तुत सूचना से स्पष्ट है कि 1970-71 से 1977-78 की अवधि मे भारत की निर्यात आय म वार्षिक वृद्धि की औसत दर रुपयो के रूप मे 20.3 प्रतिशत, डालर के रूप मे 17 8 प्रतिशत तथा SDRs के रूप मे 15.3 प्रतिशत थी जबकि 1977-77 से 1984-85 की अवधि मे ये वृद्धि दरें क्रमश 11 प्रतिशत, 6 1 प्रतिशत तथा 9 4 प्रतिशत थी। प्रथम अवधि मे निर्यात वृद्धि की तीव्र दर काफी सीमा तक निर्यातो की मात्रा (Volume) में वृद्धि (58 प्रतिशत) के कारण थी लेकिन इसमे इससे भी अधिक योगदान निर्यातो के इकाई मूल्य (122 प्रतिशत) का था।

हमारे अब तक के विश्लेषण मे निर्यातो का समग्र स्तर पर अध्ययन किया गया है अब हम निर्यातो की समग्र प्रवृत्तियो के पीछे निहित विभिन्न निर्यात मदो पर ध्यान केन्द्रित करेंगे।

निर्यातो की बनावट

(Composition of India's Exports)

सन 1970-71 के बाद की अवधि के आकडो के ध्यानपूर्वक अध्ययन से स्पष्ट होता है कि भारतवर्ष के निर्यातो को निम्न श्रेणियो मे विभाजित किया जा सकता है।

1. सम्पूर्ण अवधि मे तीव्र व सतत वृद्धि वाले निर्यात जैसे फल व सब्जियाँ, कच्चा लोहा, केमीकल्स व सम्बद्ध उत्पाद, रत्न व जवाहरात, गलीचे व आवरण

2 लगभग 1981 तक स्थिर गति से वृद्धि लेकिन तत्पश्चात् गतिहीनता अथवा घटने वाले निर्यात, जैसे, समुद्रि उत्पाद, चमडा व चमडे से निर्मित माल, हस्तशिल्प, धातु से निर्मित माल तथा मशीनरी व परिवहन उपकरण,

3 *1977-78 तक तीव्र वृद्धि दर एव ततपश्चात् लगभग गतिहीनता की अवधि* जैसे चाय कॉफी काजू की गिरी एव मसाले

4 पूरी अवधि मे वृद्धि लेकिन यदा-कदा गतिहीनता की स्थिति वाले निर्यात, जैसे, जूट से निर्मित माल तथा सूती वस्त्र (इनमे से प्रथम के निर्यातो मे तीव्र *उच्चावचन हुए हैं जबकि द्वितीय के निर्यातों में स्पष्ट वृद्धि की प्रवृत्ति रही है)।*

5. तीव्र उच्चावचन तथा किसी प्रवृत्ति विशेष का प्रभाव, जैसे, चीनी, चावल खली कपास, लोहा व इस्पात तथा पेट्रोलियम व पेट्रोल उत्पाद। इन सबको हम मौसमी निर्यातों (fair weather exports) की श्रेणी में रख सकते हैं जो अपनी पराकाष्ठा के वर्षों में निर्यातों की वृद्धि में महत्वपूर्ण योगदान देते हैं।

इसके अतिरिक्त भारत के निर्यातों से सम्बन्धित आंकड़ों के अध्ययन से यह भी स्पष्ट परिलक्षित होता है कि हाल ही के वर्षों में इंजीनियरी सामान, हस्तशिल्प व सिले सिलाये वस्त्रों के निर्यात कुल निर्यातों का लगभग 35 से 40 प्रतिशत तक रहे है।

भारत के आयात

(India's Imports)

भारतीय अर्थव्यवस्था के तीव्र आर्थिक विकास के लिए पेट्रोलियम पदार्थों, उर्वरक, इस्पात व लोहा, अलौह धातुएं, अन्य औद्योगिक कच्चामाल, विशेष प्रकार की मशीनरी तथा पूंजीगत माल, कल पूर्जे व उपकरण आदि का आयात अति आवश्यक हैं। कृषि क्षेत्र में आत्मनिर्भरता प्राप्त करने के परिणामस्वरूप हमारे खाद्यान्न व कपास के आयातों में भारी कमी हुई है।

भारतवर्ष के आयात सकल राष्ट्रीय आय के लगभग 10 प्रतिशत है तथा इस प्रतिशत में विशेषकर सन् 1975-76 में विश्व बाजार में तेल की कीमतों में तीव्र वृद्धि के परिणामस्वरूप वृद्धि हुई थी।

सन् 1982-83 में भारत वर्ष के कुल आयातों में पेट्रोल व तेल उत्पाद के आयातों का अंश लगभग 40 प्रतिशत था। अतः हमारे आयातों में हाल ही के वर्षों में भारी वृद्धि का मुख्य कारण पेट्रोलियम व तेल उत्पादों के विश्व मूल्य में वृद्धि रही है। यदि हम कुल आयातों में से पेट्रोलियम व तेल उत्पादों के आयातों को निकाल दें तो आयातों में वृद्धि दर उतनी अधिक नहीं रहेगी जितनी इनको शामिल करने पर दिखाई देती है।

भारत के आयातों की बनावट

(Composition of India's Imports)

भारतवर्ष के आयातों को मोटे रूप में तीन श्रेणियों में विभाजित किया जाता है उपभोग वस्तुएं, कच्ची सामग्री एवं अर्द्ध-निर्मित माल तथा पूंजीगत वस्तुएं।

भारत के आयातो मे मोटे अनाज व इससे तैयार वस्तुओ का आयात सन् 1970-71 में 213 करोड रु. था जो कुल आयातो का लगभग 13 प्रतिशत था। यह प्रतिशत सन् 1975-76 मे बढकर 25.5 तक पहुँच गया था। लेकिन इससे बाद के वर्षों मे भारत की कृषि मे हुई द्रुतगामी प्रगति के परिणामस्वरूप मोटे अनाज व इससे बनी वस्तुओ के आयात निरन्तर घटते गये तथा सन् 1985-86 मे आयातो की इस मद पर केवल 47 करोड रु व्यय किये गये जो कुल आयातो का नगण्य प्रतिशत था।*

पूँजीगत वस्तुओ के आयात हमारे आर्थिक विकास के लिए अति आवश्यक हैं अत इन वस्तुओ के आयातो में निरन्तर वृद्धि हुई है। सन् 1970-71 मे पूँजीगत वस्तुओ के आयात 404 करोड रु थे जो कुल आयातो का लगभग 25 प्रतिशत था। तत्पश्चात् सन् 1984-85 मे मामूली कमी के अलावा पूँजीगत वस्तुओं के आयातो मे निरन्तर वृद्धि होती रही है। सन् 1986-87 मे पूँजीगत वस्तुओ के आयातो का मूल्य 5467 करोड रु से कुछ अधिक था जो कुल आयातो का 27 प्रतिशत से भी अधिक था। इस श्रेणी मे गैर-बिजली की मशीनें, औजार व उपकरण शामिल हैं। पेट्रोल पदार्थों के आयातो मे सन् 1977-78 के बाद की अवधि मे इनकी विश्व कीमतो मे वृद्धि के परिणामस्वरूप भारी वृद्धि हुई है। इन आयातो का मूल्य सन् 1970-71 में कुल आयातो का 8 प्रतिशत से कुछ अधिक था जो 1982-83 मे बढकर लगभग 40 प्रतिशत हो गया था। लेकिन सन् 1982-83 के बाद यह प्रतिशत निरन्तर घटता रहा है। सन् 1986-87 मे पेट्रोलिम पदार्थों के आयात कुल आयातो का 13 प्रतिशत से कुछ अधिक थे। इस कमी का प्रमुख कारण विश्व बाजार मे पेट्रोल की कीमतो मे गिरावट रही है।

हमारे आयातो का एक अन्य महत्त्वपूर्ण मद उर्वरक व रासायनिक उत्पाद हैं। सन 1970-71 मे उर्वरक व रासायनिक उत्पादो के आयात कुल आयातो का 13 प्रतिशत से कुछ अधिक थे यह अश 1982-83 मे घटकर 8 प्रतिशत रह गया था लेकिन तत्पश्चात् यह पुन बढकर सन् 1986-87 मे 16 प्रतिशत से अधिक हो गया था।

इसके अतिरिक्त लोहा व इस्पात, खाद्य तेल, चीनी आदि भी हमारे महत्त्वपूर्ण आयात मद रहे हैं।

---

*इस अध्याय के अधिकांश आँकडे भारत सरकार के 'Economic survey' से लिये गये हैं।

भारतवर्ष के आयातो के सन्दर्भ मे हम कह सकते हैं कि तेल पेट्रोल व पेट्रोलियम पदार्थ, उर्वरक व रासायनिक पदार्थ, पूँजीगत आयात तथा लोहा व इस्पात के आयातो पर सन् 1985-86 मे कुल आयातो का लग-भग 70 प्रतिशत से अधिक व्यय हुआ था।

भारत के विदेशी व्यापार की दिशा

(Direction of India's Trade)

भारत के आयातो व निर्यातो के भौगोलिक वितरण का अध्ययन व्यापार की दिशा मे महत्त्वपूर्ण अन्तर्दृष्टि प्रदान कर सकता है। भारत के विदेशी व्यापार की दिशा का अध्ययन करने हेतु सम्पूर्ण विश्व को मोटे रूप मे चार बड़े क्षेत्रो मे बाँटा जा सकता है। ये क्षेत्र हैं OECD, ओपेक राष्ट्र, पूर्वी यूरोप के राष्ट्र तथा विकासशील राष्ट्र।

सन 1970-71 के बाद की अवधि मे OECD राष्ट्रो को भारत के निर्यातो मे वृद्धि हुई है। यद्यपि 1977–78 व 1980-81 मे इस वृद्धि मे बाधा अवश्य आई थी लेकिन तत्पश्चात् इन देशो को भारत के निर्यातो में निरन्तर वृद्धि होती रही है। सन् 1986-87 मे OECD राष्ट्रो को भारत के निर्यातो का मूल्य लगभग 7126 करोड रु था जो भारत के कुल निर्यातो का लगभग 57 प्रतिशत तथा इस पूरी अवधि मे सर्वाधिक अंश था।

इसके विपरित विकासशील राष्ट्रो को किये जाने वाले भारत के निर्यातो मे इतनी अधिक वृद्धि की प्रवृत्ति नही रही है तथा इन राष्ट्रो को किये जाने वाले भारत के निर्यातो मे उच्चावचन आते रहे हैं।

पूर्वी यूरोप के राष्ट्रो को भारत के निर्यातो मे सन् 1979-80 मे मामूली वृद्धि के पश्चात् सन् 1882-83 मे तीव्र वृद्धि हुई लेकिन उसके बाद के वर्षों में इन राष्ट्रो को भारत के निर्यातो मे मामूली वृद्धि की प्रवृत्ति रही है।

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि पूर्वी यूरोपीय राष्ट्रो तथा अमेरिका को भारत के निर्यातो मे सन् 1981-82 के बाद विशेष वृद्धि हुई है।

जहाँ तक ओपेक राष्ट्रो का प्रश्न है, इन राष्ट्रो को किये जाने वाले भारत के निर्यातों मे सन् 1981-82 मे तीव्र वृद्धि हुई थी लेकिन सन् 1984-85 मे इन देशो को भारत के निर्यातो मे वृद्धि के पश्चात् इन निर्यातो मे गिरावट होती रही है।

एशिया व ओसनिक राष्ट्रों को भारत के निर्यातों मे सन् 1984-85 मे तीव्र वृद्धि हुई तथा उसके बाद के वर्षों मे भी तीव्र वृद्धि की यह प्रवृत्ति जारी है।

जापान को भारत के निर्यातो मे मन्द गति से वृद्धि होती रही है तथा सन् 1984-85 मे इन निर्यातो मे तीव्र वृद्धि के पश्चात् वृद्धि की प्रवृत्ति जारी है। आस्ट्रेलिया व न्यूजीलैण्ड का किये जाने वाले भारत के निर्यातो मे भी मामूली वृद्धि जारी है।

अत स्पष्ट है कि भारत के निर्यातो के लिए OECD राष्ट्रो के बाजारो की विशेष महत्ता रही है तथा विश्व अर्थव्यवस्था मे गतिहीनता की अवधि मे भी इन देशो को भारत ने बडी मात्रा मे निर्यात किये है।

भारत के निर्यातो के दृष्टिकोण से जहाँ तक विभिन्न राष्ट्रो के महत्त्व का प्रश्न है सन् 1970-71 मे इस दृष्टिकोण से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण राष्ट्र क्रमशः सोवियत रूस, सयुक्त राज्य अमेरिका, जापान, ब्रिटेन व सघीय जर्मन गणराज्य थे जबकि सन् 1985-86 मे भी यह क्रम लगभग वैसा ही बना हुआ था अन्तर केवल यह था कि रूस व अमेरिका लगभग समान रूप से महत्त्वपूर्ण थे तथा जापान के बाद ऐसी ही स्थिति ब्रिटेन व सघीय जर्मन गणराज्य की थी। यद्यपि सन् 1986-87 मे भारतवर्ष के अमेरिका को किये जाने वाले निर्यातो मे तीव्र वृद्धि व रूस को किये जाने वाले निर्यातो मे तीव्र गिरावट के परिणामस्वरूप अमेरिका ही भारत का सबसे महत्त्वपूर्ण आयातकर्ता राष्ट्र उभरकर सामने आया है।

जहाँ तक भारतवर्ष के आयातो का प्रश्न है OECD राष्ट्रो से भारत के आयातो मे तीव्र वृद्धि हुई है। वास्तव मे यह वृद्धि इन राष्ट्रो को किये जाने वाले भारत के निर्यातो से भी अधिक तीव्र गति से हुई है। सन् 1986-87 में OECD राष्ट्रो से भारत ने लगभग 1› हजार करोड रुपये के आयात किये थे जो कि कुल आयातो का 64 प्रतिशत से कुछ अधिक था।

विकासशील राष्ट्रो से भी भारत के आयातो मे वृद्धि हुई है लेकिन यह वृद्धि OECD राष्ट्रो से आयातो की तुलना मे काफी कम रही है। सन् 1985-86 मे विकासशील राष्ट्रो से भारत के आयातो मे तीव्र व भारी वृद्धि हुई है।

पूर्वी यूरोप के राष्ट्रो से भारत के आयातो मे सन् 198C-81 के पश्चात् तीव्र वृद्धि हुई है यद्यपि इन राष्ट्रो को भारत के निर्यातो मे गतिहीनता की स्थिति बनी हुई है।

अधिक राष्ट्रों से भारत के आयातों में सन् 1978-79 से 1982-83 तक तीव्र वृद्धि हुई लेकिन तत्पश्चात् इन आयातों में कमी होने के बाद मामूली वृद्धि हुई है।

भारतवर्ष के आयातों के दृष्टिकोण से सन् 1970-71 में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण राष्ट्र क्रमश संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्रिटेन, संघीय जर्मन गणराज्य, सोवियत संघ, *ईरान व जापान थे जबकि सन् 1985-86 में ये राष्ट्र क्रमश अमेरिका, सोवियत संघ* संघीय जर्मन गणराज्य, ब्रिटेन, जापान, ईरान व साऊदी अरब थे।

भारतवर्ष का भुगतान संतुलन

(India's Balance of Payments)

जैसा कि विदित ही है राष्ट्र का भुगतान सन्तुलन उसके व्यापार सन्तुलन से *विस्तृत अवधारणा है। भुगतान सन्तुलन में राष्ट्र के शेष विश्व के साथ समस्त* आर्थिक सौदों का लेखा-जोखा सम्मिलित होता है।

राष्ट्र विशेष के भुगतान सन्तुलन पर टिप्पणी करने से पूर्व तथा इस सन्दर्भ में नीति निर्देश देने से पूर्व यह आवश्यक है कि भुगतान सन्तुलन के समस्त मदों का सावधानीपूर्वक विश्लेषण किया जाय। सामान्यतया यह पाया गया है कि भुगतान सन्तुलन से सम्बद्ध नीति की सिफारिश करते समय विश्लेषणकर्ता इसके कुछ महत्त्वपूर्ण मदों पर ही ध्यान केन्द्रित करते हैं एवं अन्य मदों को नजरअन्दाज करते रहते हैं। विश्लेषण की यह प्रवृत्ति भ्रामक सिद्ध हो सकती है।

भुगतान संतुलन की प्रवृत्तियाँ

(Trends in the BOP)

भारतवर्ष के भुगतान सन्तुलन में प्रमुख प्रवृत्तियाँ अग्रलिखित हैं —

सन् 1967-68 से 1973-74 की अवधि में भारत के भुगतान सन्तुलन की स्थिति अपेक्षाकृत सुखद थी। सिवाय सन् 1972-73 के, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से विशुद्ध प्र.सियों (drawals) के समायोजन (भुगतान सन्तुलन के अन्तराल की वित्त-व्यवस्था) के पश्चात् इस अवधि में विदेशी विनिमय के चलन धनात्मक थे।

1973 के प्रथम 'तेल झटके' (Oil shock), उर्वरकों व गेहूँ की कीमतों में वृद्धि तथा खाद्यान्नों के आयातों में वृद्धि के परिणामस्वरूप सन् 1974-75 में भारत *वर्ष को IMF से उसके स्वर्ण अंश, प्रथम उधार अंश तथा सन् 1974 की तेल सुविधा* के तहत 485 करोड़ रु. की राशि उधार लेनी पड़ी।

सन् 1975-76 से 1977-78 की अवधि में भारत के भुगतान सन्तुलन की स्थिति पुन सुखद बनी। विदेशी सहायता का विशुद्ध अन्तर्वाह (net inflow) सन् 1975-76 के 927 करोड रु. के स्तर से घटकर 1976-77 मे 678 करोड रु रह गया था। व्यापार सन्तुलन अनुकूल होने से तथा विशुद्ध अदृश्य आधिक्य (invisible surplus) मे सतत वृद्धि के परिणामस्वरूप राष्ट्र की आरक्षित निधि मे तीव्र वृद्धि हुई।

कोष से प्राप्तियो के अलावा आरक्षित निधि मे 1976-77 की तुलना मे सन् 1977-78 मे और भी अधिक वृद्धि हुई। यह 1800 करोड रु की आरक्षित निधि की वृद्धि प्रमुखतया पर्यटको से, तकनीकी व परामर्श सेवाओ से तथा विदेश मे कार्यरत भारतीयो द्वारा प्रेषित मुद्राओ (inward remittances) की आय से सम्भव हुई।

सन् 1978-79 मे IMF से विशुद्ध प्राप्तियो के सिवाय आरक्षित निधि की वृद्धि सन 1977-78 की तुलना मे मात्र आधी रह गई थी। 1979-80 मे भारत के भुगतान सन्तुलन की स्थिति और भी खराब हो गई थी। निर्यातो की मन्द वृद्धि तथा आयातो मे भारी वृद्धि के परिणामस्वरूप भारतवर्ष के व्यापार सतुलन का घाटा सन् 1978-79 की तुलना मे सन् 1979-80 मे बढकर लगभग ढाई गुना हो गया था लेकिन विशुद्ध अदृश्य प्राप्तियो मे भारी वृद्धि के परिणामस्वरूप व्यापार घाटे का अधिकाश भाग दुरुस्त हो गया तथा समग्र व्यापार सतुलन का घाटा मामूली रह गया था।

सन् 1979-80 के द्वितीय 'तेल झटके' के परिणामस्वरूप सन् 1980-81 के बाद के वर्षों मे भारत के भुगतान सतुलन की स्थिति बिगडने लगी। व्यापार सतुलन का घाटा सन् 1979-80 के 2,724 करोड रु. के स्तर से बढकर सन 1980-81 में 5,839 करोड रु हो गया। घाटे की यह वृद्धि दुगने से भी अधिक थी। इस स्तर का भारी व्यापार घाटा सन् 1984-85 तक जारी रहा। विदेशो मे कार्यरत भारतीयो द्वारा प्रेषित राशि मे कमी होनी प्रारम्भ हो गई तथा चालू खाते के घाटे की वित्त व्यवस्था हेतु विदेशी सहायता का विशुद्ध अन्तर्वाह अपर्याप्त बना रहा अत: राष्ट्र को IMF से 'ट्रस्ट फण्ड' सहायता सहित 814 करोड रु. की सहायता लेनी पडी।

सन् 1981-82 मे भारत के भुगतान संतुलन की स्थिति अत्यधिक खराब हो चुकी थी तथा विदेशी विनिमय की आरक्षित निधि मे 2,156 करोड रु. की कमी हो गई अत: भारतवर्ष को IMF की 'विस्तृत कोष सुविधा' (EFF) से सहायता लेनी पडी। इस सुविधा के तहत भारतवर्ष को 5 बि SDRs (लगभग 5.65 बि. डालर)

का ऋण लेना पडा। यह ऋण 9 नवम्बर 1981 से तीन वर्षों की अवधि मे सरकार के विदेशी व्यापार मे समायोजन हेतु प्रदान किया गया था।

सन् 1981-82 मे भारत ने IMF से 'विस्तृत कोष सुविधा' के तहत 637 करोड रु. प्राप्त किये। अदृश्य मदो से विशुद्ध प्राप्तियाँ सन् 1980-81 तक वृद्धि की प्रवृत्ति के पश्चात सन् 1981-82 से पूर्व के वर्ष के 4,311 करोड रु. के स्तर से घटकर 3,804 करोड रु. रह गई थी। भुगतान सतुलन के पूँजी खाते मे सुधार हेतु सन् 1982-83 के केन्द्रीय बजट मे प्रवासी भारतीयो (NRI) को जमाओ व विनियोग हेतु उदार सुविधायें प्रदान की गई।

कच्चे तेल के घरेलू उत्पादन मे भारी वृद्धि से तेल आयातो मे कमी के परिणामस्वरूप तेल के आयातो पर व्यय मे कटौती ने व्यापार सतुलन के घाटे को सन् 1981-82 के 5,801 करोड रु. के स्तर से घटाकर 1982-83 मे 5,489 करोड रु. के बराबर ला छोडा।

सन् 1982-83 मे विशुद्ध अदृश्य प्राप्तियाँ सन् 1981-82 के 3,804 करोड रु. के स्तर से घटकर 3,480 करोड रु. रह गई थी। विदेशी विनिमय की आरक्षित निधि मे 1 122 करोड रु. की कमी इससे पूर्व के वर्ष की कमी से आधी थी। कुल मिलाकर भुगतान सतुलन की स्थिति मे कुछ सुधार हुआ था।

सन् 1983-84 मे भुगतान सतुलन की स्थिति में सुधार जारी रहा। इस वर्ष मे विदेशी विनिमय की आरक्षित निधि मे केवल 153 करोड रु की कमी हुई। यद्यपि सन् 1982-83 की तुलना मे व्यापार सतुलन का घाटा कुछ अधिक था लेकिन विशुद्ध अदृश्य प्राप्तियो मे वृद्धि हुई थी। प्रवासी भारतीयो को प्रदत्त विनियोग की सुविधाओ मे और अधिक सुधार किया गया। सन् 1983-84 की एक प्रमुख बात विदेशी सहायता के विशुद्ध अन्तर्वाह मे सन् 1982-83 के 936 करोड रु. के स्तर से सन् 1983-84 मे कमी होकर 723 करोड रु. हो जाना था। इस कमी का प्रमुख कारण सकल उपभोग मे कमी व ऋण सेवा भार की वृद्धि था।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से 30 अप्रेल सन् 1983 तक 'विस्तारित कोष सुविधा' के तहत भारतवर्ष ने कुल 3.9 बि. SDR का ऋण प्राप्त किया, लेकिन भुगतान सतुलन मे सुधार के परिणामस्वरूप भारत सरकार ने 1 मई सन् 1984 को IMF से उपलब्ध शेष 1.1 बि. SDR के ऋण प्रबन्ध के समापन का निर्णय लिया। सन् 1984-85 मे राष्ट्र के भुगतान सतुलन मे काफी सुधार हुआ। इस सुधार का प्रमुख

कारण राष्ट्र के आयातो मे कटौती व निर्यातो म भारी वृद्धि थी। यद्यपि विशुद्ध अदृश्य अन्तर्वाह पूर्व के वर्ष से कुछ कम रहा। पूँजी खाते मे प्रवासी भारतीयो की जमा भी पूर्व के वर्ष से कुछ कम रही।

सन् 1985-86 मे स्थिति पुनः पलट गई। इस वर्ष मे विदेशी विनिमय की आरक्षित निधि की वृद्धि केवल 577 करोड रु थी जो 1984-85 के 1,271 करोड रु की वृद्धि से आधी से भी कम थी। इस मन्द वृद्धि का प्रमुख कारण राष्ट्र के व्यापार घाटे मे तीव्र वृद्धि थी। सन् 1985-86 मे भारतवर्ष का व्यापार घाटा 1984-85 के 5,390 करोड रु के स्तर से बढ़कर 8,763 करोड रु. हो गया था। व्यापार घाटे की इस वृद्धि का प्रमुख कारण कच्चे तेल के निर्यातो मे कमी थी। राष्ट्र के कच्चे तेल का निर्यात सन् 1984-85 के 1,563 करोड रु के स्तर से घटकर सन् 1985-86 मे मात्र 135 करोड रु. रह गया था। सन् 1985-86 मे राष्ट्र की विशुद्ध अदृश्य प्राप्तियाँ, बढे हुए विदेशी ऋणो पर ब्याज की अदायगी तथा निजी हस्तांतरणो मे कमी के कारण घट गई थी। सन् 1985-86 मे विदेशी सहायता का विशुद्ध अन्तर्वाह 2,429 करोड रु था जबकि सन् 1984-85 मे यह अन्तर्वाह 1,707 करोड रु ही था।

अत स्पष्ट है कि 1970 व 80 के दशक मे भारतवर्ष के भुगतान सतुलन मे उतार-चढाव प्रमुखतया आयातित तेल की कीमतो, विदेशो मे कार्यरत भारतीयो द्वारा प्रेषित राशि तथा कच्चे तेल के आयात प्रतिस्थापन के कारण हुए हैं। भुगतान सतुलन मे स्थायित्व बनाये रखने मे राष्ट्र के निर्यातो को महत्त्वपूर्ण भूमिका निभानी थी लेकिन ऐसा नही हुआ। जब कभी भी राष्ट्र की विदेशी विनिमय की आरक्षित निधि मे वृद्धि हुई तो आयातो को उदार किया जाता रहा। इसी प्रकार कच्चे तेल के आयात प्रतिस्थापन पर भी ध्यान केन्द्रित किया गया।

सक्षेप मे हम कह सकते हैं कि भारतवर्ष को समय समय पर भुगतान सतुलन पर दबाव की स्थिति का सामना करना पडा है। उदाहरणार्थ, सन् 1951-52, 56-57, 57-58, 64-65 से 1967-68, 1974-75, 1980-81 तथा 1981-82 तथा हाल ही के तीन वर्षों में भारत के भुगतान सतुलन पर विशेष दबाव बना रहा है। सन् 1951-52, 1956-57, 1957-58 तथा 1964-67 में भुगतान सतुलन पर दबाव का प्रमुख कारण घरेलू अर्थव्यवस्था के विकास के परिणामस्वरूप आयातो की वृद्धि थी। इसके विपरित सन् 1974-75, 1980-81 व 81-82 मे भुगतान सतुलन पर दबाव का कारण सन् 1973 व 1979 के 'तेल-कीमत झटके'

गत वस्तुओ के क्षेत्र मे विनियोग के ढांचे से न केवल उपलब्ध निवेशयोग्य ससाधनो पर तनाव उत्पन्न हुआ अपितु आयातो की आवश्यक्ता मे भी अभिवृद्धि हुई। इस दुष्कर स्थिति के परिणामस्वरूप निर्यात-निराशा के बावजूद यह अधिकाधिक महसूस किया *जाने लगा कि यदि भारतीय अर्थव्यवस्था को आत्मनिर्भरता (Self Reliance) का* लक्ष्य प्राप्त करना है तो विकास हेतु आवश्यक आयातो की वित्त व्यवस्था निर्यात-आय से ही सम्भव है। अत निर्यात वृद्धि के महत्त्व का कुछ अहसास हुआ।

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि आयात-प्रतिस्थापन की व्यूहरचना स्वीकार कर लेने के पश्चात् राष्ट्र के समक्ष दो विकल्प थे — प्रथम विकल्प प्रशुल्क, कर व ब्याज-दर जैसी राजकोषीय व मौद्रिक नीतियाँ अपना कर आयात प्रतिस्थापन हेतु प्रतिस्पर्द्धात्मक घरेलू उत्पादन को बढावा देने का था जबकि द्वितीय विकल्प लाइसेंस, नियताश एव आयातो पर अन्य प्रतिबन्ध लगाकर तथा कुछ प्रशुल्क व गैर-प्रशुल्क उपायो से स्वतत्र व्यापार में हस्तक्षेप द्वारा सरक्षण प्रदान करने का था।

इन दोनो विकल्पो में से भारतवर्ष ने *व्यापार-हस्तक्षेप की नीति का विकल्प अपनाया था। सम्भवत सन 1956-57 के भारी विदेशी विनिमय सकट तथा आयात* नियत्रणो से सम्बद्ध कडे उपाय अपनाने की आवश्यक्ता को ध्यान में रखते हुए राष्ट्र ने यह निर्णय लिया। 50 के दशक के अतिम वर्षों तथा 60 के दशक के प्रारम्भिक वर्षों में सरकारी व्यापार मे भारी हस्तक्षेप की स्थिति विद्यमान थी। इस अवधि मे *व्यापार हस्तक्षेप लागू करने हेतु अनेक एजेन्सीज का प्रादुर्भाव हुआ जैसे आयात-निर्यात* के प्रमुख नियत्रक का कार्यालय, क्षेत्रीय कार्यालय, आवश्यक प्रमाणपत्र जारी करने वाली ऐजेन्सीज स्वदेशी निकासी प्रमाण-पत्र, आदि। डा० पचमुखी (Panchamukhi) ने ठीक ही लिखा है कि, "सन् 1956 से 62 की अवधि स्पष्टतया ऐसी *अवधि थी जिसमें व्यापार व घरेलू उत्पादन दोनो से सम्बद्ध आयात प्रतिस्थापन* के प्रति भारी झुकाव वाली रणनीति अपनाई गई। वास्तव मे भारतवर्ष की नीति प्रणाली के विश्लेषणकर्ताओ ने इस अवधि को अत्यधिक व अन्धाधुन्ध (excessive and indiscriminate) आयात प्रतिस्थापन अभिमुख नीति वाली अवधि कहा है।'[2]

तृतीय पचवर्षीय योजना के प्रारम्भ से भारतवर्ष की विदेशी व्यापार नीति को भारी आयात-प्रतिस्थापन वाली नीति के साथ-साथ प्रथम बार निर्यात-अभिमुख नीति

2 Phanchamukh, V R —Foreign Trade and Trade Policies—Published in Brahamanand P R & Panchamukhi V R edt, 'The Development Process of the Indian Economy *Himalaya Publising House, Bombay 1987, p, 500*

के रूप मे प्रतिष्ठित किया गया। अतः प्रथम बार निर्यातो की भूमिका से सम्बद्ध बोध (Perception) मे स्पष्ट परिवर्तन उभर कर सामने आया। इस योजना मे निर्यातो को उच्च प्राथमिकता प्रदत्त की गई तथा नीति से सम्बद्ध इस परिवर्तन के परिणाम-स्वरूप निर्यात सम्वर्द्धन के कई उपाय अपनाये गये। लेकिन नीति के इस परिवर्तन से उद्योगीकरण अथवा विकास की व्यूहरचना मे कोई परिवर्तन नही आया एव निर्यात सम्वर्द्धन की यह पहल निश्चय ही परिस्थिती जनक सुधारक उपाय ही थी।

साठ के दशक के मध्य के वर्षों मे कमजोर फसल तथा निरन्तर सूखे की स्थिति के कारण हमे वार्षिक योजनाएँ बनाकर 'नियोजन छुट्टी' की स्थिति का सामना करना पडा तथा व्यापार-नीति को अल्पकालीन सकट के प्रबन्ध हेतु प्रयुक्त करना पडा। अत 1966-69 की अवधि की व्यापार नीति अन्य सरकारी हस्तक्षेपो की भाँति प्रमुखतया अर्थव्यवस्था मे पुन समायोजन के उद्देश्य एव इसे पुन विकास पथ पर लाने के उद्देश्य से बनाई गई थी।

सन् 1971 के पश्चात् भारत की व्यापार नीति को निर्यात सम्वर्द्धन हेतु एक नया आयाम दिया गया तथा निर्यातकर्ताओ को सेवायें उपलब्ध करवाने के उद्देश्य से कई सगठन सृजित किये गये। 70 के दशक मे निर्यात सम्वर्द्धन परिषदें, वस्तु बोर्ड एव व्यापार विकास प्राधिकरण (TDA) की स्थापना इसी दिशा मे उठाये गये कदम थे।

चतुर्थ पचवर्षीय योजना मे निर्यातो पर जोर देने का पुनरवलोकन (review) किया गया लेकिन निर्यातो को अब भी आयातो की वित्त-व्यवस्था के साधन के रूप में तथा विदेशी सहायता पर निर्भरता को उत्तरोत्तर घटाने के उपाय के रूप मे लिया गया। आयात प्रतिस्थापन से सम्बद्ध प्रमुख चिन्ता का विषय ऐसे प्रतिस्थापन वाली परियोजनाओ मे लम्बी सगर्भता (long gestation) तथा विद्यमान उत्पादन क्षमता का अपूर्ण उपयोग था।

सन् 1975 तक की अवधि अत्यधिक सरक्षणवाद, नियत्रणो व प्रतिबन्धो की नीतियो के प्रति बढ़ती हुई बेचैनी तथा विभिन्न निर्यात सम्वर्द्धन परिषदो की क्रिया-विधि की अपर्याप्तता के अहसास की अवधि थी अत· सन् 1975 से 79 की अवधि मे व्यापार नीति के विभिन्न आयामो के मूल्यांकन हेतु कई समितियाँ व कार्यकारीदल (task forces) स्थापित किये गये।

इन समितियों में से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण समिति 'आयात-निर्यात नीतियों व क्रियाविधि' पर डा० पी. सी. एलेक्जेन्डर (Dr. P.C. Alexander) समिति थी। इस समिति ने जनवरी सन् 1978 में अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया तथा सन् 1978 में उद्घोषित व्यापार नीति में इस समिति की सिफारिशों को क्रियान्वित कर दिया गया।

एलेक्जेन्डर समिति कि प्रमुख सिफारिशें निम्न थी :—

(1) इस समिति ने आयात-निर्यात नीति को सरलीकृत करने हेतु सिफारिश की कि वस्तु-आयातों को निषिद्ध (banned), प्रतिबन्धित (restricted) व खुले सामान्य लाइसेंस (OGL) की तीन श्रेणियों में वर्गीकृत किया जा सकता है तथा प्रथम दो श्रेणियों का नीति पुस्तिका में उल्लेख कर दिया जाय जबकि तृतीय श्रेणी को खुली समाप्ति (open ended) वाली पुस्तिका में रखा जाये व इनका नीति पुस्तिकाओं में उल्लेख न किया जाये,

(2) यह भी सुझाव दिया गया कि समय के साथ लाइसेंस व्यवस्था का अर्थव्यवस्था के लिए वांछनीय प्रशुल्क व्यवस्था द्वारा प्रतिस्थापन किया जाये,

(3) समिति द्वारा निर्यात उपदानों के यौक्तिकीकरण (rationalization) हेतु वैज्ञानिक मानदण्ड भी प्रतिपादित किये गये;

(4) समिति ने महसूस किया कि व्यापार को सरकारी दायरे में लेने की योजना (Scheme of Canalisation) अपने निर्धारित उद्देश्य को प्राप्त करने में असफल रही है अतः इस योजना के पुनरीक्षण करने व इसके पूर्ण नवीनीकरण की आवश्यकता है;

(5) आयात सम्वर्द्धन परिषदों, व्यापार विकास प्राधिकरण (TDA) तथा अन्य निर्यात सेवा संगठनों की भूमिका का पुनरीक्षण किया गया तथा यह सुझाव दिया गया कि इन संगठनों को आवश्यक सेवायें उपलब्ध कराने में और अधिक प्रभावी होना चाहिए,

(6) समिति ने इस ओर भी ध्यान दिलाया कि व्यापार अथवा घरेलू उत्पादन के क्षेत्र में प्रतिस्पर्द्धात्मक वातावरण के अवसर प्रदान न होने वाला अत्यधिक संरक्षणवाद आत्मघाती (self defeating) तथा राष्ट्रीय संसाधनों के अकुशल उपयोग को प्रेरित करने वाला हो सकता है,

(7) समिति ने स्वीकार किया कि भारतीय उद्योग ऐसी अवस्था में पहुँच चुके हैं

जहाँ वे विदेशी प्रतियोगिता के मुकाबले में टिक सकते हैं तथा यह भी महसूस किया गया कि सरकारी व निजी दोनों ही क्षेत्रों में निर्णय लेने की प्रक्रिया में कुशलता पर अधिक ध्यान दिया जाना चाहिए। अत समिति ने प्रतिस्पर्द्धात्मक वातावरण में अभिवृद्धि करने तथा OGL म शामिल मदों की सूची विस्तृत करने का सुझाव दिया।

व्यापार नीति के प्रचालन का पुनरीक्षण करने हेतु इस अवधि में कुछ अन्य समितियाँ भी गठित की गईं। इनमें 'पूँजीगत माल के निर्यात' से सम्बद्ध सोंधी समिति (Sondhi Committee) ने स्वीकार किया कि आयातों पर ऊँची प्रशुल्क दरों के कारण पूँजीगत माल की लागत बहुत अधिक है। अत इस समिति ने पूँजीगत माल पर प्रशुल्क की अधिकतम दर 40 प्रतिशत तक रखने की सिफारिश की।

सन् 1979 में श्री प्रकाश टंडन (Prakash Tandon) की अध्यक्षता में टंडन समिति' (Tandon Committee) नियुक्त की गई। इस समिति को निर्यात सम्वर्द्धन के उपाय सुझाने का कार्य सौंपा गया तथा समिति ने जनवरी 1981 म अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। इस समिति की प्रमुख सिफारिशें निम्नांकित थी —

(1) निर्यात घरानों को निर्यात सम्वर्द्धन हेतु निर्यात वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि करने के लिये आवश्यक निषिद्ध व प्रतिबन्धित मदों के आयात की अनुमति दी जानी चाहिए,

(2) लाइसेंसशुदा क्षमता पर प्रतिबन्ध के बावजूद भी एकाधिकार तथा नियन्त्रक व्यापार प्रेक्टिसेज एक्ट (MRTP) वाली कम्पनियों सहित औद्योगिक उपक्रमों में 'निर्यात उत्पादन' को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए,

(3) नवीनतम तकनीकी के अधिक उदार आयातों की सुविधा निर्यात उद्योगों को भी प्रदान की जानी चाहिए,

(4) नियम क्षेत्र में निर्यातों से अर्जित आय की सीमा तक कर साख (tax credit) की योजना को पुनर्जीवित किया जाना चाहिए,

(5) निर्यात-अभिमुख उद्योगों को कच्ची सामग्री व अर्द्ध-निर्मित माल पर उत्पादन कर की छूट दी जानी चाहिए,

(6) ऐसे उद्योग जिन्होंने तीन वर्ष तक अपने उत्पादन का 50 प्रतिशत से अधिक निर्यात किया हो उन्हें पूँजीगत वस्तुओं के आयातों पर प्रशुल्क छूट दी जानी चाहिए,

(7) समिति ने सुझाव दिया कि निर्यात प्रक्रिया मे उत्पादन से लेकर विपणन अवस्था तक एकीकृत कार्यक्रम अपनाना चाहिए,

(8) राष्ट्रीय राज्य एव निगम स्तर पर निर्यात नियोजन निर्णय प्रक्रिया का अभिन्न अग होना चाहिए,

(9) समिति ने एक अन्य महत्वपूर्ण सिफारिश यह की कि ऐसे मदो को पहचाना जाना चाहिए जिनके निर्यातो की सम्भाव्यता अधिक है तथा ससाधनो का अनेक छोटे-छोटे मदो पर अपव्यय करने की बजाय निर्यात प्रयासो को इन सम्भाव्य निर्यात मदो पर केन्द्रित किया जाना चाहिए।

ध्यान रहे टडन समिति का प्रमुख उद्देश्य निर्यात सम्वर्द्धन हेतु उपाय सुझाना था अत इस समिति ने इसी उद्देश्य को सर्वोपरि माना जिससे इस समिति की सिफारिशें कुछ सीमा तक भारतवर्ष की विकास व्यूह रचना से सगत नहीं रह पाई।

विदेशी व्यापार से सम्बद्ध अन्य समितियो मे से निर्यात सम्वर्द्धन परिषदो के प्रचालन पर वेंकटरमण समिति (Venkataraman Committee) ने इगित किया कि इन परिषदो की विविधता ने उत्पाद विकास सलाह, उत्पाद रूपान्तरण, तकनीकी अगीकरण, अन्य देशो मे विपणन नीति व प्रक्रिया आदि से सम्बद्ध सूचनाएँ आदि सेवाएँ प्रदान करने के कार्य का ठीक से सम्पादन नही किया है। समिति ने इस ओर भी ध्यान दिया कि इनमे से अधिकाश परिषदें निर्यातकर्ताओं की शिकायतो एव उनकी उपदानो के लिए वकालात हेतु मात्र समाशोधन गृहो (clearing houses) के कार्य का सम्पादन कर रही थीं।

अन्य समितियो मे से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण समिति निर्यात नीतियो पर आबिद हुसैन समिति (Abid Hussain Committee) थी। इस समिति ने सन् 1985 के प्रारम्भ मे अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया तथा भारत सरकार ने इस समिति की सिफारिशो को तुरन्त प्रभाव से सन् 1985-88 की त्रिवर्षीय आयात-निर्यात नीति मे सम्मिलित कर लिया था। आबिद हुसैन समिति की प्रमुख सिफारिशें अग्र-लिखित हैं —

(1) नीति मे निश्चितता व स्थायित्व लाने हेतु आयात-निर्यात नीति एक साथ तीन वर्ष के लिए बनाई व लागू की जानी चाहिए,

(2) प्रशुल्क वापसी (duty drawback) योजना की बहु-दरो व समय से सम्बद्ध अनिश्चितता को समाप्त कर इसे युक्तिसगत बनाया जाना चाहिए

(3) रुपये की वास्तविक प्रभावी विनिमय दर (REER) को अधिमूल्यनयुक्त नही बने रहने देना चाहिए तथा इसे ऐसे उपयुक्त स्तर पर बनाये रखा जाना चाहिए जिससे राष्ट्र के निर्यातो की प्रतिस्पर्द्धात्मकता बनी रह सके,

(4) नकद क्षतिपूरक योजना (Cash Compensatory Scheme) को भी युक्तिसगत बनाकर निर्यातकर्ताओ को उनके द्वारा चुकाये गय अप्रत्यक्ष करो की क्षतिपूर्ति की जानी चाहिए तथा CCS को निर्यातकर्ता की कर योग्य आय मे सम्मिलित नही किया जाना चाहिए,

(5) आयात-निर्यात पुस्तिका (Import Export Pass book) प्रणाली को स्थायी आयात आपूरण-लाइसैंस के रूप मे आरम्भ किया जाना चाहिए,

(6) आयातो को चयनात्मक व युक्तिसगत मानदण्ड के आधार पर ही सरकारी दायरे मे लाना चाहिए;

(7) आधुनिकीकरण हेतु विदेशो से कुशल तक्नीकी के आयातो को OGL के *अन्तर्गत व आयात करो मे छूट देकर आयात करने दिया जाना चाहिए,*

(8) आयात लाइसैंस की विभिन्न श्रेणियो को सरलीकृत करके OGL, 'सीमित अनुमति वाली सूची' तथा 'निषिद्ध सूची' म शामिल कर दिया जाना चाहिए,

(9) *प्रायात लाइसैंस प्रणाली के स्थान पर प्रशुल्क प्रणाली लागू करने हेतु प्रशुल्क* की प्रभावी दर के रूप मे इस तरह की प्रशुल्क प्रणाली होनी चाहिए जिससे प्रशुल्क वृद्धि की श्रेणी कम हो सके;

(10) बल्क मदो (Bulk items) के आयात प्रतिस्थापन को सर्वोच्च प्राथमिकता दी जानी चाहिए।

प्रथम त्रिवर्षीय आयात-निर्यात नीति (१९८५-८८)

(First Three-yearly Exim Policy—April 1985-March 88)

आबिद हुसैन समिति की सिफारिशो को कार्यान्वित करते हुए भारत सरकार ने अप्रैल 1985 मे प्रथम त्रिवर्षीय आयात निर्यात नीति घोषित की। इससे पूर्व यह नीति वार्षिक आधार पर तैयार की जाती थी।

भारत सरकार की त्रिवर्षीय आयात-निर्यात नीति का प्रमुख उद्देश्य आयात-निर्यात नीति मे 'निरन्तरता व स्थायित्व' लाना था। इस नीति के प्रमुख उद्देश्य अग्रलिखित थे :—

(1) आयात-निर्यात नीति मे स्थायित्व लाना,

(2) आयातित उपादानो (inputs) की आसानी से व शीघ्रतापूर्वक व्यवस्था करके उत्पादन वृद्धि को सुसाध्य बनाना,

(3) निर्यातो के उत्पादन का आधार सुदृढ करना तथा निर्यातो मे भारी वृद्धि हेतु प्रयास करना,

(4) *स्वदेशी उत्पादन विकसित करने हेतु आयातो मे यथा सम्भव बचत करना तथा* कुशल आयात-प्रतिस्थापन करना,

(5) उत्पादन मे तकनीकी उत्थान व आधुनिकीकरण को सुसाध्य बनाना, तथा

(6) लाइसेंस मे कमी करना, क्रियाविधि (Procedures) को सरल व कारगर बनाना तथा निर्णय-प्रक्रिया मे कमी करना ताकि समय व ससाधनो के रूप में लागत मे कमी आ सके।

प्रथम त्रिवर्षीय आयात-निर्यात नीति के उद्देश्यो के अनुरूप भारत सरकार ने *विदेशी व्यापार को उदार बनाने हेतु कई कदम उठाये। इन उपायो को हम मोटे रूप* से दो भागो में बाँट सकते हैं : प्रथम तो सरकार ने आयात प्रणाली (import regime) को और अधिक उदार बनाया तथा द्वितीय विशेषकर पूँजीगत वस्तुओ के लिए अर्थव्यवस्था को अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्द्धा हेतु खुला रखने का निर्णय लिया।

नई नीति की प्रमुख बातें

(Major features of the Exim Policy)

नई आयात-निर्यात नीति मे उदारता हेतु अग्रलिखित कदम उठाये जाने का प्रस्ताव रखा गया —

प्रथम कदम के अनुसार आयातको की विशिष्ट श्रेणी के आयातो को उदार बनाना था। इस श्रेणी के प्राथमिकता समूह इस प्रकार थे : (1) पजीकृत निर्यात उत्पादक, *(ii) विस्थापित व्यापार घराने, तथा (iii) सरकारी विभाग, बैंक एव सार्वजनिक* उपक्रम।

इन समूहो को प्रदत्त उदारताओ का रूप इस प्रकार था :—

मदों में चमड़ा उद्योग की मशीनें, जूट मशीनरी, कैनिंग व पेन निर्माण (canning and pen-making) मशीनें, ऑटोमोबील निर्माण हेतु मशीनें, तेल क्षेत्र सेवायें (oil field services) तथा इलेक्ट्रोनिक्स वस्तुओं के निर्माण के मद शामिल हैं।

कम्प्यूटर सिस्टम की आयात नीति को उदार बनाकर 10 लाख रु. से कम (cif) लागत के कम्प्यूटर अथवा कम्प्यूटर सिस्टम्स को स्वयं उपयोग हेतु OGL के अन्तर्गत शामिल कर लिया गया।

53 मदों के आयातों को सरकारी दायरे से बाहर (de-canalised) लाया गया है। इनमें से 17 मदों को OGL की श्रेणी में 20 को सीमित अनुमति वाली सूची तथा 16 को प्रतिबन्धित सूची में हस्तांतरित किया गया है।

लेकिन घरेलू उत्पादन की उपलब्धि को मद्देनजर रखते हुए कच्ची सामग्री व कल पुर्जों के 7 मदों को सीमित अनुमति वाली सूची से प्रतिबन्धित मदों वाली सूची में तथा 67 मदों को OGL अथवा स्वचालित अनुमतिवाली सूची (APL) से सीमित अनुमति वाली सूची में हस्तान्तरित कर दिया गया है। इन मदों में मारबल, फोमिक एसिड, कुछ लैम्प (Lamps), लोहा व इस्पात कास्टिंग, बिना टेप वाली विडियो कैसेट, कार्बन, छपाई की स्याही आदि शामिल हैं।

द्वितीय त्रिवर्षीय आयात-निर्यात नीति (१९८८-९१)

(The Second Three-yearly Exim Policy)

प्रथम त्रिवर्षीय नीति के उद्देश्यों तथा निर्यात एवं औद्योगिक क्षेत्र में आयात-निर्यात नीति की महत्त्वपूर्ण भूमिका को मद्देनजर रखते हुए भारत सरकार ने 30 मार्च सन् 1988 को सन् 1988-91 की त्रिवर्षीय आयात-निर्यात नीति घोषित की। द्वितीय त्रिवर्षीय व्यापार नीति के चार प्रमुख उद्देश्य थे :—

(1) आयातित आवश्यक पूँजीगत वस्तुओं, उद्योगों के लिए कच्ची सामग्री व कल-पुर्जों को आसानी से उपलब्ध करवाकर तथा आधुनिकीकरण की दिशा में चलन को जारी रखने हेतु तकनीकि उन्नति एवं उद्योगों को उत्तरोत्तर विश्व बाजार में प्रतियोगी बनाने हेतु औद्योगिक विकास को प्रेरित करना,

(2) कुशल आयात-प्रतिस्थापन एवं आत्म निर्भरता में सम्वर्द्धन करना,

(3) प्रेरणाओं की गुणवत्ता व इनके प्रशासन में सुधार करके निर्यात-सम्वर्द्धन को नई प्रेरक शक्ति (impetus) प्रदान करना,

अत स्पष्ट है कि उपर्युक्त सभी उपाय प्रथम त्रिवर्षीय नीति को मजबूत बनाने की दिशा मे कदम हैं।

त्रिवर्षीय आयात-निर्यात नीति का मूल्यांकन

(Evaluation of the Three-yearly Exim Policies)

प्रथम त्रिवर्षीय आयात-निर्यात नीति एक सतुलित नीति थी। यह न तो अति उदार थी और न अति कठोर या प्रतिबन्धात्मक।

त्रिवर्षीय नीति अपनाकर सरकार ने भारत की व्यापार नीति का औद्योगिक व राजकोषीय नीति से समन्वय स्थापित किया था। यह नीति उद्योग व व्यापार के क्षेत्र मे *दीर्घकालीन नियोजन मे सहायक सिद्ध होनी थी। इस नीति से तक्नीकी* प्रगति, निर्यात सम्वर्द्धन व आयात प्रतिस्थापन को बढावा मिलना था। इस नीति के माध्यम से राष्ट्र की नई आर्थिक नीति व नई व्यापार नीति के प्रमुख उद्देश्यो मे समन्वय स्थापित किया गया था। इन दोनो ही नीतियो के पीछे निहित भावना प्रतिबन्धो को कम करना व उदारता वाले उपाय अपनाना थी।

इस नीति मे उत्पादको व निर्यातको के लिए आयात-निर्यात पुस्तिका की योजना प्रारम्भ करने के परिणामस्वरूप कच्चे माल का आयात आसानी से व बिना विलम्ब के होने लगा है अत. यह योजना त्रिवर्षीय आयात-निर्यात नीति की सर्वाधिक आकर्षक विशेषता कही जा सकती है।

जैसा कि पूर्व मे बताया जा चुका है द्वितीय त्रिवर्षीय आयात-निर्यात नीति के पीछे निहित आधारभूत उद्देश्य उदार व्यापार नीति का अनुसरण करना तथा प्रथम त्रि-वर्षीय नीति के उद्देश्यो को और अधिक कारगर बनाना था।

लेकिन नीति विश्लेषणकर्ताओ ने त्रिवर्षीय व्यापार-नीतियो मे अनेक कमियाँ इंगित की हैं जिनमे से प्रमुख अग्रलिखित हैं :—

(1) सन् 1988-91 की त्रिवर्षीय व्यापार-नीति की उदारता के फलस्वरूप आयातो मे *होने वाली वृद्धि से जनित व्यापार घाटे की पूर्ति राष्ट्र के समक्ष गम्भीर* समस्या खडी कर सकती है। सरकार की मान्यता है कि इस तरह के घाटे को राष्ट्र के पास उपलब्ध विदेशी विनिमय भण्डारों से सम्भव वित्त-व्यवस्था तथा उदार आयात नीति के फलस्वरूप विकसित राष्ट्रो व सहायता प्रदानकर्ता बहुपक्षीय एजेन्सीज से उपलब्ध ससाधनो तक ही सीमित रखा जायेगा।

इसी के साथ हम राष्ट्र की व्यापार नीतियों का विश्लेषण समाप्त करके इस अध्याय के शेष भाग में भारत के विदेशी व्यापार में राज्य व्यापार निगम (State Trading Corporation) की भूमिका व भारतवर्ष में विनिमय नियन्त्रण की संक्षिप्त चर्चा की ओर अग्रसर होते हैं।

राज्य व्यापार निगम

(State Trading Corporation)

भारत के आयात-निर्यात व्यापार में सरकारी भागेदारी को बढ़ावा देने हेतु सरकारी क्षेत्र में कई एजेन्सियां स्थापित की गई हैं। *राज्य वित्त निगम ऐसी ऐजेन्सियों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है।*

भारतीय राज्य व्यापार निगम का पंजीकरण भारतीय कम्पनी अधिनियम के अन्तर्गत 18 मई सन् 1956 को किया गया था। निगम का प्रमुख कार्य भारत के *निर्यात व्यापार के क्षेत्र को व्यापक बनाना और देश के लिए आवश्यक सामान के* आयातों की व्यवस्था करना है। लघु उद्योगों को व्यापार के क्षेत्र में पदार्पण करने के लिए निगम काफी सहयोग देता है। निगम की प्रारम्भिक प्रदत्त पूंजी 1 करोड़ रुपये थी जो 1981-82 में बढ़कर 15 करोड़ रु. हो चुकी थी।

निगम का उद्देश्य सरकार की ओर से ऐसी वस्तुओं के निर्यातों को चालू करना व कारगर बनाना है जिनका निर्यात प्राविधिकता के दृष्टिकोण (technically) से कठिन था, उदाहरणार्थ, छोटे पैमाने के उत्पाद, मूंगफली, तेल, केक्स (cakes), चांदी,चीनी आदि के निर्यात। साथ ही निगम को उर्वरक, धातु, खनिज तथा कच्चे *माल व अर्द्ध-निर्मित माल के आयातों का कार्य निजी व्यापारियों तथा उद्योगों की* ओर से (on behalf of) सम्पादित करना था। समय के साथ निगम के दायरे में आने वाली वस्तुओं की संख्या बहुत बड़ी हो चुकी है। इसके अतिरिक्त व्यापार निगम को विदेशों की सरकारी एजेन्सीज तथा विदेशी व्यापार के एकाधिकार वाले संगठनों से व्यापार सम्पादन का कार्य भी सौंपा गया था।

राज्य व्यापार निगम की प्रगति

(Progress made by the STC)

राज्य व्यापार निगम साम्यवादी ब्लॉक के राष्ट्रों के साथ वस्तु विनिमय के

समझौतो के माध्यम से व्यापार बढाने मे काफी सफल रहा है तथा पश्चिमी राष्ट्रो मे निगम ने निजी व्यापार साझेदारो से सम्बन्ध स्थापित किये हैं।

सन् 1979-80 मे राज्य व्यापार निगम का कुल कारोबार (turn over) 1661 करोड रु. था जो सन् 1987-88 मे निगम के उस वर्ष के वार्षिक प्रतिवेदन के अनुसार बढकर 3646 करोड रु हो चुका था। सन् 87-88 मे निगम का कुल कारोबार अब तक का सर्वाधिक व सन् 1986-87 के 2735 करोड रु के कारोबार से 33 प्रतिशत अधिक था।[4]

भारत के निर्यात व्यापार मे राज्य व्यापार निगम का अश 1956-57 मे मात्र 1 प्रतिशत था। यह अश सन् 1975-76 मे 20 प्रतिशत तक पहुँच कर सन् 1985-86 मे मात्र 5 प्रतिशत रह गया था। राज्य व्यापार निगम के माध्यम से किये गये निर्यात सन् 1979-80 मे 642 करोड रु. मूल्य के थे जो सन् 1987-88 तक घटकर 581 करोड रु. रह गये थे। लेकिन सन् 1987-88 के निर्यातो का मूल्य सन् 1986-87 के 542 करोड रु के मूल्य से 7 प्रतिशत अधिक था।

राज्य व्यापार निगम के आयात सन् 1979-80 मे 1010 करोड रु. मूल्य के थे जो सन् 1987-88 मे बढकर 3037 करोड रु. मूल्य के हो चुके थे। निगम के आयातो का यह मूल्य हाल ही के वर्षों मे सर्वाधिक तथा सन् 1986-87 के 2179 करोड रु. के स्तर से 39 प्रतिशत अधिक था। हाल ही के वर्षों मे निगम राष्ट्र के कुल आयातो का 10 से 12 प्रतिशत तक आयात करता रहा है।

लेकिन राज्य व्यापार निगम के लाभो मे हाल ही के वर्षों मे निरन्तर कमी होती रही है। सन् 1985-86 मे निगम ने व्यापार से 103 करोड रु का लाभ अर्जित किया था जो सन् 1986-87 मे 62 करोड रु. तथा सन् 1987-88 में और अधिक घटकर 55 करोड रु रह गया था।

लाभ मे इस कमी का प्रमुख कारण आयातो की वित्त व्यवस्था हेतु बैंकों से ली जाने वाली उधार के ढाँचे मे परिवर्तनो के परिणामस्वरूप सरकार से ब्याज की कम वसूली होना बताया गया है। निगम का कर पूर्व लाभ सन् 1986-87 मे 55 करोड रु. था जबकि सन् 1987-88 मे यह 52 करोड रु रह गया था।

4. See, The Economic Times, Jan 20, 1989.

राज्य व्यापार निगम के कुल कारोबार मे प्रमुख मद आयात व्यापार रहा है। सन् 1986-87 मे निगम के कुल कारोबार का 80 प्रतिशत आयात कारोबार था जबकि सन् 1987-88 मे यह कारोबार बढकर निगम के कुल कारोबार का 83 प्रतिशत हो गया था। चूंकि निगम अधिकाश आयात सरकार के अनुरोध पर करता है अत. आयात व्यापार मे वृद्धि के परिणामस्वरूप निगम के कारोबार मे हुई वृद्धि का पूर्ण श्रेय निगम को नही दिया जा सकता।

हाल ही के वर्षों मे निगम के आयात व्यापार मे वृद्धि का कारण खाद्य तेल, न्यूज प्रिंट, प्राकृतिक रबर, फैटी एसिड्स (fatty acids) तथा केमिकल्स के आयातो मे भारी वृद्धि रहा है। इन मदों के आयात निगम के दायरे मे आते हैं। सन् 1987-88 मे व्यापार निगम द्वारा किये जाने वाले आयातो मे सर्वाधिक महत्वपूर्ण मद खाद्य तेलो के आयात रहे हैं। सन् 1987-88 मे निगम ने 19.66 लाख टन खाद्य तेल का आयात किया था जबकि 1986-87 मे ये आयात 13 07 लाख टन ही थे। खाद्य तेलो के आयातो मे इस अप्रत्याशित वृद्धि का प्रमुख कारण इनके घरेलू उत्पादन मे कमी थी। अत सन् 1887-88 मे राज्य व्यापार निगम द्वारा खाद्य तेलो का विक्रय 18.68 लाख टन था जिसका मूल्य 2,223 करोड रु. था। इसके विपरीत सन् 1986-87 मे निगम ने 1381 करोड रु मूल्य के 13 17 लाख टन खाद्य तेलों का ही विक्रय किया था।

निर्यातो के क्षेत्र मे भी प्रमुख योगदान सरकारी दायरे (canalised) के निर्यातो का ही रहा था। सरकारी दायरे के निर्यात सन् 1986-87 मे 148 करोड रु से बढकर सन् 1987-88 मे 174 करोड रु हो चुके थे। इस प्रकार इन निर्यातों मे वार्षिक वृद्धि की दर 18 प्रतिशत रही है।

इसक विपरीत गैर-सरकारी ((non-canalised) निर्यात सन् 1986-87 के 394 करोड रु. के स्तर से बढकर 1987-88 मे 407 करोड रु हो चुके थे जोकि 10.3 तीन प्रतिशत की वार्षिक वृद्धि थी।

राज्य व्यापार निगम द्वारा पिछले कुछ वर्षों मे किये गये निर्यातो पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि इसके निर्यातो मे निरन्तर कमी होती रही है। सन् 1983-84मे निगम के निर्यात 796 करोड रु. के मूल्य के थे जो कि अब तक का सर्वाधिक मूल्य था। ये निर्यात सन् 1984-85 में घटकर 720 करोड रु तथा सन् 1986-87 मे 542 करोड रु रह गये थे। लेकिन सन् 1987-88 मे निगम के निर्यातों मे मामूली

अतः स्पष्ट है कि राज्य व्यापार निगम को कुछ चुने हुए निर्यात मदो पर ध्यान केन्द्रित करके कारगर निर्यात रणनीति तैयार करनी चाहिए।

इसके अतिरिक्त व्यापार निगम ने चपडा (shellac), कॉफी, मसालो, तम्बाकू आदि के क्षेत्र मे कीमत समर्थन कार्यक्रम भी अपनाये हैं तथा हाल ही मे जूट से तैयार माल व अन्य ऐसे दु साध्य मदो के निर्यात मे प्रवेश किया है जो सरकारी दायरे से बाहर हैं।

राज्य व्यापार निगम की सीमाएँ

(Limitations of the STC)

राज्य व्यापार निगम की महत्त्वपूर्ण प्रगति के बावजूद भी इसके कार्यक्रमो मे अनेक कमियाँ रही हैं। इन कमियो मे से प्रमुख अग्रलिखित हैं :—

(1) निजी क्षेत्र व व्यापार क्षेत्र के प्रतिनिधियो का मत है कि व्यापार निगम ने दु साध्य क्षेत्रो (difficult areas) में प्रवेश करने की बजाय ऐसे क्षेत्रों मे प्रवेश किया है जिनमे भेदन अपेक्षाकृत आसान था।

(2) निगम की नीतियो की इस आधार पर भी आलोचना की गई है कि इसके प्रचालन मे विपणन से सम्बद्ध अनुभवहीनता स्पष्ट परिलक्षित होती है।

(3) निगम ने सीमेंट, उर्वरक आदि के आन्तरिक वितरण व व्यापार चेनलस का अकुशलतापूर्ण ढग से सचालन किया है।

(4) *निगम की आलोचना का एक यह भी आधार रहा है कि यह नकद की अथवा* विक्रय-अयोग्य माल की अत्यधिक सम्पत्ति-सूची (inventories) एकत्रित करता रहा है।

(5) निगम विदेशो मे उपलब्ध बाजारो के प्रति सजग नही रहा है अत समय-समय पर भारत की निर्यात वस्तुओ के लिए नये बाजारो के अवसरो का पूर्ण लाभ नहीं उठाया गया है।

(6) निगम की कुछ क्षेत्रो मे उत्साही विक्रय कला के अभाव व अपर्याप्त विशेषज्ञता (expertise) के आधार पर भी आलोचना की गई है।

लेकिन उपर्युक्त आलोचनाओ के *बावजूद हम निष्कर्ष के रूप मे कह सकते हैं कि* राज्य व्यापार निगम ने द्वि-पक्षीय व्यापार वाले राष्ट्रो के साथ व्यापार मे तथा कुल

व्यापार के सम्वर्द्धन मे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। जहाँ तक नये बाजारो का प्रश्न है निगम ने इन्सटेन्ट कॉफी, पेकेज्ड चाय आदि वस्तुओ को यूरोप के बाजारो मे, चपड़े को चीन के बाजारो तथा ग्रामोफोन रिकार्डों को रूस के बाजारो मे प्रचलित किया है। इसके अतिरिक्त निगम छोटे उद्योगो को वित्तीय विपणन व तकनीकी *सहायता प्रदान करता है तथा उनके उत्पादो के विदेशो मे विक्रय की व्यवस्था भी* करता है। अत स्पष्ट है कि राज्य व्यापार निगम राष्ट्र के विदेशी व्यापार के क्षेत्र मे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है।

राष्ट्र के विदेशी व्यापार मे सार्वजनिक क्षेत्र मे कार्यरत अन्य एजेन्सीज मे से, *सन् 1963 मे स्थापित खनिज व* धातु व्यापार निगम (Minerals and Metal Trading Corporation) खनिज व धातुओ के आयात-निर्यात के कार्य मे सलग्न है, सन 1962 मे स्थापित हस्तकला व हाथकर्घा निर्यात निगम (Handicrafts and Handlooms Export corporation) हस्तकला, हाथकर्घा सामान स्वर्ण-आभूषण, *ऊन के सामान, गलीचो आदि के निर्यात करता है तथा 1970 मे स्थापित भारतीय* काजू निगम (Cashew Corporation of India) काजुओं के निर्यात सम्वर्द्धन म कार्यरत है। सन् 1971 मे स्थापित परियोजना एवं साज-सज्जा निगम (Projects and Equipments Corporation) पूंजीगत साज-सज्जा के सामान के निर्यातो *को बढावा देता है 1971 में ही स्थापित चाय व्यापार निगम* (Tea Trading Corporation) योगित मूल्य वाली चाय, पकेज्ड व बैग्ड (bagged) चाय के निर्यात को बढावा देता है तथा सन् 1972 मे स्थापित अभ्रक व्यापार निगम (Mica Trading Corporation) अभ्रक के आयातों का सचालन करने हेतु कार्यरत है।

इसी के साथ हम विदेशी व्यापार मे राज्य की भूमिका के विश्लेषण को समाप्त करते हैं तथा इस अध्याय के अन्तिम भाग मे भारतवर्ष मे विनिमय नियन्त्रण की संक्षिप्त चर्चा के साथ पुस्तक के समापन की ओर अग्रसर होते हैं।

भारत मे विनिमय नियन्त्रण

(Exchange Controls in India)

भारतवर्ष मे द्वितीय विश्वयुद्ध काल मे सीमित विदेशी विनिमय की सुरक्षा हेतु 3 सितम्बर, सन् 1939 को सर्वप्रथम विनिमय नियन्त्रण लागू किये गये थे।

युद्ध समाप्ति के पश्चात् इन नियन्त्रणो को सन् 1947 के 'विदेशी विनिमय

नियमन अधिनियम' (Foreign Exchange Regulation Act) के तहत स्थायी कर दिया गया। तत्पश्चात् सन् 1973 म नया विदेशी विनिमय अधिनियम (FERA) लागू करके भारतीय रिजर्व बैंक को विस्तृत शक्ति व नियन्त्रण का अधिकार प्रदान किया गया।

भारत वर्ष म भारतीय रिजर्व बैंक को विनिमय नियन्त्रण के प्रशासन का पूर्ण अधिकार प्राप्त है। राष्ट्र की समस्त विदेशी प्राप्तियो व भुगतानो हेतु रिजर्व बैंक की सामान्य अथवा विशिष्ट अनुमति आवश्यक है।

विनिमय नियन्त्रण के प्रशासन का कार्य रिजर्व बैंक ने 'विनिमय नियन्त्रण विभाग' (Exchange Control Department) नामक एक पृथक विभाग को सौंप रखा है। *इस विभाग का मुख्यालय बम्बई में है तथा इसके क्षेत्रीय कार्यालय अहमदाबाद,* बगलोर, बम्बई कलकत्ता, कानपुर, मद्रास व नई दिल्ली में स्थित हैं।

'फेरा' (Foreign Exchange Regulation Act) के तहत केन्द्रीय सरकार ने रिजर्व बैंक को विभिन्न बैंको को विदेशी विनिमय के लेन-देन हेतु लाइसेंस प्रदान करने का निर्देश दे रखा है। इन बैंको को विदेशी विनिमय के अधिकृत व्यापारी (Authorised dealers) के नाम से जाना जाता है। इन ADs के अलावा रिजर्व बैंक ने कुछ अन्य सस्थापित फर्मों को भी विदेशी चलन व सिक्को (Currencies and Coins) के सौदे करने हेतु लाइसेंस प्रदान कर रखे है। इन फर्मों को अधिकृत 'मनी चैंजर्स' (Money Changers) के नाम से जाना जाता है।

विनिमय नियन्त्रण के अधीन आने वाले सौदे

(Transactions Subject to Exchange Control)

रिजर्व बैंक व भारत सरकार सामान्यतया उन सौदों का विनिमय नियन्त्रण के अधीन नियमन करती है जिनमे अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निहित हो। भारतवर्ष मे अग्रलिखित से सम्बद्ध सौदे विनिमय नियन्त्रण के अधीन आते है —

(1) विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय व इनसे किये अन्य सौदे तथा हमारे नागरिको द्वारा विदेशी केन्द्रो म रख गय शेष (balances),

(2) चलन के आयात-निर्यात चेक, ड्राफ्ट, यात्री चेक एव अन्य वित्तीय प्रपत्र (Financial instruments), प्रतिभूतियाँ, जेवर आदि,

(3) निर्यातों से प्राप्त आय (Proceeds) की प्राप्ति की प्रक्रिया;

(4) आवासियों व गैर-आवासियों के मध्य प्रतिभूतियों का हस्तांतरण तथा विदेशी प्रतिभूतियों का अधिग्रहण करना व इन्हें रखना,

(5) गैर-आवासियों को अथवा उनके भारतीय खातों में किये जाने वाले भुगतान;

(6) विदेशी भ्रमण आदि से सम्बद्ध यात्रा चाहे उसके लिए विदेशी विनिमय की आवश्यकता हो अथवा नहीं;

(7) विदेशियों द्वारा भारत में रोजगार प्राप्त करना;

(8) विदेशी नागरिकों अथवा कम्पनियों द्वारा भारत में अचल सम्पत्ति का अधिग्रहण करना, इसे रखना व इसका विक्रय करना;

(9) विदेशी फर्मों कम्पनियों व नागरिकों द्वारा भारत में व्यापारिक, वाणिज्य व औद्योगिक क्रियाएँ तथा इनके द्वारा भारतीय कम्पनियों के अंश रखना तथा व्यापारिक कारोबार का अधिग्रहण करना,

(10) भारतीय नागरिकों द्वारा विदेशों में अचल सम्पत्ति का अधिग्रहण करना, इसे रखना व इसका विक्रय करना, आदि।

विनिमय नियंत्रण सम्बन्धी नियमों में होने वाले परिवर्तनों को समय-समय पर भारत सरकार के 'गजट' (Gazette) में प्रकाशित किया जाता है तथा, विज्ञप्तियाँ जारी की जाती है।

भारत में विनिमय नियन्त्रण का संचालन

(Operation of Exchange Controls in India)

भारतवर्ष में समस्त निर्यातकों को रिजर्व बैंक से एक सांकेतिक संख्या (code number) प्राप्त करनी होती है। इस सांकेतिक संख्या को रिजर्व बैंक व अन्य बैंकों के साथ भविष्य में किये जाने वाले पत्र व्यवहार में अंकित करना पड़ता है।

भारत में प्रेषित मुद्राओं (inward remittances) के लिए स्वतन्त्र अनुमति दी जाती है। ऐसे प्रेषण के लिए रिजर्व बैंक को मात्र सूचना देना पर्याप्त है।

निर्यात आय को निर्धारित फॉर्म में घोषित करना होता है तथा इसमें निर्यातित माल का पूरा मूल्य दर्शाना होता है। निर्यात सौदे का अधिकृत व्यापारियों (ADS)

के माध्यम से होना आवश्यक है। निर्यात आय की प्राप्ति अनुमति प्राप्त मुद्राओं तथा निर्धारित फोर्म के माध्यम से होनी आवश्यक है। इन मुद्राओं की सूची 'विनिमय नियन्त्रण मेन्युअल' मे दी हुई होती है। निर्यात आय की प्राप्ति सामान्यतया छ माह के अन्दर-अन्दर हो जानी चाहिए। व्यापार बट्टा व एजेन्सी कमीशन सामान्यतया माल के मूल्य के 5 प्रतिशत से अधिक नही होना चाहिए।

निर्यातो से सम्बद्ध नियन्त्रणो का प्रमुख उद्देश्य निर्यात आय को आयातकर्ता राष्ट्र की मुद्रा अथवा अन्य परिवर्तनीय मुद्रा मे यथाशीघ्र एव पूर्णतया स्वदेश मे प्राप्त करना है। इस तरह की आय की प्राप्ति व भुगतान की निर्धारित प्रक्रिया इस प्रकार है :—

(1) बाह्य समूह के राष्ट्र (External Group Countries) —इस समूह मे 'बी' समूह अर्थात् द्वि-पक्षीय समूह के राष्ट्रो के सिवाय सभी राष्ट्र सम्मिलित हैं। इस समूह के राष्ट्रो को किये गये निर्यातो का भुगतान आयातकर्ता राष्ट्र की मुद्रा अथवा इस समूह के किसी अन्य राष्ट्र की मुद्रा मे होना आवश्यक है। इसी प्रकार इन राष्ट्रो से भारत के आयातो का भुगतान रुपयों मे अथवा इस समूह के किसी भी अन्य राष्ट्र की मुद्रा मे किया जाता है।

(2) द्वि-पक्षीय समूह के राष्ट्र (Bilateral Group Countries) —इस समूह मे चकोस्लोवाकिया, पूर्वी जर्मनी, पोलैण्ड, रुमानिया व सोवियत रूस शामिल हैं। इन राष्ट्रों को समस्त भुगतान व इनसे समस्त प्राप्तियाँ गैर-परिवर्तनीय रुपयो मे तथा इन राष्ट्रो से हुए समझौतो के अनुरूप होनी चाहिए।

इसके अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार की विदेशी विनिमय की प्राप्तियाँ अधिकृत व्यापारियो (Ads) के माध्यम मे ही हो सकती हैं।

भारतवर्ष के नागरिको को 'लेटर ऑव क्रेडिट' (Letter of Credit) चालू करने अथवा विदेशो को आयातो का भुगतान प्रेषण करने की अनुमति दी जाती है बशर्ते ऐसे आयात, आयात लाइसेंस के तहत किये गये हो अथवा खुले सामान्य लाइसेंस (OGL) की श्रेणी मे आते हो। यदि वस्तुएँ विलम्बित भुगतान की शर्तों के अन्तर्गत आयात की गई है तो लेटर ऑव क्रेडिट खोलने हेतु अथवा बैंक गारन्टी लेने हेतु रिजर्व बैंक की पूर्वानुमति आवश्यक है। आयातो के अग्रिम भुगतान हेतु भी रिजर्व बैंक की पूर्वानुमति आवश्यक है। भारतवर्ष मे इजिनीयरी सामान व पूँजीगत माल के आयात हेतु अग्रिम भुगतान की अनुमति दी जाती है।

विदेशों में भ्रमण, शिक्षा, बीमारी के उपचार आदि के लिए रिजर्व बैंक द्वारा समय-समय पर निर्धारित प्रावधानों के अनुसार विदेशी विनिमय उपलब्ध कराया जाता है। यह राशि भिन्न राष्ट्रों व भिन्न उद्देश्यों के लिए भिन्न होती है। इन भुगतानों से सम्बद्ध प्रतिबन्धों को समय-समय पर अधिकृत व्यापारियों (ADs) को सूचित किया जाता रहता है। हाल ही के वर्षों में विदेशी विनिमय के पर्याप्त भण्डार एकत्रित होने के साथ ही सरकार इन उद्देश्यों हेतु विदेशी विनिमय उपलब्ध कराने में काफी उदार रही है।

विनिमय नियन्त्रण के नियमों में, अधिकृत व्यापारियों (ADs) के प्रामाणिक विदेशी व्यापार के सौदों के लिए ग्राहकों के साथ अग्रिम (forward) क्रय-विक्रय की भी अनुमति दी जाती है।

ये अधिकृत व्यापारी (ADs) ऐसे अग्रिम सौदों का आवरण (cover) भारत अथवा विदेशों में अथवा रिजर्व बैंक के साथ 'इन्टर बैंक' (Inter-bank) बाजार में कर सकते हैं।

अधिकृत व्यापारियों (ADs) द्वारा यदि किसी अनुबन्ध को छः माह की अवधि से आगे बढ़ाना हो तो रिजर्व बैंक की पूर्वानुमति आवश्यक होती है। अग्रिम अनुबन्ध को निरस्त करने (Cancellation) हेतु भी रिजर्व बैंक का अनुमोदन आवश्यक है।

रिजर्व बैंक ने अग्रिम अनुबन्ध सुविधा की विस्तार सीमा बढ़ाने हेतु दिसम्बर 1985 में कई परिवर्तन लागू किये गये हैं। अतः वर्तमान में विदेशों में परियोजनाओं, अनुबन्धों, कमीशन चार्जेज, परामर्श शुल्क, क्रोस करेंसी आयात आदि के लिए अग्रिम अनुबन्ध की सुविधा उपलब्ध है। रिजर्व बैंक अमेरिकी डालर, ड्यूशमार्क, पौण्ड व येन में *किये गये अग्रिम आवरण के लिए बैंकों को काऊन्टर आवरण (counter cover)* की सुविधा भी प्रदान करती है।

जहाँ तक प्रतिभूतियों के सौदों का प्रश्न है भारतीय अथवा विदेशी प्रतिभूतियों के आयातों पर कोई *प्रतिबन्ध नहीं है लेकिन प्रतिभूतियों के निर्यात निषिद्ध हैं।* ऐसे निर्यात रिजर्व बैंक की पूर्वानुमति से ही किये जा सकते हैं। इसी प्रकार गैर-आवासियों को प्रतिभूतियों का हस्तांतरण करने हेतु रिजर्व बैंक तथा औद्योगिक विकास मन्त्रालय के विदेशी निवेश बोर्ड की सामान्य व विशेष अनुमति की आवश्यकता होती है। भारतीय नागरिकों को विदेशी प्रतिभूतियाँ रखने हेतु अथवा भारतीय

प्रतिभूतियों के निर्यात अथवा इन्हें राष्ट्र से बाहर भेजने हेतु पूर्वानुमति की आवश्यकता होती है।

जहाँ तक विदेशी मुद्रा के खातों का प्रश्न है रिजर्व बैंक ने ऐसे आवासियों (residents) को विदेशी मुद्राओं के खाते चालू रखने की सामान्य अनुमति दे रखी है जिनका निवास स्थान (domicile) भारत नहीं है। ऐसे आवासियों के सन 1947 से पूर्व में विद्यमान खातों को चालू रखा गया है लेकिन इन खातों में नई जमा हेतु रिजर्व बैंक की अनुमति की आवश्यकता होती है। भारतीय आवासियों को सामान्यतया विदेशों में विदेशी मुद्रा के खाते खोलने व चालू रखने की अनुमति नहीं दी जाती है। केवल संयुक्त सहयोग (joint collaboration) अथवा तकनीकी सहयोग के समझौतों से सम्बद्ध ऐसे खातों को खोलने व चालू रखने की अनुमति दी जाती है। ऐसे भारतीय जो विदेशों में आवास करते हैं उन्हें स्थायी रूप से भारत लौटते समय अपने विदेशी मुद्रा के खाते बन्द करने पड़ते हैं।

सन् 1973 के 'फेरा' में गैर-आवासी उस व्यक्ति को माना गया है जो पूरे वर्ष अथवा वर्ष की अधिकांश अवधि में भारत से बाहर आवास करता है। भारतवर्ष में गैर-आवासियों के दो प्रकार के खाते हैं प्रथम, निजी गैर-आवासी खाते हैं जिनमें व्यक्तियों, फर्मों, कम्पनियों व संस्थाओं के खाते आते हैं। द्वितीय प्रकार के खाते गैर-आवासी बैंकों के खाते हैं जिनमें भारतीय बैंकों की विदेशों में शाखाओं तथा विदेशी कम्पनियों के भारत में खोले गये खातों को शामिल किया जाता है। ऐसे बैंकों व कम्पनियों के सवाददाताओं, उनकी शाखाओं व एजेन्टों के भारतीय रुपयों के खातों को अधिकृत व्यापारियों (ADs) द्वारा रिजर्व बैंक की सलाह पर खोला जा सकता है। ऐसे खातों से सम्बद्ध जमा व नामे की राशि की सूचना रिजर्व बैंक को देनी आवश्यक होती है।

हाल ही के वर्षों में राष्ट्र में विदेशी विनियोग को प्रोत्साहन देने हेतु सरकार ने गैर-आवासी भारतीयों को उपलब्ध सुविधाओं को काफी उदार बना दिया है।

वर्तमान में गैर-आवासी भारतीयों को हमारे राष्ट्र में अंशों, डिबेंचरों एवं यू०टी०आई० की इकाईयों में देश-प्रत्यावर्तन (repatriation) व बिना देश-प्रत्यावर्तन (non-repatriation) दोनों ही आधारों पर विनियोग करने की छूट है। नई कम्पनियों के नये निर्गमनों में गैर-आवासी भारतीयों द्वारा 40 प्रतिशत तक विनियोग का प्रावधान है जबकि कुछ प्राथमिकता वाले उद्योगों के निर्गमन में गैर-आवासी

भारतीयों के लिए 74 प्रतिशत तक विनियोग का प्रावधान है। इस उदार नीति के परिणामस्वरूप भारत मे गैर-प्रावासियों के खातो से प्रेषण व निवेश के रूप में मुद्रा का भारी प्रवाह हुआ है।

अतः स्पष्ट है कि भारत मे विदेशी विनिमय नियन्त्रणों के माध्यम से विदेशी विनिमय के सौदो पर पर्याप्त नियन्त्रण रखा जाता है लेकिन राष्ट्र की विदेशी विनिमय की आवश्यकताओ को ध्यान में रखते हुए इन नियन्त्रणो मे समय-समय पर परिवर्तन भी किये जाते रहे हैं।